विषय-सूची

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

पहला भाग

१५ अगस्त १९५४ का आशीर्वाद-वचन

देव-मुहूर्त

ऐसी घड़ियां आती हैं जब देव मनुष्यों के बीच विचरण करते हैं और हमारे जीवन-सलिल पर भगवान् का श्वास फैल जाता है। और फिर ऐसा भी समय आता है जब वे पीछे हट जाते हैं और मनुष्य अपने अहंकार की ही सामर्थ्य या निर्बलता से काम करने के लिये छोड दिया जाता है। प्रथम काल में थोडा सा भी प्रयत्न करने पर बड़े परिणाम पैदा होते हैं और भाग्य बदल जाता है और दूसरे काल में जरा से परिणाम के लिये बहुत प्रयत्न करना पडता है। यह सत्य है कि दूसरा पहले के लिये तैयारी कर सकता है और यज्ञ का थोड़ा सा धुआं बनकर स्वर्ग में जा सकता और वहां से भगवान् की देन का आवाहन कर सकता हैं।

अभागा है वह मनुष्य या राष्ट्र जो भागवत मुहूर्त के आने पर सोया हुआ रहे या उसके उपयोग के लिये तैयार न हो, जो उसके स्वागत के लिये दीया संजोकर न रखे और उसकी पुकार की ओर से कान बन्द कर ले। पर कहीं अधिक अभागे हैं वे जो सशक्त और तैयार होते हुए भी उस शक्ति का अपव्यय करते हे और उस मुहूर्त का दुरुपयोग करते हैं। उनके भाग्य में होतीं है पूरी न हो सकनेवाली क्षति या एक महान् विनाश।

भागवत मुहूर्त में धो डालो अपनी अन्तरात्मा से अपने आपको धोखा देने की वृत्ति, ढोगबाजी और झूठी आत्मप्रशंसा ताकि तुम सीधे अंत:पुरुष को देख सको और उसकी पुकार को सुन सको। तुम्हारी प्रकृति का कपट, जो पहले तुम्हे प्रभु की दृष्टि से तथा आदर्श की ज्योति से बचाए हुए था, तुम्हारे कवच मे एक छेद बन जायगा और ऊपर से प्रहारो को निमंत्रण देगा और यदि क्षण भर के लिये तुम जीत भी गए तो तुम्हारे लिये और भी बुरा है क्योंकि प्रहार तो बाद में आएगा ही और तुम्हारी विजय के समय भी तुम्हें पटक देगा। शुद्ध होकर झाड़ फेंको समस्त भय को। यह घडी प्राय: भयंकर होती है, यह आग, बवण्डर और तूफान की न्याईं है और है रुद्र का तांडव नृत्य। परंतु जो इसमें अपने उद्देश्य की सचाई के बल पर खड़ा रह सकता है, वही खड़ा रहेगा और चाहे वह वायु के पंखों पर उड भी क्यों न जाए फिर भी वह जरूर वापिस आ जायगा। सांसारिक बुद्धिमत्ता तुमसे अधिक कानाफूसी न कर पाए। यह अप्रत्याशित की घड़ी है।

—श्रीअरविन्द
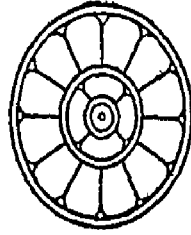
ज्योतिःपुञ्जे ज्वलति जगति ह्यः सुदृष्टे जनेऽस्मिन्
मग्ना जीवास्तमसि शतशश्चेद् घने काऽत्र चिन्ता।
तस्याऽस्तित्वं प्रथयतितरां यद्दिनं तद्धि भावि
यत्र ज्योतिर्जयतु तिमिरं दिव्यराज्यं च राजेत्॥

—श्रीमाता
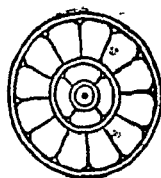
कोई हर्ज नहीं अगर सैकड़ों मनुष्य अत्यंत घने अन्धकार में डूबे हुए हैं। जिन्हें हमने कल देखा–वे तो पृथ्वी पर ही हैं। उनकी उपस्थिति ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि एक दिन आयगा जब अंधकार प्रकाश में परिवर्तित हो जायगा, जब तेरा राज्य अवश्य ही पृथ्वी पर स्थापित हो जायगा।

३०-३-१९१४

–श्रीमाताजी
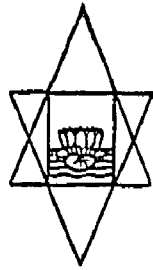
अपने विगत जीवन की घटनाओं के बारे में, उन्हें सच्चा स्वरूप और अर्थ देते हुए, सिर्फ मैं ही बोल सकता हूं।

★

मेरे जीवन के बारे में कुछ भी न तुम जानते हो न कोई और ही जानता है; यह उपरितल पर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सकें।

—श्रीअरविन्द

कितना सुन्दर होता है वह दिन जब मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति श्रीअरविन्द को समर्पित कर पाता है।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

पहला भाग

श्रीअरविन्द

[उनके जीवन पर पत्र और टिप्पणियां]

१

पांडिचेरी से पहले का जीवन

[सन् १९४३-४६ में श्रीअरविन्द के तीन जीवनी-लेखकों की पाण्डु-लिपियां संशोधन या समर्थन एवं सम्मति के लिये उनके सम्मुख प्रस्तुत की गई थी। उन्हें पढ़ते हुए श्रीअरविन्द ने जो टिप्पणियां लिखाई उन्हीं से यह खण्ड संगृहीत किया गया है। टिप्पणियों का उद्देश्य यह था कि या तो प्रासंगिक तथ्य प्रदान करके उनके वर्णनों को स्पष्ट किया जाय अथवा, जहां कहीं आवश्यक हो, उनमें संशोधन एवं परिवर्तन कर दिया जाय।

मूल असंशोधित पाडुलिपियो के स्थलों अथवा उनके अपूर्ण या अशुद्ध कथनों का संक्षिप्त उल्लेख श्रीअरविन्द की टिप्पणियों के ऊपर कोष्ठको के भीतर कर दिया गया है।

एक महाराष्ट्रीय लेखक ने श्रीअरविन्द की एक जीवनी लिखी थी। उसकी पांडुलिपि पर श्रीअरविन्द ने जहां-तहां कुछ टिप्पणियां लिख दी थीं; उन्हें भी यहां समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार अपने संबंध में कई पत्र-पत्रिकाओं तथा एक पुस्तक में प्रकाशित कुछेक भ्रामक या मनगढ़ंत वक्तव्यों का संशोधन करने के लिये उन्होंने जो टिप्पणियां और पत्र लिखाये वे भी यहां जोड़ दिये गये है।]

(१) इङ्गलैण्ड में प्रारम्भिक जीवन

श्रीअरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्ते में हुआ था। उनके पिताजी एक सुयोग्य और सुदृढ़ व्यक्तित्ववाले आदमी थे। वे शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंगलैण्ड जानेवाले पहले व्यक्तियों में थे। वे वहां से अपनी आदतो, विचारों और आदर्शों में पूरी तरह से अंग्रेजी रंग में रंगकर वापिस लौटे। उनपर इतना पक्का रंग चढ़ा कि उनके अरविन्द बचपन में केवल अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी ही बोलते थे और अपनी मातृभाषा इंगलैण्ड से वापिस आने पर ही सीख पाये। उन्होंने निश्चय कर रखा था कि वे अपने बच्चों को पूर्ण रूप से यूरोपीय शिक्षा ही दिलायेंगे। सबसे पहले भारत में उन्होंने इन्हें शिक्षा आरंभ करने

के लिये दार्जिलिंग के आयरिश संन्यासिनियों के एक स्कूल में भेज दिया और फिर १८७९ में वे अपने तीनों लड़कों को इंगलैण्ड ले गये। वहां उन्होंने इन्हे एक अंग्रेज पादरी और उसकी स्त्री को सौंप दिया तथा यह कठोर निर्देश दे दिया कि उनके बच्चों को किसी भारतीय से परिचय न करने दिया जाय और न उनपर किसी प्रकार का भारतीय प्रभाव पड़ने दिया जाय। इन निर्देशों का अक्षरशः पालन किया गया और श्रीअरविन्द भारतवर्ष, इसकी जनता, इसके धर्म एवं संस्कृति से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हुए ही बड़े हुए।

श्रीअरविन्द मानचेस्टर ग्रामर स्कूल में कभी नहीं गये। उनके दो भाइयों ने ही वहां अध्ययन किया, पर स्वयं उन्हें श्रीमान् और श्रीमती ड्रूएट (Drewett) ने अपने घर पर ही शिक्षा दी। ड्रूएट लेटिन के एक प्रकांड विद्वान् थे; उन्होंने श्रीअरविन्द को ग्रीक नहीं पढ़ाई, किंतु लेटिन की शिक्षा इतनी अच्छी तरह से दी कि लन्दन के सेंट पाल स्कूल के मुख्याध्यापक ने उनको ग्रीक पढ़ाने का कार्य स्वयं अपने हाथ में ले लिया और फिर उन्हें शीघ्रता से स्कूल की उच्च कक्षाओं में तरक्की देते गये।

ओस्टन ले (Austen Leigh) उन दिनों स्कूल के अध्यक्ष नही थे; अध्यक्ष का नाम था प्रोथेरो (Prothero)।

मानचेस्टर में और सेंट पाल स्कूल में श्रीअरविन्द ने प्राचीन साहित्य पढ़ने की ओर ध्यान दिया; पर सेंट पाल स्कूल मे पढ़ते समय भी अन्तिम तीन वर्ष उन्होंने अपनी स्कूल की पाठ्य पुस्तकों पर तो सरसरी नजर दौड़ाई और अपना शेष समय अधिकतर व्यापक अध्ययन, विशेषतः अंग्रेजी काव्य, साहित्य एवं गल्प तथा फ्रेंच साहित्य और प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन यूरोप के इतिहास के अनुशीलन में ही व्यतीत किया। कुछ समय उन्होंने इटालियन, कुछ जर्मन और थोड़ी स्पेनिश सीखने में भी लगाया। कविता लिखने मे भी उन्होने अपना बहुत सा समय लगाया। इस काल में स्कूली पढ़ाई के लिये वे बहुत ही कम समय देते थे; इसमें उनकी पहले से ही सहज गति थी और उन्होंने इसके लिये और अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नही समझी। तथापि किंग कालिज में ग्रीक और लेटिन कविता आदि विषयो के वर्ष भर के सभी पुरस्कार प्राप्त करने में वे सफल हुए।

उन्होंने कैम्ब्रिज की उपाधि प्राप्त नही की। ट्राइपोस के प्रथम खण्ड की परीक्षा में वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए; साधारणतया इस प्रथम खण्ड में पास होने पर ही बी. ए. की उपाधि दी जाती है; परंतु उनके हाथ में केवल दो वर्ष का समय था और इसलिये उन्हे यह परीक्षा कैम्ब्रिज में अपने द्वितीय वर्ष में ही पास करनी पड़ी; पर प्रथम खण्ड से उपाधि केवल तभी प्राप्त होती है जब इसकी परीक्षा तृतीय वर्ष में दी जाय; यदि कोई इसकी परीक्षा द्वितीय वर्ष मे दे तो उपाधि का अधिकारी बनने के लिये चतुर्थ वर्ष मे ट्राइपोस के द्वितीय खण्ड की परीक्षा देना उसके लिये आवश्यक होता है। यदि वे उपाधि की प्राप्ति के लिये प्रार्थनापत्र देते तो वे इसे प्राप्त कर सकते थे, परंतु उन्होंने इसकी कोई परवाह न की। अंग्रेजी की उपाधि का महत्त्व

केवल तभी होता है जब कोई अध्ययन-अध्यापन का जीवन अपनाना चाहता हो।

सेंट पाल स्कूल में दिन में ही पढ़ाई होती थी। तीनों भाई श्री ड्रूएट की मां के साथ कुछ समय लन्दन रहे, परंतु उसमें और मनमोहन में धर्म-विषयक कलह हो जाने से उसने उन्हें छोड़ दिया। वृद्धा श्रीमती ड्रूएट ईसाई मत की उत्साही प्रचारिका थी और उसने कहा कि वह एक नास्तिक के साथ नहीं रहेगी, अन्यथा उसपर अनर्थ ढह सकता है। उसके बाद विनयभूषण और श्रीअरविन्द ने दक्षिण केन्सिंग्टन लिबरल क्लब में एक कमरा ले लिया। बंगाल के भूतपूर्व लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर हेनरी काटन के भाई श्री जे. एस. काटन उस क्लब के मंत्री थे और विनय उस कार्य में उनकी सहायता करते थे। मनमोहन एक 'लाज' (lodge)[1] मे चले गये। यह अत्यंत कष्ट और गरीबी का समय था। पीछे श्रीअरविन्द भी, कैम्ब्रिज में निवास-स्थान लेने से पूर्व, अलग एक 'लाज' में रहने लगे।

लंदन में स्कूल-जीवन के कष्ट

पूरे एक वर्ष भर प्रातःकाल सैंडविच (Sandwich) के एक दो टुकड़े, रोटी और मक्खन तथा एक प्याला चाय और शाम को एक आने का कबाब यही उनका भोजन रहा।

आई. सी. एस. के अंतर्गत घुड़सवारी की परीक्षा में सम्मिलित न हो सके

ऐसा कोई कारण नही था जिसने उन्हें अपने कमरे से बाहर न निकलने दिया हो। उन्हें आई. सी. एस. में जाने की कोई प्रवृत्ति नही थी और वे इस बंधन से बचने का कोई तरीका ढूंढ़ रहे थे। अपने-आप सिविल सर्विस का परित्याग करने की जगह—जिसके लिये उनके घरवाले अनुमति न देते—कुछ युक्तियों से उन्होंने अपने को घुड़सवारी के अयोग्य सिद्ध करने का उपाय निकाल लिया।

(श्रीअरविन्द, २० वर्ष की आयु से पूर्व, ग्रीक, लेटिन और अंग्रेजी भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे और जर्मन, फ्रेंच, इटालियन जैसी अन्य यूरोपीय भाषाओं का भी उन्होंने पर्याप्त परिचय प्राप्त कर लिया था।)

इसमें यह संशोधन कर लेना चाहिये : "......ग्रीक और लेटिन तथा अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे और जर्मन तथा इटालियन आदि यूरोपीय भाषाओं का भी कुछ परिचय प्राप्त कर लिया था।"

(इंगलैंड में छोटी अवस्था में ही उन्होंने अपने देश को स्वतंत्र करने का दृढ निश्चय किया था।)

---

[1]विलायत में जो परिवार खर्च लेकर अपने यहां मेहमान रखते है उनके निवासस्थान को 'लाज' (lodge) कहते है।

बात ठीक ऐसी ही नहीं है; श्रीअरविन्द ने पहले पहल इसी आयु में भारतीय राजनीति में दिलचस्पी लेना शुरू किया था, जिसके विषय में वे इससे पूर्व कुछ नहीं जानते थे। उनके पिताजी उन्हे 'बंगाली' नामक अंग्रेजी समाचारपत्र भेजने लगे। उसमें वे भारतीयों के साथ अंग्रेजों के दुर्व्यवहार के समाचारों पर निशान लगा देते थे और अपने पत्रों में वे भारत की ब्रिटिश सरकार को हृदयहीन सरकार कहकर उसकी निन्दा किया करते थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही श्रीअरविन्द को इस बात का तीव्र अनुभव हो गया था कि जगत् में एक सार्वभौम उथल-पुथल और महान् क्रांतिकारी परिवर्तनों का समय आ रहा है और स्वयं उनका भी उसमें भाग लेना देवनिर्दिष्ट है। तब उनका ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ और शीघ्र ही वह अनुभव अपने देश को स्वतंत्र करने के विचार में परिणत हो गया। परंतु उस "दृढ़ निश्चय" ने अपना परिपक्व रूप और चार वर्षों के बाद ही ग्रहण किया। कैम्ब्रिज जाने से पूर्व ही वे यह निश्चय कर चुके थे और वहां 'भारतीय मजलिस' के एक सदस्य तथा कुछ काल के लिये मन्त्री के रूप में उन्होंने अनेक क्रांतिपूर्ण भाषण भी दिये। बाद में उन्हें पता लगा कि भारत की सिविल सर्विस से उन्हें अलग रखने के अधिकारियों के निर्णय में इन भाषणों का भी हाथ था। घुड़सवारी की परीक्षा में असफल होना तो एक निमित्तमात्र था, क्योंकि कुछ अन्य व्यक्तियों को स्वयं भारत में भी इस कमी को पूरा करने का अवसर दिया गया था।

(युवा श्रीअरविन्द ने इंगलैड में रहते हुए "Lotus and Dagger–"कमल और कटार"– नाम की एक गुप्त संस्था स्थापित की थी।)

यह सत्य नहीं है। लन्दन में रहनेवाले भारतीय विद्यार्थी एक बार एक गुप्त संस्था की स्थापना करने के लिये इकट्ठे तो हुए थे जिसका रोमांचक नाम उन्होंने "कमल और कटार" रखा था। इसमें प्रत्येक सदस्य ने प्रतिज्ञा की कि सामान्य रूप से वह भारत को स्वाधीन करने के लिये कुछ न कुछ कार्य करेगा और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये कोई विशेष कार्य भी अपने ऊपर लेगा। श्रीअरविन्द ने इस संस्था को गठित नही किया था, किंतु वे अपने भाइयों के साथ इसके सदस्य बने थे। पर यह संस्था मानो मरी हुई ही जन्मी थी! यह घटना भारत लौटने से ठीक पहले और कैम्ब्रिज से अंतिम बिदाई लेने के बाद की है। उस समय भारतीय राजनीति नरम और भीरुतापूर्ण थी और इंगलैड में रहनेवाले भारतीय विद्यार्थियों का यह इस प्रकार का पहला ही प्रयत्न था। स्वयं भारत में श्रीअरविन्द के नाना राजनारायण बोस ने भी एक बार एक गुप्त समिति का निर्माण किया था–जिसके रवि ठाकुर भी, जो उस समय सर्वथा तरुण थे, सदस्य बने थे–और राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी प्रचार के लिये एक संस्था भी स्थापित की थी, परंतु अंत में इसका कुछ भी फल न निकला। आगे चलकर महाराष्ट्र में क्रांति की भावना का जन्म हुआ और पश्चिमी भारत में एक

गुप्त संस्था आरंभ हुई जिसके प्रधान एक राजपूत सरदार थे और बंबई में इसकी पांच सदस्यों की एक परिषद् थी और अनेक प्रमुख मराठे राजनीतिज्ञ इसके सदस्य थे। इस संस्था से श्रीअरविन्द ने १९०२–३ के बीच किसी समय अपना संपर्क स्थापित किया और इसके सदस्य भी बन गये। इससे कुछ दिन पहले ही उन्होंने स्वयं बंगाल में एक गुप्त क्रांतिकारी कार्य आरंभ कर दिया था। बंगाल में उन्होंने देखा कि कुछेक बहुत छोटी-छोटी गुप्त संस्थाएं हाल ही में आरंभ हुई हैं और बिना किसी स्पष्ट पथप्रदर्शन के पृथक् पृथक् कार्य कर रही हैं; और उन्होंने एक समान कार्यक्रम के द्वारा उन्हें सम्मिलित करने का यत्न किया। वह सम्मिलन न तो पूरा हो पाया और न स्थायी ही रहा, परंतु स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ता गया, बहुत शीघ्र ही वह अत्यधिक विस्तृत हो गया और बंगाल में व्यापक विक्षोभ का एक प्रबल अंग बन गया।

(लंदन में रहते हुए वे फेबियन सोसायटी–Fabian Society–के साप्ताहिक अधिवेशनों में सम्मिलित हुआ करते थे।)

एक बार भी सम्मिलित नहीं हुए।

(युवक श्रीअरविन्द मनुष्य और प्रकृति में निहित सौंदर्य के प्रति संवेदनशील थे.... मनुष्य के प्रति मनुष्य की क्रूरता के सहस्रों दृष्टांत देखकर उन्हें पीड़ा होती थी।)

पीड़ा की अपेक्षा घृणा का ही अधिक अनुभव होता था; बिलकुल बचपन से ही सब प्रकार की क्रूरता और अत्याचार के प्रति तीव्र घृणा और विरक्ति थी, परन्तु 'पीड़ा' शब्द उस प्रतिक्रिया का ठीक-ठीक वर्णन नहीं करता।

(५ वर्ष की आयु तक उन्हें कुछ टूटी-फूटी बंगला आती होगी। उसके पश्चात् २१ वर्ष की आयु तक वे केवल अंग्रेजी में ही बातचीत करते रहे।)

मेरे पिताजी के घर में केवल अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी बोली जाती थी। मैं बंगला नहीं जानता था।

(इंगलैंड में १८ से २० वर्ष की आयु के बीच लिखी हुई श्रीअरविन्द की अंग्रेजी कविताओं में, जो अधिकांश में "Songs to Myrtilla" पुस्तक में सम्मिलित की गई हैं, विदेशीय तत्त्व ही प्रधान है। केवल नाम, रूप-स्वरूप और संकेत ही अपने परिधान में वैदेशिक नहीं हैं बल्कि साहित्यिक प्रतिध्वनियों की भी भरमार है जो विभिन्न स्रोतों से ली गई हैं।)

विदेशीय किस अर्थ में है? वे भारत अथवा इसकी संस्कृति आदि के विषय में कुछ नहीं जानते थे। ये कविताएं उस शिक्षा-दीक्षा, उन कल्पनाओं और भाव-भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं जो शुद्ध यूरोपीय संस्कृति एवं परिस्थिति से उत्पन्न हुई थीं–इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता था। इसी प्रकार उसी पुस्तक में भारतीय विषयों और परिस्थितियों पर

लिखी कविताएं उन प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करती हैं जो स्वदेश लौटने तथा इन चीजों से प्रथम परिचय प्राप्त करने के बाद भारत एवं इसकी संस्कृति के प्रति पहले पहल उत्पन्न हुई थी।

(मैकाले की कविता "A Jacobite's Epitaph" की भांति श्रीअरविन्द की कविता "Hic Jacet" भी शब्दों की नितांत मितव्ययिता के कारण गंभीर सौंदर्य से समन्वित हैं; इस कविता की विषय-वस्तु, यहां तक कि लय और भाषा—सभी मैकाले की याद दिलाती है।)

यदि ऐसी बात है तो यह कोई अचेतन प्रभाव ही होगा; क्योंकि आरंभिक बाल्यकाल के बाद मैकाले की कविता (The Lays) का आकर्षण जाता रहा। "जैकोबाइट्'स एपीटाफ" (Jacobite's Epitaph) शायद मैंने दूसरी बार भी नही पढ़ी; इसने मन पर कोई छाप नही डाली।

(सर हेनरी काटन का श्रीअरविन्द के नाना महर्षि राजनारायण बोस से बहुत मेल-जोल था। उनके पुत्र जेम्स काटन इस समय लंदन में थे। इन अनुकूल अवस्थाओं के फलस्वरूप बड़ौदे के गायकवाड़ से भेंट हुई।)

काटन मेरे पिताजी के मित्र थे—उन्होंने मुझे बंगाल में नियुक्त कराने का प्रबंध कर लिया था; परंतु गायकवाड़ के साथ मेरी भेंट होने में उनका कोई हाथ नहीं था। जेम्स काटन का मेरे बड़े भाई के साथ खूब परिचय था, क्योंकि दक्षिण केन्सिंग्टन लिबरल क्लब के, जहां हम रहते थे, वे मंत्री थे और मेरे भाई उनके सहायक थे। वे हम दोनों में बहुत दिलचस्पी लेते थे। उन्ही ने गायकवाड़ से मेरी भेंट कराई थी।

(चौदह वर्ष तक युवक श्रीअरविन्द अपने देश की संस्कृति से विच्छिन्न होकर इंगलैंड में रहे थे और अपने आप से प्रसन्न नही थे। वे चाहते थे कि सब कुछ नये सिरे से शुरू करें और अपने को फिर से राष्ट्रीय बनाने का यत्न करें।)

इस कारण से किसी प्रकार की अप्रसन्नता हो यह बात नहीं थी, न उस समय जान-बूझकर अपने को पुनः राष्ट्रीय बनाने की कोई इच्छा ही थी—ऐसी इच्छा तो, भारत पहुंचने के बाद, भारतीय संस्कृति और जीवन-प्रणाली के प्रति सहज आकर्षण तथा सभी भारतीय वस्तुओं के लिये स्वभावगत संवेदना और अभिरुचि होने के कारण पैदा हुई थी।

(वे इंगलैंड से विदा ले रहे थे, विदा लेना चाहते थे, और फिर भी विदा लेने का विचार आते ही उन्हें अनुताप भी अनुभव होता था। अवर्णनीय संदेहों और संतापों से उनका चित्त कांपने लगता; काव्य-रचना का आश्रय लेकर उन्होंने उनसे छुटकारा पाया।)

इंगलैंड मे प्रस्थान करते हुए ऐसा कोई संताप नही हुआ, न अतीत से मोह-ममता थी

न भविष्य के संबंध में संदेह। इंगलैंड में बहुत ही कम लोगों से मैत्री थी और अत्यंत घनिष्ठता तो किसी से भी नही थी; वहां का मानसिक वातावरण अनुकूल नही लगा। इसलिये किसी ऐसे छुटकारे की आवश्यकता ही नही थी।

(श्रीअरविन्द बड़ौदे के गायकवाड़ के यहां नौकरी करने के लिये भारत लौट रहे थे; उन्होंने अपने गृहीतप्राय देश पर अंतिम दृष्टि डाली और 'सोंग्स टु मिरटिला' (Songs to Myrtilla) के अंतिम पद्य 'आंव्वा' (Envoi) में अपने विदाई के उद्‌गार प्रकट किये।)

नही, वे उद्‌गार एक संस्कृति से दूसरी में संक्रमण करने के विषय में थे। अंग्रेजी भाषा और यूरोपीय विचार एवं साहित्य से आसक्ति थी, पर देश के रूप में इंगलैंड से नही; वहां, जैसा कि मनमोहन ने कुछ समय के लिये किया था, उन्होंने कोई नाता नहीं जोड़ा था और न इंगलैंड को अपना वृत देश (adopted country) ही बनाया था, इसके विपरीत यदि द्वितीय देश के रूप में यूरोप के किसी प्रदेश से आसक्ति थी भी तो वह थी बौद्धिक एवं हार्दिक रूप में उस प्रदेश से जिसे उन्होंने न तो देखा था और न जिसमें वे रहे ही थे, अर्थात् इंगलैंड से नही बल्कि फ्रास से।

इंगलेंड मे उनके नाम–ए. ए. घोष–में "एक्रायड" (Acroyd) का प्रयोग

इंगलैंड छोडने से पहले ही श्रीअरविन्द ने अपने नाम में से "एक्रायड" शब्द निकाल दिया था और इसका प्रयोग फिर कभी नही किया।

(अपने पुत्र की मृत्यु के मिथ्या समाचार के कारण श्रीअरविन्द के पिताजी की मृत्यु।)

अन्य दो भाइयों के इंगलैंड से प्रस्थान करने की कोई बात ही नही थी। उन्हें केवल श्रीअरविन्द की मृत्यु का समाचार सुनाया गया था और श्रीअरविन्द का नाम लेकर विलाप करते करते ही उनके प्राण छूटे।

(अपने पिताजी के निधन के पश्चात् परिवार के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व उनपर आ पड़ा और शीघ्र ही कोई नौकरी करना उनके लिये आवश्यक हो गया।)

उस समय परिवार के पालन का कोई प्रश्न सामने नही था। वह तो भारत जाने के कुछ समय बाद सामने आया।

***

(२) बड़ौदे का जीवन

बड़ौदा रियासत की सेवा

(१)

पहले उन्हें भूमि-व्यवस्था-विभाग (Land Settlement Department) में नियुक्त किया गया, फिर कुछ समय के लिये स्टाम्प्स ओफ़िस (Stamps Office) में, उसके अनंतर केंद्रीय राजस्व कार्यालय (Central Revenue Office) तथा मंत्रालय (Secretariat) में। तत्पश्चात् कालिज में नियुक्त हुए बिना तथा अन्य कार्य करते हुए वे कालिज में फ्रेंच के उपाध्याय रहे और अंत में उनके प्रार्थना करने पर उन्हें वहां अंग्रेजी के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त कर दिया गया। इस सारे काल में, जब कभी कोई ऐसी चीज लिखनी होती जिसकी शब्द-योजना ध्यानपूर्वक करना आवश्यक होता तो महाराज उन्हें उसके लिये बुलवा भेजते; अपने कुछ सार्वजनिक भाषण तैयार करने तथा अन्य साहित्यिक या शैक्षणिक ढंग के कार्य में भी महाराज ने उनकी सहायता ली। आगे चलकर श्रीअरविन्द कालिज के वाइस-प्रिंसिपल बन गये और कुछ समय स्थानापन्न प्रिंसिपल भी रहे। महाराज का बहुत सा निजी कार्य वे गैरसरकारी हैसियत से ही करते थे; प्रायः ही वे महाराज के निमंत्रण पर उनके साथ प्रातराश करने के लिये उनके महल पर जाया करते और तब उनका निजी कार्य करने के लिये वहां ठहर जाते थे।

(२)

श्रीअरविन्द व्यक्तिगत मंत्री के पद पर कभी नियुक्त नहीं हुए। सबसे पहले उन्हें भूमि-व्यवस्था-विभाग में अधिकारी के रूप में नहीं बल्कि काम सीखने के लिये रखा गया, उसके बाद स्टाम्प्स और राजस्व विभागों में; कुछ समय के लिये उन्हें चिट्ठी-पत्री आदि का मसविदा बनाने के लिये सचिवालय में भी नियुक्त किया गया। अंत में, वे कालिज के अध्यापन-कार्य की ओर झुके और पहले वहां थोड़े समय फ्रेंच पढाने के लिये गये, बाद में अंग्रेजी के नियमित उपाध्याय हो गये और अंत में वाइस-प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त हुए। इस बीच, जब कभी महाराज आवश्यक समझते, वे चिट्ठियां लिखने, भाषण तैयार करने या अनेक प्रकार के सरकारी कागजों का, जिनके शब्द-विन्यास में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती, मसविदा बनाने के लिये उनको बुला भेजते थे। यह सब वह अपने नियमित कार्य के रूप में नहीं करते थे; व्यक्तिगत मंत्री के पद पर उनकी नियुक्ति नहीं हुई थी। एक बार महाराज अपनी काश्मीर-यात्रा में श्रीअरविन्द को मंत्री के रूप में साथ ले गये, परंतु यात्रा-काल में दोनों के बीच बहुत मतभेद उठ खड़ा हुआ और इसलिये वह परीक्षण फिर नहीं दुहराया गया।

महाराज का प्रमाण-पत्र

"परिश्रमी, गंभीर इत्यादि"—श्रीअरविन्द के गुणों का यह मूल्यांकन वह नहीं है जो महाराज ने किया था। उन्होंने उनको योग्यता और प्रतिभा के साथ-साथ समयपालन और नियमितता के अभाव के लिये भी प्रमाणपत्र दिया था। यदि "परिश्रमी और गंभीर" तथा "प्रशंसनीय सेवा-कार्य" कहने की जगह यह कहा जाता कि वे प्रतिभाशाली तथा कार्य में क्षिप्र और कुशल थे तो अधिक सत्य होता। जैसा वर्णन यहां किया गया है वह एक अशुद्ध चित्र उपस्थित करता है।

(अधिकारियों ने उनके देशभक्ति के कार्यों पर आपत्ति की।)

क्या यह संकेत बड़ौदे के अधिकारियों की ओर है?

श्रीअरविन्द को नहीं मालूम कि उनके कथनों या लेखों पर कभी आपत्ति की गई हो। 'इंदु प्रकाश' में उनके लेख विना नाम के निकला करते थे, यद्यपि बंवई के वहुत से लोगों को पता था कि इनके लेखक श्रीअरविन्द ही हैं। अन्यथा स्वयं राजमहल में कुछ अवसरों को छोड़कर, जैसे, डा. एस. के. मल्लिक के स्वागत के समय, जिसका राजनीति से कुछ भी संवंध नहीं था, वे मुख्यतः वड़ौदा कालिज संघ के सभापति के रूप में ही भाषण दिया करते थे। इसपर किसी भी समय कोई भी आपत्ति नही की गई और बड़ौदा छोड़ने से पहले तक वे वरावर ही संघ की कुछ विवाद-सभाओं का सभापतित्व करते रहे। हां, इंगलैंड में केंब्रिज में अध्ययन करते हुए भारतीय मजलिस की सभाओं में उन्होंने कुछ क्रांतिपूर्ण भाषण दिये थे जिन्हें इंडिया आफिस ने उनके विरुद्ध एक अपराध के रूप में गिना था।

(श्रीअरविन्द जव भारत पहुंचे तो वे टूटी-फूटी वंगला के सिवा और कोई भारतीय भाषा नहीं जानते थे; वंगला तो उन्हें आई. सी. एस. के लिये एक विषय के रूप में पढ़नी पड़ी थी।)

आई. सी. एस. की प्रतियोगिता की परीक्षा में वंगला पाठ्य विषय नहीं थी। प्रतियोगिता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के वाद श्रीअरविन्द ने एक ऐसे उम्मीदवार के रूप में, जिसने वंगाल को अपना कार्यक्षेत्र चुना था, बंगला सीखनी शुरू की। परंतु उन्हें अत्यंत साधारण शिक्षा ही प्राप्त हो सकी; उनके शिक्षक वंगाल के एक अवकाशप्राप्त अंग्रेज जज थे, जो विशेष योग्य नहीं थे, पर फिर भी उन्होंने वहां पर जो कुछ सीखा वह 'कुछ नहीं' से अधिक था। वंगला तो श्रीअरविन्द ने अधिकांशतः स्वयमेव वाद में बड़ौदा आने पर सीखी।

बड़ौदे में बंगला का अध्ययन

वंगला सीखने के विषय में यह कहा जा सकता है कि अपने लिये कोई शिक्षक रखने से पहले ही श्रीअरविन्द इतनी भाषा जानते थे कि वे वंकिम के उपन्यासों तथा मधुसूदन

के काव्य का मूल्याकन कर सकते थे। वाद में उन्होंने इसका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया जिससे वे स्वयं वंगला में लिख सकें और अधिकतर अपने ही लिखे लेखों से एक साप्ताहिक चला सकें, परतु इस भाषा पर उनका अधिकार अंग्रेजी जितना नहीं था और उन्होंने अपनी मातृभाषा में भाषण देने का साहस कभी नहीं किया।

(वड़ौदे में श्रीअरविन्द दिनेन्द्रकुमार राय से नियमपूर्वक वंगला पढ़ते थे।)

नही, वे उनसे नियमपूर्वक नहीं पढ़ते थे। दिनेन्द्र एक साथी की तरह श्रीअरविन्द के साथ रहते थे और उनका कार्य कोई नियमित शिक्षा देना नही वल्कि उनके भाषा-ज्ञान को शुद्ध करने तथा पूर्ण बनाने मे उनकी सहायता करना और उन्हें वंगला में वातचीत का अभ्यास कराना था।

श्रीअरविन्द दिनेन्द्रकुमार के छात्र नहीं थे; वे वंगला पहले ही स्वयमेव सीख चुके थे और दिनेन्द्र को उन्होंने अपने अध्ययन में सहायता करने के लिये ही वुलाया था।

(वड़ौदे में श्रीअरविन्द ने कई पण्डित रखकर वंगला और संस्कृत का अनुशीलन आरंभ किया।)

वंगला के लिये उन्होने एक तरुण वंगाली साहित्यिक को अपना शिक्षक रखा था, पर संस्कृत के लिये कोई शिक्षक नही रखा।

(वडौदे मे उन्होंने हिन्दी का भी अध्ययन किया।)

श्रीअरविन्द ने हिन्दी कभी नही पढ़ी; परंतु संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं से अभिज्ञ होने के कारण उन्होंने हिन्दी विना किसी नियमित अध्ययन के ही आसानी से सीख ली और जव वे हिन्दी पुस्तके या समाचारपत्र पढ़ते तो उनको समझने में उन्हें कठिनाई नही होती थी। संस्कृत उन्होने वंगला द्वारा नही वल्कि सीधी संस्कृत या अंग्रेजी के द्वारा सीखी।

(वडौदे में सभी साहित्यों तथा इतिहास आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने के वाद वे वेद के महत्त्व का अनुभव करने लगे।)

नहीं। वेद का अध्ययन उन्होंने पांडिचेरी में आरंभ किया था।

(१८९५ में केवल मित्रो में वितरित करने के लिये उनकी कुछ कविताएं प्रकाशित हुईं जिनमे से पांच इंगलैंड मे लिखी गई थीं और शेष वड़ौदे में।)

वात उससे ठीक उलटी है; इस पुस्तक (Songs to Myrtilla) की उन पांच पीछे की कविताओं को छोड़कर जो उन्होंने भारत लौटने के वाद लिखी, शेष सभी इंगलैंड मे लिखी गई थीं।

(यह असंभव नहीं है कि "बाजी प्रभु" और "विदुला"—श्रीअरविन्द की आरंभिक काल की दो लंबी कविताएं—वस्तुतः बड़ौदे के अन्तिम वर्षों में लिखी गई हों या कम से कम इनकी मानसिक रूप-रेखा तभी बनायी गई हो।)

नहीं, ये कविताएं बंगाल में राजनीतिक कार्य के दिनों में सोची और लिखी गई।

(श्रीअरविन्द जब केवल एक विवेकशील शिक्षक या सिद्धहस्त कवि थे. . . . तब भी वे मुख्य रूप से त्याग और सेवा की समस्या में व्यस्त रहते थे. . . . . बिलकुल आरंभ से ही निजी मोक्ष या वैयक्तिक सुख का विचार उन्हें अत्यंत अप्रिय था।)

"अत्यंत अप्रिय"—यह कथन कुछ अत्युक्तिपूर्ण है। यों कहना चाहिये कि यह विचार परमोच्च लक्ष्य या स्वयं अपने लिये ही अनुसरण करने योग्य चीज नही प्रतीत हुआ; व्यक्तिगत मोक्ष, जो संसार को अपने भाग्य पर ही छोड़ दे, विरस सा प्रतीत होता था।

(बड़ौदा-राज्य की सेवा करते हुए श्रीअरविन्द के मन में निरंतर यह विचार उठने लगा कि क्या उन्हें बंगाल या स्वयं भारत देश के बृहत्तर जीवन की सेवा का कोई सुयोग प्राप्त नहीं हो सकता।)

उन्होंने इंगलैंड में ही यह निश्चय कर लिया था कि वे अपना जीवन देश की सेवा में तथा इसे स्वतन्त्र करने में लगायेंगे। भारत आने के बाद शीघ्र ही उन्होंने दैनिक पत्रों में (बिना अपना नाम दिये) राजनीतिक विषयों पर लेख लिखने भी शुरू कर दिये और देश को भविष्य के विचारों के प्रति जागृत करने का यत्न करने लगे। परंतु उस समय के नेताओं ने उन विचारों का सम्यक् स्वागत नहीं किया तथा आगे के लिये उनका प्रकाशन रुकवा दिया और तब श्रीअरविन्द ने मौन धारण कर लिया। परंतु उन्होंने न तो अपने विचार ही त्यागे और न प्रभावपूर्ण कार्य की आशा ही छोड़ी।

"इन्दु प्रकाश" में लेख

"इन्दु प्रकाश" के लेखों के संबंध में तथ्य ये थे। श्रीअरविन्द के कैम्ब्रिज के मित्र के. जी. देशपांडे उक्त पत्र के संपादक थे। उनके कहने पर ही श्रीअरविन्द ने लेख लिखने शुरू किये थे। परंतु पहले दो लेखों से ही सनसनी फैल गई और रानाडे तथा कांग्रेस के अन्य नेता भय से कांप उठे। रानाडे ने पत्र के मालिक को चेतावनी दी कि अगर यह क्रम चलता रहा तो निश्चय ही उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जायगा। इसलिये मालिक के कहने पर लेखों की मूल योजना छोड़ देनी पड़ी। देशपाण्डे ने श्रीअरविन्द से प्रार्थना की कि वे कुछ कम उग्र शैली में लेख लिखने का सिलसिला जारी रखें और उन्होंने अनिच्छापूर्वक ही उनकी बात मान ली, परंतु लिखने में अब उनकी रुचि नहीं रही और लेख बहुत काफी अंतर से प्रकाशित होने लगे और अन्त में बिलकुल बन्द हो गये।

("इन्दु प्रकाश" मे उन्होने जो धारावाहिक लेख लिखे वे भारतीय सभ्यता के विषय पर थे और उनका शीर्षक था : "पुराने दीपकों की जगह नये दीपक"।)

इस शीर्षक का लक्ष्य भारतीय सभ्यता नहीं वल्कि कांग्रेस की राजनीति की ओर था। इसका प्रयोग अलाद्दीन की कहानीवाले भाव में नही वल्कि इस भाव में किया गया था कि काग्रेस के पुराने और टिमटिमाते हुए सुधारवादी दीपकों का स्थान नये दीपकों को दिया जाय।

(उन्होंने वड़ौदे और वंवई के अपने कुछ मित्रों को क्रांतिकारी आंदोलन की भूमि तैयार करने के लिये वंगाल भेजा।)

वड़ौदे और वंवई का उनका कोई भी मित्र उनकी ओर से वंगाल नहीं गया। उनका पहला गुप्तचर एक वंगाली युवक था जो वड़ोदा-सैन्य में काम करनेवाले श्रीअरविंद के मित्रों की सहायता से घुड़सवारों की सेना में एक सैनिक के रूप में भरती हो गया था यद्यपि भारत की किसी भी सेना में किसी वंगाली को भरती करना व्रिटिश सरकार की ओर से मना था। इस युवक ने, जो अत्यंत उद्योगशील और योग्य था, कलकत्ते में प्रथम दल का निर्माण किया जो बड़े वेग से विकसित हुआ (आगे चलकर इसकी अनेक शाखाएं स्थापित हो गई); उसने पी. मित्तर तथा अन्य क्रांतिकारियों से भी, जो प्रांत में पहले से कार्य कर रहे थे, संपर्क स्थापित किया। पीछे वारीन भी, जो इस बीच वड़ौदे आये थे, उससे जा मिले।

(इस समय वंवई में एक गुप्त संस्था थी जिसके प्रधान उदयपुर के राजपूत राजा थे।)

वह राजपूत नेता एक राजा, अर्थात् शासक नही थे, वल्कि उदयपुर राज्य के एक सरदार थे जिनकी उपाधि ठाकुर थी। वे ठाकुर वंवई की कौंसिल के सदस्य नही थे; वे संपूर्ण आंदोलन के नेता के रूप में इससे ऊपर थे जव कि कौंसिल संपूर्ण महाराष्ट्र तथा मराठा राज्यों को संगठित करने में उनकी सहायता करती थी। वे स्वयं मुख्य रूप से भारतीय सेना को अपने साथ करने के लिये कार्य करते थे जिसकी दो-तीन पलटनों को वे अपने पक्ष में कर भी चुके थे। इनमें से एक पलटन के भारतीय छोटे अधिकारियों एवं सैनिकों से मिलने तथा वातचीत करने के लिये श्रीअरविन्द ने मध्य भारत की विशेष यात्रा की थी।

(वड़ौदा-निवास के समय श्रीअरविन्द ने प्रभावशाली लोगों तथा महत्त्वपूर्ण दलों से संपर्क स्थापित किया। वे "यह देखने के लिये" वंगाल गये कि "वहां पुनरुज्जीवन की कितनी आशा है, जनता की राजनीतिक स्थिति क्या है और वास्तविक आन्दोलन की कोई संभावना है या नहीं"।)

इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि उन्होंने एक कार्य आरंभ कर रखा था जो अभी तक सर्वथा अज्ञात था; और उसी कार्य के सिलसिले में वे "यह देखने के लिये" वंगाल

गये "कि पुनरुज्जीवन की कितनी आशा है इत्यादि"।

(१९०० से श्रीअरविन्द की यह इच्छा थी कि वे राजनीतिक संघर्ष में प्रवेश करें और जो शक्तियां भारत को स्वतंत्र करने तथा उसका पुनरुत्थान करने के लिये गंभीरतापूर्वक कार्य कर रही हैं उन्हें अपनी शक्ति भर सहयोग दें। उन्होंने प्रथम श्रेणी के नेताओं से गुप्त वार्तालाप तथा पत्र-व्यवहार किया और उनपर दबाव डाला; परंतु अभी तक वे कुछ नही कर पाये थे।)

इससे बात का ठीक-ठीक पता नही लगता। इसके पहले से ही वे कतिपय अग्रगण्य नेताओं के साथ मिलकर राजनीतिक आन्दोलन के लिये कुछ ऐसी संस्थाएं संगठित करने का कार्य कर रहे थे जो आन्दोलन का समय आने पर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ें[1]; परंतु जनता के बीच वे अभी तक कुछ भी कार्य नहीं कर पाये थे।

(यहां तक कि उनका अपना निर्भीक प्रांत बंगाल भी उनकी प्रेरणा एवं उनकी शक्तिशाली राष्ट्रीयता की शिक्षा को ग्रहण करने के लिये इच्छुक नहीं था।)

उस समय बंगाल और कुछ भी हो निर्भीक तो नहीं था; 'वन्दे मातरम्' के मंत्र और क्रांतिकारी आन्दोलन में कूद पड़ने से ही प्रांत की जनता में परिवर्तन हुआ था।

(उन्होंने देखा कि बंगाल में "सर्वत्र निराशा और उदासीनता का भाव छाया हुआ है"। इसलिये अपने समय की प्रतीक्षा करने के सिवा उनके लिये और कोई चारा न था।)

इसके साथ यह भी कहना चाहिये कि "अपना राजनीतिक कार्य पर्दे के पीछे चुपचाप

---

[1]प्रारंभ में इस संगठन का कार्यक्रम था—स्वराज्य, स्वदेशी और बहिष्कार। इसके लिये स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वातंत्र्य था। स्वराज्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले बंगला-मराठी-पत्रकार सखाराम गणेश देवस्कर ने किया था। इन्होंने 'देशेर कथा' नाम की एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें भारत की आर्थिक दासता से संबंधित सारी बातों को विस्तारपूर्वक संगृहीत किया था। उस पुस्तक का बंगाल के युवकों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और उन्हें क्रांतिकारी बनने में उसने सहायता पहुंचायी। क्रांतिकारी दल ने स्वराज्य शब्द को अपने आदर्श के रूप में अपना लिया और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय द्वारा संपादित बंगला पत्र 'सन्ध्या' ने इसका खूब प्रचार किया। कलकत्ता कांग्रेस में दादा भाई नौरोजी ने इसे औपनिवेशिक स्व-शासन के पर्याय के रूप में व्यवहृत किया परंतु इसका यह संकुचित अर्थ अधिक समय तक नहीं चल सका। श्रीअरविन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसके अंग्रेजी पर्याय 'इण्डिपेन्डेन्स' 'Independence' का प्रयोग किया और 'वन्दे मातरम्' में इसे पुनः पुनः भारतीय राजनीति के एकमात्र प्रथम लक्ष्य के रूप में उद्घोषित किया।

करते रहने के सिवा और कोई चारा न था। सार्वजनिक कार्य के लिये अभी समय नहीं आया था।" एक बार जव उनका कार्य शुरू हो गया तो सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेने के लिये परिस्थितियां अनुकूल होने तक उन्होंने उसे जारी रखा।

(जव वे वड़ौदा-राज्य में कार्य करते थे तव कभी कभी अपने नानाजी से मुलाकात करने वंगाल जाया करते थे। उनकी इन यात्राओं का उद्देश्य राजनीतिक होता था।)

यह वात ठीक नही है। उन यात्राओं का राजनीति से कोई संवंध नही था। हां, उनके कुछ वर्ष वाद उन्होंने देवव्रत वोस के साथ, जो 'युगान्तर' में वारीन के सहयोगी थे, वंगाल की एक यात्रा की थी। उस यात्रा का उद्देश्य पहले से स्थापित कुछ क्रांतिकारी केंद्रों को देखना और दूसरे, जिले-जिले के प्रमुख व्यक्तियों से मिलना तथा देश की सामान्य मनोवृत्ति एवं क्रांतिकारी आन्दोलन की संभावनाओं का ज्ञान प्राप्त करना था। अपनी इस यात्रा के अनुभव के द्वारा उन्हे निश्चय हो गया कि गुप्त कार्य या तैयारी से अपने आपमें तव तक कोई फल नहीं निकल सकता जव तक इसके साथ साथ जनता में एक व्यापक आन्दोलन न किया जाय जो जनसाधारण में देशप्रेम की उमंग पैदा कर दे और इस विचार को प्रसारित कर दे कि स्वराज्य ही भारतीय राजनीति का आदर्श और उद्देश्य है। इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने अपना अगला कार्यक्रम निश्चित किया।

(उस समय के प्रमुख तेजस्वी पुरुषों में एक पी. मित्तर थे जो सर्वात्मभावेन एक कर्मवीर व्यक्ति थे।)

पी. मित्तर का जीवन आध्यात्मिक था; उनमें अभीप्सा थी और थी प्रवल धार्मिक भावना; वे विपिन पाल तथा वंगाल के नये राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य कई प्रमुख नेताओं की भांति, प्रसिद्ध योगी विजय गोस्वामी के शिष्य थे, परन्तु इन चीजों को उन्होंने अपनी राजनीति में नहीं शामिल किया।

(स्वामी विवेकानन्द के देशभक्ति से भरे उद्गारों का श्रीअरविन्द पर वड़ा प्रभाव पड़ा था।)

(श्रीअरविंद·विवेकानन्द के ऐसे किसी उद्गार या उनके किसी राजनीतिक कार्य से अभिज्ञ नहीं थे। हां, उन्होंने कही किसी प्रसंग में विवेकानन्द के प्रखर देशभक्तिपूर्ण भावों की वात सुनी थी जिनसे वहन निवेदिता को प्रेरणा मिली थी।

(ऐलन ह्यूम–Allan Hume–ने इंगलैंड और भारत के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को एकत्र करने के लिये माध्यम के रूप में अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की थी जिससे कि विचार-विनिमय तथा शासन-सुधार आदि के कार्यों को आगे वढ़ाया जा सके।)

उस जमाने में स्वयं कांग्रेस भी इस 'माध्यम के रूप में इत्यादि' की कांग्रेस की परिभाषा को शायद ही स्वीकार करती और ब्रिटिश सरकार भी इसे अंगीकार न करती। वह तो इस संस्था को घृणा की दृष्टि से देखती थी और इसकी यथासंभव उपेक्षा ही करती थी। श्रीअरविन्द राष्ट्र की ओर से ब्रिटिश सरकार से किसी प्रकार की प्रार्थना करने के सर्वथा विरुद्ध थे। वे कांग्रेस की नीति को एक निरर्थक आवेदन और प्रतिवाद का तरीका समझते थे और स्वावलंबन, असहयोग तथा क्रांतिकारी आन्दोलन के लिये राष्ट्र की सभी शक्तियो के संगठन को ही एकमात्र फलप्रद नीति मानते थे।

(सशस्त्र क्रांति मे श्रीअरविन्द का विश्वास नही था, न उन्हें यह पसन्द ही थी।)

यह बात गलत है। यदि श्रीअरविन्द को उग्र क्रांति की फलोत्पादकता में विश्वास न होता अथवा यदि उन्हें वह नापसंद होती तो वे उस गुप्त संस्था में कदापि सम्मिलित न होते जिसका उद्देश्य ही था राष्ट्रीय विप्लव की तैयारी करना। उनके ऐतिहासिक अध्ययन ने उन्हें वह पाठ नहीं पढ़ाया था जिसकी ओर यहां इंगित किया गया है। इसके विपरीत, उन्होंने उन क्रांतियों और विद्रोहों का जिनके फलस्वरूप कई राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, अर्थात् अंग्रेजों के विरुद्ध मध्ययुगीय फ्रांस के संघर्ष और अमरीका तथा इटली को स्वतंत्र करने-वाले विद्रोहो का बड़े चाव से अध्ययन किया था। उन्हें अपनी अधिकांश प्रेरणा इन आन्दोलनों तथा इनके नेताओं से, विशेषकर 'जान दार्क' (Jeanne d'Arc) और मेजिनी से प्राप्त हुई थी। अपने सार्वजनिक कार्यो में उन्होंने असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध को स्वातंत्र्य-संग्राम के एक साधन के रूप में अपनाया पर वे केवल इसी को एकमात्र साधन नही मानते थे। जब तक वे बंगाल में रहे, वे खुले विद्रोह की तैयारी के रूप में गुप्त क्रांतिकारी कार्य बराबर करते रहे ताकि निष्क्रिय प्रतिरोध यदि स्वतंत्रता-संग्राम के लिये अपर्याप्त सिद्ध हो तो खुली क्रांति शुरू की जा सके।

स्वदेशी, पारनेल-नीति (Parnellism)[1] और सिन-फिन आंदोलन

भारत में श्रीअरविन्द की जो नीति थी वह पारनेल-नीति पर आधारित नहीं थी। उसकी समानता सिन-फिन से अधिक थी पर वह सिन-फिन आन्दोलन से पहले निर्धारित की गई थी और इसलिये उसे इसके द्वारा प्रेरित नही कहा जा सकता।

(श्रीअरविन्द ने अपने इंगलैंड-निवास के फलस्वरूप उच्च कोटि का बौद्धिक उत्कर्ष प्राप्त किया था; पर वही पर्याप्त नहीं था और निःसंदेह वे प्रसन्न नही थे। उनके चित्त में एक गहरी व्याकुलता थी; वे नहीं जानते थे कि उन्हे अपने देशवासियों के लिये उपयोगी सिद्ध होने के लिये ठीक कौन सा कार्य करना चाहिये अथवा उसे कैसे आरंभ करना

[1] सी. एस. पारनेल के आयरिश स्वराज्य-दल की नीति।

चाहिये। सुतरां, वे योग की ओर मुड़े जिससे कि वे अपने दोलायमान विचारों और प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने और यदि संभव हो तो, अपने अंदर के गुप्त यन्त्र को पूर्ण वनाने में भी समर्थ हो सकें।)

अप्रसन्नता थी ही नहीं। "व्याकुलता" भी अधिक तीव्र शब्द है। श्रीअरविन्द की कार्य-शैली यह नही थी कि वे पहले से ही सोच-विचारकर कोई योजना वना लेते हों। वे एक निश्चित लक्ष्य अपने सामने रखकर घटनाओ का निरीक्षण करते और शक्तियों को तैयार करते और जव समय उपयुक्त लगता तव कार्यक्षेत्र में उतर पड़ते। राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रथम संगठित कार्य (ऐसे लोगो को एकत्रित करना जो स्वतंत्रता के विचार को अंगीकार करते हों और उपयुक्त आन्दोलन करने के लिये तैयार हो) उन्होंने वहुत पहले ही आरंभ कर दिया था, पर उसने नियमित रूप १९०२ में या इसके आसपास ही ग्रहण किया; इसके दो वर्ष वाद उन्होंने योगाभ्यास आरंभ किया–अपने विचारों को स्पष्ट रूप देने के लिये नहीं वल्कि ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिये जो उन्हें सहारा दे और उनके पथ को आलोकित करे।

(राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन के विषय मे परामर्श लेने के लिये वे नर्मदा के तट पर ब्रह्मानंदजी से मिले।)

श्रीअरविन्द ब्रह्मानंदजी से राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन के प्रश्न के पैदा होने से भी वहुत पहले मिले थे। ब्रह्मानंदजी ने उन्हें कभी कोई सम्मति या परामर्श नहीं दिया और न उन्होंने कभी वातचीत ही की; श्रीअरविन्द उनके मठ में केवल दर्शन और आशीर्वाद के निमित्त गये थे। वारीन का गंगानाथजी से घनिष्ठ संवंध था और उनके गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द की मण्डली के ही एक संन्यासी थे, किंतु गंगानाथजी से संवन्ध केवल आध्यात्मिक ही था।

(पांडिचेरी में अपना नीरव योग आरंभ करने पर वे शीघ्र ही लेले और उनके पूर्ववर्ती गुरुओ की शिक्षा से वहुत आगे वढ़ गये।)

यह पांडिचेरी जाने से वहुत पहले ही हो चुका था। पूर्ववर्ती गुरु कोई नहीं थे। नागा संन्यासियों के संचालक संघ के एक सदस्य से श्रीअरविन्द का कुछ संवंध था। उन्होंने उन्हें काली का एक मंत्र (या वस्तुतः एक स्तोत्र) दिया था और कुछ क्रियाओं और एक वैदिक यज्ञ का अनुष्ठान किया था, पर यह सव उनके राजनीतिक ध्येय की सफलता के लिये किया गया था, योग के लिये नहीं।

(वड़ौदा-काल में श्रीअरविन्द ने, एक एक करके, श्री हंसस्वरूप स्वामी, श्री सद्गुरु ब्रह्मानंद और श्री माधवदास से भेंट की . . . . . अपने प्रथम गुरुओं के साथ उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों का आदान-प्रदान भी किया।)

ब्रह्मानंदजी से कई बार क्षण भर के लिये उनकी भेंट हुई, पर एक महान् योगी के रूप में ही, गुरु के रूप में नहीं—केवल दर्शन और आशीर्वाद के निमित्त। शेष दोनों से उनका कोई संपर्क नहीं हुआ।

(अरविन्द बाबू स्वामीजी—परमहंस महाराज इंद्रस्वरूपजी—के उपदेशों को बड़े चाव से सुना करते थे....स्वयं उनसे मिलने गये और आसनों तथा प्राणायाम की शिक्षा ली।)

केवल गायकवाड़ के महल में उनका उपदेश सुना था, उनसे मिलने नहीं गये, उसके बाद भी बहुत समय तक प्राणायाम का अभ्यास आरंभ ही नहीं किया।

(नर्मदा के किनारे मलसर मे वे सत माधवदास से मिले और उनसे योगासन सीखे।)

नर्मदा तट के दो-एक स्थानों के दर्शन किये थे, संभवतः देशपांडे के साथ; पर मलसर या माधवदास की कुछ भी स्मृति नहीं है, यदि भेंट हुई भी हो तो निःसंदेह उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अरविन्द बाबू १८९८–९९ से ही योग में दिलचस्पी लेने लगे थे।)

नहीं। लगभग १९०४ तक मैंने योग आरभ नहीं किया।

(अपने सर्वथा प्रारंभिक गुरुओ से उनको जो मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और जो आंशिक उपलब्धि वे तब प्राप्त कर सके उससे उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि योग ही उनके अपने "गहरे दुःख" और मनुष्यजाति की नाना व्याधियों की एकमात्र ओषधि है।)

"गुरुओं" शब्द के सामने प्रश्न-चिह्न।

योग का अवलंबन अपना दुःख दूर करने के लिये नहीं किया गया था; और न दूर करने के लिये कोई दुःख था ही। संसार तथा इसकी कठिनाइयों का सामना करने के लिये उनकी प्रकृति में सदा पर्याप्त समता बनी रहती थी, और उठती जवानी मे कुछ अन्तर्विषाद के रहने के बाद (उसका कारण कोई बाहरी अवस्था नहीं थी और न वह दुःख या उदासी की सीमा तक ही पहुंचा था, क्योकि वह केवल आंतरिक प्रकृति का एक रेशा था), यह समता पर्याप्त स्थिर हो गई।

***

(३) भारतीय राष्ट्रीयता के नायक

श्रीअरविन्द के राजनीतिक जीवन का एक सामान्य परिचय

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचारों और कार्यों के तीन पहलू थे। सबसे पहला था वह कार्य जिससे उन्होंने आरंभ किया, अर्थात् वह गुप्त क्रांतिकारी प्रचार और संगठन जिसका मुख्य उद्देश्य था सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना। दूसरा था एक सार्वजनिक प्रचार जिसका प्रयोजन था संपूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता के आदर्श की दीक्षा देना। जब वे राजनीतिक क्षेत्र में उतरे तब अधिकतर भारतीय इसे एक अव्यवहार्य और प्रायः पागलों की सी कल्पना समझते थे। यह समझा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अत्यंत शक्तिशाली है और भारत अत्यंत दुर्बल; उसे पूरी तरह निःशस्त्र कर दिया गया है और वह इतना निर्वीर्य हो गया है कि ऐसे प्रयत्न में सफल होने का स्वप्न भी नहीं देख सकता। तीसरा पहलू था जनता का संगठन करना जिससे कि अधिकाधिक बढ़ते हुए असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा विदेशी शासन का सार्वजनिक और संयुक्त रूप से विरोध करके उसकी जड़ें खोखली कर दी जायं।

उस समय बड़े-बड़े साम्राज्यों का सैनिक संगठन तथा उनकी सैनिक सामग्री और साधन आज की तरह सबल और प्रत्यक्षतः अदम्य से न थे। अभी तक राइफल ही निर्णायक अस्त्र था, वायुयान-शक्ति का अभी विकास नहीं हुआ था और तोप-बंदूक की शक्ति इतनी प्रलयंकर नहीं थी जितनी कि यह अब हो गई है। भारत निःशस्त्र कर दिया गया था, परंतु श्रीअरविन्द का ख्याल था कि समुचित संगठन और बाहरी सहायता से यह कठिनाई पार की जा सकती है और भारत जैसे विशाल देश में तथा नियमित ब्रिटिश सैन्य की अल्पता को देखते हुए, एक देश-व्यापी प्रतिरोध और विद्रोह के साथ-साथ गुरिल्ला युद्ध भी फलप्रद हो सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना में भी व्यापक विद्रोह कराने की संभावना थी। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश लोगों के स्वभाव, उनके चारित्र्य की विशेषताओं तथा उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों के झुकाव का अध्ययन भी कर रखा था, और उनका विश्वास था कि यद्यपि वे भारतीय जनता के स्वतंत्र होने के हरेक प्रयत्न का प्रतिरोध करेंगे और, बहुत हुआ तो, अत्यंत धीमे धीमे केवल ऐसे सुधार ही स्वीकार करेंगे जिनसे उनका साम्राज्यीय प्रभुत्व दुर्बल न होता हो, फिर भी वे इस प्रकार के नहीं हैं कि अंत तक निष्ठुर पाषाण ही बने रहें। यदि उन्होंने यह देखा कि प्रतिरोध एवं विद्रोह व्यापक और अदम्य होते जा रहे हैं तो, अंत में, वे अपने साम्राज्य का जितना अंश बचा सकें उतना बचाने के लिये कुछ समझौता करने का यत्न करेंगे अथवा यदि विद्रोह पराकाष्ठा को पहुंच गया तो इसके बजाय कि स्वतंत्रता उनके हाथों से जबर्दस्ती छीन ली जाय वे इसे स्वयमेव दे देना पसंद करेंगे।

कहीं-कहीं यह धारणा फैली हुई है कि श्रीअरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्ण रूप से शांतिवादी था, सिद्धांत और व्यवहार दोनों में वे हिंसामात्र के विरुद्ध थे और आतंकवाद तथा राजद्रोह आदि की यह कहकर निन्दा किया करते थे कि हिन्दू धर्म की भावना और उसके शास्त्र इसका पूर्ण रूप से निषेध करते है। यहां तक कहा जाता है कि वे अहिंसा-वाद के अग्रदूत थे। यह सर्वथा असत्य है। श्रीअरविन्द न तो पौरुषहीन नैतिकतावादी है न दुर्वल शांतिवादी।

राजनीतिक कार्य को निष्क्रिय प्रतिरोध तक ही सीमित रखने का नियम अहिंसा या शांतिमय आदर्शवाद के सिद्धात के आधार पर नही अपितु उस समय के लिये राष्ट्रीय आदोलन की सर्वोत्तम नीति के रूप में अपनाया गया था। शांति सर्वोच्च आदर्श का एक अंग अवश्य है, किंतु इसे अपने मूल में आध्यात्मिक या कम से कम मनोवैज्ञानिक होना चाहिये; मानव प्रकृति का परिवर्तन हुए विना यह सुनिश्चित रूप में स्थापित नही हो सकती। यदि किसी अन्य आधार पर (नैतिकता या अहिंसा के सिद्धांत या किसी अन्य सिद्धांत के आधार पर) इसकी प्राप्ति के लिये यत्न किया जाय तो वह विफल होगा, इतना ही नही, वल्कि संभवत: वह स्थिति को पहले से भी अधिक खराव कर-देगा। वे इस वात के पक्ष में है कि, यदि सभव हो तो, अतर्राष्ट्रीय समझौते तथा अंतर्राष्ट्रीय शक्ति के द्वारा युद्ध को दवाने का यत्न करना चाहिये, जिसकी कल्पना आज "नई विश्व-व्यवस्था" में की गई है, परंतु वह अहिंसा नही होगी, वह तो अराजकता की शक्ति को वैधानिक शक्ति के द्वारा दवाना होगा और तव भी हम इस विषय मे निश्चित नही हो सकते कि इसका फल चिरस्थायी ही होगा। राष्ट्रों की अपनी सीमा के भीतर इस प्रकार की शांति प्राप्त की जा चुकी है, परंतु यह समय समय पर होनेवाले गृहयुद्धों एवं क्रांतियों और राजनीतिक दंगों एवं दमनों को विल-कुल रोक नहीं देती जो कि कभी कभी अत्यंत रक्तपात करनेवाले होते हैं। इस ढंग की विश्व-शांति में भी ऐसी घटनाएं हो सकती है। श्रीअरविन्द ने अपने इस मत को कभी नही छिपाया कि किसी भी राष्ट्र को हिंसा द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने का पूरा अधिकार है—यदि वह ऐसा करने में समर्थ हो या इसे छोड़कर और कोई उपाय ही न हो; उसे ऐसा करना चाहिये या नहीं यह किन्ही नैतिक विचारों पर नहीं वल्कि इस वात पर निर्भर करेगा कि सर्वोत्तम नीति क्या है। इस विषय में श्रीअरविन्द का विचार एवं व्यवहार वैसा ही था जैसा तिलक तथा अन्य राष्ट्रीयतावादी नेताओं का जो किसी प्रकार भी शांतिवादी या अहिंसा के पुजारी नहीं थे।

भारतवर्ष आकर कुछ वर्ष तक श्रीअरविन्द ('इन्दु प्रकाश' में लेख लिखने के सिवा) हर प्रकार की राजनीतिक प्रवृत्ति से अलग रहे और देश की स्थिति का अध्ययन करते रहे ताकि वे अधिक विवेकपूर्वक यह निर्णय कर सकें कि क्या किया जा सकता है। तदनन्तर उन्होंने पहला कदम यह उठाया कि वड़ौदा की सेना के एक तरुण बंगाली सिपाही यतीन वनर्जी

को तैयारी तथा आंदोलन के कार्यक्रम के साथ अपने लेफ्टिनेंट के रूप में बंगाल भेजा। उनका ख्याल था कि इस कार्यक्रम के सफल होने में ३० वर्ष का समय लग सकता है। वास्तव में स्वतंत्रता-आंदोलन के फलप्रद होने तथा पूर्ण सफलता के आरंभ तक पहुंचने में ५० वर्ष लग गये हैं। निश्चय यह हुआ था कि सारे बंगाल में गुप्त रूप से अथवा जहां तक प्रत्यक्ष कार्य करना संभव हो वहां तक नाना प्रकार के बहानों और आवरणों के साथ क्रांतिकारी भावों के प्रचार और स्वयंसेवकों की भरती का कार्य किया जाय। यह कार्य तो देश के युवकों में करना था और प्रगतिशील विचारवाले तथा अपने पक्ष में लिये जा सकनेवाले वयस्कों से सहायता और आर्थिक एवं अन्यविध सहयोग प्राप्त करना था। नगर नगर में और फिर अंत में गांव गांव में केंद्र स्थापित करने थे। सांस्कृतिक, बौद्धिक या नैतिक नानाविध प्रकट उद्देश्यों से युवकों के संघों की स्थापना करनी थी और जो संघ पहले से ही विद्यमान थे उन्हें क्रांति के कार्य के लिये अपने पक्ष में करना था। युवकों को घुड़-सवारी, शारीरिक शिक्षा, नाना प्रकार के व्यायाम, कवायद और संगठित गति आदि ऐसे कार्यों की शिक्षा देनी थी जो अंत में सैनिक कार्रवाई में सहायक हों। इस विचार का बीज वपन करते ही प्रचुर फल दृष्टिगोचर होने लगा; युवकों के छोटे छोटे दल और संघ जिनके सामने क्रांति का कोई स्पष्ट विचार या निश्चित कार्यक्रम न था वे इस दिशा में आने लगे और जिन थोड़े से दलों का क्रांतिकारी लक्ष्य था उनसे संबंध स्थापित किया गया और शीघ्र ही संगठित प्रणाली से कार्य-विस्तार होने लगा। और 'थोड़े' शीघ्र ही 'बहुत' हो गए। इस बीच श्रीअरविन्द पश्चिमी भारत की एक गुप्त संस्था के एक सदस्य से मिले, इस संस्था की शपथ ली और बंबई की कौंसिल से उनका परिचय कराया गया। उन्होंने अपने भावी कार्य का संचालन इस कौंसिल के किन्हीं निर्देशों के अनुसार तो नहीं किया परंतु बंगाल में, जहां अभी तक इसका एक भी सदस्य या अनुयायी नहीं था, इसके उद्देश्यों के लिये सार्वजनिक समर्थन-प्राप्त करने के कार्य का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। इस संस्था और इसके उद्देश्य की चर्चा उन्होंने पी. मित्तर तथा बंगाल के क्रांतिकारी दल के अन्य नेताओं से की और उन्होंने भी इस संस्था की शपथ ली और श्रीअरविन्द के बताये ढंग से इसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिये वे सहमत हो गये। मित्तर के दल ने संगठन के लिये जिस विशेष पर्दे का आश्रय लिया था वह था लाठी संघ, और इसे बंगाल के युवकों में सरला घोषाल ने कुछ हद तक पहले से ही प्रचारित कर रखा था; परंतु दूसरे दलों ने अन्य ऊपरी छद्मों का आश्रय लिया। संपूर्ण आंदोलन को सुदृढ़ रूप से संगठित करने में श्रीअरविन्द सफल नहीं हुए, पर इससे स्वयं आंदोलन को कोई क्षति नहीं पहुंची, क्योंकि सामान्य विचार को तो सभी ने अपना लिया था। और अनेक विभिन्न दलों के पृथक् पृथक् कार्य का परिणाम यह हुआ कि क्रांतिकारी प्रवृत्ति और उसका आंदोलन अधिक प्रबल और व्यापक रूप में फैल गया। तदनंतर बंगभंग और विद्रोह के सार्वजनिक विस्फोट

का समय आया जिसने उग्र दल और महान् राष्ट्रीय आंदोलन को और भी आगे बढ़ा दिया। तब श्रीअरविन्द के प्रयत्न अधिकाधिक इस दिशा में मुड़ते गये और गुप्त कार्य गौण तथा अवांतर तत्त्व बन गया। फिर भी, भावी उग्र विद्रोह के विचार का प्रसार करने के लिये उन्होंने स्वदेशी आंदोलन से लाभ उठाया। बारीन के प्रस्ताव पर वे 'युगांतर' नाम से एक पत्र चलाने के लिये सहमत हो गये जिसका उद्देश्य था खुले विद्रोह तथा अंग्रेजी राज्य के पूर्ण बहिष्कार का प्रचार करना, गुरिल्ला-युद्ध की शिक्षा देनेवाली लेखमाला निकालना तथा इसी प्रकार के अन्यान्य विषयों की चर्चा करना। शुरू के अंकों में श्रीअरविन्द ने स्वयं कुछ प्रारंभिक लेख भी लिखे और इसकी नीति का सामान्य नियंत्रण सदा उन्ही के हाथ में रहा। जब स्वामी विवेकानंद के भाई ने, जो उपसंपादकीय विभाग के एक सदस्य थे, तलाशी के समय अपने-आपको संपादक बताकर पुलिस के हवाले कर दिया और उनपर मुकदमा चलाया गया, तब श्रीअरविन्द के आदेशानुसार 'युगांतर' ने इस आधार पर कि वह विदेशी सरकार को नहीं मानता, ब्रिटिश अदालत में अपनी पैरवी न करने की नीति को अपनाया। इससे पत्र की प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ गया। बंगाल के तीन योग्यतम तरुण साहित्यिक इसके मुख्य लेखक और निर्देशक थे, फलतः इसका अपरिमित प्रभाव तुरत ही सारे बगाल में फैल गया। यहा यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि गुप्त संस्था ने आतंकवाद को अपने प्रोग्राम में नही रखा था, परंतु बंगाल में कठोर दमन तथा उसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप यह स्वयमेव उत्पन्न हो गया था।

श्रीअरविन्द का सार्वजनिक कार्य 'इन्दु प्रकाश' में लेख लिखने से आरंभ हुआ था। इन सात लेखों में, जो उक्त पत्र के संपादक तथा श्रीअरविन्द के कैम्ब्रिज के मित्र के. जी. देशपांडे के अनुरोध से लिखे गये थें, 'पुराने दीपकों के स्थान पर नये दीपक' शीर्षक से कांग्रेस की उस समय की आवेदन, निवेदन और प्रतिवाद की नीति की कड़े शब्दों में निदा की गई थी और स्वावलंबन तथा निर्भीकता पर आधारित सक्रिय नेतृत्व के लिये आह्वान किया गया था। परंतु यह निर्भीक और अकाटच आलोचना एक नरमदल के नेता के कार्य के फलस्वरूप बंद हो गयी जिन्होने सपादक को भय दिखाया और इस तरह उस पत्र में उनके विचारों को पूर्ण रूप से विकसित नही होने दिया। उन्हें कांग्रेस की प्रवृत्तियों को मध्यम वर्ग के क्षेत्र से परे विस्तृत करने तथा उसमे सर्वसाधारण जनता को स्थान देने की आवश्यकता आदि सामान्य विषयों की ओर ध्यान देना पड़ा। अंत मे, उन्होने इस प्रकार का सब सार्वजनिक कार्य बंद कर दिया और १९०५ तक केवल पर्दे के पीछे ही कार्य करते रहे। परंतु उन्होंने तिलक से संपर्क स्थापित किया जिन्हे वे क्रांतिकारी दल के लिये एक-मात्र संभवनीय नेता मानते थे और अहमदाबाद कांग्रेस में उनसे भेंट की। वहां तिलक उन्हें पंडाल से बाहर ले गये और मैदान में एक घण्टे तक उनसे बातचीत की जिसमें उन्होंने सुधारवादी आंदोलन के प्रति घृणा प्रदर्शित की तथा यह बतलाया कि महाराष्ट्र में वे किस

तरह काम कर रहे हैं।

अपने क्रांतिकारी कार्य में श्रीअरविन्द ने एक इस प्रकार की प्रवृत्ति भी सम्मिलित की जो बाद में राष्ट्रीय दल के सार्वजनिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग बन गई। उन्होंने केंद्रों में काम करनेवाले युवकों को स्वदेशी की भावना का प्रचार करने के लिये उत्साहित किया जो भावना उन दिनों अपने शैशव में थी और इने-गिने लोगों की धुन तक ही सीमित थी। इन क्रांतिकारी दलों के अत्यंत योग्य व्यक्तियों में सखाराम गणेश देवस्कर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वह बंगला के कुशल लेखक थे (उनका परिवार बहुत दिनों से बंगाल में बसा हुआ था)। उन्होंने बंगला में शिवाजी का एक लोकप्रिय जीवनचरित लिखा था जिसमें उन्होंने सबसे पहली बार 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था और पीछे इसे ही राष्ट्रीयतावादियों ने 'इण्डिपेण्डेन्स' (Independence) के पर्याय के रूप में अपना लिया–स्वराज्य चतुःसूत्री राष्ट्रीय प्रोग्राम का एक अंग बन गया था। उन्होंने 'देशेर कथा' नाम की एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी जिसमें भारत में अंग्रेजों द्वारा किये गये औद्योगिक एवं व्यावसायिक शोषण का पूरे विस्तार से वर्णन था। इस पुस्तक ने बंगाल में बड़ी भारी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, बंगाल के तरुणों के मन को वश में कर लिया और स्वदेशी आंदोलन की तैयारी में अन्य सभी चीजों से बढ़कर सहायता पहुंचाई। स्वयं श्रीअरविन्द का भी सदा यह विचार रहा था कि इस आर्थिक जुए को दूर फेंकना तथा भारतीय उद्योग एवं व्यापार का विकास करना क्रांतिकारी प्रयास के दो आवश्यक अंग हैं।

जबतक श्रीअरविन्द बड़ौदा-राज्य की सेवा में रहे वे राजनीति में खुल्लमखुल्ला भाग नहीं ले सकते थे। इसके अतिरिक्त, उन्हें पर्दे के पीछे रहकर अपना काम करना–और यहां तक कि जनता में अपना नाम प्रकट किये बिना पीछे से ही पथप्रदर्शन करना ज्यादा पसंद था; 'वन्दे मातरम्' के संपादक के रूप में सरकार ने उनपर जो मुकदमा चलाया वही उन्हें जबर्दस्ती जनता के सामने ले आया। और फिर उस समय से वे खुले रूप में–जैसा कि कुछ समय पहले से ही परोक्ष भाव से थे–राष्ट्रीय दल के एक प्रमुख नेता और बंगाल में इसका कार्य संचालन करनेवाले सर्वप्रधान नेता तथा वहां इसकी नीति और कार्यपद्धति के संगठनकर्ता बन गये। उन्होंने अपने मन में उस कार्यपद्धति की रूपरेखा निश्चित कर ली थी जिसके अनुसार वे देश के आंदोलन को चलाना चाहते थे। जो योजना उन्होंने बनाई वह बहुत कुछ वही थी जिसका विकास आगे चलकर सिनफिन आंदोलन के रूप में आयर्लैंड में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि श्रीअरविन्द ने अपने विचार आयर्लैंड से लिये। किंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, क्योंकि आयर्लैंड का आंदोलन पीछे जाकर विख्यात हुआ और उन्हें पांडिचेरी जाने से पहले तक इसके विषय में कुछ भी मालूम नहीं था। और फिर, भारत और आयर्लैंड में एक बड़ा भारी अंतर था जिससे उनका कार्य अत्यधिक कठिन हो गया। आयर्लैंड के पुराने इतिहास ने आयरिश लोगों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह

करने का अभ्यासी बना दिया था। यहां तक कहा जा सकता है कि इसका इतिहास स्वतंत्रता के लिये एक ऐसे अनवरत संघर्ष का इतिहास है जो क्रियात्मक रूप से बीच बीच में भले ही रुकता रहा हो, पर सिद्धांत-रूप में बराबर ही चलता रहा; भारत में ऐसी कोई चीज नहीं थी। श्रीअरविन्द को भारतीय जनता के मन में स्वाधीनता के विचार को प्रतिष्ठित और व्यापक बनाना था और साथ ही पहले एक दल को और फिर सारे राष्ट्र को एक ऐसे प्रबल एवं संगठित राजनीतिक आंदोलन में प्रवृत्त करना था जो इस आदर्श की सिद्धि की ओर ले जाय। उनका विचार यह था कि वे कांग्रेस को अपने हाथ में कर लें, उसे क्रांति का एक यंत्र बना दें जब कि वह अभी तक भीरुतापूर्ण वैधानिक हलचल का एक केंद्र थी, जो केवल प्रस्तावों पर बहस करता, उन्हें पास करता और फिर विदेशी सरकार से सिफारिश करता रहता था। यदि कांग्रेस पर अधिकार न किया जा सके तो एक केंद्रीय क्रांतिकारी दल का निर्माण करना होगा जो इस कार्य को संपन्न कर सकता हो। वह दल राज्य के भीतर एक ऐसा राज्य होना चाहिये जो जनता को आदेश-निर्देश दे तथा ऐसे संगठित दल और संस्थाएं बनाये जो इसके आंदोलन के लिये साधन का काम करें; उत्तरोत्तर एक ऐसा तीव्र असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध करना होगा जिससे कि विदेशी सरकार के लिये इस देश का शासन करना कठिन या पूर्ण रूप से असंभव हो जाय, एक ऐसा देशव्यापी विक्षोभ पैदा करना होगा जो दमन को श्रांत कर दे और अंत में, यदि जरूरत हो तो, देश में सर्वत्र खुला विद्रोह भी करना होगा। ब्रिटिश व्यापार का बहिष्कार, सरकारी संस्थाओं के स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, ऐसी पंचायती अदालतों का निर्माण जिनमें जनता साधारण अदालतो की जगह अपने विवादों का निपटारा करा सके, स्वयंसेवक-संघों का संगठन जो खुला विद्रोह करनेवाली सेना के आधारबिन्दु हो सकें—ये सब इस योजना के अंतर्गत थे और साथ ही वे सब अन्य कार्य भी जो इस प्रोग्राम को पूर्ण बना सकते हों। भारतीय राजनीति में श्रीअरविन्द ने बहुत थोड़े समय के लिये ही खुलकर भाग लिया, क्योंकि १९१० में वे इससे अलग होकर पांडिचेरी चले गये। उनका बहुत सा कार्यक्रम उनकी अनुपस्थिति में बंद हो गया परंतु भारतीय राजनीति के संपूर्ण स्वरूप तथा भारतीय जनता की संपूर्ण भावना को इस प्रकार बदलने के लिये तब तक बहुत कुछ किया जा चुका था जिससे कि वह स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य और असहयोग एवं प्रतिरोध को अपनी प्रणाली बना ले। और इस नीति का अपूर्ण प्रयोग भी विभिन्न समयों पर विद्रोह का प्रचंड रूप धारण करके विजय लानें में पर्याप्त सिद्ध हुआ है। बाद के घटनाक्रम ने अधिकांश में श्रीअरविन्द की विचारधारा का ही अनुसरण किया। अंततोगत्वा कांग्रेस राष्ट्रीय दल के हाथों में आ गई, उसने स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया, और आंदोलन के लिये संगठन किया। मुसलमानों के अधिक भाग और कुछ दलित वर्गो को छोड़कर प्रायः सारे राष्ट्र ने इसके नेतृत्व को स्वीकार किया, आखिर भारत में पहली राष्ट्रीय, पर अभी स्वतंत्र

नहीं, सरकार की स्थापना की और ब्रिटेन से भारत की स्वाधीनता स्वीकार करा ली।

प्रारंभ में श्रीअरविन्द कांग्रेस की राजनीति में पर्दे के पीछे से ही भाग लेते रहे, क्योंकि अभी उन्होंने बड़ौदा-राज्य की सेवा त्यागने का निश्चय नहीं किया था; परंतु उन्होंने लंबी अवैतनिक छुट्टी ले ली। उन्हीं दिनों, वे व्यक्तिगत रूप से गुप्त क्रांतिकारी कार्य करने के अतिरिक्त वारीसाल कांफ्रेंस में सम्मिलित हुए जिसे पुलिस ने भंग कर दिया। उसके वाद उन्होंने विपिन पाल के साथ पूर्वी बंगाल का दौरा किया तथा कांग्रेस के अग्रगामी दल के साथ घनिष्ठ रूप में संबद्ध हो गये। इसी समय उन्होंने 'वंदे मातरम्' के संपादन में विपिन पाल को सहयोग दिया, वंगाल में नई राजनीतिक पार्टी की स्थापना की और कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया। उस अधिवेशन में उग्र दल ने, अभी तक अल्पसंख्यक होते हुए भी, तिलक के नेतृत्व में अपने राजनीतिक प्रोग्राम का कुछ भाग कांग्रेस पर लादने में सफलता प्राप्त कर ली। इस वीच वंगाल राष्ट्रीय महाविद्यालय की स्थापना ने उन्हें आवश्यक अवसर प्रदान कर दिया और वे वड़ौदा राज्य के पद को छोड़कर उक्त महाविद्यालय के प्रिंसिपल का कार्यभार ग्रहण कर सके। सुवोध मल्लिक ने, जो गुप्त कार्य में और तदनन्तर कांग्रेस के राजनीतिक कार्य में भी श्रीअरविन्द के एक सहयोगी थे और जिनके घर में वे अपने कलकत्ता-निवास-काल में प्रायः रहा करते थे, इस महाविद्यालय की स्थापना के लिये एक लाख रुपये दिये थे और यह शर्त रखी थी कि श्रीअरविन्द को इस महाविद्यालय में १५० रु. के वेतन पर प्रोफेसर का पद दिया जाय। अव वे अपना सारा समय देश की सेवा में लगाने के लिये स्वतंत्र थे। विपिन पाल ने, जो वहुत समय से अपने साप्ताहिक पत्र में स्वावलंबन और असहयोग की नीति का प्रतिपादन करते आ रहे थे, अव 'वंदे मातरम्' नाम से एक दैनिक चलाना आरंभ किया, पर इसके वहुत दिन चलने की आशा न थी, क्योंकि इसे शुरू करते समय उनकी जेव में केवल ५००) ही थे और भविष्य के लिये आर्थिक सहायता का कोई दृढ़ आश्वासन भी उन्हें प्राप्त नहीं था। इस साहसिक कार्य में सहयोग देने के लिये उन्होंने श्रीअरविन्द से प्रार्थना की जिन्होंने उसे तुरंत स्वीकार कर लिया, क्योंकि उन्होंने देखा कि अव उन्हें अपने क्रांति के कार्य के लिये आवश्यक सार्वजनिक प्रचार आरंभ करने का अवसर मिलेगा। उन्होंने कांग्रेस के अग्रगामी दल के युवकों की एक सभा वुलायी और उन सवने निश्चय किया कि महाराष्ट्र में तिलक के विख्यात नेतृत्व में काम करनेवाले अपने ही जैसे दल के साथ मिलकर वे अपने को प्रकट रूप से एक नई राजनीतिक पार्टी के रूप में संगठित करेंगे और नरम दल का मुकावला करेंगे जैसा कि उन्होंने कलकत्ता अधिवेशन में किया भी। साथ ही, श्रीअरविन्द ने उन्हें प्रेरणा की कि वे दैनिक 'वंदे मातरम्' को अपनी पार्टी का पत्र वना लें और पत्र की आर्थिक व्यवस्था के लिये वंदे मातरम् कंपनी खोल दी गई जिसका संचालन विपिन पाल की अनुपस्थिति में श्रीअरविन्द ही करते रहे, क्योंकि विपिन पाल को नई पार्टी के उद्देश्य और

कार्यक्रम की घोषणा करने के लिये जिलों का दौरा करने भेज दिया गया था। नई पार्टी को अविलंब सफलता प्राप्त हुई और 'वंदे मातरम्' भारतवर्ष में सर्वत्र जाने लगा। इसके कार्यकर्त्ताओं में केवल विपिन पाल और श्रीअरविन्द ही नहीं थे, बल्कि कई अन्य सुयोग्य लेखक, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, हेमेंद्र प्रसाद घोष और विजय चटर्जी भी थे। श्यामसुन्दर और विजय अंग्रेजी भाषा के प्रकांड विद्वान् थे, और प्रत्येक की अपनी विशिष्ट शैली थी; श्यामसुन्दर ने श्रीअरविन्द की लेखन-शैली को कुछ कुछ पकड़ लिया, यहां तक कि कुछ समय वाद लोग उनके लेखों को श्रीअरविन्द के लेख समझने लगे। परंतु कुछ दिनों बाद विपिन पाल तथा 'वंदे मातरम्' कंपनी के अन्य सहायकों और संचालकों में मतभेद हो गया क्योंकि उनके स्वभाव एक दूसरे से मेल नहीं खाते थे और उनके राजनीतिक विचार भी भिन्न भिन्न थे, विशेषकर गुप्त क्रांतिकारी आंदोलन से जहां दूसरे लोग सहानुभूति रखते थे वहां विपिन पाल इसके विरुद्ध थे। इसका परिणाम यह हुआ कि विपिन पाल शीघ्र ही इस पत्र से अलग हो गये। श्रीअरविन्द उनके अलग होने को स्वीकार न करते, क्योंकि वे पाल के गुणों को 'वंदे मातरम्' की महान् संपत्ति समझते थे। कारण, पाल चाहे अच्छे कार्य-कर्त्ता नहीं थे और न राजनीतिक नेता बनने के ही योग्य थे, फिर भी वे देश में शायद सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत मौलिक राजनीतिक विचारक थे, उच्च कोटि के लेखक और महान् वक्ता थे। परंतु श्रीअरविन्द की अनुपस्थिति में ही, जब कि वे ज्वर के भयानक आक्रमण के वाद शनैः शनैः स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे, पाल पत्र की सेवा से अलग हो गये। यहां तक कि श्रीअरविन्द की स्वीकृति के विना ही उनका नाम 'वंदे मातरम्' में इसके संपादक के रूप में घोषित कर दिया गया परंतु केवल एक दिन के लिये ही, क्योंकि उन्होंने तुरंत अपना नाम वापिस ले लिया। कारण, अभी वे नियमानुसार बड़ौदा-राज्य की सेवा में थे और अपना नाम जनता के सामने लाने के लिये जरा भी उत्सुक नहीं थे। फिर भी, उसके वाद से 'वंदे मातरम्' और बंगाल की पार्टी की नीति का नियंत्रण वे ही करते रहे। विपिन पाल ने नई पार्टी का लक्ष्य ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्त पूर्ण स्वराज्य वतलाया था; परंतु इसका अभिप्राय औपनिवेशिक स्वराज्य का नरमदलीय लक्ष्य भी हो सकता था अथवा कम से कम वह भी इसके अंतर्गत हो सकता था और दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति के रूप में स्वराज्य नाम को, जो उग्र दल का पूर्ण स्वतंत्रता का द्योतक शब्द था, इस औपनिवेशिक स्वराज्य के लिये हथियाने का सचमुच यत्न भी किया था। श्रीअरविन्द का सबसे पहला कार्य यह था कि उन्होंने खुले रूप में घोषित किया कि चरम और पूर्ण स्वतंत्रता ही भारत के राजनीतिक आंदोलन का लक्ष्य है और 'वंदे मातरम्' के पृष्ठों में उन्होंने इसपर दृढ़तापूर्वक आग्रह किया; भारत में वे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सार्वजनिक रूप में यह कार्य करने का साहस किया और इसमें उन्हें तुरंत सफलता भी प्राप्त हुई। नई पार्टी ने स्वतंत्रता के अपने आदर्श को प्रकट करने के लिये 'स्वराज्य' शब्द

को अपना लिया और यह शीघ्र ही सर्वत्र फैल गया; परंतु कांग्रेस के आदर्श के रूप में इसे बहुत पीछे कराची अधिवेशन के समय ही ग्रहण किया गया जब कि राष्ट्रवादी नेतृत्व के अधीन इसका पुनर्गठन और पुनरुज्जीवन हो चुका था। 'वंदे मातरम्' ने देश के लिये एक नया राजनीतिक प्रोग्राम राष्ट्रवादी पार्टी के प्रोग्राम के रूप में घोषित और विकसित किया, अर्थात् असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, कानूनी विवादों का लोकप्रिय मध्यस्थ के द्वारा निर्णय तथा श्रीअरविन्द की योजना के अन्य अंग। इस पत्र में श्रीअरविन्द ने एक लेखमाला 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर लिखी, दूसरी, क्रांति के राजनीतिक दर्शन पर, इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से अग्रलेख भी लिखे जिनका उद्देश्य था नरम दल के मूलमंत्रों और अंधविश्वासों पर, उदाहरणार्थ, भारत में विदेशी सरकार द्वारा पहुंचाये हुए लाभों तथा ब्रिटिश न्याय में विश्वास, भारत के सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा की उपयुक्तता तथा ब्रिटिश अदालतों में आस्था आदि पर कुठाराघात करना। विदेशी शासन के कारण भारत में जो नपुंसकता, प्रगति में अवरोध या शिथिलता, दरिद्रता, आर्थिक दासता और समृद्ध उद्योग-धंधों का अभाव आदि बुरे परिणाम पैदा हुए थे उनकी आलोचना श्रीअरविन्द ने ऐसे तीव्र शब्दों में और ऐसी दृढ़ता के साथ की जिस प्रकार पहले कभी नहीं की गई थी। इस बात पर उन्होंने विशेष रूप से बल दिया कि विदेशी शासन कैसा भी उदार और हितकारी क्यों न हो, वह स्वतंत्र एवं स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन का स्थान कभी नहीं ले सकता। इस प्रकार के लेखों की सहायता से राष्ट्रवादियों के विचारों की सर्वत्र विजय हुई, विशेषकर पंजाब में, जो पहले प्रधान रूप से नरमदली था। एक जाति के विचारों को पलटने और उसे क्रांति के लिये तैयार करने मे 'वंदे मातरम्' ने जो प्रभाव डाला उसकी दृष्टि से वह पत्रकारिता के इतिहास मे प्रायः अद्वितीय ही था। परंतु आर्थिक दृष्टि से वह दुर्बल था; क्योंकि उग्र दल अभी तक निर्धनों का दल था। जब तक इस पत्र पर श्रीअरविन्द का सक्रिय नियंत्रण रहा, वे इसे चलाने के लिये जैसे तैसे पर्याप्त सार्वजनिक सहायता का प्रबंध करते रहे पर अपनी इच्छा के अनुसार इसे विस्तारित नही कर सके। और जब उन्हें गिरफ्तार करके एक वर्ष के लिये जेल में डाल दिया गया तो इसकी आर्थिक स्थिति निराशापूर्ण हो गई। अंत मे यह निश्चय किया गया कि यदि पत्र को मरना ही हो तो अर्थाभाव मे मरने के बजाय शान से मरना चाहिये और इसलिये बिजय चटर्जी को एक ऐसा लेख लिखने के लिये नियुक्त किया गया जिसके कारण सरकार पत्र का प्रकाशन निश्चित रूप से बंद कर दे। श्रीअरविन्द ने सदा इस बात का ध्यान रखा कि 'वंदे मातरम्' के संपादकीय लेखों में ऐसा एक भी छिद्र न रहने दें जिससे सरकार को इसपर राजद्रोह का मुकदमा चलाने या और कोई उग्र कार्रवाई करने का मौका मिले और इसका अस्तित्व खतरे मे पड जाय। 'स्टेट्समैन' के एक संपादक ने यह शिकायत की थी कि इस पत्र की प्रत्येक पंक्ति मे स्पष्ट रूप में राजद्रोह की गंध आती है, परंतु वह इतनी चतुराई से लिखी

होती है कि कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती। पत्र को बंद करने की युक्ति सफल हो गई और उसका जीवन श्रीअरविन्द की अनुपस्थिति में ही समाप्त हो गया।

राष्ट्रवादी प्रोग्राम अभी कुछ-कुछ शुरू ही हो पाया था कि कठोर सरकारी दमन के कारण यह कुछ समय के लिये भंग हो गया। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक अंग स्वदेशी और बहिष्कार था; स्वदेशी की भावना को व्यापक बनाने के लिये बहुत कुछ किया जा चुका था और कुछ आरंभिक सफलता भी प्राप्त हुई थी, परंतु इसके बृहत्तर परिणाम पीछे समय आने पर ही प्रकट हुए। श्रीअरविन्द की बड़ी इच्छा थी कि आंदोलन के इस भाग को केवल विचार-रूप में प्रसारित ही नहीं करना चाहिये बल्कि इसको सक्रिय रूप में संगठित करना तथा इसे वास्तविक बल प्रदान करना चाहिये। उन्होंने बड़ौदे से लिखकर पूछा कि क्या यह संभव नहीं है कि व्यापारियों और मिल-मालिकों को अपने साथ मिलाकर तथा प्रतिष्ठित जमींदारों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके एक ऐसा संगठन बनाया जाय *जिसमें केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् व्यापार और उद्योग-धंधे की योग्यता और अनुभव* रखनेवाले व्यक्ति भी स्वदेशी की नीति का कार्यसंचालन कर सकें और इसे सफल करने के उपायों का अनुसंधान कर सकें। परंतु उन्हें बताया गया कि यह संभव नहीं है, व्यापारी और जमीदार इतने भीरु हैं कि वे आंदोलन में सम्मिलित नहीं होंगे और बड़े बड़े व्यवसायी, सबके सब, ब्रिटिश माल के आयात में ही रुचि रखते हैं, अतएव वे वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में हैं। इसलिये स्वदेशी और बहिष्कार के संगठन का विचार उन्हें त्याग देना पड़ा। तिलक और श्रीअरविन्द दोनों ब्रिटिश माल के पूर्ण बहिष्कार के पक्ष में थे—परंतु केवल ब्रिटिश माल के ही; क्योंकि विदेशी वस्तुओं का स्थान लेने के लिये देश में कुछ था ही नहीं। इसलिये उन्होंने इंगलैंड के स्थान पर जर्मनी, आस्ट्रिया और अमरीका से विदेशी सामान मंगाने के लिये सम्मति दी जिससे कि इंगलैंड पर अधिक से अधिक दबाव डाला जा सके। बहिष्कार को वे स्वदेशी का सहायक ही नहीं बल्कि एक राजनीतिक अस्त्र बनाना चाहते थे। सभी विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार एक अव्यवहार्य विचार था और कांग्रेस के प्रस्तावों में इसके जिस अति सीमित प्रयोग की सिफारिश की गई थी वह राजनीतिक रूप में फलप्रद होने के लिये पर्याप्त नहीं था। उनकी राय थी कि प्रधान उद्योगों में हमारे राष्ट्र को स्वावलंबी होना चाहिये और केवल आवश्यक पदार्थ ही नहीं बल्कि सभी शिल्पद्रव्य, जिनके लिये प्राकृतिक साधन हमारे देश में हैं, हमें अपने देश में ही तैयार करने चाहियें, परंतु पूर्ण स्वावलंबन या व्यापारिक स्वातंत्र्य व्यवहार्य नहीं प्रतीत हुए और न वे वांछनीय ही थे, क्योंकि स्वतंत्र भारत को भी माल का निर्यात करने तथा अपने यहां खपत के लिये माल जुटाने की आवश्यकता होगी ही और इसके लिये माल का आयात करना तथा अंतर्राष्ट्रीय विनिमय को बनाये रखना उसके लिये आवश्यक होगा। परंतु सभी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने के लिये जनता में सहसा एक व्यापक और अदम्य

उत्साह जाग उठा और नेताओं को इस सार्वजनिक पुकार का समर्थन करना पड़ा तथा इससे स्वदेशी की भावना को जो वल-वेग प्राप्त हुआ उससे उन्हे संतोष करना पड़ा। राष्ट्रीय शिक्षा दूसरा कार्य था जिसपर श्रीअरविन्द ने वहुत वल दिया। स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों में पाश्चात्य पद्धति के अनुसार जो शिक्षा दी जाती थी उससे उन्हें अत्यंत घृणा हो गई थी। वड़ौदा कालिज के प्रोफेसर के रूप में वे इस पद्धति का पूरा अनुभव कर चुके थे। वे महसूस करते थे कि यह भारतीयों की स्वभावतः तीव्र, उज्ज्वल और कोमल बुद्धि को कुद, दुर्वल और संकीर्ण वना देती है, उसके अंदर बुरे वौद्धिक अभ्यास डाल देती है और संकुचित जानकारी तथा यंत्रसम शिक्षण के द्वारा उसकी मौलिकता और उर्वरता को नष्ट कर डालती है। आदोलन का आरंभ उत्साहजनक था और वंगाल में वहुत से राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो गये और अनेकों योग्य व्यक्ति शिक्षक का कार्य करने लगे, परंतु फिर भी इसकी प्रगति पर्याप्त नही हुई और स्कूलों की आर्थिक स्थिति भी संकटमय थी। श्रीअरविन्द ने इस आंदोलन को स्वयं अपने हाथ में लेने का निश्चय किया था और वे देखना चाहते थे कि इसे अविक व्यापक विस्तार और दृढ़तर आधार प्रदान किया जा सकता है या नहीं, परतु उनके वंगाल से चले जाने के कारण यह योजना अधूरी रह गई। दमन और उससे उत्पन्न व्यापक अवसाद में अधिकतर स्कूलों का जीवन समाप्त हो गया। परंतु भावना वरावर जीवित रही और यह आशा की जा सकती है कि एक दिन यह अपना उपयुक्त रूप और आकार ग्रहण कर ही लेगी। जनता के अपने न्यायालयों के विचार को भी कुछ जिलों में कार्य-रूप देने के लिये यत्न किया गया और उसमें कुछ सफलता प्राप्त हुई पर वह भी दमन की आंधी में मटियामेट हो गया। स्वयंसेवक-दलों के संगठन के विचार में अधिक प्रवल जीवनी शक्ति थी; यह निरंतर जीवित रहा, इतना ही नही, वल्कि इसने साकार रूप ग्रहण किया और अपने संगठनो को वढ़ाया। स्वतंत्रता-संग्राम में जव जव खुले रूप में आंदोलन हुआ, इन स्वयंसेवक-दलों के कार्यकर्त्ता ही उसके अग्रणी नेता रहे। राष्ट्रवादी कार्यक्रम और प्रवृत्तियों के विशुद्ध राजनीतिक तत्त्व चिरस्थायी रहे और दमन तथा अवसाद की प्रत्येक लहर के वाद उन्होंने स्वातंत्र्य-आंदोलन की जीवन-धारा को पुनः पुनः प्रवाहित किया और लगभग पचास वर्प के संघर्प मे इसे प्रत्यक्ष रूप से अविच्छिन्न वनाये रखा। परंतु उन वर्पो में जो सवसे वड़ा कार्य संपन्न हुआ वह यह कि देश में एक नई भावना जागरित हो गई। सर्वत्र उत्साह की लहरे दिखाई देने लगी और समस्त दिग्दिगंत 'वंदे मातरम्' के निनाद से गुंजायमान हो उठा। ऐसे वायुमंडल में जीना, साहस दिखाना, मिलकर काम करना और आशा रखना लोगो को गौरवपूर्ण अनुभव होता था। पुरानी उदासीनता और कायरता विलुप्त हो गई और एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई जिसे कोई मिटा नही सकता था और जो एक के वाद एक तरंग के रूप मे पुनः पुनः उठती रही जव तक कि वह भारत को पूर्ण विजय के निकट नहीं ले आई।

'वंदे मातरम्' के मुकदमे के बाद श्रीअरविन्द बंगाल में राष्ट्रीयता के सर्वमान्य नेता बन गये। मिदनापुर में बंगाल प्रांतीय सभा के अधिवेशन में उन्होंने राष्ट्रवादी दल का नेतृत्व किया। वहां दोनों दलों में बड़ा प्रबल संघर्ष हुआ। अब वे पहली बार सार्वजनिक मंच पर वक्ता के रूप में सामने आये, सूरत में उन्होंने बड़ी बड़ी सभाओं में भाषण दिये और राष्ट्रवादी सम्मेलन का सभापतित्व भी किया। कलकत्ता वापिस आते हुए वे बीच में अनेक स्थानों पर ठहरे और अपने भाषणों के लिये आयोजित सभाओं में विराट् जनसमूहों के सम्मुख भाषण दिये। हुगली मे प्रांतीय सभा के अधिवेशन में उन्होंने पुनः अपने दल का नेतृत्व किया। वहां पहली बार यह स्पष्ट पता चला कि राष्ट्रवाद का सितारा बलन्द हो रहा है, क्योंकि अधिकतर प्रतिनिधि इसी दल के थे और विषय-समिति में श्रीअरविन्द नरमदलवालों के उस प्रस्ताव को, जिसमें उन्होंने सुधारों का अभिनंदन किया था, पराजित करने में समर्थ हुए और अपना वह प्रस्ताव पास करा लिया जिसमें उन्हें सर्वथा अपर्याप्त तथा अवास्तविक बतलाकर उनकी निंदा करते हुए अस्वीकृत किया गया था। परंतु नरमदल के नेताओं ने धमकी दी कि यदि यह प्रस्ताव रहने दिया गया तो वे सदस्यता से पृथक् हो जायंगे और इस आपस की फूट से बचने के लिये श्रीअरविन्द ने नरमदल के प्रस्ताव को पास होने देना स्वीकार कर लिया, परंतु खुले अधिवेशन में इस विषय पर एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने अपने निर्णय का कारण समझाया और राष्ट्रवादियों से कहा कि वे अपनी विजय के होते हुए भी नरमदल का प्रस्ताव स्वीकार कर लें ताकि बंगाल की राजनीतिक शक्तियो में एक प्रकार की एकता बनी रहे। राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों ने जो पहले विजय के उल्लास में कोलाहल मचा रहे थे, वह निर्णय स्वीकार कर लिया और श्रीअरविन्द के आदेशानुसार चुपचाप सभा-भवन से उठकर चले गये जिससे उन्हें नरमदल के प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में मत न देना पड़े। इससे नरमदली नेताओं को मन ही मन बड़ा आश्चर्य हुआ और निराशा भी। उन्होंने शिकायत की कि जनता ने अपने पुराने और सुपरीक्षित नेताओं की बात तो ध्यान से नहीं सुनी और उनके विरुद्ध हो-हल्ला मचाया, किंतु राजनीति के एक नौसिखुए युवक की आज्ञा का पालन एक ही अखंडित दल की भांति अनुशासन एवं शांति के साथ किया।

लगभग इन्हीं दिनों श्रीअरविन्द ने एक बंगाली दैनिक 'नवशक्ति' का कार्यभार अपने हाथ में लेने का निश्चय किया और अपने स्काट्स लेनवाले किराये के मकान से, जहां वे अपनी पत्नी और बहन के साथ रहा करते थे, इस पत्र के दफ्तर के कमरों में चले आये। वहां यह नया कार्य आरंभ कर सकने से भी पहले, एक दिन बहुत सवेरे जब कि वे अभी सोये हुए थे, पुलिस रिवाल्वर हाथ में लिये जीने पर चढ़ आई और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन्हें पहले पुलिस स्टेशन ले जाया गया और फिर अलीपुर जेल। वहां वे एक वर्ष रहे जब तक कि मजिस्ट्रेट की जांच-पड़ताल और अलीपुर के सत्र-न्यायालय

(Sessions Court) में उनपर चलाया हुआ मुकदमा समाप्त नही हो गया। पहले उन्हें कुछ समय एकांतवास में रखा गया, परंतु फिर वहां से बदलकर जेल के एक बड़े विभाग मे भेज दिया गया जहां वे उस मुकदमे के अन्य कैदियों के साथ एक लंबे-चौड़े कमरे में रहे। पीछे, जेल में एक सरकारी गवाह की हत्या हो जाने के कारण, सब कैदियों को पृथक् पृथक् किंतु संलग्न कोठरियों मे बंद कर दिया गया और वे केवल कचहरी में या दैनिक व्यायाम के समय इकट्ठे होते थे पर वहां भी एक दूसरे से बातचीत नही कर सकते थे। इनमें से दूसरे काल में श्रीअरविन्द ने अपने साथी अभियुक्तों में से बहुतों से परिचय प्राप्त किया। जेल मे वे अपना प्रायः सारा समय गीता और उपनिषदों के स्वाध्याय, गभीर ध्यान तथा योगाभ्यास में व्यतीत करते थे। यह क्रम उन्होंने उस दूसरे काल में भी चालू रखा जब उन्हें अकेले रहने का सुयोग प्राप्त नही था और सब साथियों की बातचीत, हंसी-मजाक, खेल-कूद तथा अत्यधिक कोलाहल और विघ्न-बाधा के बीच ध्यान का अभ्यास करना पड़ता था। पहले और तीसरे काल मे उन्हें पूर्ण सुयोग प्राप्त हुआ और उसका उपयोग भी उन्होंने पूर्ण रूप से किया। सत्र-न्यायालय में अभियुक्तों को एक बड़े कठघरे में बंद रखा जाता था और वहां वे सारे दिन ध्यान में लीन रहते थे, मुकदमे की ओर कान नहीं देते थे न गवाहों के बयान ही सुनते थे। सी. आर. दास, जो उनके एक राष्ट्रवादी सहयोगी और एक विख्यात वकील थे, अपनी भरी-पूरी वकालत को एक तरफ रखकर तन-मन से श्रीअरविन्द की पैरवी मे जुट गये और महीनों इसी कार्य में लगे रहे। श्रीअरविन्द ने अपने मुकदमे का भार पूरी तरह से उनपर छोड़ दिया और इसकी कुछ भी चिंता नहीं की; क्योंकि उन्हे अंदर से आश्वासन मिल चुका था और वे जानते थे कि वे छूट जायेंगे। इस काल में उनकी जीवन-दृष्टि आमूल परिवर्तित हो गई; आरंभ में उन्होने योग का अवलंबन अपने जीवन-कार्य के लिये आध्यात्मिक बल और शक्ति तथा दिव्य मार्गदर्शन प्राप्त करने के विचार से किया था। परंतु अब अंतरीय आध्यात्मिक जीवन एवं अनुभव ने, जो अपनी बृहत्ता और विश्वमयता में अनवरत बढ़ता और अधिक व्यापक स्थान ग्रहण करता आ रहा था, उन्हे पूर्ण रूप से अपने अंदर समा लिया और उनका काम इसका एक अंग और परिणाम बन गया, इतना ही नही बल्कि वह देश की सेवा और स्वतंत्रता के कार्य को अतिक्रम कर बहुत ऊंचे स्तर पर चला गया और एक ऐसे ध्येय में केंद्रित हो गया जिसकी पहले केवल एक झांकी ही मिली थी और जो अपने प्रभाव में विश्वव्यापी होने के साथ साथ मानवजाति के संपूर्ण भविष्य से संबंध रखता था।

श्रीअरविन्द जब जेल से बाहर आये तो वे क्या देखते है कि देश की संपूर्ण राजनीतिक स्थिति कुछ की कुछ हो गई है; बहुत से राष्ट्रवादी नेता जेल में पड़े हैं और कई देश छोड़कर चले गये है तथा सर्वत्र निरुत्साह और विषाद छाया हुआ है, यद्यपि देश से स्वतंत्रता की भावना नष्ट नहीं हो गई है बल्कि केवल दब गई है और दबाये जाने के कारण

और भी बढ़ रही है। उन्होंने संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया; कलकत्ते में प्रति सप्ताह सभाएं करने लगे, परंतु जहां पहले उपस्थिति सहस्रों की संख्या में होती थी और उत्साह का सागर उमड़ा पड़ता था, वहां अब वह केवल सैकड़ों की संख्या तक रह गई और उसमें पहले जैसा उत्साह एवं जीवन भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। उन्होंने जिले जिले में घूम-घूमकर कई स्थानों में भाषण दिये; इन्ही में से एक स्थान (उत्तरपाड़ा) में दिया हुआ भाषण उत्तरपाड़ा अभिभाषण के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने पहली बार जनता के सामने अपने योग और आध्यात्मिक अनुभवों की चर्चा की। उन्होंने 'कर्मयोगिन्' और 'धर्म' नाम से दो साप्ताहिक भी चलाये, एक अंग्रेजी में और दूसरा बंगला में। इनकी ग्राहकसंख्या काफी अधिक थी और, 'वंदे मातरम्' के विपरीत, ये अनायास ही अपना खर्च आप निकालने लगे। १९०९ में वे बारीसाल की प्रांतीय सभा में सम्मिलित हुए और वहां भाषण दिया; क्योंकि हुगली में जो समझौता हुआ था उसके कारण बंगाल में दोनों दल सर्वथा पृथक् होने से बच गये थे और दोनों ही सभा में सम्मिलित हुए यद्यपि केंद्रीय नरम दल की सभा में, जिसने कांग्रेस का स्थान ले लिया था, राष्ट्रवादी दल का एक भी प्रतिनिधि स्थान नहीं पा सका। बनारस के अधिवेशन में सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने दोनों पार्टियों को मिलाने तथा नरम दलवालो के प्रबल दक्षिण पक्ष के साथ संयुक्त मोर्चा लेने की योजना पर विचार करने के लिये एक निजी सभा जरूर बुलाई थी जिसमें श्रीअरविन्द तथा दो-एक अन्य राष्ट्रवादी नेताओ ने भी भाग लिया था; क्योंकि वे (सुरेंद्रनाथ बैनर्जी) सदा ही उग्र दल को अपना सबल दायां हाथ बनाकर पुनः संयुक्त बंगाल के नेता बनने के स्वप्न देखा करते थे। परंतु इसके लिये यह आवश्यक था कि बंगाल के नरमदली राष्ट्रवादियों को प्रतिनिधि चुनें और राष्ट्रवादी सूरत में लादे गये संविधान को स्वीकार कर लें। श्रीअरविन्द ने इससे इन्कार कर दिया; वे उस संविधान में परिवर्तन चाहते थे जिससे कि नव-संगठित दलों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्राप्त हो और फलतः राष्ट्रवादी अखिल भारतीय अधिवेशन में स्वतंत्र रूप से अपने प्रतिनिधि भेज सकें और इस बात पर संधिवार्ता भंग हो गई। तथापि श्रीअरविन्द ने इस विषय पर विचार-मंथन आरंभ कर दिया कि बदली हुई अवस्थाओं में राष्ट्रीय आंदोलन को कैसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उन्होंने देखा कि 'होम रूल' का आंदोलन पुनः आरंभ किया जा सकता है जिसे सरकार दबा नहीं सकेगी, परंतु इसका अर्थ स्वराज्य के आदर्श को स्थगित करना और उससे नीचे उतरना होता,—यद्यपि कालांतर में श्रीमती बेसेंट ने इस आंदोलन को सचमुच ही पुनः जीवित किया था। श्रीअरविन्द ने यह भी देखा कि एक संगठित और उद्दाम निष्क्रिय प्रतिरोध का आंदोलन भी शुरू किया जा सकता है जैसा कि बाद में गांधी जी ने चलाया था। किंतु उन्होंने देखा कि वे स्वयं किसी ऐसे आंदोलन के नेता नहीं बन सकते।

उस समय सरकार देश के शासन में जो सुधारों का दिखावामात्र करना चाहती थी

उसपर कुछ भी विचार करने को श्रीअरविन्द कभी सहमत नहीं हुए। उन्होंने तो सदा 'कोई समझौता नही' अथवा, जैसा कि उन्होंने अब 'कर्मयोगिन्' में प्रकाशित देशवासियों के नाम अपनी "खुली चिट्ठी" में कहा, 'नियन्त्रण के विना सहयोग नही' का ही नारा बलन्द किया। ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों पर वे तभी विचार करने को तैयार थे यदि एक निर्वाचित व्यवस्थापिका परिषत् में लोकप्रिय मंत्रियो को सचमुच राजनीति, प्रशासन और आर्थिक नियंत्रण पर अधिकार दे दिया जाता। इसका उन्हें कोई चिह्न नही दिखाई दिया जब तक कि मोण्टेग्यु सुधारों का प्रस्ताव देश के सामने नही रखा गया जिसमें पहली बार उक्त-प्रकार के कुछ अधिकार दिये जाते प्रतीत हुए। उन्हें इसका पूर्वाभास मिल गया था कि ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र की आकांक्षा के साथ समझौता करने का यत्न आरंभ करना ही पड़ेगा, परंतु उस अवसर के आने से पहले उन्होंने उसकी प्रत्याशा नही की। मोण्टेग्यु सुधार श्रीअरविन्द के पांडिचेरी जाने के नौ वर्ष बाद आये और तब तक वे अपने को आध्यात्मिक कर्म के प्रति अर्पित करने के लिये समस्त बाह्य और सार्वजनिक राजनीतिक कार्य छोड़ चुके थे। उसके बाद वे देश के आंदोलन की गतिविधि पर केवल अपने आत्मबल से ही कार्य करते रहे जब तक कि ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में सच्ची सन्धिवार्ता की उनकी भविष्यदृष्टि क्रिप्स प्रस्ताव तथा बाद की घटनाओं द्वारा चरितार्थ नही हो गई।

इस बीच सरकार ने श्रीअरविन्द से अपना पिण्ड छुड़ाने का निश्चय कर लिया था, क्योंकि वह उन्हें अपनी दमन-नीति के सफल होने में एकमात्र बड़ा बाधक समझती थी। पर चूंकि वह उन्हें अंडमान नहीं भेज सकती थी, उसने उन्हें देश-निकाला देने का निश्चय किया। भगिनी निवेदिता को इस बात का पता चल गया और उन्होंने श्रीअरविन्द को इसकी सूचना देते हुए उनसे कहा कि वे ब्रिटिश भारत से बाहर कहीं चले जायं और वहीं से काम करें ताकि उनका काम बंद या सर्वथा अवरुद्ध न हो जाय। इसपर श्रीअरविन्द ने 'कर्मयोगिन्' में अपने हस्ताक्षरों सहित एक लेख प्रकाशित करके संतोष माना, जिसमें उन्होंने देश-निर्वासन की योजना का उल्लेख किया और देश के लिये अपनी अंतिम इच्छा और आज्ञा सूचित कर दी। उन्हे निश्चय था कि इससे सरकार को देश-निर्वासन का विचार छोड़ना पड़ेगा और वास्तव में हुआ भी यही। देश-निर्वासन टल गया, किंतु अब सरकार उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाने के लिये अवसर की खोज करने लगी और जब श्रीअरविन्द ने उसी पत्र में राजनीतिक स्थिति की समालोचना करते हुए अपने हस्ताक्षर सहित एक और लेख प्रकाशित किया तो सरकार को मौका मिल गया। वह लेख काफी नरम स्वर में लिखा गया था और पीछे हाईकोर्ट ने भी उसे विद्रोहपूर्ण मानने से इन्कार कर दिया और मुद्रक को छोड़ दिया। एक रात 'कर्मयोगिन्' के कार्यालय में श्रीअरविन्द को सूचना मिली कि सरकार कार्यालय की तलाशी लेने और उन्हें गिरफ्तार करने का निश्चय कर चुकी है। जब वे इसपर विचार ही कर रहे थे कि ऐसे समय उन्हें अपने मन में क्या भाव धारण करना चाहिये,

उन्हें सहसा ऊपर से एक आदेश मिला कि वे फ्रेंच भारत में चन्दननगर चले जायं। उन्होंने तुरंत उस आदेश का पालन किया क्योंकि तब उन्होंने यह नियम कर रखा था कि भगवान् उन्हें जैसी प्रेरणा देंगे उसके अनुसार ही वे कार्य करेंगे, उसका प्रतिरोध कभी नहीं करेंगे न उससे विचलित ही होंगे। उन्होंने किसी से सलाह करने के लिये प्रतीक्षा नहीं की, बल्कि १० मिनट में ही नदी के घाट पर पहुंच गये और गंगा में चलनेवाली नौका पर सवार हो लिये। कुछ ही घंटों में वे चन्दननगर पहुंच गये जहां वे एक गुप्त स्थान में रहने लगे। उन्होंने बहन निवेदिता को एक संदेश भेजा कि मेरी अनुपस्थिति में 'कर्मयोगिन्' के संपादन का कार्य आप संभाल ले। उस दिन से अपने दो पत्रों के साथ उनका सक्रिय संबंध समाप्त हो गया। चन्दननगर में वे पूर्ण रूप से एकांत ध्यान में डूब गये और अन्य सब काम-काज बंद कर दिया। वहां उन्हें पांडिचेरी चले जाने के लिये पुकार आयी। उत्तरपाड़ा के कुछ युवक क्रांतिकारियों ने नौका में उन्हें कलकत्ते पहुंचाया; वहां से 'डूप्ले' जहाज पर सवार होकर वे ४ अप्रैल १९१० को पांडिचेरी पहुंच गये।

पांडिचेरी आने पर श्रीअरविन्द प्रथम दिन से ही योगाभ्यास में अधिकाधिक तल्लीन होते गये। किसी भी सार्वजनिक राजनीतिक कार्य में भाग लेना उन्होंने बिलकुल बंद कर दिया। पुनर्जीवित अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशनों का सभापतित्व करने के लिये उनसे अनेक बार प्रार्थना की गई पर उन्होंने उसे अंगीकार नही किया। उन्होंने यह नियम कर लिया कि वे सार्वजनिक रूप से ऐसा कुछ भी नहीं बोलेंगे जो उनके आध्यात्मिक कार्य से संबंध न रखता हो, और न कोई लेख आदि ही लिखेंगे—आगे चलकर "आर्य" के लिये उन्होने जो कुछ लिखा वह अपवाद-रूप है। कुछ वर्षो तक उन्होंने दो-एक व्यक्तियों के द्वारा उन क्रांतिकारी दलों के साथ, जिनके वे नेता रहे थे, कुछ गुप्त संबंध जारी रखा, परंतु कुछ समय बाद वह भी छोड़ दिया और राजनीति से पूर्णरूपेण संबंध-विच्छेद कर लिया। भविष्य के संबंध में उनकी दृष्टि ज्यों ज्यों स्पष्ट होती गई, त्यों त्यों उन्हें यह दिखाई देने लगा कि उन शक्तियों की, जिनसे अब वे सचेतन हो गये थे, प्रगति के द्वारा भारत अंततः स्वतंत्र होकर रहेगा, भारतवासियों के प्रतिरोध और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के दबाव से ब्रिटेन भारत को स्वतंत्रता देने के लिये विवश हो जायगा और, चाहे कितने भी विरोध एवं अनिच्छा के साथ क्यों न हो, वह इस परिणाम की ओर बढ़ना शुरू भी कर चुका है। उन्होंने अनुभव किया कि सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता नहीं होगी और इसकी गुप्त तैयारी बंद की जा सकती है और इससे राष्ट्रीय कार्य को कोई हानि नहीं पहुंचेगी, यद्यपि क्रांति की भावना को सुरक्षित रखना होगा और उसे अक्षुण्ण रखा ही जायगा। अतएव राजनीति में उनके वैयक्तिक हस्तक्षेप की अब कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होगी। इस सबके अतिरिक्त, उनके सम्मुख जो आध्यात्मिक कार्य उपस्थित था उसकी महानता उनके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती गई और उन्होंने देखा कि इसमें अपनी समस्त शक्तियों

को एकाग्र कर देना आवश्यक है। सुतरां, जब आश्रम की स्थापना हुई, उन्होंने इसे समस्त राजनीतिक संबंधों या कार्यों से पृथक् रखा; यहां तक कि जब आगे जाकर दो विशेष अवसरों पर उन्होंने राजनीति में हस्तक्षेप किया भी तो वह शुद्ध रूप से वैयक्तिक था और उससे आश्रम का कुछ भी संबंध नहीं था। ब्रिटिश सरकार तथा और भी बहुत से लोग इसपर विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि श्रीअरविन्द ने समस्त राजनीतिक कार्य से संबंध तोड़ लिया है। उनका ख्याल था कि वे क्रांति की प्रवृत्तियों में गुप्त रूप से भाग ले रहे हैं और यहां तक कि फ्रेंच भारत के आश्रय में एक गुप्त संगठन का निर्माण कर रहे हैं। परंतु यह सब केवल कोरी कल्पना एवं किंवदंती थी और वास्तव में इस प्रकार की किसी भी चीज का नाम तक नहीं था। राजनीतिक कार्य से वे उसी प्रकार पूर्णरूपेण निवृत्त हो गये थे जिस प्रकार १९१० से उन्होंने पूर्णरूपेण एकांतवास आरंभ कर दिया था।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं था, जैसा कि बहुत से लोग समझते थे, कि वे आध्यात्मिक अनुभव के किसी शिखर पर रहने लग पड़े थे और अब उन्हें जगत् में तथा भारत के भाग्य में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। इसका यह अर्थ हो भी नहीं सकता था, क्योंकि उनके योग का असली तत्त्व केवल भगवान् का साक्षात्कार तथा पूर्ण आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि समस्त जीवन और समस्त जगद्व्यवहार को भी इस आध्यात्मिक चेतना तथा कर्म के क्षेत्र के अंतर्गत करना तथा जीवन को आत्मा पर आधारित करके इसे आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करना था। अपने एकांतवास में भी श्रीअरविन्द जगत् तथा भारत में घटनेवाली सभी घटनाओं का बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण करते रहे और जब कभी आवश्यकता हुई सक्रिय हस्तक्षेप भी किया, परंतु केवल आध्यात्मिक बल तथा मौन आध्यात्मिक क्रिया के द्वारा ही; क्योंकि जो योग में काफी आगे बढ़े हुए हैं उन सभी का यह अनुभव है कि जड़ प्रकृति में मन, प्राण और शरीर की साधारण शक्तियों और व्यापारों के अतिरिक्त अन्य बल एवं शक्तियां भी हैं जो पीछे से तथा ऊपर से कार्य कर सकती हैं और करती ही है। इसी प्रकार एक आध्यात्मिक कर्म-शक्ति भी है जिसे वे लोग, जो आध्यात्मिक चेतना में आगे बढ़े हुए हैं, प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि इसे प्राप्त करने अथवा प्राप्त करके प्रयोग में लाने की परवाह सब योगी नहीं करते, और यह शक्ति अन्य किसी भी शक्ति की अपेक्षा अधिक महान् तथा फलोत्पादक है। इसी शक्ति को श्रीअरविन्द ने प्राप्त करते ही प्रयोग में लाना आरंभ कर दिया, पहले तो केवल वैयक्तिक कार्य के सीमित क्षेत्र में परंतु पीछे सांसारिक शक्तियों पर अनवरत क्रिया के रूप में। उन्हें इसके परिणामों से असंतुष्ट होने या किसी अन्य प्रकार से कार्य करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई। फिर भी दो अवसरों पर उन्होंने इसके साथ साथ सार्वजनिक ढंग का एक और कार्य करना उचित समझा। पहला अवसर द्वितीय विश्व-युद्ध का था। आरंभ में उन्होंने इससे किसी प्रकार का सक्रिय संबंध नहीं रखा, परंतु जब ऐसा दिखने लगा मानों हिटलर अपना विरोध

करनेवाली सभी शक्तियों को कुचल डालेगा और संसार पर नात्सीवाद का प्रभुत्व हो जायगा, तब उन्होंने हस्तक्षेप आरंभ किया। उन्होंने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि मैं मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हूं, युद्ध-कोप के लिये अपील के प्रत्युत्तर में उन्होंने कुछ आर्थिक सहायता की और जिन्होंने सेना में भरती होने या युद्ध-प्रयत्नों में भाग लेने के लिये उनसे परामर्श मांगा उन्हें प्रोत्साहित किया। आभ्यंतरिक रूप में वे डनकर्क (Dunkirk) के समय से, जब कि प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इंगलैंड का शीघ्र पतन हो जायगा और हिटलर की निश्चित रूप से जीत होगी, अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने लगे और उन्हें यह देखकर संतोष हुआ कि जर्मनी की विजय का वेग लगभग तुरंत ही रुक गया और युद्ध का पासा पलट गया। ऐसा उन्होंने इसलिये किया कि उन्हें यह प्रत्यक्ष हो गया था कि हिटलर और नात्सीवाद के पीछे अंधकारमय आसुरिक शक्तियां कार्य कर रही हैं और उनकी सफलता का अर्थ यह होगा कि मनुष्य-जाति दुष्टों के अत्याचारपूर्ण शासन के अधीन हो जायगी और उसका सामान्य क्रमविकास तथा विशेष रूप से आध्यात्मिक विकास रुक जायगा। इसके परिणामस्वरूप केवल यूरोप ही नहीं बल्कि एशिया और इसके अंदर भारत भी गुलाम हो जायगा। भारत की यह गुलामी उन सब गुलामियो से, जिन्हें यह पहले कभी भोग चुका है, कहीं अधिक भयानक होगी और इससे वह सब कार्य जो इसकी स्वतंत्रता के लिये किया जा चुका है मिट्टी में मिल जायगा। यह भी एक कारण था जिससे प्रेरित होकर उन्होंने क्रिप्स प्रस्ताव का सार्वजनिक रूप से समर्थन किया और इसे स्वीकार करने के लिये कांग्रेस के नेताओं पर दबाव डाला। कई कारणों से उन्होंने जापान के आक्रमण के विरुद्ध अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग तब तक नहीं किया जब तक कि यह स्पष्ट नहीं हो गया कि वह भारत पर आक्रमण करना और यहां तक कि उसे आक्रांत करके जीत लेना चाहता है। हिटलर के विरुद्ध युद्ध के समर्थन में श्रीअरविन्द ने कुछ पत्र भी लिखे जिनमें उन्होंने हिटलरवाद की आसुरी शक्ति तथा उसके अनिवार्य परिणाम के विषय में अपने विचारों का प्रतिपादन किया और पीछे उन्हें प्रकाशित करने की अनुमति भी दे दी। उन्होंने क्रिप्स के प्रस्तावों का अनुमोदन किया क्योंकि उनके स्वीकृत हो जाने से भारत और ब्रिटेन संयुक्त होकर आसुरी शक्तियों का सामना कर सकते थे और क्रिप्स का समाधान स्वतंत्रता के एक सोपान के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता था। परंतु जब संधिवार्ता असफल रही तो श्रीअरविन्द ने पुनः आक्रांता के विरुद्ध केवल आध्यात्मिक शक्ति के प्रयोग पर ही निर्भर रहने का विचार किया और उन्हें यह देखकर संतोष हुआ कि जापान की विजय की धारा, जो उस समय तक अपने आगे आनेवाली सभी चीजों को बहाये लिये जा रही थी, तुरंत ही एक द्रुत एवं ध्वंसक और अंततः एक गुरुतर एवं दुर्दांत पराजय की लहर में बदल गई। कुछ समय बाद उन्हें यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि भारत के भविष्य के संबंध में

उन्होंने जो कुछ देखा था वह सब सत्य सिद्ध हो रहा है और फलस्वरूप वह आज, कितनी ही आभ्यंतरिक कठिनाइयों के होते हुए भी, एक स्वतंत्र राष्ट्र है।

(श्रीअरविन्द अब कलकत्ते में और अपने अनुकूल क्षेत्र में थे। बड़ौदा-राज्य की सेवा, उसके स्थिर वेतन तथा उन्नति के प्रलोभनों को उन्होंने बिना किसी हिचक के त्याग दिया था।)

१९०४ में और फिर १९०६ में भी श्रीअरविन्द कांग्रेस में सम्मिलित हुए और उग्र दल की मंत्रणाओं और उसके चतुःसूत्री कार्यक्रम–"स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा"–के निर्धारण में भाग लिया। पर्दे के पीछे के एक जबर्दस्त संघर्ष के बाद विवश होकर नरम-दली नेताओं को यह कार्यक्रम १९०६ के प्रस्तावों में सम्मिलित करना पड़ा। विपिन पाल ने हाल ही में केवल ५०० रुपये की पूंजी से एक दैनिक पत्र 'वंदे मातरम्' निकालना शुरू किया था। श्रीअरविन्द ने उसका संयुक्त संपादक बनना स्वीकार किया, विपिन पाल की अनुपस्थिति में उसका संपादन किया और राष्ट्रवादी दल को प्रेरित किया कि वह इसे अपना मुखपत्र बना ले और इसका आर्थिक भार अपने ऊपर ले लें। उन्होंने दल के नेताओं की एक सभा बुलाई जिसमें उनके कहने पर यह निश्चय किया गया कि नरमदलवालों के साथ पर्दे की ओट में मुठभेड़ करना छोड़कर उनकी नीति के प्रति खुले युद्ध की घोषणा की जाय और देश में क्रांतिकारी प्रचार किया जाय। बड़ौदा-राज्य की सेवा उन्होंने इसके कुछ समय बाद छोड़ दी; उन्होंने अनिश्चित अवधि के लिये अवैतनिक अवकाश ले रखा था; इसी कारण उन्होंने नियमित और खुले रूप में 'वंदे मातरम्' के संपादन का कार्यभार अपने ऊपर नहीं लिया यद्यपि जब से विपिन पाल ने संपादक के पद का त्याग किया तब से कार्यतः सचमुच पत्र की नीति का नियंत्रण पूर्ण रूप से उनके हाथ मे ही था।

(बंगाल राष्ट्रीय कालिज की स्थापना हुई और श्रीअरविन्द को उसका प्रिंसिपल बनाया गया। परंतु कालिज के अधिकारियों से मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने उस पद का त्याग कर दिया।)

लगभग आरंभ में ही वे कालिज के प्रबंध का कार्य शिक्षाविज्ञ श्री सतीश मुकर्जी को सौंपकर स्वयं पूर्णरूपेण राजनीतिक कार्य मे निमग्न हो गये थे। जब उनपर 'वंदे मातरम्' का अभियोग चलाया गया, तब उन्होंने कालिज के अधिकारियों को परेशानी से बचाने के लिये त्यागपत्र दे दिया परंतु जेल मे छूटने पर पुनः कार्यभार संभाल लिया। अलीपुर अभियोग के समय उन्होंने कालिज के अधिकारियों की प्रार्थना पर अंतिम रूप से अपना पद त्याग दिया।

(बंगाल राष्ट्रीय कालिज मे पद-त्याग करने के बाद श्रीअरविन्द राष्ट्रवादी दल तथा उसके मुखपत्र "वंदे मातरम्" के साथ सक्रिय संबंध स्थापित करने के लिये स्वतंत्र हो गये।)

जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, यह संबंध पदत्याग से बहुत पहले ही स्थापित हो चुका था।

"वंदे मातरम्" के लेखों में श्रीअरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण

(१)

एक राजनीतिज्ञ के नाते श्रीअरविन्द के सिद्धांतों का एक अंग यह था कि ब्रिटिश लोगों से कभी कोई प्रार्थना न की जाय; इसे वे भिक्षा-नीति का अंग समझते थे। 'वंदे मातरम्' के ये लेख तथा अन्य रचनाएं (निश्चय ही 'विदुला' और 'परसिउस' नहीं बल्कि व्यंग्य-काव्य, अनुकरण-काव्य आदि), जिनका इन पृष्ठों में उल्लेख किया गया है, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती की कृतियां थीं, श्रीअरविन्द की नहीं। श्यामसुन्दर व्यंग्यपूर्ण अनुकरण-काव्य लिखने में सिद्धहस्त थे। जहां वे हास्य-रस से पूर्ण रचना लिख सकते थे वहां अलंकारों की मोहक छटा से मुग्ध भी कर सकते थे। उन्होंने श्रीअरविन्द की शैली कुछ कुछ पकड़ ली और वैसी ही शैली में लिखने लगे, यहां तक कि बहुत से लोग उन दोनों के लेखों में भेद नहीं कर पाते थे। श्रीअरविन्द के कलकत्ता से बाहर जाने पर 'वंदे मातरम्' के संपादकीय लेख अधिकतर श्यामसुन्दर ही लिखते रहे; हां, कुछ एक लेख श्रीअरविन्द के भी निकले जो उन्होंने देवघर से भेजे थे।

(२)

अपनी राजनीति में श्रीअरविन्द ने किसी प्रकार के विद्वेष को कभी स्थान नहीं दिया। उनके मन में इंगलैंड या अंग्रेजों के प्रति घृणा कभी नही रही; भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये उन्होंने सरकार पर कुप्रबंध या अत्याचार का दोष नहीं लगाया अपितु स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार होने के नाते स्वराज्य का दावा किया। व्यक्तियों पर भी यदि उन्होंने कभी तीक्ष्ण प्रहार किया तो वह केवल उनके विचारों या राजनीतिक कार्रवाई के लिये ही, किसी अन्य हेतु से नहीं।

(बहुत पहले सन् १९०७ में 'वंदे मातरम्' के संपादक के नाते तथा उसमें लिखी हुई "नया पथ" शीर्षक लेखमाला के कारण उनपर मुकदमा चलाया गया था।)

नहीं—मुकदमा एक पत्र के कारण चलाया गया था जो किसी व्यक्ति ने संपादक के नाम लिखा था। इसका दूसरा कारण उन लेखों का प्रकाशन भी था जो 'युगांतर' के मामले के अंतर्गत थे पर जिनका वास्तव में मुकदमे के लिये प्रयोग नहीं किया गया। 'वंदे मातरम्' पर संपादकीय लेखों के लिये मुकदमा कभी नहीं चला। 'स्टेट्समैन' के संपादक की यह शिकायत थी कि ये अत्यधिक दानवी चतुराई के साथ लिखे जाते है, इनकी पंक्ति पंक्ति में राजद्रोह कूट कूटकर भरा रहता है पर भाषा की चतुरता के कारण इनपर कोई कानूनी

कार्रवाई नहीं की जा सकती। अवश्य ही सरकार का भी यही विचार रहा होगा, क्योंकि उसने संपादकीय या अन्य लेखों के कारण, वे चाहे श्रीअरविन्द के हों या उनके तीन सह-कारियों के, पत्र पर प्रहार करने का कभी साहस नहीं किया। साथ ही एक कारण यह भी है कि श्रीअरविन्द ने स्वतंत्रता का समर्थन जातीय घृणा या अत्याचार किंवा कुशासन के अभियोगों के आधार पर कभी नहीं किया, बल्कि सदा स्वतंत्रता के प्रति राष्ट्र के स्वतः-सिद्ध अधिकार के बल पर ही इसके लिये आवाज उठाई। उनकी स्थापना यहं थी कि उत्तम से उत्तम शासन भी राष्ट्रीय शासन या स्वराज्य का स्थान कभी नहीं ले सकता।

(मुकदमा असफल रहा और वे छूट गये, हां, इसे यदि कोई सफलता मिली तो यह कि श्रीअरविन्द पर्दे के पीछे से जनता के सामने आ गये और भारत का शिक्षित वर्ग "वंदे मातरम्" को पढ़ने के लिये पहले से अधिक उत्सुक हो उठा।)

श्रीअरविन्द पर्दे की ओट में रहकर ही लेख लिखते तथा जनता का नेतृत्व करते थे। अपना विज्ञापन करने या अपने-आपको सामने ले आने की उन्होंने कभी परवा न की। परंतु क्योंकि, अन्य नेता या तो जेल में बंद थे या उन्हें देश से निर्वासित कर दिया गया था, और फिर उक्त मुकदमे के सिलसिले में उनका नाम भी देश में सर्वत्र फैल गया था, अतः श्रीअरविन्द को जनता के सामने आना और खुले रूप में नेतृत्व करना पड़ा।

(१९०४ से कांग्रेस में एक उग्र दल बन चुका था और इसके सदस्य इस बात की प्रतीक्षा में थे कि कांग्रेस का बंबई अधिवेशन आरंभ हो और वे जनता को अपनी शक्ति का अनुभव करायें।)

इस कथन का संकेत किस बात की ओर है यह स्पष्ट नहीं है। १९०४ में चरमपंथी दल सार्वजनिक रूप से संगठित नहीं हुआ था, यद्यपि कांग्रेस में एक प्रगतिशाली दल अवश्य था जो महाराष्ट्र में तो खूब सबल था पर और प्रांतों में अभी अल्पसंख्यक और शक्तिहीन ही था और उसके अधिकतर सदस्य युवक ही थे। कभी कभी इस दल का अन्य दलों के साथ पर्दे की ओट में संघर्ष भी चलता था, पर जनता के सामने कोई भी बात प्रकाश में नहीं आई थी। उग्रतर विचारोंवाले ये व्यक्ति अभी एक दल के रूप में संगठित भी नहीं हुए थे; श्रीअरविन्द ने ही १९०६ में बंगाल के चरमपंथियों को यह प्रेरणा की कि वे एक दल के रूप में जनता के सामने आवें, तिलक को अपना नेता घोषित करें और कांग्रेस और जनमत पर अपना अधिकार स्थापित करने तथा देश के आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिये नरमदल के नेताओं के विरुद्ध संघर्ष करें। दोनों पार्टियों में पहला बड़ा सार्वजनिक संघर्ष कलकत्ता-कांग्रेस के अधिवेशन में हुआ जहां श्रीअरविन्द भी उपस्थित थे पर अभी पर्दे की ओट ही कार्य कर रहे थे, दूसरा मिदनापुर के बंगालप्रांतीय सम्मेलन में हुआ जहां पहली बार उन्होंने खुले रूप में बंगाल के राष्ट्रवादियों का नेतृत्व किया। सन्

१९०७ में सूरत के अधिवेशन में दोनों पार्टियां अंतिम रूप से अलग अलग हो गई।

(मुसलमानो ने, जो विदेशियों के वंशज है, वंगभंग का समर्थन किया।)

यह इस ओर इंगित करता प्रतीत होता है कि भारत के सभी मुसलमान विदेशियों के वंशज है, परंतु भारत में दो जातीयताओं का विचार केवल एक नव-कल्पित धारणा है जिसका जिन्ना ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये आविष्कार किया है। पर वास्तव में यह तथ्यों के विपरीत है। भारत के ९० प्रतिशत से अधिक मुसलमान उन हिन्दुओं के ही वंशज है जिन्होंने धर्मपरिवर्तन कर लिया था और वे भी हिंदुओं के समान भारत-राष्ट्र के अंग है। धर्मपरिवर्तन का यह क्रम बराबर जारी रहा है; जिन्ना स्वयं एक हिन्दू झीणाभाई के वंशज है जिन्होंने काफी हाल मे इस्लामधर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार, और भी बहुतेरे अत्यंत प्रसिद्ध मुस्लिम नेताओं की यही कहानी है।

(आसाम में अधिकतर जनसंख्या मुसलमानों की थी।)

आसाम की अधिकतर जनसंख्या हिन्दुओं और अन्यान्य छोटी छोटी जातियों की है। असली आसाम में मुसलमानों की आवादी केवल वीस प्रति सैकड़ा है। बंगाल का सिलहट जिला आसाम में मिल जाने के कारण हिन्दुओं का प्रतिशत कुछ कम हो गया है, परंतु फिर भी वहा गैर-मुसलिम जनता ही अधिक संख्या में है। इस समय आसाम में कांग्रेसी सरकार का राज्य है जो भारी बहुमत से निर्वाचित हुई है और आसाम नये संविधान में मुस्लिम बंगाल के साथ संवद्ध किये जाने का पूरे बल से विरोध कर रहा है।

सन् १९०६ में बारीसाल के सम्मेलन में श्रीअरविन्द का योगदान

बारीसाल सम्मेलन में श्रीअरविन्द ने भाग लिया और वे उस जलूस का नेतृत्व करने-वाले तीन व्यक्तियों में थे जिसे पुलिस ने लाठी चलाकर तितर-बितर कर दिया। सम्मेलन भंग होने के बाद उन्होंने विपिन पाल के साथ पूर्वी बंगाल का दौरा किया और वहां विशाल जनसमूहों के सामने भाषण दिये,—एक जिले में तो मैजिस्ट्रेट के मना करने पर भी सभा की गई।

दिसंबर १९०७ की सूरत कांग्रेस

(१)

इस वर्णन में घटनाओं को ठीक वैसे ही रूप में नही उपस्थित किया गया है जैसी कि वे श्रीअरविन्द को याद है। जहां तक उन्हें मालूम है वहां आग लगाने का कोई प्रयत्न नही किया गया। पहले कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में करने का निश्चय किया गया था, परंतु नागपुर मुख्य रूप से मराठों एवं उग्र चरमपंथियों का नगर था। गुजरात मे उन दिनों नरम दलवालों की प्रधानता थी, राष्ट्रवादी वहां बहुत ही थोड़ी संख्या में थे और सूरत नरम-पंथियों का गढ़ था, यद्यपि आगे चलकर, विशेषकर देश की बागडोर गांधीजी के हाथ

में आने के बाद, गुजरात अत्यंत क्रांतिकारी प्रांतों की श्रेणी में आ गया। इसलिये नरमदल के नेताओं ने सूरत में कांग्रेस करने का निर्णय किया। परंतु राष्ट्रवादी वहां देश के सभी भागों से काफी संख्या में आये, उन्होने श्रीअरविन्द की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा भी की और कुछ समय के लिये यह निर्णय करना कठिन हो गया कि किस पक्ष को अधिक मत प्राप्त होंगे, पर अंत में अपने इस नगर में नरम दलवाले लगभग १३०० तथाकथित प्रतिनिधि जमा करने में सफल हो गये, जब कि राष्ट्रवादी उसी ढंग से ११०० से कुछ ऊपर प्रतिनिधि ही इकट्ठे कर सके। यह जानी हुई बात थी कि नरम दल के नेताओं ने कांग्रेस के लिये एक नया संविधान तैयार किया था जिससे कि बरसों तक उग्र दल के लिये वार्षिक अधिवेशनों में बहुमत प्राप्त करना असंभव हो जाय। तरुण राष्ट्रवादी, विशेष-कर वे जो महाराष्ट्र से आये थे, उस संविधान को चाहे जैसे भी हो रद्द कराने के लिये तुल गये और निश्चय किया कि यदि वे कांग्रेस को व्यर्थ न कर सके तो भंग ही कर देंगे। तिलक तथा अन्य वयोवृद्ध नेताओं को इस निश्चय का पता नहीं था, परंतु श्रीअरविंद इसे जानते थे। अधिवेशन में तिलक कांग्रेस के सभापति-पद के संबंध में प्रस्ताव रखने के लिये मंच पर गये; किंतु नरम दल के द्वारा निर्वाचित सभापति ने उन्हें भाषण देने की अनुमति नहीं दी, पर वे अपने अधिकार के लिये डटे रहे, अपना प्रस्ताव पढ़ने और भाषण देने लगे। इससे बड़ी भारी खलबली मच गई, युवक गुजराती स्वयंसेवकों ने तिलक को पीटने के लिये उनके सिर पर कुरसियां उठा लीं। इसपर मराठे लाल-पीले हो गये, किसी मराठे का जूता, सभापति डा. रासविहारी घोष को निशाना बनाकर तेजी से मंडप पार करता हुआ आया और वह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के कन्धे पर लगा। तरुण मराठों ने एक साथ मंच की ओर धावा किया, नरमदली नेता भाग खडे हुए; मंच पर कुछ देर कुरसियों द्वारा लड़ाई होने के बाद अधिवेशन भंग हो गया और फिर हुआ ही नहीं। नरम दल के नेताओं ने निश्चय किया कि कांग्रेस को स्थगित करके उसके स्थान पर एक राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाय जिसकी विधि-व्यवस्था ऐसी हो कि उनके दल पर किसी प्रकार की आंच न आवे। इसी बीच लाजपत-राय तिलक के पास आये और उन्हें सूचना दी कि सरकार ने निश्चय कर रखा है कि यदि कांग्रेस में फूट पड़ गई तो वह उग्र दलवालों को अत्यंत क्रूर दमन के द्वारा कुचल देगी। तिलक ने सोचा, और घटनाओं ने भी दिखा दिया कि उनका विचार ठीक था, कि देश अभी ऐसे दमन का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये तैयार नही है; इसलिये उन्होंने प्रस्ताव रखा कि नरमदल तथा सरकार दोनों की योजनाओं को धप्पा दिया जाय और इसके लिये राष्ट्रवादियों को चाहिये कि वे सम्मेलन में भाग लें और नरमपंथियों की इच्छा के अनुसार नये संविधान को मानकर चलने के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दें। श्रीअरविंद तथा अन्य कई नेता इस प्रकार झुकने के पक्ष में नहीं थे; उनका विश्वास था कि नरम-पंथी लोग एक भी राष्ट्रवादी को अपने सम्मेलन में नही आने देंगे (और वास्तव में हुआ

भी यही) और वे चाहते थे कि देश को दमन का सामना करने के लिये कहा जाय। इस प्रकार कुछ समय के लिये कांग्रेस का अस्तित्व ही समाप्त हो गया; परंतु नरमदली सम्मेलन को भी सफलता नहीं प्राप्त हुई; उसमें थोड़े से लोग ही सम्मिलित हुए और उनकी संख्या निरंतर घटती गई। श्रीअरविंद को आशा थी कि देश, कम से कम बंगाल और महाराष्ट्र, जहां उत्साह प्रायः सर्वत्र तीव्र रूप में फैला हुआ है, दमन का सामना करने के लिये पर्याप्ति समर्थ सिद्ध होगा; परंतु उन्होंने यह भी सोचा कि चाहे कुछ समय के लिये देश अवसाद के गर्त में गिर भी जाय, फिर भी दमन से जनता के हृदय और मन में गहरा परिवर्तन आ जायगा और सारे का सारा देश राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य के आदर्श की ओर झुक जायगा। सचमुच हुआ भी ऐसा ही; जब तिलक बर्मा में छः वर्ष की जेल काटकर वहां से वापस आये तो वे श्रीमती बेसेण्ट के साथ मिलकर केवल कांग्रेस को पुनर्जीवित करने में ही कृतकार्य नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उसे एक ऐसे देश की, जिसने राष्ट्रवादी ध्येय का व्रत ले लिया था, प्रतिनिधि-संस्था बनाने में भी सफलता प्राप्त की। नरम दल उदारपंथियों का एक छोटा सा गुट मात्र रह गया और अन्त में उन्होंने भी पूर्ण स्वराज्य के आदर्श को ग्रहण कर लिया।

(२)

इतिहास उन घटनाओं का उल्लेख कदाचित् ही करता है जो होती तो हैं निर्णायक पर घटित होती हैं पर्दे की ओट में; वह पर्दे के सामने के चमकीले भाग का ही वर्णन करता है। बहुत ही कम लोग जानते हैं कि मैंने ही (तिलक से सलाह किये बिना) आज्ञा दी थी जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस भंग हो गई, और मेरे ही कारण राष्ट्रवादियों ने नव-कल्पित नरमदलीय सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया और सूरत अधिवेशन की ये ही दो निर्णायक घटनाएं थीं। फिर बंगाल में राष्ट्रीय आन्दोलन में युद्ध की भावना भरने या क्रांति के आन्दोलन की नींव डालने के लिये मैंने जो कार्य किया उसे भी इने-गिने लोग ही जानते हैं।

गोखले के विषय में श्रीअरविन्द की धारणा

अहमदाबाद से बड़ौदे के बीच गाड़ी में गोखले के साथ घण्टा भर बातचीत करने के बाद श्रीअरविन्द के लिये यह संभव नहीं रहा कि वे एक राजनीतिज्ञ के रूप में गोखले के प्रति कोई विशेष सम्मान रखें, चाहे मनुष्य के रूप में उनके अंदर जो भी गुण रहे हों।

(सूरत कांग्रेस के बाद कलकत्ता लौटते हुए "राजनीतिक दौरा"।)

श्रीअरविन्द ने कोई दौरा नहीं किया। वे लेले के साथ पूना गये और उनके बंबई लौट जाने के बाद वे कलकत्ते चले गये। उनके सभी भाषण (बंबई और बड़ौदे में दिये भाषणों को छोड़कर) इसी समय के हैं। अपने रास्ते में वे जिन जिन स्थानों पर दो-एक

दिन के लिये ठहरे वहां वहां भाषण दिये।

(लेले के साथ ध्यान करने के बाद श्रीअरविन्द की "अनिर्वचनीय स्थिरता की अवस्था।")

(१)

निश्चय ही वह अनिर्वचनीय नहीं थी; बड़ौदे में लेले के साथ ३ दिन ध्यान करने से उन्हे जो स्थिति प्राप्त हुई वह मन की नीरवता की स्थिति थी। वह अवस्था कितने ही महीनों तक और सच पूछिये तो उस समय के बाद सदा ही बनी रही; उनका सब काम-काज ऊपरी सतह पर स्वयमेव चलता रहता था; परंतु उन दिनों वे कोई बाहरी काम-काज करते ही नही थे। लेले ने उनसे कहा कि वे जनता को नमस्कार करके प्रतीक्षा करें और भाषण की प्रेरणा उन्हें मन से भिन्न किसी अन्य स्रोत से प्राप्त होगी। सचमुच ही उन्हें अपना भाषण इसी प्रकार प्राप्त हुआ और तबसे उन्हें अपने प्रत्येक भाषण, लेख, विचार तथा बाह्य कार्य की प्रेरणा सदा इसी प्रकार मस्तिष्क से ऊपर के उसी स्रोत से आती रही।

(२)

कोष्ठक के अंदर का संदर्भ निकाल देना चाहिये। इससे श्रीअरविन्द के योग के स्वरूप तथा उन दिनों उनके अंदर जो कुछ घटित हो रहा था उसके विषय में गलत धारणा उत्पन्न होती है। योग उनके अंदर सब समय, यहां तक कि बाहरी काम-धंधा करते हुए भी, बराबर चलता रहता था, परंतु वे अपने अंदर डूब नहीं गये थे और न 'निष्पंद' हो गये थे जैसा कि उनके कुछ मित्रों का ख्याल था। यदि वे प्रश्नों या सुझावों के संबंध में कुछ उत्तर नही देते थे तो उसका कारण यह था कि वे उत्तर देना ही नही चाहते थे और इसलिये मौन की शरण ले लेते थे।

लेले से भेंट होने के पहले के आध्यात्मिक अनुभव

लेले ने उनसे जो प्रश्न किया वह यह था कि: "क्या आप अपने आपको अपने भीतर के 'अंतरस्थ मार्गदर्शक' के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर सकते हैं और क्या आप वैसे चलने को तैयार हैं जैसे वे आपको चलाएं।" यदि ऐसा है तो आपको लेले या और किसी व्यक्ति से शिक्षा लेने की कोई आवश्यकता नही। यह बात श्रीअरविन्द ने स्वीकार कर ली और इसे अपनी साधना एवं जीवन का नियम बना लिया। लेले से भेंट होने के पूर्व भी उन्हें कुछ आध्यात्मिक अनुभव हो चुके थे, परंतु यह उस समय की बात है जब कि उन्हें योग के विषय में कुछ भी ज्ञात नही था, यहां तक कि वे यह भी नही जानते थे कि योग क्या है।--उदाहरणार्थ, दीर्घकालीन प्रवास के बाद जब उन्होंने पहले पहल भारत की भूमि पर पदार्पण किया, सच पूछिये तो ज्योंही उन्होंने बंबई में अपोलो बंदर पर प्रथम चरण रखा, उनके भीतर एक विशाल शांति का अवतरण हुआ; (इस शांति ने उन्हें सब ओर से व्याप्त

कर लिया और बाद में भी कई महीनों तक बनी रही); काश्मीर में तख्त-ए-सुलेमान नामक पर्वतश्रृंखला पर भ्रमण करते हुए शून्य अनंत की उपलब्धि; नर्मदा के तट पर एक मंदिर में काली की जीवंत उपस्थिति का अनुभव; बड़ौदे में अपने निवास के प्रथम वर्ष ही गाड़ी-दुर्घटना के खतरे के समय अपने भीतर से प्रकट हुए ईश्वर का साक्षात्कार आदि आदि। परंतु ये आंतरिक अनुभव थे जो एकाएक, अप्रत्याशित रूप में तथा स्वयमेव प्राप्त हुए, ये साधना के अंग नहीं थे। उन्होंने योग अपने आप बिना किसी गुरु के ही शुरू किया था; हां, उन्हें अपने एक मित्र, गंगामठ के ब्रह्मानंद के शिष्य, से एक नियम अवश्य उपलब्ध हुआ। प्रारंभ में उनका योग प्राणायाम की कृच्छ्र क्रिया तक ही सीमित रहा (एक समय तो वे प्रतिदिन छः या इससे भी अधिक घंटे प्राणायाम किया करते थे)। उनके अंदर योग और राजनीति के संबंध में कोई संघर्ष या द्वंद्व नहीं चलता था; जब उन्होंने योग आरंभ किया, वे दोनों को साथ साथ चलाते रहे और इनके पारस्परिक विरोध का विचार तक उनके मन में नहीं आया। तथापि वे एक गुरु की खोज में थे। खोजते-खोजते वे एक नागा संन्यासी से मिले, किंतु उन्हें गुरु के रूप में वरण नहीं किया। तथापि उनके द्वारा योग-शक्ति में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया, क्योंकि उन्होंने देखा कि उन्होंने बारीन को प्रायः पल भर में ही एक भयंकर और दुःसाध्य पहाड़ी ज्वर से मुक्त कर दिया। वह केवल इस प्रकार कि उन्होंने एक गिलास भर जल लेकर उसे, मन ही मन एक मंत्र जपते हुए, चाकू से आड़े बल चीरा और फिर बारीन से उसे पी जाने को कहा। बारीन उसे पीते ही अच्छे हो गये। वे ब्रह्मानंदजी से भी मिले और उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए; परंतु लेले से मिलने के पहले तक योग में उनका कोई सहायक या गुरु नहीं था। लेले के साथ भी उनका संपर्क थोड़े समय तक ही रहा।

'(भवानी मंदिर--उन क्रांतिपूर्ण दिनों में....)

'भवानी मंदिर' पुस्तक श्रीअरविन्द ने लिखी थी परंतु इसका आधारभूत विचार उनकी अपेक्षा बारीन का ही अधिक था। इसका उद्देश्य लोगों को हत्या करने की शिक्षा देना नहीं बल्कि यह सिखाना था कि देश को क्रांति के लिये कैसे तैयार किया जाय। श्रीअरविन्द ने तो भवानी मंदिर का विचार शीघ्र ही छोड़ दिया, परंतु बारीन ने मानिकतल्ला बाग में इस प्रकार के उद्देश्य के लिये कुछ प्रयत्न किया और, स्पष्ट ही, हेमचंद्र का संकेत इसी ओर है।

श्रीअरविन्द को ऐसी कोई बात स्मरण नहीं है न यही याद है कि उन्होंने भवानी मंदिर योजना को त्यागने का बाकायदा कोई निश्चय किया था। मंदिर के लिये स्थान तथा महंत के चुनाव का विचार निश्चय ही बारीन के मन की उपज था। उपयुक्त स्थान की खोज के लिये उन्होंने पहाड़ों की यात्रा की, परंतु पहाड़ी ज्वर से आक्रांत हो जाने के कारण

उन्हें अपनी खोज छोड़ देनी पड़ी और वे बड़ौदे वापस आ गये। उसके बाद वे बंगाल लौट गये, परंतु मंदिर के लिये उपयुक्त स्थान मिल जाने की बात श्रीअरविन्द के सुनने में कभी नही आई। साकरिया स्वामी बारीन के गुरु थे: गदर के समय वे विद्रोही पक्ष के एक योद्धा थे और सूरत कांग्रेस के भंग होने पर देशभक्ति के जोश में उनका खून खौल उठा जो उनकी मृत्यु का कारण बना, क्योंकि इससे एक पागल कुत्ते के काटने का विष फिर से उनपर चढ़ गया जिसे उन्होने अपनी यौगिक संकल्पशक्ति के कार्य द्वारा निष्प्रभाव कर रखा था। परंतु श्रीअरविन्द इन्हें ऐसी संस्था के राजनीतिक अंग या कार्य का संचालक बनाने के लिये कभी न चुनते। भवानी मन्दिर का विचार स्वयमेव विनष्ट हो गया। श्रीअरविन्द ने फिर इसके बारे में नही सोचा, किंतु बारीन ने, जो इस विचार से चिपके हुए थे, मानिकतल्ला बाग में छोटे पैमाने पर ऐसी एक संस्था स्थापित करने का यत्न किया।

(५.५.१९०८ को जब पुलिस ने उन्हे गिरफ्तार किया तो उनके हाथों में "हथकड़ी डाल दी गई"।)

(१)

"हथकड़ी डाल दी गई"—नही, उन्हें रस्सी से बांध दिया गया; कांग्रेस के नरमपंथी नेता भूपेन बोस के विरोध करने पर रस्सी खोल दी गई।

(२)

उनके हाथ नही बांधे गये थे, उनकी कमर में रस्सी बांधी गई थी। परंतु घर से निकलने से पहले ही नरमदल के नेता भूपेन्द्र नाथ वसु के प्रतिवाद करने पर रस्सी निकाल दी गई। भूपेंद्र वसु गिरफ्तारी की खबर सुनते ही पुलिस से इसका कारण पूछने के लिये वहां आ पहुंचे थे।

(अलीपुर जेल में श्रीअरविन्द ने गीता पढ़ना तथा उसकी साधना के अनुसार जीवन बिताना आरंभ किया; वहां उन्हें "सनातन धर्म" के सच्चे आन्तरिक स्वरूप एवं माहात्म्य का पूर्ण रूप से अनुभव हुआ था।)

वास्तव मे कहना यों चाहिये कि भारत की धार्मिक और आध्यात्मिक परंपरा, अर्थात् उसके सनातन धर्म का सच्चा आन्तरिक स्वरूप और माहात्म्य समझने तथा उसे पूर्ण रूप से स्वीकार करने के प्रयत्न में वे दीर्घकाल से लगे हुए थे।

(मुकदमा अलीपुर के मैजिस्ट्रेट की कचहरी में १९ मई १९०८ को आरंभ हुआ और रुक रुककर वर्ष भर चलता रहा। मैजिस्ट्रेट मिस्टर बीचक्राफ्ट श्रीअरविन्द के कैम्ब्रिज के साथी थे.....मुकदमा यथासमय ऊपर सेशन्स अदालत में भेज दिया गया और वहां अक्तूबर १९०८ को मुकदमे की सुनवाई शुरू हुई।)

अन्तिम वाक्य: "मुकदमा यथासमय....मुकदमे की सुनवाई शुरू हुई" पहले वाक्य के अंत में 'चलता रहा' के बाद आना चाहिये। प्रारंभिक सुनवाई (जो बहुत लंबी चली) बिर्ले (Birley) के सामने हुई थी जो एक युवक थे और श्रीअरविन्द के परिचित नहीं थे। वीचक्राफ्ट 'मैजिस्ट्रेट' नहीं वरन् सेशन्स कोर्ट के जज थे।

अलीपुर की अदालत में वक्तव्य

श्रीअरविन्द ने अदालत में सार्वजनिक वक्तव्य कभी नहीं दिया। जज के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि वे अपना अभियोग अपने वकीलों के ऊपर छोड़ना चाहते हैं, उनकी ओर से सब बात वकील ही कहेंगे। वे स्वयं न तो कोई वक्तव्य देना चाहते थे और न अदालत के प्रश्नों का उत्तर ही। जिस वक्तव्य की बात यहां कही गई है वह या वैसा कोई भी वक्तव्य यदि दिया भी गया हो तो वह, निःसंदेह, उन्होंने नहीं बल्कि उनकी ओर से उनके वकीलों ने तैयार किया होगा।

(अलीपुर जेल में श्रीअरविन्द बीमार पड़ गये।)

जेल में श्रीअरविन्द बीमार नहीं पड़े। वे साधारणतया स्वस्थ ही रहे, हां, कुछ समय के लिये उन्हें कोई मामूली शिकायत हुई थी जिसका कोई असर नहीं पड़ा था।

(अलीपुर जेल में एक वर्ष के एकांतवास और ध्यान के फलस्वरूप श्रीअरविन्द में एक महान् परिवर्तन आ गया....सदा की भांति एक बार फिर "सेवा-भाव" ने उन्हें कार्य के लिये प्रेरित किया।)

सेवा के आदर्श की अपेक्षा देश एवं जगत् के लिये और अंततः भगवान् के लिये "कर्म" करने, अर्थात् निष्काम कर्म करने का विचार ही उनके सामने अधिक था।

(श्रीअरविन्द की जुलाई १९०९ की "अपने देशवासियों के नाम एक खुली चिट्ठी" और दिसंबर १९०९ की दूसरी चिट्ठी।)

यहां पर कुछ गड़बड़ है और साधारणतया दो चिट्ठियों के बारे में कुछ भ्रमात्मक बातें फैली हुई हैं। श्रीअरविन्द यह विश्वास नहीं किये बैठे थे कि पहली चिट्ठी के परिणामस्वरूप सरकार की नीति में कुछ परिवर्तन आ जायगा। वे स्पष्ट रूप में लिखते हैं कि प्रस्तावित सुधार मिथ्या, अवास्तविक एवं अस्वीकार्य हैं। इस विषय में वे जो कुछ कहते हैं वह इतना ही है कि यदि वास्तविक शक्ति या अधिकार देनेवाले सच्चे सुधार दिये जायं, भले ही उनसे केवल आंशिक एवं अपूर्ण स्वराज्य ही क्यों न मिले, तो भी राष्ट्रवादी दल उन्हें पूर्ण स्वराज्य के एक साधन के रूप में स्वीकार कर सकता है। जबतक ऐसा नहीं होता, राष्ट्रवादी अपना स्वातंत्र्य-संग्राम तथा अपनी असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति जारी रखेंगे। श्रीअरविन्द इस बात के भरोसे नहीं बैठे थे कि सरकार अपनी नीति बदल

लेगी वल्कि उन्हें अंतर्ज्ञान द्वारा यह पता चल गया था कि यदि वे देश के लिये कोई ऐसा कार्यक्रम छोड़ जायं जिसे दूसरे नेता उनकी अनुपस्थिति में भी कार्यान्वित कर सकें तो सरकार उन्हें देशनिर्वासन का दंड देना नीतिपूर्ण किंवा लाभदायक नही समझेगी। इसके अतिरिक्त 'होम रूल' तथा पूर्ण निष्क्रिय प्रतिरोध-विषयक विचार का भी पहली चिट्ठी के साथ कोई संवंध नहीं था, क्योंकि वह उस समय तक श्रीअरविन्द के मन में आया ही नही था। वाद में अपने हस्ताक्षर सहित दूसरी चिट्ठी लिखते समय उन्होंने देश की परिस्थिति की माप-तोल की और सोचा कि क्या कुछ समय के लिये कुछ पीछे हटना ज्यादा अच्छा न होगा ताकि राजनीतिक कार्य को समुचित रूप से चला सकना संभव हो सके, ठीक वैसे ही जैसे अच्छी तरह कूदने के लिये कुछ पीछे हटना जरूरी होता है। यह डर था कि इसके विना कही राष्ट्रीय आन्दोलन वैठ न जाय। 'होम रूल' आन्दोलन या दक्षिणी अफ्रीका के जैसे आन्दोलन का विचार भी उनके मन में आया और उन्होंने यह उसी समय देख लिया कि निकट भविष्य में इनका आश्रय लिया जा सकता है। परंतु उन्होंने निश्चय किया कि ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व करना उनका काम नहीं है और स्वराज्य का जैसा आन्दोलन इस समय चल रहा है उसी को उन्हें जारी रखना होगा। दूसरी चिट्ठी में भी सुधारों को अपर्याप्त वताकर उनको अस्वीकार करते हुए उन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलन को जारी रखने तथा पुनः संगठित करने का समर्थन किया।[1] यह पहली चिट्ठी के पांच महीने वाद, २५ दिसम्वर की वात है। किस आकस्मिक आक्रमण और युद्धकौशल की ओर यहां संकेत किया गया है यह श्रीअरविन्द नहीं समझ पाये हैं: यदि आकस्मिक आक्रमण से अभिप्राय प्रस्तावित तलाशी तथा गिरफ्तारी से है तो वह दूसरी चिट्ठी के सिलसिले में तथा उसके परिणामस्वरूप की गई थी। उसी के विषय को लेकर मुकदमा चलाया जानेवाला था। चूंकि श्रीअरविन्द चन्दननगर चले गये और आंखों से ओझल हो गये इसलिये तलाशी नहीं हुई, वारण्ट रोक लिया गया तथा मुकदमा भी तव तक के लिये स्थगित कर दिया गया जव तक कि वे फिर से वापिस न आ जायं। यह घटना दूसरी चिट्ठी के प्रकाशित होने के एक महीने या कुछ अधिक समय वाद, फरवरी में हुई। श्रीअरविन्द चाहते थे कि

---

[1]श्रीअरविंद द्विदल-शासन (Diarchy) को भी एक कदम के रूप में स्वीकार कर लेते यदि इसमें वास्तविक अधिकार प्राप्त होता। उन्होंने तव तक यह विश्वास नहीं किया कि व्रिटिश सरकार की मनोवृत्ति में सच्चा परिवर्तन प्रारंभ हो गया है जव तक कि उसने प्रांतीय स्वायत्त शासन देना स्वीकार नही कर लिया। क्रिप्स के प्रस्तावों को उन्होंने उक्त परिवर्तन के ही एक अगले कदम के रूप में स्वीकार किया था और इसके अंतिम फलस्वरूप जव मजदूर दल की सरकार की नई नीति सामने आयी तो उन्होंने स्वीकार किया कि उसकी मनोवृत्ति पूर्ण रूप से वदल गई है।

पुलिस अपने हथकंडे प्रकट करे, और युद्ध के कौशल के बारे में जो उन्होंने लिखा वह एक पत्र का उत्तर था जो उनके पास चन्दननगर भेजा गया था और जिसके विषय में उन्हें यह मालूम हो गया था कि वह पुलिस के किसी गुप्तचर का लिखा हुआ है। उसमें कहा गया था कि आप सामने प्रकट हों और अभियोग का सामना करें। उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा करने का कोई कारण वे नही देखते, क्योंकि उनके नाम कोई खुला वारण्ट नही है और न मुकदमे की ही घोषणा की गई है। उनका ख्याल था कि इस उत्तर के परिणाम-स्वरूप पुलिस वारण्ट और अभियोग लेकर खुले तौर पर मैदान में आ जायगी और सचमुच इसका परिणाम हुआ भी यही।

(४) प्रेस के अशुद्ध वक्तव्यों के संशोधन

(१)

(बंगाल के एक साहित्य-समालोचक, गिरिजाशंकर राय चौधरी ने बंगला पत्र "उद्बोधन" में श्रीअरविन्द पर एक लेखमाला लिखी। एक अंक (आषाढ़ १३५१ बंग संवत्, तदनुसार जून १९४४ के अंक) में विशेष रूप से अनेक अशुद्ध वक्तव्य थे। इस लेख की कुछ बातों की सत्यता जानने के लिये स्वर्गीय श्री चारुचन्द्र दत्त ने श्रीअरविन्द से पूछा। निम्नलिखित पत्र श्रीअरविन्द का उत्तर है जो इन बातों के संबंध में यथार्थ तथ्यात्मक सूचना देता है। गिरिजाशंकर का भी लेख उन्हें सुनाया गया जिसपर उन्होंने कई अशुद्ध वक्तव्यों के संशो-धन के रूप में कुछ टिप्पणियां लिखायीं। ये टिप्पणियां अशुद्ध वक्तव्यों के सहित (जो कोष्ठकों के अन्तर्गत हैं) उक्त पत्र के बाद दी गई है।)

तुम्हारे पत्र से जो प्रश्न उपस्थित होते हैं उनके विषय में मेरा उत्तर यह है। एक बात को छोड़कर जिसे कुछ खोलकर समझाने की जरूरत है, अन्य बातों में मैं अपने को केवल घटनाओं तक ही सीमित रखूंगा।

(१) अप्रैल १९०७ में "निष्क्रिय प्रतिरोध" शीर्षक से प्रकाशित जिस लेखमाला का जिक्र तुमने किया है उसका लेखक मैं ही था; विपिन पाल का इससे कुछ भी संबंध नही था। १९०६ के अंत में उन्होंने पत्र से संबंध तोड़ लिया था और उसके बाद से वे इसके लिये कोई संपादकीय या अन्य लेख नही लिखते थे। मेरे मन में 'वन्दे मातरम्' के लिये ऐसी कई लेखमालाएं लिखने की योजना थी और उनमें से कम से कम तीन प्रकाशित हुई। "निष्क्रिय प्रतिरोध" उन्ही मे से एक थी।

(२) फरवरी और मार्च १९१० के बीच "धर्म" में जो लेख प्रकाशित हुए वे मेरे लिखे हुए नही थे। उनका असली लेखक पत्र के संपादकीय विभाग में काम करनेवाला एक युवक

था। यह उन सब लोगों को भलीभांति विदित है जो उस समय कार्यालय में काम करते या उसके साथ संबद्ध थे, उदाहरणार्थ नलिनीकान्त गुप्त को जो उन दिनों में भी मेरे साथ थे जैसे अब यहां भी मेरे साथ रहते हैं।

(३) चन्दननगर जाते समय मै रास्ते में बागबाजार मठ नहीं गया न श्री शारदेश्वरी देवी को प्रणाम ही किया। सच तो यह है कि अपने जीवन में मैं उनसे कभी नहीं मिला न कभी उनके दर्शन ही किये। बागबाजार के घाट से नहीं बल्कि एक दूसरे घाट (गंगा घाट) से ही मैं नौका में बैठकर सीधे चन्दननगर गया था।

(४) न तो गणेन्द्र महाराज न निवेदिता ही घाट पर मुझे विदा देने आयी थीं। उनमें से किसी को भी मेरे जाने का कुछ पता नहीं था : निवेदिता को बाद में ही इसका पता चला जब कि मैंने उनके नाम एक संदेश भेजा कि मेरी अनुपस्थिति में वे 'कर्मयोगिन्' का संचालन करती रहें। वे सहमत हो गई और उस समय से लेकर पत्र के प्रकाशन के अन्तिम दिन तक उसका संचालन उन्ही के हाथ में रहा। उस समय के संपादकीय उन्हीं के लिखे हुए हैं।

(५) अपनी पत्नी को मैं दीक्षा के लिये श्री शारदा देवी के पास नहीं ले गया; हां, मुझे पता लगा था कि देवव्रत की बहिन सुधीरा बसु उसे वहां ले गई थीं। यह बात मैंने बहुत दिनों बाद पांडिचेरी में सुनी थी। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई थी कि उसे इतने महान् आध्यात्मिक गुरु का आश्रय मिला, परंतु इस कार्य में मेरा कुछ हाथ नहीं था।

(६) चंदननगर मैं बहन निवेदिता की सलाह से नहीं गया। इससे पहले एक अवसर पर जब उन्होंने मुझे सूचना दी कि सरकार ने मुझे देश-निकाला देने का निश्चय कर लिया है, तब उन्होंने अवश्य मुझसे आग्रह किया था कि आप ब्रिटिश भारत से बाहर चले जायं और बाहर से ही अपना कार्य करें। परंतु मैंने उनसे कहा कि मेरी समझ में ऐसा करना आवश्यक नहीं है, मैं एक ऐसा लेख लिखूंगा जिससे यह योजना स्थगित हो जायगी। इन्हीं परिस्थितियों में मैंने "मेरा अंतिम इच्छापत्र" शीर्षक से अपने हस्ताक्षर सहित एक लेख लिखा था। निवेदिता ने बाद में मुझे बताया था कि वह लेख अपने उद्देश्य में सफल हुआ है, सरकार ने देश-निर्वासन का विचार त्याग दिया है। दुबारा वैसी सलाह देने का कोई मौका ही उनके सामने नहीं आया और न यह संभावना ही थी कि मैं उनकी सलाह का अनुसरण करता : जिस परिस्थिति के परिणामस्वरूप मैंने चंदननगर के लिये प्रस्थान किया उसका उन्हें पहले से कुछ पता नहीं था।

(७) उस प्रस्थान से संबंध रखनेवाली सच्ची बातें ये हैं। मैं 'कर्मयोगिन्' के दफ्तर में बैठा था जब कि मुझे पुलिस के एक उच्च अधिकारी से प्राप्त एक सूचना के आधार पर यह संदेश मिला कि कल दफ्तर की तलाशी होगी और मुझे गिरफ्तार कर लिया जायगा। (दफ्तर की सचमुच तलाशी ली गई थी परंतु मेरे विरुद्ध कोई वारण्ट नहीं पेश किया गया;

इसके बारे में फिर कोई बात मेरे सुनने मे नही आई जब तक कि कुछ काल के बाद पत्र पर मुकदमा नहीं शुरू हो गया, किंतु तब तक मैं चदननगर भी छोड़कर पांडिचेरी के लिये प्रस्थान कर चुका था।) जब मैं इस आसन्न घटना के संबंध में अपने आसपास के लोगो की गर्मागर्म टीका-टिप्पणी सुन रहा था, तब मुझे सहसा ऊपर से एक आदेश मिला जिसको 'वाणी' मेरे लिये खूब परिचित थी और जिसमे कुल तीन शब्द थे "Go to Chandernagor" अर्थात् "चंदननगर चले जाओ"। कोई १० मिनट में ही मै चंदननगर जाने के लिये नौका पर सवार हो गया। रामचंद्र मजूमदार मुझे घाट तक ले गये, एक नौका बुलाई और मैं तुरंत अपने संबंधी वीरेन घोष तथा मणि (सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती) के साथ उसमें बैठ गया जो चन्दननगर तक मेरे साथ गये; रास्ते मे मै बागबाजार या और कही भी नही गया। मुह अंधेरे ही हम अपने गंतव्य स्थान पर जा पहुंचे : वे दोनों प्रातःकाल कलकत्ते लौट गये। मैं एक गुप्त स्थान मे रहकर पूर्ण रूप से साधना में निमग्न हो गया। उस समय से अपने दोनों समाचार-पत्रो के साथ मेरा किसी प्रकार का भी सक्रिय संबंध नही रहा। बाद मे, वैसी ही 'समुद्र-यात्रा' की आज्ञा के अनुसार मैं चंदननगर से प्रस्थान कर ४ अप्रैल, १९१० को पांडिचेरी पहुंच गया।

स्पष्टीकरण के लिये मै इतनी बात और कह दू कि सूरत अधिवेशन के बाद बंबई में लेले से विदा लेने तथा बड़ौदे, पूना और बंबई में उनके संपर्क मे रहने के बाद से मैंने यह नियम स्वीकार कर लिया था कि मै निःसंदिग्ध रूप से आतरिक मार्गदर्शन का ही अनुसरण करूंगा और जैसे भगवान् चलायेगें वैसे ही चलूगा। कारावास के एक वर्ष मे जो आध्यात्मिक विकास हुआ उसके परिणामस्वरूप यह नियम मेरे जीवन का परमोच्च विधान बन गया। मुझे जो आदेश मिला उसके अनुसार अविलंब कार्य कर डालने का कारण इससे समझ मे आ जायगा।

इन विषयों पर "उद्बोधन" के संपादक को अपने वक्तव्य देते हुए तुम मेरे इस पत्र के आधार पर मेरे कथनों को *प्रमाण* के रूप में उद्धृत कर सकते हो।

५ दिसंबर १९४४

("उद्बोधन" के आषाढ़ १३५१ बं. सं० तदनुसार जून १९४४ के अंक में प्रकाशित गिरिजाशंकर के लेख पर श्रीअरविन्द की टिप्पणियां)

(सन् १९०४ मे बड़ौदे के महाराज ने बहन निवेदिता को अपने यहां निमंत्रित किया था और श्रीअरविन्द ने उनसे रामकृष्ण और विवेकानंद के विषय में बातचीत की थी।)

मुझे स्मरण नही कि उन्हें निमंत्रित किया गया था या नही, पर मेरा ख्याल है कि वे वहां राज्य की अतिथि के रूप में ठहरी हुई थी। खासी राव और मैं उनके स्वागत के लिये स्टेशन गये थे।

मुझे याद नहीं पड़ता कि निवेदिता ने मुझसे आध्यात्मिक विषयों की अथवा रामकृष्ण और विवेकानंद की चर्चा की हो। हमारी बातचीत राजनीति तथा अन्य विषयों पर हुई थी। स्टेशन से शहर आते हुए उन्होंने कालिज के भवन और उसके भारी-भरकम गुंवज की कुरूपता की बड़े जोर से निन्दा की और साथ ही उसके पास बनी हुई धर्मशाला की प्रशंसा भी की। खासी राव ने उनकी ओर घूर कर देखा और सोचा कि कम से कम ये कुछ थोड़ी सनकी अवश्य हैं, तभी तो इनके ऐसे विचार हैं! उन दिनों मैं उनकी पुस्तक "काली माता" का बड़ा अनुरक्त था और मुझे ख्याल आता है कि हमने उसके बारे में बात की थी। उन्होंने कहा, मैंने सुन रखा है कि आप 'शक्ति' के पुजारी हैं। इससे उनका मतलब यह था कि उनकी तरह मैं भी गुप्त क्रांतिकारी दल से संबद्ध हूं। मैं महाराज के साथ उनकी मुलाकात के समय भी उपस्थित था। उन्होंने गुप्त क्रांति के कार्य में महाराज की सहायता मांगी और कहा कि वे मेरे द्वारा उन (निवेदिता) के साथ पत्रव्यवहार आदि का संबंध रख सकते हैं। सयाजीराव अतीव चतुर थे; वे भला ऐसे भयानक कार्य में क्यों पड़ने लगे! उन्होंने फिर इस बारे में मुझसे कभी बात ही नहीं की। बस, इतना ही मुझे स्मरण है।

(जब पुलिस ने अप्रैल १९०८ में श्रीअरविन्द के घर की तलाशी ली तो उनके कमरे में दक्षिणेश्वर की मिट्टी पाई गई।)

रामकृष्ण मिशन से संबंध रखनेवाला एक युवक मेरे पास दक्षिणेश्वर की मिट्टी लाया था और मैंने उसे रख ली थी; जब पुलिस मुझे पकड़ने आई तो वह मेरे कमरे में रखी थी।

("वंदे मातंरम्" का प्रकाशन ७ अगस्त १९०६ को आरंभ हुआ। संयुक्त स्टाक कंपनी की घोषणा १८ अक्तूबर १९०६ को की गई। इस प्रकार अगस्त १९०६ से अक्तूबर १९०६ तक विपिन पाल संपादक रहे।)

विपिन पाल ने ५०० रु. की पूंजी से 'वंदे मातरम्' चलाना आरंभ किया था। ये रुपये उन्हें हरिदास हलधर से दानस्वरूप प्राप्त हुए थे। इसके सहकारी संपादक का कार्य करने के लिये उन्होंने मुझसे सहायता मांगी और मैं उसे मान गया। मैंने कलकत्ते के तरुण राष्ट्रवादी नेताओं की एक खानगी सभा बुलाई और उन्होंने 'वंदे मातरम्' को अपने दल के पत्र के रूप में चलाना स्वीकार किया तथा उसके मुख्य आर्थिक सहायक हुए सुबोध और नीरद मल्लिक। एक कंपनी की योजना पर भी विचार हुआ और वह बन भी गई किंतु इस बीच सुबोध ने ही आर्थिक सहायता दी और वही पत्र को चलाते रहे। संपादन का कार्य विपिन पाल के ही हाथ में रहा क्योंकि सी. आर. दास तथा अन्य कई लोग उनके प्रबल समर्थक थे। हेमेन्द्रप्रसाद घोष और श्यामसुन्दर को भी संपादकीय विभाग में रखा गया पर विपिन बाबू के साथ उनकी निभ न सकी। दोनों मल्लिक इन्हीं के पक्ष में थे। अंत में, मुझे स्मरण नहीं नवंबर या दिसंबर में, संभवतः दिसम्बर में, विपिन पाल को पत्र से

अलग होना पड़ा। मैं स्वयं अत्यधिक रुग्ण था और सरपेण्टाइन लेन में अपने श्वसुर के घर मरणासन्न-सा पडा था। मुझे पता नही था कि इधर क्या चल रहा था। उन्होंने मेरी स्वीकृति के विना ही सपादक के रूप मे पत्र पर मेरा नाम दे दिया, किंतु इसपर मैंने मंत्री की कुछ कड़े शब्दों मे भर्त्सना की और आगे से अपना नाम देना वद करा दिया। इस विषय पर सुवोध को भी मैंने एक कडी चिट्ठी लिखी। 'वदे मातरम्' के साथ विपिन पाल का संबंध तभी से समाप्त हो गया था। किसी का कहना है कि अलीपुर अभियोग मे मेरे पकड़े जाने के वाद उन्होने सपादन का कार्य फिर से संभाल लिया। परंतु यह वात कभी मेरे कानों में नही पड़ी। जेल से मेरे वाहर आने के वाद विजय चटर्जी ने मुझे वताया कि वह, श्यामसुन्दर और हेमेन्द्रप्रसाद जैसे-तैसे पत्र चलाते रहे परंतु उसका खर्च चलाना असंभव हो गया। इसलिये उन्होंने जान बूझकर एक ऐसा लेख लिखा जिससे सरकार पत्र पर टूट पड़े तथा उसका प्रकाशन बंद कराने को बाध्य हो जाय और फलतः 'वंदे मातरम्' अपना जीवन कुछ गौरव और पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ समाप्त कर सके।

(२)

[मद्रास के एक साप्ताहिक पत्र द सण्डे टाइम्स (The Sunday Times) ने अपने १७ जून १९४५ के अंक में "हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड" (Hindustan Standard) से एक समाचार उद्धृत किया जिसमें यह कहा गया था कि श्रीअरविन्द ने चंदननगर के लिये प्रस्थान करने से पूर्व श्री रामकृष्ण की धर्मपत्नी श्री शारदादेवी से दीक्षा ली थी। यह एक विलकुल मनगढ़ंत कहानी थी और "द सण्डे टाइम्स" के २४ जून के अंक में निम्न वक्तव्य प्रकाशित करके इसका प्रतिवाद किया गया था। यह वक्तव्य आश्रम के मंत्री के नाम से निकला था किंतु स्वयं श्रीअरविन्द का ही लिखाया हुआ था।]

आपने अपनी पत्रिका के इस १७ वीं तारीख के अंक में 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' से जो यह वक्तव्य उद्धृत किया है कि श्रीअरविन्द ने पांडिचेरी (?) के लिये प्रस्थान करने के दिन श्री शारदामणि देवी के दर्शन किये और उनसे किसी प्रकार की दीक्षा ली उसका खण्डन करने के लिये उन्होंने (श्रीअरविन्द ने) मुझे अधिकार प्रदान किया है। कुछ समय पूर्व कलकत्ते के एक मासिक में एक वृत्तांत प्रकाशित हुआ था कि फरवरी १९१० में चन्दननगर जाने की रात श्री शारदादेवी का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये श्रीअरविन्द वागवाजार मठ में उनसे मिले थे, वहन निवेदिता और मठ के एक व्रह्मचारी उन्हें विदा देने गये थे और वहन निवेदिता के कहने से ही उन्होंने व्रिटिश भारत छोड़ने का प्रवंध किया था। ये सव वक्तव्य तथ्य-विरुद्ध हैं और श्री चारुचंद्र दत्त ने उसी मासिक में श्रीअरविन्द की ओर से इनका प्रतिवाद निकलवाया था।

श्रीअरविन्द के चंदननगर-प्रस्थान का कारण यह था कि उन्हें ऊपर से एक आदेश

प्राप्त हुआ जिसके आधार पर उन्होंने एकाएक प्रस्थान का निश्चय कर लिया और फिर तुरंत ही तथा विना किसी को वताये उसे कार्यान्वित भी कर डाला, न तो किसी से सलाह की और न उन्हें कही से कोई निर्देश ही प्राप्त हुआ। वे 'धर्म' के कार्यालय से सीधे घाट पर गये—न तो वे मठ में गये, न कोई उन्हें विदा देने ही गया। एक नौका वुलाई गई, वे दो युवकों के साथ उसमें वैठ गये और सीधे अपने गंतव्य स्थान की ओर चल पड़े। चंदन-नगर में उनका निवासस्थान सर्वथा गुप्त रखा गया; श्रीयुत मोतीलाल राय, जिन्होंने उनके रहने की व्यवस्था की थी, तथा दो-एक और लोगों को छोड़कर और किसी को उनकी जगह मालूम नहीं थी। वहिन निवेदिता को प्रस्थान की सूचना दूसरे दिन गुप्त रूप में दी गई और उनसे कहा गया कि वे श्रीअरविन्द के स्थान पर 'कर्मयोगिन्' का संचालन करें जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। चंदननगर से पांडिचेरी जाते हुए श्रीअरविन्द अपने मौसेरे भाई के यहां से अपना ट्रंक लेने के लिये केवल दो मिनट कालिज स्क्वेयर के वाहर रुके और केवल समुद्र-यात्रार्थ चिकित्सक का प्रमाणपत्र लेने के लिये ब्रिटिश चिकित्साधिकारी से मिले, अन्य किसी से भी नहीं। वे सीधे जाकर 'डूप्ले' स्टीमर पर वैठ गये और दूसरे दिन प्रातः-काल पांडिचेरी के लिये रवाना हो गये।

यह भी कह देना चाहिये कि न तो इस समय और न किसी अन्य समय श्रीअरविन्द ने शारदादेवी से किसी प्रकार की दीक्षा ग्रहण की; और किसी से भी कभी कोई नियमित दीक्षा नही ली। सन् १९०४ में वड़ौदा-निवास के समय उन्होंने किसी मित्र से प्राणायाम की एक साधारण विधि सीखकर स्वयमेव साधना आरंभ कर दी थी। तत्पश्चात् उन्हें केवल एक महाराष्ट्रीय योगी विष्णुभास्कर लेले से ही कुछ सहायता प्राप्त हुई जिन्होंने उन्हें मन की पूर्ण नीरवता और संपूर्ण चेतना की निश्चलता प्राप्त करने की विधि सिखाई। श्री-अरविन्द तीन दिन में ही इस स्थिति को प्राप्त करने में सफल हो गये। इसके फलस्वरूप उन्हें ऐसी महान् और स्थायी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्राप्त हुई जिनसे योग के वृहत्तर पथ उनके सामने खुल गये। लेले ने अंत में उनसे यह कहा कि वे अपने आपको अंतरस्थ भगवान् के हाथों में पूर्ण रूप से सौप दें और फिर वे जैसे चलायें वैसे ही चलें; यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें स्वयं लेले से या और किसी से निर्देश प्राप्त करने की आवश्यकता न होगी। तव से यह श्रीअरविन्द की साधना का संपूर्ण आधार और सिद्धांत ही वन गया। उस समय से (अर्थात् १९०९ के आरंभ से) लेकर और पांडिचेरी में दीर्घकालीन गुरु गंभीर अनुभव के काल में भी उनपर वाहर से कोई आध्यात्मिक प्रभाव नही पड़ा।

नवंवर १९४५

(३)

[श्रीअरविन्द के शिष्य सुरेशचंद्र चक्रवर्ती ने एक वंगला पत्र "प्रवासी" (वैशाख १३५२

वं. सं., अप्रैल १९४५ के अंक) में श्रीअरविन्द पर एक लेख लिखा था। रामचंद्र मजूमदार ने, जो "कर्मयोगिन्" के संपादकीय विभाग में कार्य करते थे, उस लेख के उत्तर में एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने सुरेश चक्रवर्ती के लेख के कुछ कथनों का, जो उन्हें अशुद्ध प्रतीत होते थे, खंडन किया। मजूमदार का उत्तर केवल अशुद्ध स्मृति पर ही आधारित नहीं था अपितु उसमें सर्वथा कपोलकल्पित वक्तव्यों की भी भरमार थी। उनके भ्रांत और मनगढंत कथनों का संशोधन करने के लिये श्रीअरविन्द ने निम्न टिप्पणी लिखायी थी। नलिनीकांत-गुप्त ने इसका बंगला में अनुवाद किया था और इसके साथ ही उन्होंने बंगला में एक लेख भी लिखा था (वह लेख "प्रवासी" ओर "वर्तिका" में छपा था) जो वस्तुतः इस टिप्पणी का ही भाषांतर था।]

बलिहारी है ! सुरेश चक्रवर्ती के लेख के उत्तर में मेरे पुराने मित्र रामचंद्र मजूमदार ने अपने आपको बधाई दी है कि बुढ़ापे में भी उनकी स्मरण-शक्ति इतनी अच्छी है। उनकी स्मरण-शक्ति सचमुच इतनी अच्छी है कि उन्हें न सिर्फ घटी हुई घटनाएं ही याद है—बिलकुल गलत ढंग से—बल्कि जो बातें कभी नहीं हुई उन्हें भी याद-कर-करके वे मूर्त्त रूप दे सकते हैं। उनके किये वर्णन में बड़ी बड़ी भूलें इतनी ठूस ठूसकर भरी हुई है और साथ ही उसमें उन्होंने अपनी ओर से भी इतना नमक मिर्च लगा दिया है कि उसके द्वारा आधुनिक शैली से श्रीअरविन्द की एक काल्पनिक तथा रसपूर्ण जीवनी लिखने के लिये भरपूर सामग्री मिल सकती है, परंतु इसे छोड़कर उसका और कुछ भी मूल्य नहीं। खेद की बात है कि इस मनोहर फुलवारी को हमें पैरों तले रौंदना पड़ रहा है, किंतु इतिहास तथा जीवन-चरित्र-संबंधी तथ्यों की भी अपनी मांग है। उक्त वर्णन की कुछ अत्यंत मारात्मक भूलों का मै संशोधन करूंगा।

सर्वप्रथम, सुरेश चक्रवर्ती का चंदननगर-यात्रा-विषयक लेख केवल अशुद्ध रूप में निरूपित तथ्यों के खंडन तक ही सीमित था। उसमें इस बात का निराकरण किया गया था कि उक्त यात्रा के समय श्रीअरविन्द श्री शारदादेवी से मिले थे। यह बात अब वास्तव में स्वीकार कर ली गई है, क्योंकि हम देखते है कि इस तथोक्त भेंट की तिथि बदलकर कुछ दिन पहले की कर दी गई है। मै यह भी कह दू कि सुरेश का किया हुआ तथ्यों का वर्णन श्रीअरविन्द के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और उन्होंने बतलाया कि यह पूरे का पूरा तथा प्रत्येक ब्योरे सहित सत्य है।

परंतु अब एक और कहानी गढ़ी गई है जो भ्रांतियों और मिथ्या बातों से भरी हुई है और जो इस बात का अच्छा दृष्टांत है कि कैसे सत्य के स्थान पर झूठी कहानी की प्रस्थापना की जा सकती है। श्रीअरविन्द ने भगिनी निवेदिता से इस विषय में कभी बात नहीं की कि शमसुल आलम की हत्या के सिलसिले में सरकार उनपर मुकदमा चलाना चाहती है; इसका सीधा सा कारण यह है कि किसी भी व्यक्ति ने उन्हें सरकार के ऐसे निश्चय की कभी सूचना ही नही दी। बहन निवेदिता ने उन्हें गुप्त वास के

लिये निर्देश या परामर्श कभी नहीं दिया। इस विषय की वास्तविक घटना का चंदन-नगर-प्रस्थान से कुछ भी संबंध नहीं था। वह घटना इस प्रकार है: बहुत पहले एक अव-सर पर बहन निवेदिता ने श्रीअरविन्द को सूचना दी कि सरकार आपको देश से निर्वासित करने की सोच रही है। तब उन्होंने उन्हें "गुप्तवास करने के लिये नहीं" बल्कि ब्रिटिश भारत से बाहर जाकर वहीं से कार्य करने के लिये परामर्श दिया था; पर श्रीअरविन्द ने वह परामर्श स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, वे एक "खुली चिट्ठी" लिखेंगे जिससे, उन-की समझ में, सरकार अपना विचार छोड़ देगी। वह चिट्ठी "मेरा अंतिम इच्छापत्र" शीर्षक से 'कर्मयोगिन्' में प्रकाशित हुई। पीछे बहन निवेदिता ने उन्हें बताया कि उसका परिणाम वही निकला जो वे चाहते थे और उसके बाद तो देश-निर्वासन की बात कभी उठी ही नहीं।

चंदननगर जाते समय श्रीअरविन्द बहन निवेदिता से नहीं मिले। यह तो केवल उस कथा का अवशेष है जिसमें कहा गया था कि श्रीअरविन्द बारानगर मठ के दर्शन के लिये गये थे और भगिनी निवेदिता उन्हें पहुंचाने घाट तक आई थीं। पर अब इस कथा को छोड़ दिया गया है। असल में उस समय बहन निवेदिता को उनके चन्दननगर जाने के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं था। उनको तो इसका पता केवल तभी चला जब कि उन्होंने वहां से उन्हें यह कहला भेजा कि उनके पीछे वह 'कर्मयोगिन्' के संपादन का कार्य संभाल लें। सारी घटना बिलकुल एकाएक ही घटित हुई। स्वयं श्रीअरविन्द ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि एक दिन 'कर्मयोगिन्' के दफ्तर में बैठे हुए उन्हें यह खबर मिली कि शीघ्र ही यहां की तलाशी ली जायगी और उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायगा। उस स्थिति में उन्हें सहसा यह आदेश प्राप्त हुआ कि वे चंदननगर चले जायं और उन्होंने किसी को भी–यहां तक कि अपने सहयोगियों एवं सहकारियों को भी सूचना दिये बिना या उनसे सलाह किये बिना ही इस आदेश को तुरंत कार्यान्वित कर डाला। सारी चीज चुपचाप और गुप्त रूप से हुई, सब मिलाकर शायद १५ मिनट में। वे राम मजूमदार के पीछे-पीछे घाट तक गये, सुरेश चक्रवर्ती और वीरेन घोष भी कुछ दूरी पर उनके पीछे पीछे आ रहे थे। आवाज लगाकर एक नौका मंगाई गई और वे तीनों उसमें सवार होकर तुरंत ही चल दिये। चंदन-नगर में वे एक गुप्त स्थान में रहने लगे जिसका पता केवल दो एक आदमियों को ही था, जैसे कि बाद में उनके पांडिचेरी चले जाने की बात भी बहुत कम लोग ही जानते थे। राम मजूमदार से किसी गुप्त स्थान के प्रबंध के लिये श्रीअरविन्द ने कभी नहीं कहा; ऐसे किसी प्रबंध के लिये समय ही कहां था! वे बिना सूचना दिये ही चल पड़े थे। उन्हें विश्वास था कि चंदननगर के उनके कुछ मित्र उनके ठहरने का प्रबंध कर ही देंगे। मोती-लाल राय ने पहले उन्हें अपने घर ठहराया और फिर अन्यान्य स्थानों में उनका प्रबंध किया, पर दो-एक के सिवा और किसी को कुछ पता नहीं लगने दिया। श्रीअरविन्द के अपने कथन के अनुसार, सारी घटना का यथार्थ वृत्तांत यही है।

एक नयी कहानी भी अब सुनने में आती है जो कि एक और कल्पित गाथा है। वह यह कि देवव्रत बोस और श्रीअरविन्द दोनों ने रामकृष्ण मिशन में प्रवेश के लिये प्रार्थना की और देवव्रत को तो स्वीकार कर लिया गया पर स्वामी ब्रह्मानंद ने श्रीअरविन्द को प्रवेश की अनुमति नहीं दी। संन्यास लेने या संन्यासियों के किसी स्थापित संघ में प्रविष्ट होने की बात कभी श्रीअरविन्द के स्वप्न में भी नहीं आई। प्रत्येक व्यक्ति को यह भलीभांति विदित होना चाहिये कि संन्यास को उन्होंने अपने योग का अंग कभी नहीं माना। उन्होंने पांडिचेरी में एक आश्रम स्थापित किया है पर उसके सदस्य संन्यासी नहीं हैं; न वे भगवा पहनते हैं न पूर्ण संन्यास-धर्म का ही अभ्यास करते हैं, वरन् वे अध्यात्म-अनुभव पर प्रतिष्ठित जीवन के योग की साधना करते हैं। श्रीअरविन्द का सदा यही विचार रहा है और इससे भिन्न कभी नहीं था। जब श्रीअरविन्द नौका में बैठकर बेलूर मठ देखने गये थे तब उन्होंने स्वामी ब्रह्मानंद को केवल एक बार देखा था। तब लगभग १५ मिनट तक स्वामी ब्रह्मानंद से उनकी बातचीत भी हुई थी पर बातचीत का विषय आध्यात्मिक नहीं था। स्वामीजी के सामने सरकार के एक पत्र का उत्तर देने की समस्या उपस्थित थी और उन्होंने श्रीअरविन्द से सलाह की कि इसका उत्तर देने की कोई आवश्यकता है या नहीं। श्रीअरविन्द ने कहा, नहीं, और स्वामीजी इसपर सहमत हो गये। मठ देखकर श्रीअरविन्द वापिस चले आये और इसके सिवा और कुछ नहीं हुआ। न इसके पहले और न बाद ही उन्होंने स्वामी ब्रह्मानंद से पत्रालाप किया न किसी और प्रकार से ही उनके संपर्क में आये। मठ में प्रवेश या संन्यास के लिये उन्होंने सीधे या और किसी के द्वारा कभी उनसे प्रार्थना नहीं की।

ऐसे इंगित या वक्तव्य भी देखने में आये हैं कि श्रीअरविन्द ने इस काल के आसपास दीक्षा ग्रहण की या दीक्षा-प्रदान के लिये प्रार्थना की। जो ऐसी दंतकथाएं फैलाते हैं वे इस बात से अनभिज्ञ जान पड़ते हैं कि उस समय श्रीअरविन्द आध्यात्मिक नौसिखुए नहीं थे न ही उन्हें किसी व्यक्ति से किसी प्रकार की दीक्षा की या आध्यात्मिक मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। जिन चार महान् अनुभूतियों पर उनका योग एवं आध्यात्मिक दर्शन प्रतिष्ठित है उनमें से दो श्रीअरविन्द पहले से ही पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुके थे। पहली उन्हें तब प्राप्त हुई थी जब वे जनवरी १९०८ में बड़ौदे में महाराष्ट्रीय योगी विष्णु भास्कर लेले के साथ ध्यान कर रहे थे। यह देशकालातीत शांत ब्रह्म की अनुभूति थी जो समग्र चेतना को पूर्ण और स्थायी रूप से निश्चल करने के अनन्तर उपलब्ध हुई थी। प्रारंभ में इसके साथ साथ उन्हें इस बात का भी एक प्रबल भान एवं अनुभव हुआ कि यह जगत् पूर्णतया मिथ्या है, यद्यपि दूसरी अनुभूति के बाद वह भान लुप्त हो गया। वह दूसरी अनुभूति विश्व-चेतना की थी। उन्हें अनुभव हुआ कि सभी प्राणी और जो कुछ भी यहां है वह सब भगवान् ही है। यह घटना अलीपुर जेल की है और इसकी चर्चा उन्होंने अपने उत्तरपाड़ा के भाषण में की थी।

यह सत्य नहीं है कि श्रीअरविन्द की पत्नी मृणालिनी देवी कालिज स्क्वेयर में श्री के. के. मित्र के घर रहती थी। हां, अलीपुर के मामले तथा फ्रेंच भारत में जाने के बीच के समय में स्वयं श्रीअरविन्द वहां रहा करते थे। परंतु मृणालिनी सदा बंगवासी कालिज के प्रिंसिपल गिरीश वसु के परिवार के साथ रहीं। श्रीअरविन्द के कथन का हवाला देकर जो यह बात कही जाती है कि 'वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो मानवता की ओर आरोहण कर रहे हैं' इसका अर्थ समझने में हम तब तक असमर्थ हैं जब तक हम यह न मान लें कि वे केवल एक पशुस्तरीय मनुष्य हैं और विचारशील प्राणी के स्तर की ओर आरोहण कर रहे हैं। निःसंदेह श्रीअरविन्द ने निरर्थक और शब्दाडंबरयुक्त ऐसा चुटकुला कभी नहीं बनाया। यदि यह कहा जाता कि वे दिव्य मानवता की ओर आरोहण कर रहे हैं तब तो इसका कुछ अर्थ हो सकता था परंतु यह सारी बात ही श्रीअरविन्द की शैली से एकदम भिन्न है। सच पूछिये तो रामचंद्र ने श्रीअरविन्द के मुख से जो जो बातें कहलवायी हैं वे सब श्रीअरविन्द के बोलने के ढंग से सर्वथा विपरीत हैं। उदाहरणार्थ, उसने कहा है कि चंदननगर जाते समय श्रीअरविन्द ने शेक्सपीयर और पोलोनियस की सी शैली में उससे एक अनुरोध किया। उन्होंने रामचंद्र को मौन रहने का आदेश दिया होगा पर वैसी आलंकारिक भाषा में नहीं।

इतना ही काफी होगा; सभी अशुद्धियों एवं कल्पनाओं की चर्चा करना आवश्यक नहीं। परंतु मैंने इतना बतला दिया है जिससे श्रीअरविन्द के बारे में सचाई जाननेवाले को यह पता चल जायगा कि उसके लिये यह अच्छा होगा कि वह रामचंद्र के कथानक पर जरा भी विश्वास न करे। गेटे के शब्दों में इसे "काव्यात्मक कल्पनाएं और सत्य" कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें सत्य का अंश अल्प और काव्य-कल्पना का अत्यधिक है। यह बात फाल्स्टाफ के सराय के बिल के समान है जिसमें रोटी का दाम बहुत कम और शराब का दाम बहुत अधिक होता था। यहां, सच पूछा जाय तो, प्रायः संपूर्ण शराब ही है।

(४)

[भारत की आध्यात्मिकता में रुचि रखनेवाली एक फ्रेंच महिला ने बहन निवेदिता के जीवन पर फ्रेंच में 'भारत की पुत्री-निवेदिता' (Nivedita, fille de l'Inde) नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने श्रीअरविन्द तथा बहन निवेदिता के साथ उनके संबंध के बारे में कुछ बातें लिखी हैं। श्रीअरविन्द के एक फ्रांसीसी शिष्य ने इन बातों की ओर उन का ध्यान खींचा और उसे इस संबंध में निम्न उत्तर मिला।]

मुझे कहना पड़ेगा कि 'क्ष' को जो विवरण दिया गया है और जो उसकी पुस्तक के ३१७ से ३२४ पृष्ठों पर दिया गया है वह एक निराधार कहानी और कपोल-कल्पनामात्र है जो वास्तविक घटनाओं पर आधारित नहीं है। अलीपुर में अपने कारावास के प्रारंभिक दिन मैंने एक काल-कोठरी में बिताये और फिर नरेन गोसाईं की हत्या के बाद से मामले

के अंतिम दिनों तक, जब कि अलीपुर मामले के सभी कैदियों को पृथक् पृथक् कोठरियों में बंद कर दिया गया था, मैं अपनी अलग कोठरी में ही रहा। बीच में थोड़े समय के लिये हम सब को एक साथ भी रखा गया था। इस वक्तव्य के मूल में कुछ भी सत्य नहीं है कि जब मैं ध्यान किया करता था तब शेष सब लोग मेरे चारों ओर एकत्र हो जाते थे, मैं उनके सामने गीता का पाठ करता और वे भी गीता के श्लोक गाया करते। अथवा वे आध्यात्मिक विषयों पर मुझसे प्रश्न पूछते और निर्देश प्राप्त करते थे; यह सारा वर्णन सर्वथा काल्पनिक है। केवल कुछ ही बंदी ऐसे थे जिन्हें मैं जेल में मिलने से पहले भी जानता था। केवल थोड़े से लोगों ने ही, जो बारीन के साथ रह चुके थे, साधना की थी और उनका संबंध बारीन से था, तथा वे किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिये मेरे पास नहीं, बल्कि उनके पास ही पहुंचते थे। इन दिनों मैं अपनी योग-साधना कर रहा था, अत्यधिक हो-हल्ला और कोलाहल के बीच भी मैं अकेला मौन भाव से साधना करने का अभ्यास कर रहा था और दूसरा कोई भी उसमें किसी प्रकार का भाग नहीं लेता था। मैंने योगाभ्यास १९०४ में आरंभ किया था पर वह अलग-थलग और वैयक्तिक था। मेरे आसपास रहनेवाले लोग बस इतना ही जानते थे कि मैं एक साधक हूं किंतु इससे अधिक उन्हें कुछ भी पता नहीं था, क्योंकि मेरे अंदर जो भी क्रियाएं होती थीं उन्हें मैं अपने तक ही रखता। जेल से बाहर आने के बाद ही मैंने पहली बार उत्तरपाड़ा में जनता के सामने अपने आध्यात्मिक अनुभवों की चर्चा की। पांडिचेरी जाने से पहले तक मैंने किसी को शिष्य रूप में स्वीकार नहीं किया; जो मेरे साथ पांडिचेरी गये या वहां आकर मेरे साथ रहने लगे उनके साथ प्रारंभ में मेरा संबंध गुरु-शिष्य की अपेक्षा कहीं अधिक मित्रों एवं साथियों का था। उनसे मेरा प्रथम परिचय भी आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं वरन् राजनीतिक क्षेत्र में ही हुआ था। आगे जाकर ही, जब माताजी जापान से वापस आईं और आश्रम की स्थापना सन् १९२६ में की गई अथवा यों कहें कि वह स्वयमेव हो गई, तब आध्यात्मिक संबंधों का शनैः शनैः विकास होने लगा। मैंने १९०४ में बिना किसी गुरु के योग आरंभ किया; १९०८ में मुझे एक महाराष्ट्रीय योगी से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई और मैंने अपनी साधना का आधार पा लिया। परंतु तब से लेकर माताजी के भारत आने तक मुझे और किसी से किसी प्रकार की आध्यात्मिक सहायता प्राप्त नहीं हुई। उसके पूर्व और अनंतर भी मेरी साधना किन्हीं पुस्तकों पर नहीं बल्कि उन व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित रही जो मेरे अंतर से उमड़े पड़ते थे। परंतु जेल में गीता और उपनिषदें मेरे संग थीं, मैं गीता के योग का अभ्यास करता और उपनिषदों की सहायता से ध्यान-चिंतन करता। जिन पुस्तकों से मुझे मार्गदर्शन मिला वे केवल यही थीं। वेदों ने तो, जिन्हें मैंने बहुत पीछे पांडिचेरी में पहले-पहल पढ़ना शुरू किया, मेरी साधना का मार्ग-निर्देश करने की अपेक्षा मेरे पूर्व-प्राप्त अनुभवों को ही पुष्ट किया। कभी कभी, जब कोई प्रश्न या कठि-

नाई उपस्थित होती, मैं प्रकाश के लिये गीता की शरण लेता और प्रायः ही मुझे उसमें साहाय्य या उत्तर प्राप्त होता। किंतु गीता के संबंध में जैसी घटनाएं उक्त पुस्तक में वर्णित हैं वैसी कोई भी घटना कभी नहीं हुई। यह सत्य है कि जेल में अपने एकांत ध्यान के समय मुझे एक पखवाड़े तक प्रतिदिन मुझसे बातें करते हुए विवेकानन्द की वाणी सुनाई देती रही और साथ ही उनकी उपस्थिति का भी अनुभव होता रहा। परंतु उक्त पुस्तक में जिन तथाकथित घटनाओं का वर्णन है, जो कभी हुई ही नहीं,–उनके साथ इसका कुछ संबंध नहीं था और न गीता से ही इसका कुछ सरोकार था। वह वाणी आध्यात्मिक अनुभव के एक विशिष्ट एवं सीमित पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर ही बोली और उस विषय पर उसे जो कुछ कहना था उसके समाप्त होते ही वह बंद हो गयी।

अब बहन निवेदिता के साथ मेरे संबंध के विषय में—यह संबंध केवल राजनीतिक क्षेत्र में था। आध्यात्मिकता या आध्यात्मिक विषय इसमें प्रविष्ट नहीं हुए थे और मुझे स्मरण नहीं कि जब मैं उनके साथ था तब हममें इन विषयों पर कोई बातचीत हुई हो। एकाध बार उन्होंने अपना आध्यात्मिक स्वरूप अवश्य प्रकट किया परंतु तब वह किसी और व्यक्ति से, जो उनसे मिलने आया था, बात कर रही थीं और मैं भी वहां उपस्थित था। उनके साथ मेरे २४ घंटे रहने की बात और उस समय हमारे बीच जो तथाकथित बातचीत हुई उसका सारा वर्णन केवल एक अद्भुत कहानी है जिसमें लेशमात्र भी सत्य नहीं है। बहन निवेदिता से पहली बार मैं बड़ौदे में मिला जब वे वहां कुछ व्याख्यान देने आई थीं। उनके स्वागतार्थ मैं स्टेशन पर गया था और फिर उनके लिये नियत गृह में उन्हें पहुंचाने तक उनके साथ रहा। बड़ौदे के महाराज के साथ उन्होंने जो भेंट की थी उसमें भी मैं उनके साथ गया था। उन्होंने मेरे बारे में सुन रखा था कि मै "शक्ति में विश्वास रखनेवाला तथा काली का उपासक हूं" जिससे उनका अभिप्राय यह था कि उन्होंने मेरे क्रांतिकारी होने की बात सुन रखी थी। मैं उन्हें पहले से ही जानता था क्योंकि मैंने उनकी पुस्तक "काली माता" पढ़ रखी थी और उसका प्रशंसक भी था। हमारी मैत्री इन्हीं दिनों स्थापित हुई। बंगाल में अपने कुछ गुप्तचरों द्वारा अपना क्रांतिकार्य आरंभ करने के बाद मैं सब कार्य की देख-रेख और व्यवस्था करने के लिये स्वयं वहां गया। मैंने देखा कि वहां कई छोटे-छोटे क्रांतिकारी दल है जिनका हाल ही में जन्म हुआ है, किन्तु वे सभी बिखरे हुए है और एक दूसरे से अलग रहकर कार्य कर रहे हैं। बंगाल में बारिस्टर पी. मित्र को क्रांति का नायक नियुक्त करके तथा पांच व्यक्तियों की, जिनमें एक निवेदिता भी थीं, एक केंद्रीय समिति बनाकर मैंने उन सब दलों को एक ही संगठन में संयुक्त करने का यत्न किया। पी. मित्र के नेतृत्व में कार्य का खूब प्रसार हुआ और अंत में तो इसमें सम्मिलित होनेवालों की संख्या सहस्रों तक पहुंच गई तथा बारीन के पत्र "युगान्तर" ने क्रांति की जो भावना प्रसारित की वह नई पीढ़ी में व्यापक रूप से फैल गई। परंतु मेरे बड़ौदे चले जाने पर उक्त

समिति भंग हो गई क्योंकि उसके बाद नाना दलों में मेल-मिलाप बनाये रखना असंभव हो गया। उसके बाद जब तक मैं नेशनल कालिज के प्रिंसिपल तथा 'वन्दे मातरम्' के मुख्य सम्पादकीय लेखक के रूप में स्थिर रूप से बंगाल में ही नहीं रहने लगा तब तक निवेदिता से मिलने का मुझे कोई मौका नहीं मिला। इस समय तक मैं सार्वजनिक आन्दोलन का,–जो पहले चरमपंथ और फिर राष्ट्रवाद का आन्दोलन कहलाता था,–नेता बन चुका था। किन्तु इससे मुझे, कांग्रेस के दो-एक अधिवेशनों को छोड़कर और कभी, उनसे मिलने का अवसर नही प्राप्त हुआ, क्योंकि मैं केवल गुप्त क्रांति-क्षेत्र में ही उनका सहयोगी था। मैं अपने कार्य में व्यस्त था और वे अपने में, और क्रांति-आन्दोलन के संचालन के विषय में परामर्श या निर्णय करने का कभी कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। कालांतर में मैं कभी कभी बागबाजार जाकर उनसे मिलने के लिये समय निकालने लगा।

इन दिनों की भेंटों में एक बार उन्होंने मुझे सूचना दी कि सरकार मुझे देश से निर्वासित करने का निश्चय कर चुकी है। वे चाहती थीं कि मैं किसी गुप्त स्थान में अथवा ब्रिटिश भारत से बाहर चला जाऊं और वहीं से कार्य करूं जिससे कि मेरे कार्य में बाधा न पड़े। उस समय उनपर किसी प्रकार के संकट का कोई प्रश्न ही नहीं था। अपने राजनीतिक विचारों के होते हुए भी, बड़े बड़े सरकारी अफसरों से उनकी मित्रता थी और इस लिये उनकी गिरफ्तारी का तो कोई सवाल ही नहीं था। अपने बारे में मैंने उन्हें उत्तर दिया कि उनके प्रस्ताव के अनुसार कार्य करना मैं आवश्यक नहीं समझता; हां, मैं 'कर्मयोगिन्' में एक खुली चिट्ठी लिखूंगा जिसके परिणामस्वरूप, मेरी समझ में, सरकार इस कार्रवाई का विचार छोड़ देगी। मैंने यही किया और अगली बार जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मुझे बताया कि मेरी युक्ति पूर्ण रूप से सफल हुई है और सरकार ने देश-निर्वासन का विचार त्याग दिया है। चन्दननगर-प्रस्थान की घटना तो इसके काफी बाद की है और इन दोनों घटनाओं में कुछ भी संबंध नहीं था। तथापि उक्त पुस्तक में इनका वर्णन करते हुए इन्हें एक दूसरे के साथ बुरी तरह से उलझा दिया गया है। वहां जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे वास्तव में सब निराधार हैं। शीघ्र ही होनेवाली तलाशी और गिर-फ्तारी की सूचना मुझे गणेंद्र महाराज ने नहीं वरन् 'कर्मयोगिन्' के एक युवक कार्यकर्ता रामचन्द्र मजूमदार ने दी थी जिसके पिता को चेतावनी दी गई थी कि एक-दो दिन में 'कर्म-योगिन्' के कार्यालय की तलाशी ली जायगी और मुझे पकड़ लिया जायगा। इस विषय में कितनी ही किंवदन्तियां फैली हुई हैं। किसी ने तो यहां तक खबर उड़ा दी थी कि हाईकोर्ट में खुफिया विभाग के एक प्रमुख कर्मचारी शमसुल आलम की हत्या में भाग लेने के अपराध में मुझपर मुकदमा चलाया जानेवाला था, और बहन निवेदिता ने मुझे बुलवाकर इसकी सूचना दी, हम दोनों ने इस विषय पर विचार-विमर्श किया कि ऐसी दशा में क्या करना चाहिये, और परिणामतः मैं अन्तर्धान हो गया। किसी ऐसे प्रस्तावित अभियोग की भनक

मेरे कानों में कभी नहीं पड़ी और न इस प्रकार का कोई विचार-विनिमय ही हुआ। जिस मुकदमे को चलाने का सरकार ने निश्चय किया था और जो बाद में चलाया भी गया वह तो राजद्रोह के अपराध में था। भगिनी निवेदिता को इन नई घटनाओं का तब-तक कुछ भी पता नहीं था जबतक मैं चन्दननगर नहीं चला गया। न मैं उनके घर गया न उनसे मिला ही। यह बात सर्वथा मिथ्या है कि वे और गणेन्द्र महाराज मुझे घाट पर विदा देने आये थे। उन्हें सूचना देने का समय ही कहां था; क्योंकि प्रायः जैसे ही मुझे चन्दननगर जाने के लिय ऊपर से आदेश प्राप्त हुआ कि झटपट लगभग दस मिनट के अन्दर में घाट पर जा पहुंचा; एक नौका बुलाई गई और दो युवकों के साथ मैं चन्दननगर के लिये चल पड़ा। वह गंगा की एक साधारण नाव थी जिसे दो मल्लाह चला रहे थे। फ्रेंच नौका तथा उसकी आंखों से ओझल होती हुई रोशनी का जो चित्रमय विवरण दिया गया है वह केवल भावुकता मात्र है। निवेदिता को सूचना देने के लिये मने अपने कार्यालय से एक व्यक्ति को भेजा और उसके द्वारा कहला भेजा कि मेरी अनुपस्थिति में वे 'कर्मयोगिन्' के संपादन का काय अपने हाथ में ले लें। उन्होंने स्वीकार कर लिया और वास्तव में उस समय से लेकर पत्र के जीवन के अन्तिम दिन तक उसका संचालन पूर्ण रूप से उन्हीं के हाथ में रहा। मैं अपनी साधना में निमग्न हो गया; न मने कोई लेख भेजा न ही मेरे हस्ताक्षरों सहित कोई लेख निकले। 'कर्मयोगिन्' में दो लेखों के सिवा और किसी पर मेरे हस्ताक्षर कभी नहीं छपे। उन दो में से पिछले को ही मुकदमे का विषय बनाया गया पर मुकदमा सफल नहीं हुआ। यह बात ठीक नहीं है कि चन्दननगर में निवेदिता के चुने हुए स्थान पर मेरे रहने की व्यवस्था की गई। किसी को अपने आने की सूचना दिये बिना ही मैं वहां चला गया और वहां पहुंचने पर मोतीलाल राय ने मेरा स्वागत किया। मेरे लिये गुप्त स्थान की सब व्यवस्था भी उन्होंने की। उन्हें तथा कुछ मित्रों को छोड़कर किसी को मेरे निवास-स्थान का पता नहीं था। गिरफ्तारी का वारंट रोक लिया गया, किंतु लगभग एक मास के पश्चात् मैंने पुलिस को खुली कार्रवाई के लिये उकसाने की एक युक्ति बरती। फलतः, वारंट फिर जारी हुआ और मेरी अनुपस्थिति में मुद्रक पर अभियोग चला, पर अन्त में हाईकोर्ट ने उन्हें मुक्त कर दिया। मैं तो पहले ही पांडिचेरी के लिये चल चुका था जहां मैं ४ अप्रेल को पहुंचा। वहां भी मैं मुकदमा खारिज होने तक एक प्रसिद्ध नागरिक के घर गुप्त रूप से वास करता रहा। पीछे मैंने अपने फ्रेंच भारत में होने की बात घोषित कर दी। प्रधान तथ्य बस यही हैं और इनके सामने उन तथाकथित घटनाओं के लिये, जिनका उक्त पुस्तक में वर्णन किया गया है, कोई स्थान नहीं रह जाता। बहुत अच्छा होगा कि तुम मेरे सत्य घटना-संबंधी इस विवरण को 'क्ष' के पास भेज दो जिससे वह आगामी संस्करण में आवश्यक काट-छांट कर सके और उसमें से इन अशुद्ध बातों को निकाल दे। अन्यथा उसकी लिखी हुई निवेदिता की जीवनी का महत्त्व बहुत ही कम हो जायगा। १३. ९. १९४६

२

योगसाधना का प्रारंभ

एक प्रारंभिक अनुभव

प्रश्न—'स' व्यक्ति कहता है, कहीं पर ऐसा लिखा है कि १८९० में आपको एक अनुभूति हुई थी। क्या यह सत्य है?

उत्तर—१८९० में अनुभूति? यह बात संभव नही दीखती। हां, जिस वर्ष इंगलैंड से मैंने प्रस्थान किया उस वर्ष कुछ अनुभूति अवश्य हुई थी, यद्यपि तब तक मैंने योग आरंभ नहीं किया था, न उसके विषय में कुछ जानता ही था। याद नहीं वह कौन सा वर्ष था पर संभवतः १८९२–९३ रहा होगा। १८९० की कोई विशेष बात याद नही पड़ती। उसने यह कहां लिखा देखा है?

२२. ८. १९३६

सर्वप्रथम संहत अनुभव

अधिक गंभीर एवं आध्यात्मिक अर्थ में संहत अनुभव वह है जो अनुभूत वस्तु को हमारी चेतना के सामने किसी स्थूल पदार्थ की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य, सजीव और घनिष्ठ रूप में उपस्थित करता है। सगुण भगवान् या निर्गुण ब्रह्म अथवा आत्मा का ऐसा अनुभव साधारणतया साधना के प्रारंभ में या शुरू के वर्षो में किंवा अनेक वर्षो तक भी नहीं प्राप्त होता। इतना शीघ्र ऐसा अनुभव विरलों को ही प्राप्त होता है; मुझे ऐसा अनुभव लंदन में प्राप्त प्रथम पूर्व-यौगिक अनुभव के पन्द्रह वर्ष बाद तथा योग आरंभ करने के पांचवें वर्ष में उपलब्ध हुआ। इसे मैं असाधारण रूप से तीव्र, लगभग एक्सप्रेस ट्रेन की सी गति समझता हूं, यद्यपि कुछ लोगों को, निस्संदेह, इससे भी जल्दी उपलब्धियां हुई होंगी। परंतु इसकी इतनी शीघ्र आशा एवं मांग करना किसी अनुभवी योगी या साधक की दृष्टि में एक अविवेकपूर्ण एवं असामान्य अधीरता का ही सूचक समझा जायगा। अधिकतर योगी यही कहेंगे कि प्रारंभिक वर्षो में साधक अधिक से अधिक एक मन्द विकास की ही आशा कर सकता है और सुनिश्चित अनुभव तो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब प्रकृति तैयार हो जाय और पूर्ण रूप से भगवान् की ओर एकाग्र हो जाय।

जून १९१४,

भगवत्कृपा द्वारा अनुभूति का प्रवाह

और हां, यह क्या कहानी है कि ऊपर से कुछ प्राप्ति होने से पहले मैं बरसों चार-चार, पांच-पांच घण्टे रोज एकाग्रता का अभ्यास किया करता था? यदि एकाग्रता से तुम्हारा मतलब परिश्रम करके ध्यान करना हो तो ऐसी कोई चीज तो कभी नहीं हुई। जो मैंने किया वह था चार-पांच घंटे रोज का प्राणायाम और यह तो चीज ही कुछ और है। और, तुम किस प्रवाह की बात कहते हो? काव्यधारा तो उन्हीं दिनों उतरी थी जिन दिनों मैं प्राणायाम किया करता था—उसके कुछ वर्षो के बाद नहीं। अगर अनुभूतियों के प्रवाह की बात है तो वह कुछ वर्षो के बाद आया था; लेकिन तब मुझे प्राणायाम छोड़े काफी समय हो चुका था, मैं कोई भी प्रयत्न नहीं कर रहा था और न मुझे यह मालूम ही था कि अपने सारे प्रयत्नों के असफल हो जाने के बाद अब मैं कौनसी राह पकड़ू, और यह प्रवाह जब शुरू हुआ तो बरसों के प्राणायाम या ध्यान के परिणाम-स्वरूप नहीं बल्कि मानों चुटकियों म, या तो एक सामयिक गुरु की कृपा से (लेकिन वह गुरुकृपा न थी, क्योंकि वे स्वयं ही इसे देखकर दंग रह गये थे) या पहले तो शाश्वत ब्रह्म की कृपा से और फिर महाकाली और श्रीकृष्ण की करुणा से। अतएव मुझे भगवान् के विरुद्ध किसी तर्क में घसीटने का प्रयत्न मत करो, वह बिलकुल बेकार होगा।

२२. १. १९३६

अनुभूति और शुद्धि

(१)

मुझे मालूम नहीं 'क' ने क्या कहा अथवा किस लेख में कहा, वह लेख मेरे पास नहीं है। किंतु, उसका कहना अगर यह है कि कोई भी व्यक्ति तब तक सफलतापूर्वक ध्यान नहीं कर सकता, कोई अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकता है जब तक कि वह पवित्र और पूर्ण न हो जाय तो मैं इसे समझने में असमर्थ हूं: यह मेरे अपने अनुभव के विरुद्ध है। मुझे सदा ही ध्यान द्वारा अनुभूति पहले प्राप्त हुई और शुद्धि बाद में उसके परिणामस्वरूप शुरू हुई। मैंने बहुतों को ध्यान के द्वारा महत्त्वपूर्ण, यहां तक कि मूलभूत अनुभव प्राप्त करते हुए देखा है पर उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका आन्तरिक विकास बहुत हो चुका है। क्या वे सभी योगी, जिन्होंने सफल रूप में ध्यान किया और अपनी अन्तश्चेतना में महान् अनुभव प्राप्त किये, अपनी प्रकृति में पूर्ण थे? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। इस क्षेत्र के पूर्ण-सार्वभौम सिद्धांतों पर मैं विश्वास नहीं कर सकता। कारण, अध्यात्म-चेतना का विकास अतीव विशाल एवं जटिल कार्य है जिसमें सब प्रकार की चीजें घटित हो सकती हैं और यहां यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये यह विकास उसकी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और एकमात्र आवश्यक वस्तु है—आन्तरिक पुकार,

अभीप्सा तथा इसकी सिद्धि के लिये निरंतर प्रयास करते रहना। इसकी परवाह नहीं कि इसमें कितना समय लगता है तथा क्या क्या कठिनाइयां या बाधाएं इसके मार्ग में आती हैं, क्योंकि और किसी चीज से हमारे अंदर की अंतरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकती।

(२)

यदि आरंभ से ही पूर्ण समर्पण, श्रद्धा इत्यादि का होना योग के लिये अनिवार्य होता तो इसे कोई भी न कर पाता। यदि मुझ से ऐसी अवस्था की मांग की गयी होती तो मैं भी योग न कर पाया होता.....।
८.३.१९३५

आध्यात्मिक शक्यता की झांकी

प्र.—क्या यह ठीक है कि जिन्हें साधना आरंभ करने से पूर्व भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त एक सुनिश्चित झांकी के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्यता का स्पष्ट ज्ञान हो चुका हो केवल वे ही अपने पथ पर अन्त तक डटे रहने में समर्थ होते हैं, और जिन्हें ऐसी कोई झांकी प्राप्त नहीं हुई होती वे कोई अनुभव भले ही प्राप्त कर लें पर साधना-पथ पर दृढ़ रहने में समर्थ नहीं होंगे?

उ.—कम से कम मुझे तो योग आरंभ करने से पूर्व ऐसी कोई भी झांकी प्राप्त नहीं हुई थी। दूसरों के बारे में मैं नहीं कह सकता—शायद कइयों को यह प्राप्त हुई हो—परंतु झांकी केवल श्रद्धा ही उत्पन्न कर सकती है, संभवतः ज्ञान को लाना उसके बस की बात नहीं है; ज्ञान तो योग करने से ही प्राप्त होता है, उससे पूर्व नहीं।

मैं फिर दुहरा दूं कि सिर्फ इतना ही जानने की जरूरत है कि व्यक्ति की अंतरात्मा योग की ओर प्रेरित हो चुकी है या नहीं। ५.५.१९३३

चार वर्षों का प्रयास

इन कठिनाइयों में ऐसी कोई निराली बात नहीं है जो केवल तुम्हारे ही अंदर हो; इस पथ में आनेवाले प्रत्येक साधक को ऐसी विघ्न-बाधाएं पार करनी पड़ती हैं। मुझे—सच्चा मार्ग प्राप्त करने के लिये चार वर्षों तक आंतरिक प्रयास करना पड़ा, यद्यपि दिव्य सहायता सब समय ही मेरे साथ थी, और इसके बाद भी ऐसा जान पड़ा मानों यह अचानक ही मिल गया हो। उसके बाद उसका ठीक-ठीक अनुसरण करने में मुझे और दस वर्षों तक एक परम आंतर पथप्रदर्शन के अनुसार उत्कट योगाभ्यास करना पड़ा। इसका कारण यह था कि भविष्य को पा सकने या पा लेने से पहले मुझे अपने अतीत तथा संसार के अतीत को आत्मसात् करके उन्हें अतिक्रांत करना था।
५.५.१९३२

अद्वैत का प्रथम अनुभव

मैं समझता हूं तुमने मेरे "accident" अर्थात् 'दैवयोग' शब्द के साथ अत्यधिक खिलवाड़ किया है तथा इस महत्त्वपूर्ण विशेषण की उपेक्षा कर दी है कि "ऐसा 'प्रतीत हुआ' कि वह दैवयोग से प्राप्त हुआ।" स्वयं अपने आप चार वर्ष तक प्राणायाम तथा अन्य साधनाभ्यास करने का परिणाम स्वास्थ्य-वृद्धि, प्राण-शक्ति के प्रबल प्रवाह, कुछ एक मानस-भौतिक व्यापार, काव्य-सृष्टि की बाढ़, अधिकतर खुले नेत्रों से (उज्ज्वल प्रतिरूपों एवं प्रतिमाओं आदि के) सूक्ष्म दर्शन की सीमित शक्ति के विकास के सिवा कुछ नहीं हुआ। इसके बाद मेरी साधना की गति सर्वथा रुक गई और मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। इसी संधिक्षण में मुझे एक ऐसे व्यक्ति से मिलने के लिये प्रेरित किया गया जो न तो ख्याति-प्राप्त थे न मैं जिन्हें जानता ही था। वे एक भक्त थे; उनका मानसिक विकास सीमित होने पर भी, उन्हें कुछ अनुभूति तथा उद्बोधन-शक्ति प्राप्त थी। हम दोनों एक साथ बैठे और उन्होंने मुझे जैसा करने को कहा, मैंने पूर्ण निष्ठा के साथ वैसा ही किया, मुझे स्वयं तनिक भी समझ में नहीं आ रहा था कि वे मुझे कहां ले जा रहे हैं अथवा मैं अपने से ही किधर जा रहा हूं। इसका प्रथम परिणाम यह हुआ कि अतीव शक्तिशाली अनुभवों का तांता लग गया और चेतना में आमूल परिवर्तन होने लगे जो उन्हें कभी अभिमत नहीं थे—क्योंकि ये सब अद्वैत और वेदांत से संबंध रखते थे और वे अद्वैत वेदांत के विरुद्ध थे। साथ ही, ये मेरे अपने विचारों के भी सर्वथा प्रतिकूल थे, क्योंकि इन्होंने मुझे अत्यंत तीव्र रूप में यह दिखाया कि यह जगत् परब्रह्म की निराकार विश्वव्यापकता के ऊपर चल-चित्र के निःसार आकारों की भांति चल रहा है। इसकी अंतिम परिणति यों हुई कि उन्होंने अपने अंतर की 'वाणी' से प्रेरित होकर मुझे मेरे अंतर्यामी भगवान् के हाथों में सौंप दिया और उन्हीं की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण करने का आदेश किया। यह एक ऐसा सिद्धांत या एक ऐसी बीजभूत शक्ति थी जिसे मैंने अडिग रूप से तथा अधिकाधिक निष्ठा के साथ पकड़े रखा जब तक कि यह मुझे एक ऐसे अपरिमेय यौगिक विकास के चक्रों में से गुजारती हुई, जो किसी एक ही विधि-विधान या पद्धति या मत-मतांतर या शास्त्र-परंपरा से बंधा हुआ नहीं था, वहां तक नहीं ले आई जहां और जो कुछ भी मैं आज हूं और साथ ही उसकी ओर भी नहीं ले गई जो कि अभी आगे मैं होऊंगा। तथापि जो कुछ वे कर रहे थे उसे वे स्वयं इतना कम समझते थे कि एक-दो महीने बाद जब वे मुझसे मिले तो वे भौंचक्के रह गये और जो कुछ उन्होंने किया था उसे मिटा देने का यत्न किया तथा मुझसे कहा कि आपको भगवान् ने नहीं बल्कि शैतान ने अपने अधिकार में कर लिया है। क्या यह सब मेरे इन शब्दों को न्यायसंगत सिद्ध नहीं करता कि ऐसा प्रतीत हुआ कि "वह दैवयोग से प्राप्त हुआ"? परंतु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् की शैलियां मानव मन की शैलियों जैसी नहीं हैं, न वे हमारे आदर्श रूपों के ही अनुकूल हैं। अतएव उनकी शैलियों

की जांच करना संभव नही है, न ही हम उनके लिये यह निर्धारित कर सकते है कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नही; क्योंकि हम जो कुछ जान सकते है उससे कहीं अच्छा भगवान् जानते हैं। यदि हम भगवान् को स्वीकार करें तो मुझे लगता है कि सच्चा तर्क और सच्ची भक्ति दोनों एक स्वर से पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण की मांग करते है। मेरी समझ में नहीं आता कि इनके विना अव्यभिचारिणी भक्ति भला कैसे संभव हो सकती है।
मई १९३२

मानव गुरु की त्रुटियां

जब चैत्य पुरुष का उद्घाटन, विश्वास और समर्पण उपस्थित हों तो गुरु के मानवीय दोष साधक के मार्ग में बाधा नहीं दे सकते। गुरु अपने व्यक्तित्व या अपनी उपलब्धि की कोटि के अनुसार भगवान् की प्रणालिका, प्रतिरूप या अभिव्यक्ति होता है; परंतु वह जो भी हो, उसकी ओर उद्घाटित होते हुए मनुष्य भगवान् की ओर ही उद्घाटित होता है। और जहां थोड़ा कुछ प्रणालिका की शक्ति से निर्धारित होता है वहां उससे अधिक ग्रहण करनेवाली चेतना की स्वभावसिद्ध एवं आभ्यंतरिक वृत्ति से ही निर्धारित होता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो स्थूल मन में सरल विश्वास या सीधे एवं शर्तरहित आत्मदान के रूप में प्रकट होता है और एक वार जब यह प्रकट हो जाता है तब एक ऐसे व्यक्ति से भी सभी सारभूत वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं जो शिष्य से इतर लोगों को एक नीची कोटि का आध्यात्मिक स्रोत प्रतीत होता है। फिर शेष सब वस्तुएं साधक में स्वयमेव विकसित हो जायंगी—यदि गुरु के अंदर की मानवीय सत्ता उन्हें प्रदान न कर सके तो भी वे भगवान् की कृपा से प्राप्त होकर ही रहेंगी। 'क' व्यक्ति ने संभवतः आरंभ से ही यही किया प्रतीत होता है; किंतु आजकल अधिकतर लोगों में यह भाव कठिनता से एवं अत्यधिक हिचकिचाहट और कष्ट के साथ ही उत्पन्न होता दीखता है। मेरा ही उदाहरण लो। मेरे अंतर्जीवन को सबसे पहले एक निश्चित दिशा में मोड़ने का श्रेय एक ऐसे व्यक्ति को है जो बुद्धि, शिक्षा एवं क्षमता में मुझसे अनंत रूप में हीन कक्षा के थे, और आध्यात्मिक दृष्टि से किसी प्रकार पूर्ण या सर्वश्रेष्ठ नही थे। परंतु जब मैंने देखा कि उनके पीछे एक शक्ति विद्यमान है और मैंने सहायता के लिये उनकी ओर मुड़ने का निश्चय किया तब मैंने अपने को पूर्ण रूप से उनके हाथों में सौंप दिया तथा यांत्रिक निष्क्रियता के साथ उनके मार्गदर्शन का अनुसरण किया। वे स्वयं चकित हो गये और दूसरों से बोले कि इससे पहले मुझे कभी कोई ऐसा साधक नहीं मिला जो इतने समग्र एवं निःशेष रूप में तथा बिना ननुनच के अपने आपको सहायक के मार्गनिर्देश के प्रति समर्पित कर सके। फलस्वरूप, मेरे अंदर एक के बाद एक मौलिक ढंग के रूपांतरकारी परिवर्तन होने लगे कि उन्हें समझना उनकी सामर्थ्य से बाहर हो गया और उन्होंने विवश होकर मुझसे कहा कि आगे के लिये मैं, वैसे

संभावना पर शंका करने की वात भी मेरे मन में नहीं आई, वस मैं बैठ गया और वैसा ही किया। क्षण भर में मेरा मन उच्च पर्वत शिखर के निर्वात आकाश की भांति शांत हो गया और तब मैंने देखा कि एक विचार, फिर दूसरा विचार वाहर से स्पष्ट रूप में आ रहा है। इसके पूर्व कि वे मेरे मस्तिष्क में घुसकर उसे अपने अधिकार में कर सकें मैंने उन्हें झट दूर फेंक दिया और तीन दिनों में ही मैं उनसे मुक्त हो गया। उसी क्षण से, सिद्धांततः, मेरे अंदर का मनोमय पुरुष एक स्वतंत्र 'प्रज्ञा' किंवा विराट् 'मन' वन गया जो विचारों के कारखाने के एक मजदूर की भांति वैयक्तिक विचार के संकुचित घेरे में बंधा नही था बल्कि सत्ता के सैकड़ों स्तरों से ज्ञान ग्रहण करने लगा तथा इस विशाल दर्शन-साम्राज्य एवं विचार-साम्राज्य में से अपनी इच्छा के अनुसार विषयों और विचारों का चुनाव करने में स्वतंत्र था। यह सब मैंने केवल इस वात पर वल देने के लिये वतलाया है कि हमारे मनोमय पुरुष की शक्यताओं की सीमा नहीं बांधी जा सकती और यह स्वतंत्र साक्षी तथा अपने गृह का स्वामी बन सकता है। मेरे कहने का यह मतलव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इसे मेरी ही तरह और उसी वेग के साथ निश्चित रूप में कर सकता है (क्योंकि, इस नई अव्याहत मानसिक शक्ति की पीछे की पूर्ण-विकसित अवस्थाओं को प्राप्त करने में मुझे अवश्य ही समय लगा, अनेक वर्ष लग गये) किंतु अपने मन की एक प्रकार की बढ़ती हुई स्वतंत्रता और प्रभुता प्राप्त करना किसी भी साधक के लिये पूर्ण रूप से संभव है यदि उसमें इस कार्य को करने के लिये श्रद्धा तथा संकल्प विद्यमान हों।

५. ८. १९३२

स्थिरता के अवतरण द्वारा मन की नीरवता

स्थिर, उज्ज्वल और सुस्पष्ट मन के विषय में प्रो. सोरले (Prof. Sorley) ने जो टिप्पणी लिखी है उसमें मुझे कोई भी आपत्तिजनक वात नही प्रतीत होती, क्योंकि यह उस प्रक्रिया को यथोचित रूप में सूचित करती है जिसके द्वारा मन अपनी शांत सतह पर या अपने सारतत्त्व में उच्चतर सत्य को प्रतिविंवित करने के लिये अपने आपको तैयार करता है। संभवतः एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है–मन की यह शुद्ध स्थिरता सदा ही एक आवश्यक अवस्था या अत्यंत वांछनीय वस्तु है, परंतु इसे प्राप्त करने का साधन एक नहीं, अनेक हैं। उदाहरण के लिये, इसे साधित करने का तरीका केवल यह नही कि मन स्वयं अपने प्रयास के द्वारा अपने अंदर घुस आनेवाले भावावेगों या आवेगों या अपने स्वभावगत स्पंदनों या भौतिक तमस के अंध वनानेवाले उस धुंएं से जो मन की जाग्रत् नीरवता के स्थान पर उसकी निद्रा या जड़ता ही लाता है, अपने को मुक्त कर ले-क्योंकि यह तो केवल ज्ञानयोग के पथ की साधारण पद्धति है। यह इस प्रकार भी प्राप्त हो सकती है कि ऊपर से एक ऐसी महान् आध्यात्मिक स्थिरता का अवतरण हो जो मन, हृदय, प्राणिक उत्तेजनाओं

और भौतिक प्रतिक्रियाओं पर बलपूर्वक नीरवता स्थापित करे। इस प्रकार का आकस्मिक अवतरण या बढ़ते हुए बल एवं प्रभाव से युक्त ऐसे अनेक अवतरणों का प्रवाह अध्यात्म-अनुभव की सुप्रसिद्ध घटना है। अथवा इस उद्देश्य के लिये साधक चाहे जिस पद्धति का अवलंबन कर सकता है। यद्यपि वह पद्धति साधारण रूप में तो एक लंबे प्रयास के समान हो सकती है परंतु नीरवता का तेजी के साथ हस्तक्षेप या उसका आविर्भाव शुरू से भी उस पद्धति पर अपना अधिकार कर सकता है और तब उसके द्वारा साधक को शुरू में किये गये साधनों के अनुपात से कहीं अधिक फल प्राप्त हो सकता है। मनुष्य किसी भी विधि से आरंभ करता है, पर ऊपर की कृपा-शक्ति, जिस 'तत्' के लिये मनुष्य अभीप्सा करता है उस 'तत्' की कृपा-शक्ति अथवा आत्मा की अनंतताओं का प्रवाह उस कार्य को अपने हाथ में ले लेता है। स्वयं मैंने इस अंतिम विधि से ही मन की परम नीरवता प्राप्त की थी जिसकी वास्तविक अनुभूति से पहले कल्पना करना भी मेरे लिये असंभव था।

शांत ब्रह्म और भागवत शक्ति की क्रिया

(१)

शांत, निष्क्रिय ब्रह्म की अनभूति योग के क्रियाशील पक्ष के लिये बाधक नहीं है, प्रायः यही उस ओर जाने का पहला कदम होता है। मनुष्य को इसे जड़ता के प्रति आसक्ति के साथ नहीं जोड़ना चाहिये। शांत ब्रह्म किसी भी वस्तु से आसक्त नहीं है। तुम्हारा मन ही जड़ता से संबद्ध और आसक्त है।

स्वयं कर्म कोई समाधान नहीं है, कर्म के पीछे वर्तमान भावना ही महत्त्वपूर्ण है। सच्चा उपाय अपने आप को शक्ति के प्रति खोलना है। जब कोई शांत ब्रह्म के अनुभव के द्वारा मुक्त हो जाता है तो वह कर्म के पुराने ढंग का ही पुनः अनुसरण नहीं करता। इस मुक्ति के द्वारा मनुष्य अहं से छुटकारा पा जाता है, वह अपने अंदर भागवत शक्ति को ग्रहण करके उसका यंत्र बन जाता है तथा उसे क्रिया करते हुए अनुभव करता है; तब जड़ता दूर हो जाती है और नये ढंग से कर्म करना संभव हो जाता है। जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक मनुष्य को साधारण ढंग से ही कर्म करना होता है। परंतु भगवान् का यंत्र बनना ही ठीक ढंग है।

मुझे सबसे पहले परम निर्वाण की अनुभूति हुई थी। चित्तवृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध हो गया था, पूर्ण निश्चल-नीरवता प्राप्त हो गयी थी। फिर उसके बाद हुआ कर्म का अनुभव, पर वह कर्म मेरा अपना नहीं था, वह था ऊपर से आया हुआ कर्म। जब तक वह सहज रूप में प्राप्त न हो जाय तब तक मनुष्य को उस ओर क्रमशः ही विकसित होना होता है।

२६.६.१९४६

ही पूर्ण समर्पण के साथ जैसा मैंने मानवीय माध्यम के निकट प्रदर्शित किया है, अपने आप को अपने अंतरस्थ गुरु के प्रति समर्पित कर दू। यह उदाहरण मैंने इस वात को दिखाने के लिये दिया है कि किस तरह ये चीजें काम करती हैं। मानव बुद्धि इनके लिये जो नपा-तुला ढग निश्चित करना चाहती है उससे नही वल्कि एक अधिक रहस्यमय एवं महत्तर नियम के द्वारा ही ये अपना कार्य करती है।

२३.३.१९३२

निर्वाण का अनुभव

मैंने यह कभी नही कहा है कि (मानव जीवन से संवंधित) वस्तुएं आज सामंजस्यपूर्ण है–प्रत्युत, मानव चेतना जैसी है उसके रहते सामंजस्य का प्रतिष्ठित होना असंभव है। मैंने तुमसे सदा यही कहा है कि मानव चेतना दोपपूर्ण है और एकदम असाध्य है–और यही कारण है कि मै यह प्रयत्न करता हूं कि एक उच्चतर चेतना का अवतरण हो और वह विगडे संतुलन को ठीक कर दे। मै तुम्हे तत्क्षण निर्वाण (जो वास्तविक नहीं होगा) नहीं देना चाहता, क्योंकि मेरे अनुभव-क्रम में तो निर्वाण सामंजस्य की ओर ले जानेवाला एक सोपानमात्र है। हर्ष की वात है कि तुम नीरवता में दीक्षित हो रहे हो। और निर्वाण भी अनुपयोगी नही है–मेरे जीवन में तो यह सवसे पहला भावात्मक आध्यात्मिक अनुभव था और इसी ने शेष सारी साधना को संभव वनाया। किंतु जहां तक इन चीजों को प्राप्त करने के निश्चयात्मक उपाय का प्रश्न है, मै नही जानता कि तुम्हारा मन उसका अनुसरण करने के लिये पूर्ण रूप से तैयार है या नही। वास्तव में विधियां अनेक है। स्वयं मैंने विचार के त्याग की विधि द्वारा इन्हें प्राप्त किया। "वैठ जाओ", मुझसे कहा गया, "देखो, और तुम्हे पता चलेगा कि तुम्हारे विचार वाहर से तुम्हारे भीतर आते है। उनके घसने से पहले ही उन्हे दूर फेक दो।" मै वैठ गया, देखा और यह जानकर चकित रह गया कि सचमुच वात ऐसी ही है; मैंने स्पष्ट रूप मे देखा एवं अनुभव किया कि विचार पास आ रहा है, मानो सिर के भीतर से या ऊपर से घुसना चाहता हो और उसके भीतर आने के पूर्व ही मै स्पष्ट रूप मे उसे पीछे धकेल देने मे सफल हुआ।

तीन दिन में, वस्तुतः एक ही दिन मे, मेरा मन शाश्वत शांति से परिपूरित हो गया–वह शांति अभी तक विद्यमान है। परंतु मालूम नही कितने लोग ऐसा कर सकते है। एक व्यक्ति ने (शिष्य ने नही–उन दिनों मेरे कोई शिष्य नही थे) मुझसे योग की विधि पूछी। मैंने कहा : "सवसे पहले अपने मन को शांत करो।" उसने किया और उसका मन पूर्ण रूप से शांत एवं रिक्त हो गया। तव वह भागा-भागा मेरे पास आया और कहने लगा : "मेरा मस्तिष्क विचार-शून्य है, मै कुछ नही सोच सकता। मै मूढ हुआ जा रहा हूं।" उसने इतना देखने और जानने के लिये भी प्रतीक्षा नही की कि जिन विचारो को वह इस समय

वाणी से प्रकट कर रहा है वे कहा से आ रहे है ! न यही उसकी समझ में आया कि जो पहले से मूढ़ है ही वह और क्या मूढ़ बनेगा ! पर जो हो, उन दिनों मेरे अंदर इतना धैर्य नही था और मैंने उसे यो ही छोड दिया जिससे वह अपनी अद्भुत ढंग से प्राप्त नीरवता को खो बैठा।

इसकी सामान्य विधि यह है कि व्यक्ति अपने मस्तिष्क, मन और शरीर में ऊर्ध्व से नीरवता का 'आवाहन करे'। यदि कोई इसका प्रयोग कर सके तो यह सबसे सुगम विधि है।

मन की स्वतंत्रता और प्रभुता

जिन मनुष्यों का मानसिक विकास हो चुका है, जो साधारण मनुष्यों से ऊपर उठ चुके है, उन्हें किसी-न-किसी तरह अथवा कम-से-कम किसी विशेष समय पर और किसी विशेष प्रयोजन के लिये अपने मन के दो भागों को अलग-अलग करना ही पड़ता है–एक भाग है सक्रिय, जो विचारों का कारखाना है और दूसरा है प्रशांत और प्रभुत्वपूर्ण, जो एक साथ ही साक्षी भी है और संकल्पकर्त्ता भी, जो विचारों को देखता है, जांचता है, उनका त्याग एवं बहिष्कार करता है अथवा उन्हें स्वीकार करता है, उनके संशोधन और परिवर्तन की आज्ञा देता है, मनोमय गृह का स्वामी है, 'साम्राज्य' का अधिकारी है।

योगी इससे भी आगे जाता है; वह केवल मन के अंदर ही स्वामी नहीं होता, बल्कि एक प्रकार से मन में रहते हुए ही वह मानो उससे बाहर चला जाता है और उससे ऊपर या उसके एकदम पीछे अवस्थित होकर उससे मुक्त रहता है। उसके विषय में अब विचारों के कारखाने की उपमा उतनी लागू नहीं होती; क्योंकि. वह देखता है कि विचार बाहर से, विश्वमानस या विश्वप्रकृति से आते है, कभी कभी तो उनका निर्दिष्ट और स्पष्ट रूप होता है और कभी-कभी कोई रूप नही होता और जब उनका कोई रूप नही होता तब उन्हें हमारे अंदर ही कही रूप प्राप्त होता है। हमारे मन का प्रधान कार्य यह है कि वह इन विचार-तरंगों को (साथ ही साथ प्राण की लहरों तथा सूक्ष्म भौतिक शक्ति की लहरों को भी) या तो स्वीकार करता है या त्याग देता है अथवा चारों ओर. की प्रकृति-शक्ति से आनेवाली विचार-सामग्री को (अथवा प्राण की गतियों को) एक व्यक्तिगत मनोमय आकार प्रदान करता है। इसके लिये मै लेले का अत्यधिक ऋणी हूं कि उन्होंने मुझे इस तथ्य का साक्षात्कार कराया। "ध्यान के लिये बैठ जाओ", उन्होंने कहा, "परंतु कुछ भी सोचो नही, केवल अपने मन का निरीक्षण करो; तुम विचारों को 'उसके अंदर आते' देखोगे; उनके प्रवेश कर सकने के पूर्व उन्हें अपने मन से तब तक दूर फेंकते रहो जब तक तुम्हारा मन पूर्ण नीरवता प्राप्त करने में समर्थ न हो जाय।" मैंने यह पहले कभी नहीं सुना था कि विचार प्रत्यक्ष रूप में बाहर से हमारे मन के भीतर आते है, परंतु इस सत्य या इसकी

(२)

जिसका तुमने वर्णन किया है वह प्राण-शक्ति का हटना विलकुल नहीं है; वह तो चेतना के ऊर्ध्व में स्थित हो जाने के कारण निम्नतर अंगों में उत्पन्न शून्यता एवं स्तब्धता का परिणाम मात्र है। वह कर्म के साथ सर्वथा संगत है; हां, मनुष्य को इस विचार का अभ्यस्त होना होगा कि इन अवस्थाओं में भी कार्य करना संभव है। रिक्तता की इससे भी महत्तर अवस्था में मैं एक दैनिक पत्र चलाता रहा और तीन-चार दिनों में एक दर्जन भाषण दिये–परंतु उस सव के लिये मैंने किसी प्रकार का यत्न नहीं किया, वह सव स्वयमेव हुआ। अन्तर में कोई भी क्रिया हुए विना शक्ति ने शरीर से काम करा लिया। प्राण-शक्ति अगर हट जाय तो शरीर निर्जीव, असहाय, रिक्त एवं निःशक्त वन जाता है और उसमें तीव्र वेदना के सिवा और कोई अनुभव नहीं होता।

१३.५.१९३६

(३)

इस प्रकार पढ़ना संभव होना चाहिये कि अन्तश्चेतना पढ़ने की क्रिया को केवल देखती रहे, मानों उसका निरीक्षण कर रही हो। पूर्ण आंतरिक नीरवता की अवस्था में मैं भाषण करता और समाचारपत्र चलाता था परन्तु वह सव इस प्रकार चलता रहता कि मेरे मन में एक भी विचार प्रवेश नहीं कर पाता था, न तो नीरवता में कोई वाधा पड़ती थी, न उसमें किसी प्रकार की कमी ही आती थी। २७. १०. १९३४

वास्तविक कठिनाई[1]

श्रीअरविन्द हक्सले की टिप्पणी से पूर्णतः सहमत हैं और उन्हें उसपर कुछ भी नहीं कहना

---

[1]आल्डस हक्सले ने (Aldous Huxley) अपनी पुस्तक The Perenial Philosophy में (पृ. ७४ पर) The Life Divine (लाईफ डिवाइन) का एक संदर्भ उद्धृत किया तथा उसपर टिप्पणी की है। उसके एक वाक्य "To its heights we can always reach" (उसके शिखरों तक हम सदा ही पहुंच सकते हैं) के स्पष्टीकरण के प्रसंग में श्रीअरविन्द ने जो टिप्पणियां लिखाई वे यहां दी जा रही हैं। 'लाइफ डिवाइन' का वह संदर्भ निम्नलिखित है:–"पृथ्वी के पुत्र के लिये पृथ्वी का स्पर्श हमेशा एक नया प्राण देनेवाला होता है, तव भी जव कि वह अतिभौतिक ज्ञान की खोज कर रहा हो। यहां तक कहा जा सकता है कि 'अतिभौतिक' की ऊंचाइयों पर तो हम सदा ही पहुंच सकते है लेकिन वास्तव में उसपर पूरा-पूरा अधिकार तो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जव हम 'भौतिक' पर अपने पैर मजबूती से जमा सकें। छांदोग्य उपनिषद् जव जव विश्व में प्रकट होनेवाली आत्मा का चित्रण करती है, तव तव वह पृथ्वी को ही 'उसका' आधार वताती है।" (खण्ड १, अध्याय २)

है। परंतु यह सर्वथा स्पष्ट है कि "उसके शिखर पर हम सदैव पहुंच सकते हैं" इस वाक्य में "हम" शब्द संपूर्ण मानवजाति की ओर नहीं बल्कि केवल उनकी ओर संकेत करता है जिनका आन्तरिक अध्यात्म-जीवन पर्याप्त विकसित हो चुका है। वहुत संभव है कि इसे लिखते हुए श्रीअरविन्द के मन में अपने अनुभव की वात उपस्थित हो। तीन वर्ष के आध्यात्मिक प्रयास से केवल छोटे-मोटे फल प्राप्त होने के वाद उन्हें एक योगी ने मन को शांत करने की विधि वताई। उस विधि का अनुसरण करके वे दो-तीन दिन में ही अपने मन को पूर्ण रूप से नीरव करने में सफल हुए। विचार, भाव तथा चेतना के सभी साधारण व्यापार पूर्ण रूप से शांत हो गये, रह गया केवल चारों ओर की वस्तुओं का वोध एवं उनकी पहचान जिसके साथ न तो कोई भाव उत्पन्न होता था और न ही कोई अन्य प्रतिक्रिया। अहम्भावना लुप्त हो गयी थी और साधारण जीवन की सभी चेष्टाएं—गतियां, वातचीत और कामकाज—प्रकृति की किसी ऐसी स्वभावगत क्रिया के द्वारा ही चलते रहे जो अपनी नहीं अनुभव होती थी। परन्तु उसके वाद जो वोध वच रहा उसे सभी वस्तुएं पूर्णतः मिथ्या प्रतीत होती थीं; मिथ्यात्व की यह अनुभूति वहुत जोर की तथा व्यापक थी। हां, इसके साथ केवल एक अनिर्वचनीय सद्वस्तु ही सत्य दिखायी देती थी जो देश-काल से परे तथा समस्त विश्व-व्यापार से अलग थी पर जहां भी दृष्टि डालो वहां ही उससे भेंट होती थी। यह अवस्था कई मास तक ज्यों की त्यों वनी रही और फिर जव मिथ्यात्व की भावना लुप्त हो गई तथा वे विश्व-चैतन्य में पुनः भाग लेने लगे, तव भी उक्त उपलब्धि से उत्पन्न आन्तरिक शांति एवं स्वातंत्र्य सभी ऊपरी चेष्टाओं के पीछे स्थिर रूप से वने रहे और उक्त उपलब्धि का सारतत्त्व भी नष्ट नहीं हुआ। साथ ही इस वीच एक और अनुभव भी हुआ: उनसे भिन्न और किसी सत्ता ने उनकी क्रियाशील प्रवृत्तियों को अपने हाथ में ले लिया और वही उनके द्वारा वोलती तथा कार्य करती थी किंतु उनके अंदर न किसी प्रकार का वैयक्तिक विचार उत्पन्न होता था न ही वे स्वयं अपनी क्रियाओं का आरंभ करते थे। वह सत्ता क्या थी इसका श्रीअरविन्द को तव तक पता नहीं चला जव तक उन्हें ब्रह्म के सक्रिय पक्ष अर्थात् ईश्वर की उपलब्धि नहीं हुई और यह अनुभव नहीं हुआ कि वही उनकी समस्त साधना एवं कर्म का परिचालन करते हैं। ये अनुभूतियां तथा अन्य भी जो इनके वाद हुईं, जैसे यह कि आत्मा सवमें है और सव आत्मा में हैं तथा सव कुछ आत्मा ही है, भगवान् सवमें है और सव भगवान् में हैं,—यही वे शिखर हैं जिनकी ओर श्रीअरविन्द ने संकेत किया है और जिनकी ओर, वे कहते हैं कि, हम हमेशा ही उठ सकते हैं; क्योंकि उनकी प्राप्ति में उनके सामने कोई लंवी या डटी रहनेवाली कठिनाई नहीं उपस्थित हुई। एकमात्र सच्ची कठिनाई, जिसे पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने में उन्हें दशाब्दियों तक आध्यात्मिक पुरुषार्थ करना पड़ा, वह थी—आध्यात्मिक ज्ञान को इस जगत् तथा ऊपरी मानस-क्षेत्र एवं वाह्य जीवन पर सर्वांगीण रूप से प्रयुक्त करना और इसे (जीवन को) प्रकृति के उच्चतर स्तरों तथा साधारण मान-

सिक, प्राणिक एवं भौतिक स्तरों पर, नीचे अवचेतना एवं मूल निश्चेतनापर्यंत, रूपांतरित करना और साथ ही ऊपर के उस परम सत्य-चेतना या अतिमानस के स्तर पर्यंत भी इसका रूपांतर करना जिसमें पहुंचने पर ही सक्रिय रूपांतर पूर्ण रूप से अपनी सर्वांगीण एवं चरम-परम अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

४. ११. १९४६

यौगिक अनुभव और भौतिक विज्ञान के आक्षेप

(१)

तुमने जिन घंटे-घड़ियाल आदि का उल्लेख नई अनुभूतियों के रूप में किया है वे बहुत पुराने हैं, यहां तक कि उपनिषत्-काल में भी बृहत्तर चेतना की ओर खुलने के चिह्नों में उनकी गिनती की जाती थी—ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिकराणि योगे। यदि मुझे ठीक-ठीक स्मरण हो तो तुम्हारी चिनगारियां भी उसी सूची में आती है। योग-साहित्य में इस तथ्य का बारंबार उल्लेख किया गया है। अपनी साधना के आरंभिक काल में मुझे भी ऐसा अनुभव सैकड़ों बार हुआ। इस प्रकार तुम देखते हो कि इस विषय में अत्यंत मान्य व्यक्ति भी तुम्हारे साथ हैं और इसलिये तुम्हें भौतिक विज्ञान के आक्षेपों से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं।

१३. ३. १९३१

(२)

मुझे स्मरण है कि जब मैंने प्रथम बार अंतर्जगत् की वस्तुओं को अंतर्मुखी होकर (और खुली आंखों के द्वारा बाह्यतः भी) देखना आरंभ किया तो, मेरे एक वैज्ञानिक मित्र अनु-प्रतिबिंबों (after-images) की बात करने लगे और बोले—"ये तो केवल अनु-प्रतिबिंब हैं"! मैंने उनसे पूछा—क्या अनु-प्रतिबिंब एक साथ दो मिनट तक आंखों के सामने रहते हैं? उन्होंने कहा—"नही, जहां तक मुझे ज्ञात है, वे केवल कुछ क्षण ही रहते हैं।" मैंने उनसे यह भी पूछा कि क्या मनुष्य ऐसी चीजों के अनुप्रतिबिंब भी प्राप्त कर सकता है जो न तो उस-के आसपास कहीं विद्यमान हों और न ही इस भूतल पर कहीं अस्तित्व रखती हों, क्योंकि इनकी और ही रूप-रेखा, और ही स्वभाव, और ही रूप-रंग एवं परिधियां होती हैं और साथ ही इनकी क्रिया-शक्ति, जीवन-गतियां तथा मूल्य बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं। इसका उत्तर भी वह 'हां' में नहीं दे सके। ये सब तथाकथित मानसिक व्याख्याएं जब अपने मानसिक सिद्धांतों के मेघाच्छन्न लोक से खीचकर वास्तविक अद्भुत घटनाओं के सामने—जिन्हें वे समझाने का दावा करती है—लाई जाती है तो वे इसी तरह भंग हो जाती हैं।

१९. २. १९३२

(३)

मेरी समझ में स्वयं मैंने तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक पूर्ण रूप से यूरोपीय शिक्षा प्राप्त

की है, और मैं भी अज्ञेयवादी निषेध वा नास्तिकता के काल में से गुजरा हूं। परंतु जिस क्षण से मैंने इन चीजों पर दृष्टि डाली तब से मैंने कभी संदेह और अविश्वास का भाव नहीं ग्रहण किया जो यूरोप में इतने लंबे अर्से से प्रचलित था। असामान्य अथवा अतिभौतिक अनुभव तथा शक्तियां, गुह्य हों चाहे यौगिक, मुझे सदा ही सर्वथा स्वाभाविक एवं विश्वसनीय प्रतीत हुई हैं। चेतना, अपने निज स्वभाव से ही, साधारण भौतिक मानव-पाशविक चेतना से सीमित नहीं हो सकती, इसके अन्य स्तर भी अवश्य होने चाहियें। जिस प्रकार महान् काव्य लिखने या महान् संगीत रचने की शक्ति अलौकिक या अविश्वसनीय नहीं है ठीक उसी प्रकार यौगिक या गुह्य शक्तियां भी अलौकिक या अविश्वसनीय नहीं हैं। परंतु जैसी कि वस्तुस्थिति है, विरले ही लोग काव्य या संगीत रच सकते हैं,—लाखों में एक भी नहीं; क्योंकि काव्य और संगीत आंतर सत्ता से आते हैं और सच्ची तथा महान् चीजें लिखने या रचने के लिये मनुष्य को आंतर सत्ता के एक तत्त्व-विशेष तथा बाह्य मन के बीच का रास्ता साफ रखना होता है। यही कारण है कि ज्योंही तुमने योग शुरू किया त्योंही तुम्हें कवित्व-शक्ति प्राप्त हुई,—योग-शक्ति ने रास्ता साफ कर दिया। यौगिक चेतना तथा उसकी शक्तियों के बारे में भी ऐसी ही बात है। आवश्यकता इस बात की है कि रास्ता साफ कर लिया जाय,—क्योंकि वे चीजें तो पहले से ही तुम्हारे भीतर निहित हैं। निःसंदेह सबसे पहली बात है श्रद्धा रखना, अभीप्सा करना और अंतर की सच्ची प्रेरणा के साथ प्रयत्न करना।

(४)

तुमने मुझसे पूछा है कि क्या तुम्हें स्वीकार करने से पहले जांचने की प्रवृत्ति का परित्याग कर देना चाहिये और योग में प्रत्येक चीज को स्वयंसिद्ध मानकर स्वीकार कर लेना चाहिये—और 'जांचने' से तुम्हारा अभिप्राय साधारण तर्कबुद्धि द्वारा जांचना है! मैं इसका बस एक ही उत्तर दे सकता हूं और वह यह कि योग के अनुभव अंतर्जगत् की चीजें हैं और वे अपने निजी विधि-विधान के अनुसार चलते हैं; इनकी अपनी ही दृष्टि-शैली है, विचार करने का अपना निजी मानदंड है और सब कुछ अपना और अलग है और ये सब चीजें न तो स्थूल इंद्रियों के क्षेत्र की हैं और न बौद्धिक या वैज्ञानिक अनुसंधान के जगत् की। जिस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान स्थूल इंद्रियों के क्षेत्र को अतिक्रांत कर जाता है और अनंत तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है, जिसके विषय में इंद्रियां कुछ कह नहीं सकतीं, कुछ परीक्षण नहीं कर सकतीं—क्योंकि हम परमाणु को देख या छू नहीं सकते, इंद्रिय-मन की गवाही के द्वारा यह नहीं जान सकते कि परमाणु की सत्ता है या नहीं या उसकी गवाही के आधार पर यह निश्चय नहीं कर सकते कि वास्तव में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है या सूर्य पृथ्वी के चारों ओर, जैसा कि नित्य-

निरंतर हमारी इंद्रियां और हमारा समस्त स्थूल अनुभव हमें बताया करते हैं,—उसी प्रकार आध्यात्मिक जिज्ञासा भी वैज्ञानिक या बौद्धिक अनुसंधान के जगत् से परे की वस्तु है और आध्यात्मिक अनुभवों से अवगत तत्त्वों की जांच साधारण प्रत्यक्षमूलक बुद्धि द्वारा नही हो सकती और न यह निर्णय ही हो सकता है कि ये तत्त्व वास्तव में हैं या नही और इनका नियम क्या है, स्वरूप क्या है। जैसे विज्ञान में, ठीक वैसे ही योग में भी अनुभव पर अनुभव प्राप्त करने होते है, गुरु द्वारा उपदिष्ट या प्राचीन शास्त्रों द्वारा निर्धारित मार्गो का निष्ठापूर्वक अनुसरण करके हमें अपने अंदर एक संबोधिमूलक विवेक-शक्ति विकसित करनी होती है जो विभिन्न अनुभवों को परस्पर मिलाकर देखती है कि उनका अभिप्राय क्या है, उनमें से प्रत्येक कहां तक और किस क्षेत्र में ठीक है, पूर्ण के अंदर प्रत्येक का क्या स्थान है, आपाततः विरोधी प्रतीत होनेवाले अन्य अनुभवों के साथ उसे कैसे समन्वित या संबद्ध किया जा सकता है इत्यादि-इत्यादि, और यह विकास तव तक करते जाना होता है जव तक कि हम आध्यात्मिक व्यापारों के विशाल क्षेत्र में एक सुदृढ़ ज्ञान के साथ संचरण न करने लगें। आध्यात्मिक अनुभव को जांचने की सच्ची कसौटी वस यही है। स्वयं मैंने दूसरे प्रकार की प्रक्रिया का भी प्रयोग करके देखा है और उसे सर्वथा असमर्थ और अनुपयुक्त पाया है। किंतु, यदि तुम स्वयं इन अनुभवों में से गुजरने को उद्यत न हो,—क्योंकि विशिष्ट-आध्यात्मिक-शक्तिसंपन्न पुरुष ही ऐसा साहस कर सकते हैं,—तो तुम्हें गुरु के वताये मार्ग का अनुसरण करना ही होगा, जैसे विज्ञान में भी, उसके संपूर्ण क्षेत्र में से गुजरने और उसका स्वयं प्रयोग करने के वदले तुम एक अध्यापक का आश्रय लेते हो—कम से कम तब तक तो अवश्य ही जव तक तुम पर्याप्त ज्ञान और अनुभव प्राप्त नहीं कर लेते। यदि इस प्रकार के पथानुसरण को स्वयंसिद्ध मानकर स्वीकार करना कहा जाय तो, हां, तुम्हें इसी प्रकार स्वीकार करना होगा। कारण, मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि किन युक्तियुक्त कसौटियों के आधार पर तुम साधारण वुद्धि को उससे परे की वस्तुओं का निर्णायक वनाना चाहते हो।

तुमने 'व' या 'स' के हवाले दिये हैं। उनके वचनों को मूल्य देने से पहले मैं यह जानना चाहूंगा कि उन्होंने अपने आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभवों को जांचने के लिये वस्तुतः क्या क्या किया? 'व' ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के मूल्य की जांच कैसे की—इनमेंसे कुछ तो साधारण प्रत्यक्षमूलक मन के लिये उन चमत्कारों से अधिक सुविश्वसनीय नही है जो कुछ प्रसिद्ध योगियो के नाम के साथ जुड़े हुए हैं। मैं 'स' के संवंध में कुछ नही जानता, परंतु उसकी कसौटियां क्या थीं और उसने उनका प्रयोग कैसे किया? उसकी प्रणालियां क्या हैं, उसका मानदंड क्या है? मैं तो समझता हूं कि कोई भी साधारण व्यक्ति दीवाल में से वुद्ध की छाया निकलने को या हयग्रीव के साथ आध घंटे तक वार्तालाप करने को किसी प्रकार परीक्षा करने पर भी सच्ची वात स्वीकार नही करेगा। ये तथ्य उसे या तो स्वतः-

प्रमाण के रूप में या एकमात्र 'व' के कथनप्रमाण के रूप में स्वीकार करने होंगे। दोनों का एक ही अर्थ हुआ। नहीं तो स्वयं-प्रमाण के आधार पर, इन्हें ऐसी भ्रांतियां या कोरी मानसिक मूर्त्तियां समझकर त्याग देना होगा जिनमें से एक के साथ श्रवण-भ्रम भी जुड़ा हुआ है। मैं नहीं समझ पाता कि वह इनकी "परीक्षा" कर ही कैसे सकता है। अथवा कैसे मैं 'निर्वाण' के अपने अनुभव को साधारण बुद्धि की कसौटी पर कसता। भला साधारण प्रत्यक्षमूलक बुद्धि का आश्रय लेकर निर्वाण के संबंध में मैं किस निर्णय पर पहुंच सकता था? इसकी सत्यता की परीक्षा मैं कैसे ले सकता था? मैं तो उसकी कल्पना करने में भी असमर्थ हूं। मैं एक ही बात कर सकता था और वही मैंने की भी, वह यह कि इसे अनुभव के प्रबल एवं उपपन्न सत्य के रूप में स्वीकार किया, इसे पूरा पूरा कार्य करने को छोड़ दिया जिससे यह पूरे प्रयोगात्मक परिणामों को प्रकट करता गया, जब तक कि मुझे इतना पर्याप्त यौगिक ज्ञान नहीं हो गया कि मैं इसको इसके योग्य स्थान पर स्थापित कर सकूं। आखिर, आंतरिक ज्ञान या अनुभूति के बिना तुम या कोई और दूसरों के आंतरिक ज्ञान और अनुभूति को कैसे जांच सकेगा?

३

उनका पथ तथा अन्य पथ

ऐहलौकिकता, पारलौकिकता और श्रीअरविन्द का योग

भारत की आत्मा पर तुमने जो टिप्पणी लिखी है तथा "पारलौकिकता का वर्जन करके ऐहलौकिकता पर इस प्रकार वल देने" के विपय पर 'क्ष' ने जो आलोचना की है उनके संवंध में मैं एक वात कहने की आवश्यकता अनुभव करता हूं। मुझे ठीक समझ में नहीं आता कि यह आलोचना उसने किस प्रसंग में की अथवा ऐहलौकिकता से उसका क्या अभिप्राय था, किंतु इस विपय में मैं अपना विचार स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं। भारत आने के समय से मेरा अपना जीवन और योग सदा ही ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों रहे हैं तथा इन दोनों पक्षों में से किसी पर भी मैंने ऐकांतिक वल कभी नहीं दिया। मेरी समझ में सभी मानवीय विपय ऐहलौकिक हैं और उनमें से अधिकतर ने मेरे मानसिक क्षेत्र में प्रवेश पाया है तथा राजनीति जैसे कुछ एक विषय तो मेरे जीवन के अंग भी वने हैं। पर साथ ही, जव से मैं वंवई के अपोलो वंदर पर उतरा और भारत की भूमि पर पग रखा, मुझे आध्यात्मिक अनुभूतियां होने लगीं जो इस जगत् से अलग नहीं थीं वल्कि इसके साथ आन्तर एवं असीम संवंध रखती थीं। उदाहरणार्थ, मुझे 'अनन्त' का अनुभव हुआ, जो भौतिक देश में रमा हुआ है, तथा अन्तर्यामी का भी जो भौतिक पदार्थों में, घट घट में, वास कर रहा है। साथ ही मैंने अपने को उन अतिभौतिक लोकों एवं स्तरों में प्रवेश करते अनुभव किया जिनका जड़ स्तर पर अनेकविध प्रभाव पड़ता है तथा जो यहां परिणाम उत्पन्न करते हैं। अतएव जिन्हें मैं सत्ता के दो ध्रुव कहता हूं उनमें तथा उनके वीच जो कुछ है उसमें कोई तीव्र विभेद या असमाधेय विरोध नहीं अनुभव कर सका! मेरे लिये तो सव कुछ व्रह्म ही है और मैं सर्वत्र भगवान् को ही देखता हूं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह ऐहलौकिकता को त्याग कर केवल पारलौकिकता को ही वरण करे, और यदि उसे इस चुनाव से शांति प्राप्त होती हो तो वह वड़ा ही सौभाग्यशाली है। हां, स्वयं मुझे शांति प्राप्त करने के लिये ऐसा करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। अपने योग में भी मुझे अपने दृष्टि-क्षेत्र के भीतर आध्यात्मिक और भौतिक दोनों लोकों को समाविष्ट करने तथा केवल निजी मोक्ष के लिये नहीं वल्कि भूतल पर दिव्य जीवन की स्थापना के लिये मनुष्यों के हृदयों एवं इहलोक के जीवन में भागवत चेतना तथा भागवत शक्ति के प्रतिष्ठार्थ यत्न करने की प्रेरणा अनुभव हुई। यह लक्ष्य मुझे अन्य किसी भी लक्ष्य से कम आध्यात्मिक

नहीं प्रतीत होता और मेरे विचार में, यह तथ्य कि यह जीवन अपने क्षेत्र में पार्थिव कार्यो और पार्थिव वस्तुओं को ग्रहण करता है, इसकी आध्यात्मिकता को कलुषित नहीं कर सकता और न यह इसके भारतीय स्वरूप में कोई हेरफेर कर सकता है। जगत्, भूतमात्र और भगवान् के सत्य स्वरूप एवं स्वभाव के संबंध में कम से कम मेरा विचार और अनुभव तो सदा से यही रहा है। यह मुझे उनका यथासंभव निकटतर सर्वांग-सत्य प्रतीत हुआ और इसलिये मैंने इसकी खोज को सर्वांगीण योग के नाम से पुकारा है। निःसंदेह प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतंत्रता है कि वह इस प्रकार की सर्वांगपूर्णता में अविश्वास करे एवं इसका त्याग कर दे अथवा संपूर्ण पारलौकिकता की आध्यात्मिक आवश्यकता में ही एकदम विश्वास करे, परन्तु इससे मेरे योग का अभ्यास करना असंभव हो जायगा। निःसंदेह, मेरे योग में अन्य सभी लोकों के अनुभव का, परमोच्च आत्मा के स्तर तथा बीच के और सब लोकों के अनुभव का तथा पार्थिव जगत् और हमारे जीवन पर पड़नेवाले उनके प्रभाव का समावेश हो सकता है। किंतु यह भी सर्वथा संभव हो सकता है कि परम पुरुष या ईश्वर के किसी एक ही स्वरूप की, जगत् के अधीश्वर और हमारे एवं हमारे कर्मो के प्रभु के रूप में शिव, कृष्ण की अथवा विश्वव्यापी सच्चिदानन्द की उपलब्धि पर ही कोई आग्रह करे तथा इस योग के सारभूत परिणामों को प्राप्त कर ले और फिर, यदि वह इस जड़ जगत् पर आत्मा की विजय एवं दिव्य जीवन के आदर्श को स्वीकार करे तो इन परिणामों से भी और आगे सर्वांगपूर्ण परिणाम की ओर बढ़े। इसी दृष्टि और वस्तुओं तथा सत्ता के सत्यविषयक अनुभव ने ही मुझे 'दिव्य जीवन' (The Life Divine) और 'सावित्री' (Savitri) लिखने के योग्य बनाया। निश्चय ही परात्पर पुरुष, ईश्वर का साक्षात्कार मुख्य वस्तु है, किंतु प्रेम, आराधना एवं भक्ति के द्वारा उनके पास जाना, अपने कर्मो के द्वारा उनकी सेवा करना, और उनको जानना—निश्चय ही बौद्धिक ज्ञान के द्वारा नहीं बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा जानना —भी पूर्णयोग के मार्ग के लिये आवश्यक है।

२८.४.१९४९

दिव्य जीवन का योग

तुम्हारे अंदर पुकार मालूम होती है और हो सकता है कि तुम योग के अधिकारी हो किंतु बहुत से मार्ग है और प्रत्येक का लक्ष्य और ध्येय अलग है। कामनाओं को जीतना, जीवन के साधारण संबंधों को त्यागना और अनिश्चयता से ध्रुव निश्चयता की ओर जाने का यत्न करना—ये बातें सब मार्गो में एक सी है। मनुष्य स्वप्न और निद्रा तथा भूख-प्यास आदि को जीतने का भी यत्न कर सकता है। परंतु जगत् या जीवन से कुछ भी सरोकार न रखना अथवा इंद्रियों को मार डालना या उनकी क्रिया को पूर्ण रूप से दबा देना मेरे योग का अंग नहीं है। मेरे योग का उद्देश्य भागवत सत्य के प्रकाश, शक्ति एवं आनंद तथा

स्थान देना अथवा अपने को परिवर्तित करना आरंभ नही किया, और अनुभव का आंतरिक सार, उसकी अविच्छिन्न स्मृति तथा उसके पुनः लौटने का सामर्थ्य तो तव तक वने रहे जव तक कि वह अन्त में ऊर्ध्व की एक वृहत्तर अतिचेतना में विलीन होना आरंभ नहीं हो गया। परन्तु इस वीच अनुभव एक के वाद एक वढने लगे और वे इस मूल अनुभव में घुल-मिलकर एक हो गये। आरंभिक अवस्था मे ही भ्रमात्मक जगत् के रूप ने एक ऐसे रूप को स्थान दे दिया जिसके अंदर भ्रम[1] तो केवल वाह्य तुच्छ व्यापार था और उसके पीछे एक विशाल दिव्य सद्वस्तु तथा उसके ऊपर एक चरम दिव्य सद्वस्तु थी और आरंभ में केवल सिनेमा का आकार या छाया प्रतीत होनेवाली प्रत्येक चीज के हृदय में एक घनीभूत दिव्य सद्वस्तु थी। यह अनुभव न तो फिर से इन्द्रियो में कैद होना था और न परम अनुभूति का ह्रास या उससे पतन ही था, वरंच यह सत्य के निरन्तर उच्च और विशाल होने के अनुभव के रूप में प्राप्त हुआ था; उस समय आत्मा ही सब पदार्थो को देखती थी, इन्द्रियां नहीं; और शांति, नीरवता और साथ ही अनंतता के अंदर स्वातंत्र्य की भावना सदा बनी हुई थी और यह लोक या सभी लोक-लोकान्तर भगवान् की कालातीत नित्यता के भीतर एक अविच्छिन्न घटनामात्र प्रतीत होते थे।

अव, मायावाद के प्रति मेरे दृष्टिकोण में सारी कठिनाई तो यही है। मेरी मुक्त चेतना में निर्वाण मेरी अनुभूति का आरंभ और पूरी चीज की तरफ पहला कदम निकला, वह एकमात्र प्राप्त हो सकनेवाली चीज या अंतिम प्राप्ति के रूप में न था। वह मेरे विना मांगे और विना खोजे यों ही आ गया, फिर भी आने पर वह स्वागत के योग्य ही था। प्राप्ति से पहले मेरे मन में इसके विषय में कोई ख्याल तक न था, न इसके लिये कोई अभीप्सा ही थी। सच तो यह है कि मेरी अभीप्सा ठीक इसके विपरीत, संसार की सहायता करने तथा इसमें रहते हुए अपना कार्य करने के हित आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिये थी। तथापि निर्वाण आ ही धमका—उसने यह भी नही पूछा कि "क्या मै अंदर आ सकता हूं?" या "आज्ञा है क्या"? वस वह आ पहुंचा और मेरे अंदर ऐसे प्रतिष्ठित हो गया मानों सदा-सर्वदा के लिये आया हो या मानों वास्तव में वह सदा से ही वहां विद्यमान रहा हो। तदनंतर वह क्रमशः एक ऐसी वस्तु में विकसित होता गया जो उसके पहले स्वरूप से हीन नही वरन् महत्तर थी। तव भला कैसे मै मायावाद को स्वीकार कर सकता था अथवा उस सत्य के विरुद्ध खड़ा होने के लिये ही उद्यत हो सकता था जो शंकर के तर्क की अपेक्षा ऊंचे स्तर से मुझे दिया गया था?

---

[1]वास्तव में यह वैसा भ्रम नही है जैसा चेतना पर किसी मिथ्या एवं निराधार वस्तु का अध्यारोप होता है, वरन् यह चेतन मन और इन्द्रियानुभव के द्वारा जगत् की अशुद्ध व्याख्या है और है व्यक्त सत्ता का मिथ्याकारी दुरुपयोग।

परंतु मेरा यह आग्रह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य मेरे अनुभव में से गुजरे अथवा इसके परिणामभूत सत्य का अनुसरण करे। मुझे इसमें कुछ आपत्ति नहीं कि कोई मायावाद को अपनी आत्मा या मन का सत्य अथवा विश्व की समस्या से निस्तार पाने के लिये आत्मा या मन का साधन स्वीकार करे। मुझे इसपर तभी आपत्ति होती है जब कोई इसे मेरे या संसार के गले उतारने का यत्न करता है यों कहकर कि यह जगत् का एकमात्र संभवनीय संतोष-कारक तथा सर्व-ग्राही समाधान है। यह ऐसा बिलकुल नहीं है। अन्य भी बहुत से समाधान संभव हैं; और फिर यह जरा भी संतोषजनक नहीं है, क्योंकि अंततः यह किसी चीज का भी समाधान नहीं करता। यह पूर्णतः ऐकान्तिक है, नाममात्र भी सर्व-ग्राही नहीं है, और जब तक यह अपने तर्क से अलग नहीं होता तब तक निःसंदेह यह ऐसा ही रहेगा। परंतु यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। क्योंकि कोई सिद्धांत अशुद्ध या कम से कम एकांगी एवं अपूर्ण होता हुआ भी अत्यंत व्यवहार्य एवं उपयोगी हो सकता है। विज्ञान के इतिहास में इसके यथेष्ट प्रमाण पाये जाते हैं। सच पूछो तो, कोई भी सिद्धांत, वह चाहे दर्शन का हो या विज्ञान का, मन के अवलंब के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। वह एक ऐसा क्रियात्मक साधन होता है जिससे मन को अपने विषय का विवेचन करने में सहायता मिलती है; वह एक ऐसी लाठी का काम करता है जिसका आश्रय लेकर मन अपनी कठिन यात्रा में अधिक विश्वासपूर्वक पग रखने एवं आगे बढ़ने में समर्थ होता है। मायावाद का सब कुछ छोड़कर एक ही दिशा में लग जाना उसे एक ऐसे आध्यात्मिक प्रयास के लिये सबल आश्रय अथवा शक्तिशाली प्रेरक बना देता है जो एकपक्षीय, मौलिक और एकमुखी होता है। मायावाद 'मन' को एक निकटतर पथ से अपने आप तथा 'प्राण' से निकलकर अतिचेतना में प्रवेश करने का प्रयास करने में सहायता देता है। अथवा यों कहें कि 'मन' में अवस्थित पुरुष ही 'मन' और 'प्राण' की सीमाओं से निकलकर अतिचेतन अनन्त में प्रवेश करना चाहता है। सिद्धांत रूप में, इसका उपाय यह है कि मन अपने सब बोधों तथा प्राण की सभी प्रवृत्तियों का परित्याग कर दे और उन्हें भ्रम समझे तथा उनके साथ इसी रूप में व्यवहार करे। कार्य-रूप में, जब मन प्रत्याहार करता है (अपने आप से पीछे हटकर अन्तर में स्थित होता है) तो वह सहज ही एक संगरहित शांति में प्रवेश करता है जिसमें किसी चीज का कुछ महत्त्व नहीं रह जाता—क्योंकि उस अवस्था की निरपेक्षता में मानसिक या प्राणिक मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं होता। फिर उस शांति से मन अतिचेतना की ओर ले जानेवाले उस महान् पगडंडी अर्थात् मनोऽतीत समाधि या सुषुप्ति की ओर वेगपूर्वक प्रगति कर सकता है। उस प्रगति की पूर्णता के अनुपात में वे सभी बोध, जिन्हें उसने कभी स्वीकार किया था, उसके निकट मिथ्या—भ्रम या माया—बन जाते हैं। वह लय के पथ पर चला जाता है।

अतएव मायावाद जगत्संबंधी अपने मानसिक सिद्धांत के कारण दोषपूर्ण होने पर भी, निर्वाण पर अनन्य बल देने से एक महान् आध्यात्मिक उद्देश्य को सिद्ध करता है और, एक

उसकी क्रियाशील निश्चयता को जीवन में उतारकर उनके द्वारा इसे रूपांतरित करना है। यह योग संसार से कतरानेवाले संन्यास का नही वरन् दिव्य जीवन का योग है। इसके विपरीत, तुम्हारा उद्देश्य समाधि में प्रवेश करने तथा उसमे रहते हुए जगत्-सत्ता के साथ के समस्त संबंधों से विरत होने पर ही उपलब्ध हो सकता है।

निष्क्रमण का मार्ग और विजय का मार्ग

देखने में यह विश्व निश्चय ही एक भद्दा एवं फजूलखर्ची से भरा खेल है अथवा अब तक यह ऐसा ही रहा है। इस खेल के पासे हमेशा अंधकार की शक्तियों, अज्ञान, असत्य, मृत्यु और दुःख के अधिपतियों के पक्ष में ही पड़ते है। परंतु यह जैसा है वैसा ही इसे स्वीकार करना होगा और, यदि हम पुराने ऋषियों के बाहर निकल जाने के पथ को त्याग दें तो, हमें विजय प्राप्त करने का पथ ढूंढ़ निकालना होगा। आध्यात्मिक अनुभव बताता है कि इस सबके पीछे समता, शांति, स्थिरता और स्वतंत्रता की एक विस्तृत भूमि है, और उसमें प्रवेश करने पर ही हम देखनेवाली आंख प्राप्त कर सकते और उस शक्ति को पाने की आशा कर सकते है जो विजयी होती है।

मायावाद, निर्वाण और श्रीअरविन्द का योग

जब मै 'आर्य' के लिये लिखा करता था, मै मन के लिये जगत्-विपयक अधिमानसिक विचार प्रस्तुत कर रहा था और इसे मानसिक परिभाषाओं में प्रकट करता था। इसीलिये मुझे कभी कभी तर्क का प्रयोग करना पड़ता था। कारण, ऐसी रचना में–जो बुद्धि तथा अतिबौद्धिक स्तर के बीच की है–तर्क अपना स्थान रखता है, यद्यपि यह ठीक है कि शुद्ध मानसिक दर्शन-शास्त्रों में इसे जो मुख्य स्थान प्राप्त है वह इसे यहां नही प्राप्त हो सकता। स्वयं मायावादी भी एक कठोर न्यायिक तर्कणा के द्वारा अपना दृष्टिकोण या अपना अनुभव स्थापित करने की चेष्टा करता है। हां, जब माया की व्याख्या का प्रसंग आता है, वह प्रकृति की गवेषणा करनेवाले वैज्ञानिक की भांति इस विश्व की रहस्यमयी रचना की प्रक्रिया-विषयक अपने विचारों को क्रमबद्ध तथा संगठित करने से अधिक कुछ नही कर सकता। वह नही बता सकता कि उसकी यह भ्रमात्मक रहस्यमयी माया क्यों या कैसे उत्पन्न हुई। वह बस इतना ही कह सकता है, "हां, पर यह माया तो यहां है ही।"

निःसंदेह, यह है तो सही; किंतु सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि यह है क्या? क्या यह सचमुच ही एक भ्रमात्मक शक्ति के सिवा और कुछ नही है, अथवा मायावादी का विचार केवल एक भ्रांत प्रथम धारणा एवं अपूर्ण मानसिक अध्ययन है, यहां तक कि शायद यह स्वयं भी एक भ्रम है? और फिर, "क्या भ्रम ही एकमात्र या सर्वोच्च शक्ति है जो भागवत चेतना या अतिचेतना के अंदर विद्यमान है?" निरपेक्ष ब्रह्म माया से मुक्त एक निरपेक्ष सत्य है, अन्यथा मोक्ष-प्राप्ति संभव नही हो सकती। तो क्या मिथ्यात्व की शक्ति

और निःसंदेह इसके साथ ही सदा रहनेवाली, मिथ्यात्व को विघटित या अस्वीकृत करने की शक्ति,–जिसके रहते भी मिथ्यात्व सदा से विद्यमान है,–इन दो शक्तियों को छोड़कर और कोई भी सक्रिय शक्ति परम एवं निरपेक्ष सत्य में नहीं है? मेरा कहना है कि यह बात कुछ विचित्र सी लगती है। पर विचित्र हो या न हो, यदि यह ऐसी है, तो ऐसी ही है–क्योंकि जैसा तुमने निर्देश किया है, अनिर्वचनीय को न्यायशास्त्र के नियमों से नहीं बांधा जा सकता। परंतु इसका निर्णय कौन करेगा कि यह बात ऐसी ही है? तुम कहोगे, वे लोग जो वहां तक पहुंचते है। परंतु कहां पहुंचते हैं? पूर्ण और परम ब्रह्म तक (पूर्ण परम्)? क्या मायावादी का निराकार ब्रह्म ही वह पूर्ण, वह सर्वांगपूर्ण है–क्या वही परतम है? क्या उस परतम से परे–परात् परम्– कोई नहीं है या कोई नहीं हो सकता? यह कोई तर्क-शास्त्र का प्रश्न नहीं बल्कि आध्यात्मिक तथ्य तथा पूर्ण एवं परम अनुभव का प्रश्न है। निश्चय ही, इस विषय का समाधान तर्क पर नहीं वरन् एक विकसनशील अर्थात् सदा अधिकाधिक उच्च और विशाल होनेवाले आध्यात्मिक अनुभव पर निर्भर होना चाहिये–ऐसे अनुभव पर जो निःसंदेह अपने में निर्वाण और माया के अनुभव को भी अंतर्भुक्त करे या उसमें से गुजर चुका हो, अन्यथा न तो वह पूर्ण होगा और न वह कोई निर्णय ही कर सकेगा।

अब, मेरे अपने योग का पहला मौलिक परिणाम था निर्वाण-प्राप्ति। उसने मुझे सहसा एक ऐसी स्थिति में पहुंचा दिया जो विचार से ऊपर एवं विचार से खाली थी तथा किसी भी मानसिक या प्राणिक गति से कलुषित नहीं थी। वहां कोई अहं नहीं था, कोई वास्त-विक जगत् नहीं था–हां, इतना अवश्य था कि यदि अचल इंद्रियों के द्वारा कोई देखता तो कोई सत्ता खोखले आकारों, अर्थात् सच्चे सारतत्त्व से रहित मूर्त-भूत प्रतिबिंबों के जगत् का अवलोकन करती या उसे अपनी विशुद्ध नीरवता पर वहन करती अनुभूत होती। यहां तक कि वहां न 'एक' था न 'बहु', था केवल एकदम पूर्ण 'तत्', निराकार निःसंबंध, केवल, अकथ, अचिन्त्य, निरपेक्ष और फिर भी परम सत्य एवं एकमात्र सत्य। वह कोई मानसिक अनुभव नहीं था न ही वह कहीं ऊर्ध्व में दृष्ट कोई वस्तु किंवा कोई अमूर्त भाव था,–वह तो भावात्मक, एकमात्र भावात्मक सद्वस्तु थी–यद्यपि वह देशगत भौतिक जगत् नही थी बल्कि एक ऐसी वस्तु थी जिसने भौतिक जगत् के इस आकार को व्याप्त, अधिकृत वरंच आप्लावित एवं निमज्जित कर रखा था, अपने सिवा और किसी सद्वस्तु के लिये स्थान या अवकाश नहीं छोड़ रखा था, और किसी भी चीज को किंचित् भी यथार्थ, भावात्मक या सारभूत प्रतीत होने का अवसर नहीं रखा था। मैं नहीं कह सकता कि जिस रूप में वह अनुभव उस समय मुझे प्राप्त हुआ उसमें कोई आनंद या हर्षावेश पैदा करनेवाली वस्तु थी,–(अनिर्वचनीय आनंद तो मुझे वर्षों बाद ही प्राप्त हुआ),–किंतु वह अपने संग अवर्णनीय शांति, विशाल नीरवता तथा अनंत मुक्ति एवं स्वतंत्रता अवश्य ले आया। मैं दिन रात उस निर्वाण की स्थिति में बना रहा जबतक कि उसने अपने अंदर अन्य वस्तुओं को

पथ के रूप में, वहुत ऊचे तथा दूर ले जानेवाला है। यहां तक कि, यदि मन अंतिम तत्त्व होता तथा उसके परे शुद्ध आत्मा के सिवा और कुछ न होता तो मैं इसे (मायावाद को) छुटकारे का एकमात्र पथ स्वीकार करने के विरुद्ध न होता। कारण, मन ने अपने बोधों तथा प्राण ने अपनी कामनाओं के द्वारा इस जगत् के जीवन को जैसा वना डाला है वह एक वहुत ही वुरा गड़वड़झाला है, और यदि इससे अच्छी और किसी चीज की आशा न की जा सकती तो इससे वाहर निकलने का सवसे छोटा मार्ग ही सर्वोत्तम पथ होता। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि मन से परे भी कोई वस्तु है; मन यहां आत्मा का अन्तिम प्रकाश नहीं है। मन अज्ञानमय चेतना है और इसके वोध मिथ्या, मिश्रित या अपूर्ण वस्तु के सिवा और कुछ नहीं हो सकते—यहां तक कि जव ये सत्य होते हैं तव भी ये सत्य की अपूर्ण छाया ही होते हैं, उसका अपना साक्षात् रूप नहीं। परन्तु एक सत्य चेतना भी है जो केवल स्थितिशील एवं अंतर्मुखी ही नहीं वल्कि गतिशील एवं सृष्टिक्षम भी है और मैं एक छोटा रास्ता अपनाकर अज्ञान की लक्ष्यभूत वस्तुओं से पराङ्मुख होने की अपेक्षा कहीं अधिक उस सत्य-चेतना को ही प्राप्त करना तथा यह देखना चाहता हूं कि जगत् के वारे में वह क्या कहती है तथा क्या कर सकती है। मैं सभी वस्तुओं से पृथक् उस छोटे पथ को अपनाना नहीं चाहता जिसे अज्ञान अपने निजी लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करता है।

शंकर का मायावाद और पूर्णयोग

मैं अपन योग को इस अपर्याप्त आधार पर खड़ा नहीं करता कि आत्मा (अंतरात्मा नहीं) नित्यमुक्त है। यह प्रस्थापना अपने से परे और कहीं नहीं ले जाती, अथवा यदि इसे एक आरंभ-विन्दु के रूप में प्रयुक्त किया जाय तो यह हमें समान रूप से इस निष्कर्ष पर ही पहुंचा सकती है कि कर्म और सृष्टि का कुछ भी मूल्य या महत्त्व नहीं है। किंतु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो यह है कि सृष्टि का प्रयोजन क्या है? क्या कोई ऐसा 'परम' है जो केवल शुद्ध और भेदशून्य चित् और सत् ही नहीं वल्कि सृष्टि की क्रियाशील शक्ति का स्रोत और आश्रय भी है, और क्या उस 'परम' के लिये इस विश्व-सत्ता का कोई अर्थ और मूल्य भी है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय शब्दों और विचारों के साथ खेल करने-वाले दार्शनिक तर्क के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसका निर्णय तो उस आध्यात्मिक अनु-भव के द्वारा ही किया जा सकता है जो 'मन' के परे जाता और आध्यात्मिक तथ्यों में प्रवेश करता है। प्रत्येक व्यक्ति का मन अपनी निजी तर्कणा से संतुष्ट होता है, किंतु आध्या-त्मिक प्रयोजनों के लिये उस संतुष्टि का कोई मूल्य नहीं; हां, वह इस वात का चिह्न अवश्य होती है कि आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्र में वह व्यक्ति कहां तक किस दिशा में जाने के लिये तैयार है। यदि तुम्हारी तर्कणा तुम्हें 'परम'-विषयक शंकर के सिद्धांत पर पहुंचाती है तो यह इस वात का चिह्न हो सकता है कि अद्वैत वेदान्त (मायावाद) तुम्हारी प्रगति का पथ है।

यह योग विश्व-सत्ता के महत्त्व को स्वीकार करता है और इसे एक सद्वस्तु मानता है; इसका लक्ष्य है एक उच्चतर सत्य-चैतन्य या भागवत विज्ञान-चैतन्य में प्रवेश करना जहां कर्म और सृष्टि अविद्या एवं अपूर्णता की नही वल्कि सत्य, ज्योति एवं भागवत आनंद की अभिव्यक्ति है। परन्तु इसके लिये मर्त्य मन, प्राण और शरीर का उस उच्चतर चेतना के प्रति समर्पण एक अनिवार्य साधन है, क्योंकि अपने ही पुरुषार्थ के वल पर मन को पार कर अतिमानसिक चेतना में, जहां मन नहीं वल्कि विलकुल और ही शक्ति क्रियाशील है, प्रवेश करना मर्त्य मानव के लिये वहुत ही कठिन है। केवल उन्हीं को, जो ऐसे रूपान्तर की पुकार को अंगीकार कर सकते है, इस योग में प्रवेश करना चाहिये।
२. १०. १९३८

वस्तुवादी और मायावादी अद्वैत

अद्वैत वस्तुवादी भी हो सकता है और मायावादी भी। 'दिव्य जीवन' (The Life Divine) का दर्शन वस्तुवादी अद्वैत है। जगत् 'दिव्य सत्य' की अभिव्यक्ति है और इस-लिये स्वयं यह भी सत्य है। सत्य वस्तु है–अनंत और नित्य भगवान्,–अनंत और नित्य सत्, चित् और आनंद। उन भगवान् ने अपनी शक्ति द्वारा इस जगत् की सृष्टि की है या, यों कहें कि अपनी अनंत सत्ता में से इसे अभिव्यक्त किया है। परंतु यहां इस जड़ जगत् में या इसके आधार में उन्होंने अपने को ऐसी चीजों में छिपा रखा है जो उनसे ठीक विपरीत,– अ-सत्, निश्चेतन और निर्जीव दिखाई देती है। आजकल हम उसे 'निश्चेतन' कहते है जो अपनी निश्चेतन 'शक्ति' द्वारा जड़ जगत् को पैदा करता हुआ-सा दीखता है। परंतु यह तो केवल 'दीखता' है, क्योंकि अंत में हमें पता लगता है कि संसार की सभी क्रमव्यवस्थाएं केवल एक परम निगूढ़ प्रज्ञा की क्रिया द्वारा ही व्यवस्थित की हुई हो सकती है। निश्चेतन शून्य प्रतीत होनेवाली चीज के अंदर जो 'सत्ता' छिपी हुई है वह इस संसार में सर्वप्रथम जड़ के रूप में प्रकट होती है, उसके बाद प्राण-रूप में, फिर मन-रूप में और अंत में आत्मा के रूप में। आपाततः निश्चेतन 'शक्ति', जो सर्जन करती है, वास्तव में भगवान् की ही चित्-शक्ति है और जड़ के अंदर छिपा हुआ उसका चित्-स्वरूप प्राण के अंदर प्रकट होना आरंभ करता है, मन के अंदर अपना और अधिक स्वरूप अधिगत करता है और आध्यात्मिक चेतना में तथा अंततः उस अतिमानसिक चेतना में अपना सच्चा 'स्व'-रूप प्राप्त करता है, जिसके द्वारा हम परम सद्वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते है, उसमें प्रवेश करते हैं और उसके साथ युक्त हो जाते है। इसे ही हम विकास कहते हैं और यह विकास चेतना का विकास है तथा वस्तुओं में निहित आत्मा का विकास है और केवल वाहरी तौर पर ही यह योनियों का विकास है। इसी प्रकार, आदि जड़ता मे से सत्ता का आनंद पहले सुख एवं दुःख के परस्पर-विरोधी रूपों में प्रकट होता है। फिर, आत्मा के आनंद में या, जैसा कि इसे उपनिषदों में कहा

गया है, ब्रह्म के आनंद में उसे निज 'स्व'-रूप की उपलब्धि करनी होती है। 'दिव्य जीवन' में प्रस्थापित विश्व की व्याख्या में इसी केंद्रीय विचार को सामने रखा गया है।

शंकर और मायावाद

प्रश्न—"प्रबुद्ध भारत" के एक लेखक का कहना है कि आपने शंकर के दर्शन का जो तात्पर्य समझा है वह ठीक नहीं है। संभवतः उसके कथन का आधार यह है कि स्थान स्थान पर शंकर ब्रह्मवाद या भक्तिवाद की ओर जो इंगित करते हैं उन्हें आपने दृष्टि से ओझल कर दिया है। मुझे संदेह है कि विवेकानन्द या रामकृष्ण भी शंकर के दर्शन को पूर्ण रूप से स्वीकार करते थे या नहीं।

उत्तर—वे (मायावादी) यह दिखाना चाहते हैं कि शंकर वैसे उग्र रूप में मायावादी नहीं थे जैसा कि उन्हें बताया जाता है—वे कहते हैं कि शंकर ने जगत् की एक प्रकार की अस्थायी वास्तविकता मानी थी और वे शक्ति को भी स्वीकार करते थे इत्यादि इत्यादि। परन्तु (यदि यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने इन्हें मान्यता दी थी तो भी) ये ऐसी मान्यताएं हैं जो उनके अपने दर्शन के तर्क से असंगत हैं। कारण उनका दर्शन तो यही है न कि केवल ब्रह्म ही सत् है और शेष सब अज्ञान एवं भ्रम है। अन्य सभी वस्तुएं केवल माया में एक अस्थायी और अतएव भ्रमात्मक अस्तित्व रखती है। और फिर उनका यह भी विश्वास था कि कर्मों से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि उनका दर्शन यह नहीं था तो मैं जानना चाहता हूं कि वह और क्या था। कुछ भी हो, लोगों ने उनके दर्शन को इसी रूप में समझा है। अब चूंकि सामान्य रूप से लोग अत्युग्र मायावाद से मुंह मोड़ रहे हैं, बहुतेरे अद्वैतवादी ऐसी बातों की आड़ लेकर अपना और साथ ही शंकर का भी बचाव करने की कोशिश कर रहे है।

विवेकानन्द ने शंकर के दर्शन को कुछ संशोधनों के साथ ग्रहण किया था; उनमें सबसे मुख्य दरिद्र-नारायण की सेवा है जो बौद्धों की करुणा तथा आधुनिक परोपकार-वृत्ति का मिश्रण है।

८. २. १९३५

श्रीअरविन्द के योग में नये तत्त्व

रूपांतर से मेरा अभिप्राय प्रकृति के थोड़े-बहुत परिवर्तन से नहीं है—उदाहरणार्थ, मेरा मतलब संत-स्वभाव या सदाचार की पूर्णता या (तांत्रिकों की सिद्धियों जैसी) यौगिक सिद्धियों या चिन्मय शरीर की प्राप्ति से नहीं है। 'रूपांतर' शब्द में विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता हूं। वह अर्थ है चेतना का आमूलचूल, पूर्ण और एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन जिसकी कल्पना इस प्रयोजन के लिये की गई है कि वह जीव के आध्यात्मिक विकास में एक दृढ़ तथा निश्चित कदम बढ़ानेवाला होगा। प्राणमय और अन्नमय-प्राणजगत् में पहली बार मनो-

मय जीव के प्रकट होने पर जो विकास हुआ था उसकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक विकास अधिक महान् एवं उच्च कोटि का होगा और इसका क्षेत्र एवं पूर्णता अधिक विशाल होगी। अगर इस विकास से कम कोई चीज घटित हो या कम से कम इसके आधार पर यदि एक वास्तविक प्रारंभ न हो, इस परिपूर्णता की ओर कोई आधारभूत प्रगति न हो तो मेरा उद्देश्य सिद्ध नही होगा। किसी आंशिक उपलब्धि, किसी मिश्रित एवं अनिश्चयात्मक वस्तु से वह मांग पूरी नहीं होती जिसकी पूर्त्ति मैं जीवन और योग से चाहता हूं।

साक्षात्कार-जन्य प्रकाश और अवतरण एक ही वस्तु नहीं है। साक्षात्कार अपने आप ही सारी सत्ता को आवश्यक तौर पर रूपांतरित नहीं कर देता; यह केवल ऊपरी भाग में चेतना को ऊपर की ओर खोल सकता है, उसे ऊंचा उठा सकता है या उसके विस्तार को बढ़ा सकता है जिससे प्रकृति के भागों में कोई मूलगत परिवर्तन आये बिना पुरुष-भाग में कुछ साक्षात्कार प्राप्त किया जा सके। चेतना के आध्यात्मिक शिखर पर व्यक्ति साक्षात्कार का कुछ प्रकाश भले ही प्राप्त कर ले परंतु नीचे के भाग ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इसके कितने ही दृष्टांत मैंने देखे हैं। प्रकाश का अवतरण केवल मन या उसके किसी भाग में नहीं बल्कि स्थूल भौतिक और उससे भी नीचे के भागों तक संपूर्ण सत्ता में होना चाहिये ताकि वास्तविक रूपांतर हो सके। मन में प्राप्त प्रकाश मन या उसके किसी भाग को अध्यात्म-मय बना सकता है या उसे किसी तरह अन्य रूप में परिवर्तित कर सकता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि वह प्राणमय प्रकृति को भी बदल दे। प्राण में प्राप्त प्रकाश प्राणमय गतियों को पवित्र और विस्तृत कर सकता है या प्राणमय सत्ता को शांत और निश्चल कर सकता है, किंतु संभव है कि शरीर और भौतिक चेतना को वह जैसा का तैसा छोड़ दे, या इसे जड़ ही बना रहने दे या इसके संतुलन को हिला दे। और, प्रकाश का अवतरण ही काफी नहीं है, सारी उच्चतर चेतना का, उसकी शांति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम, आनंद का अवतरण होना चाहिये। और फिर, यह भी हो सकता है कि अवतरण मुक्त करने के लिये तो पर्याप्त हो पर पूर्ण बनाने के लिये पर्याप्त न हो अथवा यह आंतरिक सत्ता में एक महान् परिवर्तन लाने के लिये तो पर्याप्त हो परंतु बाह्य व्यक्तित्व अपूर्ण—भद्दा, रुग्ण या अभि-व्यक्ति में असमर्थ—यंत्र ही बना रहे। अंत में, साधना द्वारा किया गया रूपांतर तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि सत्ता का विज्ञानमयीकरण न हो जाय। अंतरात्ममयीकरण पर्याप्त नहीं, यह तो केवल प्रारंभ है; अध्यात्ममयीकरण और उच्चतर चेतना का अवतरण पर्याप्त नहीं, यह केवल मध्यावस्था है; चरम उपलब्धि के लिये विज्ञानमय चेतना और शक्ति की क्रिया की आवश्यकता है। इससे कम किसी चीज को कोई व्यक्ति भले ही पर्याप्त समझ ले किंतु वह पृथ्वी-चेतना के लिये एक सुनिश्चित कदम आगे बढ़ाने के हेतु काफी नहीं और यह कदम तो उसे किसी न किसी समय बढ़ाना ही होगा।

मैंने यह कभी नहीं कहा है कि मेरा योग अपने सभी तत्त्वों में कोई सर्वथा नवीन वस्तु

है। मैंने इसे पूर्णयोग का नाम दिया है और इसका अर्थ है कि यह पुराने योगों के सार-तत्त्व और अनेक क्रियाओं को अपनाता है। इसकी नवीनता इसके लक्ष्य, दृष्टिकोण और इसकी पद्धति की समग्रता में है। 'पहेली' या 'प्रदीप' या प्रकाशित होनेवाली नई पुस्तक 'योग के आधार' में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें योग की केवल प्रारंभिक अवस्थाओं की ही चर्चा की है। इन अवस्थाओं में, इस योग के लक्ष्य की सर्वांगीणता, इसकी गतियों की मूल भावना, इसका ध्येयभूत अंतिम प्रयोजन, अपिच इसके मनोविज्ञान तथा इसकी क्रिया-प्रक्रियाओं की पद्धति—इस सबके अतिरिक्त ऐसी और कोई बात नहीं है जो इसे पुराने योगों से भिन्न दर्शावे : परंतु वह बात चूंकि इन पत्रों में क्रमपूर्वक और योजनापूर्वक और विस्तारपूर्वक न तो कही गई है और न कही जा सकती थी, अतएव वे लोग जो बौद्धिक परिचय द्वारा या कुछ थोड़े से अभ्यास द्वारा इस योग से पहले से ही परिचित नहीं हैं, इसे समझ नहीं पाये हैं। योग की पिछली अवस्थाओं की बारीकियां या विधियां, जो कम ज्ञात हैं या एकदम नवीन क्षेत्रों में पहुंचाती हैं, मैंने जनसाधारण के सामने नहीं रखी हैं और अभी मेरा ऐसा करने का विचार भी नहीं है।

मुझे अच्छी तरह मालूम है कि प्राचीन काल में भी देखने में इससे मिलते-जुलते आदर्श और कुछ आशाएं थीं,—जैसे—मनुष्यजाति को पूर्ण बनाने की संभावना, कतिपय तांत्रिक साधनाएं, योग के कुछ संप्रदायों का पूर्ण भौतिक सिद्धि के लिये प्रयत्न इत्यादि इत्यादि। मैंने स्वयं भी इन बातों की ओर संकेत किया है और यह विचार प्रस्तुत किया है कि मनुष्यजाति का आध्यात्मिक भूतकाल प्रकृति की तैयारी का काल रहा है—केवल संसार के परे भगवान् को पाने के लिये ही नहीं अपितु पृथ्वी चेतना के क्रमविकास में अभी जो अगला कदम आगे उठाना है उसके लिये भी। यद्यपि वे आदर्श मेरे आदर्शों से पूरी तरह मिलते-जुलते न थे, सिर्फ कुछ हद तक ही उनके समान थे, फिर भी मुझे इसकी परवा नहीं है कि मेरे योग को और उसके आदर्शों को नया माना ही जाय। अपने-आपमें यह एक मामूली-सी बात है। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो लोग इसे स्वीकार कर इसका अभ्यास कर सकें वे इसे सच्चा समझें और अपनी उपलब्धि के द्वारा इसे सच्चा सिद्ध करें। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि इसे नया कहा जाय या पुराने विस्मृत योग की पुनरावृत्ति या पुनर्जागृति। कुछ साधकों के नाम लिखे एक पत्र में मैंने इसके नए होने पर जोर दिया था; मैं उन्हें स्पष्ट रूप से समझाना चाहता था कि पुराने योगों का लक्ष्य एवं मंतव्य दोहराना मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं है, बल्कि मैं एक ऐसा प्राप्य ध्येय उनके सामने रख रहा हूं जो अभी तक सिद्ध नहीं किया गया है, यहां तक कि साफ साफ देखा भी नहीं गया है, यद्यपि यह संपूर्ण प्राचीन आध्यात्मिक प्रयास का एक स्वाभाविक पर अभी तक गुप्त परिणाम है।

पुराने योगों की तुलना में यह नया है :

(१) क्योंकि इसका लक्ष्य संसार से विदा हो जाना और स्वर्ग में जीवन बिताना या

निर्वाण प्राप्त करना नहीं, वल्कि जीवन और सत्ता का परिवर्तन करना है-किसी गौण या प्रासंगिक कार्य के तौर पर नहीं, वरन् विशेष और मुख्य उद्देश्य के तौर पर। यदि दूसरे योगों में अवरोहण (चेतना का नीचे उतरना) है भी तो वह पथ में अपने-आप आने-वाली या आरोहण (चेतना का ऊपर उठना) की परिणामस्वरूप घटनामात्र है-वहां आरोहण ही मुख्य वस्तु है। यहां आरोहण पहला कदम है, परंतु यह अवरोहण के लिये साधन है। आरोहण से प्राप्त नई चेतना का अवतरण ही इस साधना का वास्तविक चिह्न तथा मुहर-छाप है। तंत्र और वैष्णवधर्म भी जीवन से छुटकारा पाने में ही अपनी इतिश्री मानते हैं; परंतु इस योग का ध्येय है जीवन की दिव्य पूर्णता प्राप्त करना।

(२) क्योंकि जिस ध्येय की खोज करनी है वह व्यक्ति के हित के लिये भागवत साक्षात्कार की व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं वल्कि एक ऐसी चीज है जो यहां पृथ्वीचेतना के लिये प्राप्त करनी है, अर्थात् ऐहलौकिक, न कि केवल अतिलौकिक उपलब्धि है। अपिच, प्राप्त करने की वस्तु यह है कि चेतना (विज्ञानमय) की वह शक्ति क्रियाक्षेत्र में उतार लाई जाय जो अभी तक पार्थिव प्रकृति में, यहां तक कि आध्यात्मिक जीवन तक में, संगठित या प्रत्यक्षत: क्रियाशील नहीं है, किंतु जिसे फिर भी सुसंगठित करना या साक्षात् रूप से क्रियाशील वनाना है।

(३) क्योंकि यह उद्देश्य सिद्ध करने के लिये एक पद्धति खुले तौर पर प्रकट की गई है जो अपने सामने स्थापित उद्देश्य,-चेतना और प्रकृति का समग्र और सर्वांगीण परिवर्तन,-की तरह ही समग्र और सर्वांगीण है और जो पुरानी पद्धतियों को ग्रहण तो करती है किंतु केवल आंशिक क्रिया के तौर पर और अपनी विशिष्ट विधियों के वर्तमान सहायक के तौर पर। मैंने यह पद्धति (सारी की सारी) या इससे मिलती-जुलती कोई पद्धति पुराने योगों में प्रतिपादित या संसिद्ध नही पाई है। अगर मैं पाता तो मैं अपने लिये नया रास्ता बनाने और तीस वर्ष तक अनुसंधान तथा आंतरिक सर्जन करने में, अपना समय व्यर्थ न गंवाता, जव कि मैं पहले से ही उद्घोषित, प्रस्थापित, पूर्ण रूप से अंकित, प्रस्तर-निर्मित, सुरक्षित और सर्वसुलभ मार्गो पर आसानी से सरपट दौड़ते हुए शीघ्र ही अपने लक्ष्य पर सकुशल पहुंच सकता था। हमारा योग पुराने रास्तों पर ही दुवारा चलना नहीं है, बल्कि एक कठिन आध्यात्मिक कार्य है।

५. १०. १९३५

रूपांतर और पवित्रीकरण

(१)

"रूपांतर" ("अतिमानस" की ही भांति) एक ऐसा शब्द है जिसे स्वयं मैंने ही पूर्णयोग के कुछ एक आध्यात्मिक विचारों और आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त

किया है। लोग अब इन शब्दों को अपना रहे हैं और ऐसे अर्थों में प्रयुक्त कर रहे हैं जिनका उस भाव से कुछ भी संबंध नहीं जिसे मैं इनके अंदर रखता हूं। आत्मा के 'प्रभाव' द्वारा प्रकृति का पवित्रीकरण वह वस्तु नहीं है जो मुझे रूपांतर से अभिप्रेत है; पवित्रीकरण तो केवल आंतरात्मिक परिवर्तन या चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तन का अंग है—इसके अतिरिक्त इस शब्द के अनेक अर्थ हैं और प्राय: इसे एक नैतिक या सदाचार-विषयक अर्थ दिया जाता है जो मेरे भाव से एकदम अलग है। आध्यात्मिक रूपांतर से मेरा जो मतलब है वह एक क्रियाशील वस्तु है (केवल आत्मा की मुक्ति या एकमेव की उपलब्धि ही नहीं जो किसी अवतरण के बिना भी भली भांति प्राप्त हो सकती है)। रूपांतर से मेरा मतलब है नीचे अवचेतना पर्यंत, सत्ता के प्रत्येक अंग में, क्रियाशील और स्थितिशील आध्यात्मिक चेतना को धारण करना। यह आत्मा के उस प्रभाव के द्वारा नहीं किया जा सकता जो चेतना को मूलत: ज्यों की त्यों रहने देता है और मन एवं हृदय को केवल पवित्र और आलोकित करता तथा प्राण को निस्तब्ध कर देता है। इसका अर्थ है—इन सभी अंगों के भीतर स्थिति-शील एवं गतिशील दिव्य चेतना को उतार लाना और इसे वर्तमान चेतना के स्थान पर पूरी तरह ला बिठाना। इस चेतना को हम तन-मन-प्राण के ऊपर प्रकट एवं अमिश्रित रूप में पाते हैं। यह बहुतों के अकाटच अनुभव द्वारा सिद्ध बात है कि यह चेतना नीचे उतर सकती है और यह मेरा अपना अनुभव है कि इसके पूर्ण अवतरण से कम कोई भी चीज न तो हमारे पर्दे को हटा सकती है न मिश्रण को पूरी तरह से दूर कर सकती है और न पूर्ण आध्यात्मिक रूपांतर को ही ला सकती है। इस विषय में कि आत्मा को क्या करना "चाहिये" या वह क्या कर सकती है अथवा उसे क्या करने की आवश्यकता है या आवश्य-कता नहीं है, शून्य गगन में किसी प्रकार का दार्शनिक या नैयायिक तर्क करना यहां असंगत तथा निरर्थक है। मैं इतना और कह सकता हूं कि रूपांतर जिस प्रकार इस योग का प्रधान लक्ष्य है उसी प्रकार वह दूसरे मार्गों का नहीं है—वे तो केवल उतने ही पवित्री-करण एवं परिवर्तन की मांग करते हैं जितना मुक्ति तथा पारलौकिक जीवन प्राप्त करने के लिये सहायक हो। निश्चय ही, आत्मा का प्रभाव इतना कार्य कर सकता है—जीवन से पला-यन करनेवाली आध्यात्मिकता के लिये ऐहलौकिक जीवन के रूपांतरार्थ नख से शिख तक संपूर्ण प्रकृति में नूतन चेतना को पूर्ण रूप से अवतरित करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

(२)

Supermind, अर्थात् अतिमानस और supramental, अर्थात् अतिमानसिक—ये शब्द सबसे पहले मैंने ही प्रयुक्त किये थे, परंतु तबसे लोगों ने 'अतिमानसिक' शब्द को अपना लिया है और वे मन से ऊपर की किसी भी वस्तु के लिये इसका व्यवहार कर रहे

है। Psychic. अर्थात् चैत्य शब्द का प्रयोग साधारणतः चेतना की आंतरिक गतियों से संबंध रखनेवाली किसी भी वस्तु या मनोविज्ञान के अंदर किसी भी प्रश्नात्मक वस्तु के अर्थ में लिया जाता है। मैंने इसका एक विशेष अर्थ में व्यवहार किया है और इसे अंतरात्मा के पर्यायवाची ग्रीक शब्द psyche (साइकि) के साथ संबद्ध कर दिया है। परंतु सामान्यतः लोग अंतरात्मा और मानस-प्राणिक चेतना में भेद नहीं करते; उनके लिये यह सब एक ही चीज है। कुण्डलिनी का आरोहण—उसका अवरोहण नहीं, जहां तक कि मुझे ज्ञात है—एक सुनिश्चित व्यापार है; हमारे योग में भी इससे मिलती-जुलती एक क्रिया है, और वह है उच्चतर चेतना से मिलने के लिये प्राणिक या भौतिक स्तर से चेतना के आरोहण का अनुभव होना। यह जरूरी नहीं है कि यह आरोहण चक्रों के द्वारा ही हुआ करे, प्रायः इसका अनुभव सारे शरीर में होता है। इसी प्रकार उच्चतर चेतना के अवतरण के अनुभव के लिये जरूरी नहीं है कि वह भी चक्रों के द्वारा ही हो। वह सारे सिर, गर्दन, छाती, पेट और सारे शरीर पर अधिकार करता हुआ मालूम होता है।

१८.६.१९३३

आध्यात्मिक परिवर्तन और अतिमानसिक रूपांतर

यदि आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्थितियां एक ही चीज होतीं, जैसा कि तुम कहते हो कि मेरी पुस्तकों के पाठक अनुमान करते हैं, तो युग-युग में उत्पन्न सभी ऋषि, भक्त, योगी और साधक अतिमानसिक पुरुष हुए होते और जो कुछ भी मैंने आज तक अतिमानस के विषय में लिखा है वह सर्वथा अनावश्यक, निरुपयोगी और व्यर्थ होता। तब तो आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हर व्यक्ति अतिमानसिक पुरुष हो जायगा और यह आश्रम अथवा भारत का कोई भी आश्रम अतिमानसिक पुरुषों से खचाखच भर जायगा। आध्यात्मिक अनुभूतियां आंतर चेतना में जमकर बैठ सकती हैं और उसे परिवर्तित कर सकती हैं, यदि तुम कहना चाहो तो उसे "रूपांतरित" भी कर सकती हैं; मनुष्य सर्वत्र भगवान् को पा सकता है, सबमें आत्मा को और आत्मा में सबको देख सकता है, विश्वव्यापी दिव्य शक्ति को सब कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है; वह अपनेको विश्वात्मा में लीन अथवा उल्लासपूर्ण भक्ति या आनंद से पूर्ण अनुभव कर सकता है। पर फिर भी मनुष्य अपनी प्रकृति के बाह्य अंगों में पूर्ववत् ही कार्य कर सकता है और साधारणतया करता ही है—बुद्धि से अथवा अधिक से अधिक संबुद्ध मन से वह सोचता है, मानसिक संकल्प-शक्ति के द्वारा संकल्प करता है, प्राणमय स्तर पर हर्ष और शोक का अनुभव करता है, शारीरिक कष्टों को झेलता है और मृत्यु और रोग के साथ शरीर के अंदर होनेवाले जीवन संग्राम से पीड़ित होता है। उस स्थिति में केवल यही अंतर होता है कि मनुष्य का भीतरी आत्मा यह सब, विचलित और विमोहित हुए बिना, पूर्ण समत्व के साथ, देखती है; वह इस सबको प्रकृति का अनि-

वार्य अग समझती है, कम से कम तव तक के लिये अनिवार्य समझती है जव तक कि मनुष्य प्रकृति से निकलकर आत्मा मे नही आ जाता। परंतु यह वह रूपातर नही है जिसे मै अपने सामने रखता हू। वह तो ज्ञान की एकदम दूसरी ही शक्ति है, एक दूसरे ही प्रकार की सकल्प-शक्ति है, भाव एव रसवोध की एक दूसरी ही ज्योतिर्मय प्रकृति है, भौतिक चेतना की एक दूसरी ही रचना है जो अतिमानसिक रूपांतर के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं।

भौतिक रूपांतर और सिद्धियां

भौतिक प्रकृति से मेरा मतलव केवल देह नही है और 'भौतिक रूपांतर' शव्द के अंतर्गत सपूर्ण भौतिक मन, प्राण और अन्नमय प्रकृति का रूपातर आ जाता है। यह रूपांतर इन अगो पर सिद्धिया लादकर साधित नही किया जाता, वल्कि एक ऐसी नई भौतिक प्रकृति की रचना करके किया जाता है जो नवीन विकास के अदर अतिमानसिक जीव का निवास होगी। मै नही जानता कि यह किसी हठयौगिक या अन्य प्रक्रिया के द्वारा साधित किया जा चुका है। मानसिक या प्राणिक गुह्य शक्ति व्यक्तिगत जीवन में केवल उच्चतर स्तर की सिद्धियां ही ला सकती है–उदाहरणार्थ, उस संन्यासी ने, जो विना हानि उठाये, कोई भी विष खा सकता था, इसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त की थी, पर अंत मे वह एक विष से ही मरा जव कि वह सिद्धि की शर्तो का पालन करना भूल गया। जो अतिमानसिक शक्ति हमारी दृष्टि के सामने है, उसका कार्य भौतिक सत्ता पर पडनेवाला कोई ऐसा प्रभाव नही है जो इसे असामान्य क्षमताए प्रदान करता हो वल्कि वह तो एक नई तरह का प्रवेश है जो सत्ता मे व्याप्त होकर उसे पूरी तरह से अतिमानसिक भौतिक सत्ता में वदल देगा। इस विचार का ज्ञान मुझे वेद या उपनिषद् से नही प्राप्त हुआ और मुझे मालूम नही कि इस प्रकार का कोई विचार उनमे है भी। अतिमानस के विषय में मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह सीधा ही प्राप्त हुआ था, किसी और के अनुभव द्वारा नही। उसे पुष्ट करनेवाले उपनिषद् और वेद के कुछ एक मत्र केवल वाद मे ही मेरे देखने मे आये।

११. ९. १९३६

पुराने योगों में अवरोहण का उल्लेख नहीं

(१)

मैने अन्य योगो मे निश्चल-नीरवता के अवतरण की वात कभी नही सुनी–वहा तो मन ही नीरवता की अवस्था मे प्रवेश करता है। लेकिन जव से मै आरोहण ओर अवरोहण के विषय मे लिख रहा हूं, कई ओर से यह व्रात मेरे सुनने मे आई है कि इस योग मे नया कुछ भी नही है–अत. मुझे आश्चर्य होता है कि लोग आरोहण और अवरोहण को जाने विना, अथवा, कम से कम, इनकी प्रक्रिया पर ध्यान दिये विना इन्हे प्राप्त तो नही करते थे!

वह प्रक्रिया इस प्रकार की है कि चेतना सिर के ऊपर उठ जाती और वहीं स्थित हो जाती है–जिसका मैंने तथा दूसरों ने भी इस योग में अनुभव किया है। जब मैंने पहले-पहल इस-की चर्चा की तो लोग मेरी ओर आंखे फाड़कर देखने लगे और सोचा कि मैं निरर्थक प्रलाप कर रहा हूं। पुराने योगों में साधकों को विशालता का अनुभव अवश्य प्राप्त हुआ होगा क्योंकि इसके बिना विश्व को अपने अंदर अनुभव नहीं किया जा सकता न ही देह-चेतना से मुक्त या 'अनंतं ब्रह्म' के साथ एक हुआ जा सकता है। परंतु साधारणतः, तांत्रिक योग आदि में, कहा जाता है कि चेतना का ब्रह्मरंध्र में अर्थात् सिर के ऊपरी हिस्से में पहुंचना ही ऊंचाई की सबसे ऊंची चोटी है। निःसंदेह राजयोग परमोच्च अनुभव के साधन के रूप में समाधि पर बल देता है। परंतु यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई जागरित अवस्था में ब्राह्मी स्थिति प्राप्त नही करता तो उसकी प्राप्ति को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। गीता स्पष्ट रूप में समाहित होने (जो 'समाधि में स्थित' होने का पर्याय है) तथा जागरित अवस्था में ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने की बात कहती है जिसमें योगी निवास करता हुआ सब कार्य करता है।

जून १९३६

(२)

मेरा यही ख्याल रहा है। अवतरण के अनुभवों के इस अभाव की व्याख्या मैं इस प्रकार करता हूं कि पुराने योग मुख्यतः अनुभव के आंतर-अध्यात्म-गुह्य (psycho-spiritual-occult) स्तर तक ही सीमित रहे–जिसमें उच्चतर अनुभव मानो एक तरह से छनकर या प्रतिबिंबित होकर निश्चल मन या एकाग्र हृदय के अंदर आते हैं–इस अनुभव का क्षेत्र ब्रह्मरंध्र से नीचे की ओर होता है। इससे ऊपर लोग केवल समाधि या स्थितिशील मुक्ति की अवस्था में ही जाते थे और उन्होंने किसी प्रकार का क्रियाशील अवतरण साधित नही किया। समस्त क्रियाशील अनुभव केवल आध्यात्मीकृत मानसिक और प्राण-भौतिक चेतना के स्तर में ही हुआ। इस योग में चेतना (थोड़े-बहुत आंतर-अध्यात्म-गुह्य अनुभव के द्वारा निम्नतर क्षेत्र के तैयार हो चुकने के बाद) ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर, साक्षात् अध्यात्म-चेतना से संबंध रखनेवाले ऊर्ध्व स्तरों की ओर उठती है और इसे उन स्तरों की वस्तुओं को केवल ग्रहण करने के बदले वही निवास करना तथा वहां से नीचे की चेतना को पूरी तरह रूपांतरित करना होता है। क्योंकि अध्यात्म-चेतना की एक निजी क्रियाशक्ति है जिसका स्वरूप है ज्योति, शक्ति, आनंद, शांति, ज्ञान एवं असीम विशालता, और उसे अधिकृत करना होगा तथा संपूर्ण सत्ता में उतारना होगा। अन्यथा मनुष्य मुक्ति तो प्राप्त कर सकता है पर पूर्णता या (एक सापेक्ष चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तन के अतिरिक्त) रूपांतर नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु, मै अगर यह बात कहूं तो लोगों में मेरी इस अक्षम्य धृष्टता

के विरुद्ध खलबली मच जायगी कि मैं एक ऐसे ज्ञान का दावा करता हूं जो प्राचीन ऋषि-मुनियों को प्राप्त नही था, और मैं उनसे आगे बढ़ जाने का दावा करता हूं। अतएव इस प्रसंग में मै यह कह सकता हूं कि उपनिषद् में (विशेषकर तैत्तिरीय में) इन उच्चतर स्तरों के अस्तित्व, इनके रूप-स्वरूप तथा संपूर्ण चेतना को एकत्र करके इनमें आरोहण करने की संभावना आदि के विषय में कुछ संकेत पाये जाते है। परंतु बाद में लोग इसे भूल गये और कहने लगे कि बुद्धि ही सर्वोच्च तत्त्व है तथा पुरुष या 'आत्मा' उससे ठीक ऊपर है। उनके मन में इन उच्चतर स्तरों की कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। सुतरां, उनके लिये समाधि द्वारा अज्ञात एवं अनिर्वचनीय दिव्य स्तरों की ओर आरोहण करना तो संभव था पर अव-रोहण की कोई संभावना नहीं थी–अतएव इहलोक में रूपांतर के लिये कोई युक्ति और कोई संभावना नहीं थी, केवल जीवन से भाग जाना और गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक या 'कैवल्य' में जाकर मुक्त होना संभव था।

११. ६. १९३६

(३)

प्रश्न–क्या रामकृष्ण या चैतन्य या प्राचीन योगियों ने अवतरण जैसी कोई चीज उपलब्ध नहीं की? प्रतीत होता है कि उन्हें गभीर अन्तर्दर्शन, अनुभव एवं साक्षात्कार तथा समाधि की ऊंची अवस्थाएं तो प्राप्त हुईं, किंतु उन्हें अवतरण की उपलब्धि होने की बात हमने कहीं नहीं पढ़ी।

उत्तर–यह हो सकता है कि लोगों को अवतरण प्राप्त तो हो और फिर भी यह पता न लगे कि यह अवतरण है क्योंकि वे केवल उसका परिणाम ही अनुभव करते है। साधारण योग आध्यात्मिक मन से परे नहीं जाता–लोग मूर्धा के शिखर पर ब्रह्म के साथ योग अनु-भव करते है, परन्तु उन्हें शिर से ऊपर की चेतना का पता नही होता। इसी प्रकार, साधा-रण योग में साधक जागृत निम्न चेतना (कुण्डलिनी) का ब्रह्मरन्ध्र की ओर आरोहण अनु-भव करते है जहां प्रकृति ब्रह्मचेतना से योग-युक्त हो जाती है, किंतु उन्हें अवतरण का अनु-भव नही होता। संभव है कि कुछ लोगों में ये चीजें आई हों लेकिन पता नहीं उन्होंने उनके स्वरूप, सिद्धांत अथवा पूर्ण साधना में उनके स्थान को समझा या नही। कम से कम, अपने निजी अनुभव मे उन्हें प्राप्त करने मे पहले मैंने दूसरों के मुख से उनकी चर्चा कभी नहीं सुनी। इसका कारण यह है कि प्राचीन योगी जब आध्यात्मिक मन से ऊपर जाते तो वे समाधि मे लीन हो जाते जिसका अर्थ यह है कि वे उन उच्चतर स्तरों में सचेतन होने का यत्न नही करते थे–उनका लक्ष्य होता था अतिचेतन मे प्रविष्ट होना न कि उसे जाग्रत् चेतना में उतार लाना जो कि मेरे योग का ध्येय है।

२६. ७. १९३५

पूर्णयोग में सिर से ऊपर की ओर आरोहण

पहले तो कोई पूछ सकता है कि तब भला यह क्यों न कहा जाय कि इस प्रकार से जिस जीवात्मा का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है वह शुद्ध "मैं" है जिसका अनुभव निम्नतर 'स्व' को होता है तथा जिसके द्वारा यह मोक्ष लाभ करता है। दूसरे, सिर से ऊपर के स्तरों में जाने की भला आवश्यकता ही क्या है? पहली बात तो यह है कि यह शुद्ध "मैं" मुक्ति के मध्यवर्ती साधन के रूप में अनिवार्यतः आवश्यक नही प्रतीत होता भले ही वह मुक्ति निर्वैयक्तिक आत्मा में हो अथवा ब्रह्म या और किसी सनातन सत्ता में। बौद्ध किसी अन्तरात्मा या आत्मा की सत्ता नही मानते न शुद्ध "मैं" के किसी अनुभव को ही स्वीकार करते हैं; उनकी प्रारंभिक प्रक्रिया यह है कि वे चेतना को संस्कारों के एक समूह में विलीन कर देते हैं, संस्कारों से छुटकारा प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वे किसी 'नित्य' में जिसका वर्णन करने से वे इन्कार करते हैं, अथवा किसी शून्य में जाकर मुक्त होते हैं। अतएव, जो सनातन में मोक्ष लाभ करना चाहता है पर आध्यात्मिक मन से परे ऊर्ध्व के उच्चतर प्रकाश में उठे विना इसे ही प्राप्त करके सन्तोष मानता है, उसके लिये शुद्ध "मैं" या जीवात्मा का अनुभव प्राप्त करना अनिवार्य नही है। स्वयं मुझे ब्रह्म में निर्वाण एवं निश्चल-नीरवता आदि का अनुभव शीर्षोत्तर आध्यात्मिक स्तरों का किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने से बहुत पहले ही प्राप्त हो गया था। प्रथम तो यह समस्त मानसिक, भाविक तथा अन्य आंतर क्रियाओं की पूर्ण निस्तब्धता और मानों उनके लोप के द्वारा ही प्राप्त हुआ। निःसंदेह, शरीर देखना, चलना-फिरना, बोलना तथा अपने अन्य कार्य करता रहा पर केवल एक शून्य स्वयंचालित यंत्र की भांति, बस यंत्र से अधिक वह कुछ नहीं था। किसी शुद्ध "मैं" का ज्ञान मुझे नहीं हुआ, यहां तक कि निर्वैयक्तिक या किसी और तरह की किसी आत्मा का भी नहीं,—मैं केवल इस तथ्य से सचेतन था कि एक 'तत्' है जो एकमात्र सद्वस्तु है तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ सर्वथा निःसार है, शून्य एवं असत्य है। यदि यह पूछा जाय कि उस सद्वस्तु को अनुभव करनेवाली सत्ता कौन-सी थी तो वह एक अनाम चेतना थी जो तत्[1] से भिन्न कुछ नहीं थी; शायद इस विषय में कोई ऐसा कह सकता है, यद्यपि इतना भी कहना कदाचित् संभव नहीं है, क्योंकि इसका कोई मानसिक प्रत्यय तो था ही नही, पर इससे अधिक तो कहा ही नहीं जा सकता। न मुझे इसकी सुध थी कि अमुक व्यक्तिगत नामवाली कोई निम्नतर आत्मा या बाह्य स्वं है जो निर्वाण-चेतना तक पहुंचने का यह करतब कर रहा है। अच्छा, तो फिर इस सब में तुम्हारे शुद्ध "मैं" और निम्नतर "मैं" की क्या अवस्था हो जाती है? चेतना

---

[1]ध्यान में रहे कि मैंने इन सब बातों को उस समय नहीं सोचा, उस अवस्था में विचार या प्रत्यय थे ही नहीं, न वे इस तरह किसी "मैं" के सामने उपस्थित ही हुए थे; बस यह केवल ऐसा ही था या स्वतः प्रत्यक्ष रूप में ऐसा था।

(चेतना का यह या वह भाग नहीं और न ही किसी प्रकार का "मैं") एकाएक अपने सभी आंतरिक चीजों से खाली हो गई और केवल इर्दगिर्द की मिथ्या चीजों तथा सत्य पर अनिर्वचनीय 'कुछ' से ही सचेतन रह गई। तुम कह सकते हो कि कोई ऐसी चेतना अवश्य विद्यमान रही होगी जो यदि शुद्ध "मैं" से नहीं तो किसी एक अनुभवित्री सत्ता से सचेतन होगी, पर, यदि ऐसा हो तो, वह कोई ऐसी चीज थी जिसके लिये ये नाम अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

मैं कह चुका हूं कि सामान्य आध्यात्मिक लक्ष्यों के लिये सिर से ऊपर आरोहण करना जरूरी नहीं है,—परन्तु हमारे योग के प्रयोजनों के लिये यह अनिवार्य है। कारण, इसका लक्ष्य है सत्य-चेतना से सज्ञान होना तथा उसके प्रकाश में संपूर्ण सत्ता को मुक्त, रूपांतरित एवं एकीभूत करना। वह सत्य चेतना ऊपर अवस्थित है और तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि मनुष्य पूर्ण रूप से अपने अंतर में, अपने परे तथा अपने ऊपर न चला जाय। समूचे रूप में मेरे मनोवैज्ञानिक निरूपणों की समस्त जटिलता का यही कारण है। मेरा निरूपण सार-रूप में तो नया नहीं है—क्योंकि इसमें से अधिकांश का उल्लेख उपनिषदों में तथा अन्यत्र पाया जाता है, किंतु अपने समग्र प्रतिपादन की पूर्णता तथा अपने पूर्ण योग-मुखी विकास-क्रम की दृष्टि से यह नया है। इसे स्वीकार करना किसी के लिये अनिवार्य नहीं जब तक कि उसका भी लक्ष्य यही न हो; अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये इसे स्वीकार करना अनावश्यक है और एक अतिरंजित मांग भी सिद्ध हो सकता है।

२२. ७. १९३७

स्तरों का एक-दूसरे में प्रवेश

निश्चय ही, स्तरों का एक दूसरे में प्रवेश मेरी दृष्टि में आध्यात्मिक अनुभव का एक प्रधान एवं आधारभूत अंग है। इसके बिना मेरी योगपद्धति तथा उसके लक्ष्य का अस्तित्व संभव नही हो सकता। कारण वह लक्ष्य उच्चतर चेतना को भूतल पर अभिव्यक्त, उपलब्ध या मूर्तिमंत करना है न कि इहलोक से विमुख होकर किसी उच्चतर भुवन या किसी परम 'केवल' में प्रवेश करना। प्राचीन योगों की (निश्चय ही सभी की नही) प्रवृत्ति इस दूसरे लक्ष्य की ओर थी—परंतु मेरी समझ में इसका कारण यह था कि उन्होंने भूलोक को जैसा कि यह है, किसी भी आध्यात्मिक जीव के लिये एक वस्तुतः अयोग्य स्थान अनुभव किया। उन्होंने देखा कि यहां परिवर्तन का प्रतिरोध इतना उग्र है कि उसका प्रतिकार करना संभव नही। पार्थिव प्रकृति उन्हें विवेकानंद की उपमा के अनुसार कुत्ते की दुम जैसी प्रतीत हुई जिसे जितनी बार भी सीधा कर लो फिर वह वैसी की वैसी टेढी हो जाती है। परंतु इस विषय में मूलभूत प्रस्थापना उपनिषदों ने सुनिश्चित रूप में घोषित कर दी थी। उन्होंने यहां तक कह डाला था कि पृथ्वी आधार है तथा अन्य सब लोक इस पृथ्वी पर ही (प्रतिष्ठित) हैं और इनमें किसी सुनिश्चित या समाधान न हो सकने लायक भेद की कल्पना

करना अज्ञान है: अवश्य ही दिव्य सिद्धि यहीं प्राप्त होनी चाहिये, कहीं और नहीं, किसी अन्य लोक में जाने पर नहीं। इस स्थापना का प्रयोग केवल वैयक्तिक सिद्धि का समर्थन करने के लिये किया जाता था किंतु उसी तरह यह एक अधिक व्यापक प्रयास का भी आधार हो सकती है।

१४. १. ३४

रूपांतर के विभिन्न स्तर

(१)

दिव्य चेतना के नाना स्तर हैं। रूपांतर के भी नाना स्तर हैं। पहला है चैत्य रूपांतर, जिसमें सब कुछ व्यक्ति की चैत्य चेतना के द्वारा भगवान् के संपर्क में रहता है। दूसरा है आध्यात्मिक रूपांतर जिसमें सब कुछ वैश्व चेतना के भीतर जाकर भगवान् में मिल जाता है। तीसरा है अतिमानसिक रूपांतर जिसमें सब कुछ दिव्य विज्ञान-चेतना में जाकर अतिमानसीकृत हो जाता है। इस पिछले रूपांतर से ही मन, प्राण और शरीर का 'पूर्ण' रूपांतर –पूर्णता के मेरे अर्थ में–आरंभ हो सकता है।

तुम्हारी बात दो दृष्टियों से गलत है। प्रथम, इस उपलब्धि के लिये प्रयास करना कोई नई बात नहीं है और मेरा विश्वास है कि कई योगी इसे प्राप्त भी कर चुके हैं–किंतु उस रूप में नहीं जिसमें मैं इसे प्राप्त करना चाहता हूं। उन्होंने इसे योगसिद्धि के द्वारा रक्षित एक वैयक्तिक सिद्धि के रूप में उपलब्ध किया था–प्रकृति के धर्म (भौतिक सत्ता के रूपांतर) के रूप में नहीं। दूसरे, अतिमानसिक रूपांतर और आध्यात्म-मानसिक रूपांतर एक ही वस्तु नहीं हैं। अतिमानसिक रूपांतर तन-मन-प्राण का एक ऐसा परिवर्तन है जिसे मानसिक या अधिमानसीय-आध्यात्मिक रूपांतर प्राप्त नहीं कर सकता। जिन व्यक्तियों का तुमने उल्लेख किया है वे सभी आध्यात्मिक थे पर भिन्न भिन्न रूपों में। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण का मन अधिमानस-भावापन्न (overmentalised) था, रामकृष्ण का अंतर्ज्ञानात्मक (intuitive), चैतन्य का आध्यात्म-चैत्य (Spiritual Psychic), बुद्ध का संबुद्ध उच्चतर मानसिक (Illumined higher mental)। विजय गोस्वामी के विषय में मैं नहीं जानता–ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें (मानसिक) उज्ज्वलता तो प्राप्त थी पर वे अपेक्षाकृत अस्तव्यस्त ही थे। ये सभी अतिमानसिक रूपांतर से भिन्न हैं। अब परमहंसों के प्राण के विषय में। यह कहा जाता है कि उनका प्राण या तो बालवत् (रामकृष्ण की भांति) व्यवहार करता है या उन्मत्तवत् अथवा पिशाचवत् या जड़वत् (जड़भरत की भांति)। अच्छा, पर इस सब में अतिमानसिक तो कुछ भी नहीं है।...तब?...

इन रूपांतरों में से किसी के भी द्वारा मनुष्य भगवान् का यंत्र बन सकता है। पर प्रश्न यह है कि यंत्र किस कार्य के लिये?

अप्रैल १९३५

(२)

परमहंस-स्थिति प्राप्ति का एक विशेष स्तर है, वैसे ही अन्य स्तर भी है जो इससे नीचे या ऊंचे माने जाते है। उनके अपने स्थान में मुझे उनके प्रति कोई आपत्ति नहीं। परंतु मैं तुम्हे पुनः स्मरण करा दू कि मेरे योग में सव प्राणिक चेष्टाओं को अंतरात्मा तथा आध्यात्मिक स्थिरता, ज्ञान एवं शांति के प्रभाव के अधीन करना आवश्यक है। यदि वे अंतरात्मा या आध्यात्मिक नियंत्रण का विरोध करें तो वे संतुलन को उलट सकती तथा रूपांतर के आधार के निर्माण में वाधा डाल सकती हे। यदि असंतुलन अन्य मार्गो के लिये अच्छा हो तो इसे वही जानें जो उनका अनुसरण करते है। मेरे मार्ग के लिये तो यह उपयुक्त नही है।

मई १९३५

परंपरागत मार्ग और अतिमानसिक रूपांतर

तुम वैष्णव-तांत्रिक परंपराओं का,–चैतन्य, रामप्रसाद, रामकृष्ण का दृष्टांत देते हो। इनके विषय में मै भी कुछ जानता हूं और यदि मैंने इन्हें दुहराने की चेष्टा नहीं की तो वह इसलिये कि मुझे इनमे वह समाधान, वह समन्वय दिखाई नहीं देता जिसकी मैं खोज कर रहा हूं। तुम्हारा दिया हुआ रामप्रसाद का उद्धरण मुझे तनिक भी सहायता नही करता और न इससे तुम्हारे सिद्धांत या मत की पुष्टि होती है। रामप्रसाद साकार नही वरन् निराकार एवं अगोचर भगवान् की चर्चा कर रहे है–अथवा उनके भगवान् यदि गोचर हैं भी तो केवल सूक्ष्म रूप में आंतर अनुभूति के लिये ही। जव वे कहते है कि मै मां के विरुद्ध अपने अधिकार या अभियोग की तव तक स्थापना करता रहूंगा जव तक वे मुझे अपनी गोद में नही ले लेंगी तो वे किसी वाह्य प्राणिक या भौतिक संपर्क की नही वल्कि आंतर चैत्य अनुभव की वात कर रहे हैं; स्पष्ट ही, वे इस वात के विरुद्ध विद्रोह कर रहे है कि क्यों मां उन्हें वाह्य प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति में रखे हुए है और वे आग्रह करते है कि वे उन्हें चैत्य आध्यात्मिक स्तर पर अपने साथ आध्यात्मिक मिलन में उठा ले जायं।

यह सब बहुत अच्छा और वहुत सुंदर है। पर यह पर्याप्त नहीं है: निःसंदेह, मिलन पहले आंतर चैत्य-आध्यात्मिक अनुभव मे ही प्राप्त करना है, क्योंकि इसके विना सुदृढ़ या स्थायी रूप से कुछ भी संपन्न नही हो सकता। परंतु साथ ही वाह्य चेतना और जीवन में, प्राणिक और भौतिक स्तरों में भी उनकी ही अपनी मौलिक धारा के अनुसार भगवान् की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये। तुम यही मांग रहे हो यद्यपि तुम्हारा मन इसे नही समझता और न यह जानता है कि इस कार्य को कैसे संपन्न किया जाय, और मैं भी यही चाहता हूं; पर मै प्राणिक रूपांतर की आवश्यकता अनुभव करता हूं, जव कि तुम यह सोचते और मांग रहे दीखते हो कि यह विना किसी आमूल रूपांतर के साधित हो जाय और प्राण को वैसे

का वैसा ही छोड़ दिया जाय। प्रारंभ में, अतिमानस का रहस्य जानने से पहले, स्वयं मैंने भी, प्राण के साथ आध्यात्मिक चेतना का एक संबंध जोड़कर समन्वय खोज निकालने का यत्न किया था, परंतु मेरा अनुभव तथा सभी के अनुभव यही बताते हैं कि इससे हम किसी भी निश्चित एवं परम परिणाम पर नहीं पहुंच सकते; हम जहां से चलते हैं बस वहीं रह जाते हैं—मानव प्रकृति के दो ध्रुवों के ठीक मध्य में। एक संबंध ही पर्याप्त नहीं है, रूपांतर अनिवार्य है।

बाद की वैष्णव भक्ति की परंपरा यह है कि मानव प्रेम को भगवान् की ओर मोड़कर प्राणिक आवेगों को प्रेम के द्वारा उदात्त करने का यत्न किया जाय। इसने प्रबल और उत्कट यत्न किया और अनेक समृद्ध एवं सुंदर अनुभव प्राप्त किये। किंतु इसकी दुर्बलता भी ठीक वहीं थी, यह अंतःस्थ भगवान् की अंतरनुभूति के रूप में ही उपयोगी बनी रही, पर वहीं रुक भी गई। चैतन्य का प्रेम तीव्र उदात्तीकृत प्राणिक अभिव्यक्ति से युक्त चैत्य दिव्य प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। परंतु जिस क्षण वैष्णव धर्म ने, उनके पहले या बाद, अधिक बहिर्मुखीकरण (Externalisation) का यत्न किया तब जो हुआ वह हम जानते ही हैं—प्राणावेशमय अधोगति, अत्यधिक भ्रष्टता और ह्रास। चैत्य या दिव्य प्रेम के विरोध में तुम चैतन्य के उदाहरण की दुहाई नहीं दे सकते; उनका प्रेम निरी प्राणिक-मानवीय वस्तु नहीं था; अपने बाह्य रूप में न सही पर अपने सार रूप में वह बहुत कुछ उस रूपांतर का प्रारंभ था जिसकी हम साधकों से अपेक्षा करते हैं, इसलिये कि वे अपने प्रेम को चैत्य प्रेम का रूप दें और प्राण को अपने लिये नहीं बल्कि आत्मिक उपलब्धि को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त करें। यह प्रारंभिक पग है और शायद कुछ लोगों के लिये पर्याप्त हो सकता है; क्योंकि हम हर एक व्यक्ति से अतिमानसिक बनने के लिये नहीं कह रहे हैं। किंतु भौतिक स्तर पर किसी भी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अतिमानसिक रूपांतर अनिवार्य है।

पीछे की वैष्णव परंपरा में साधना का रूप यह हो जाता है कि मानवीय प्राणिक प्रेम को इसकी सभी प्रधान धाराओं में भगवान् की ओर लगाया जाय; विरह, अभिमान, यहां तक कि पूर्ण वियोग (जैसे कृष्ण का मथुरा को प्रयाण) इस योग के प्रमुख अंग बना लिये जाते हैं। परंतु यह सब—स्वयं साधना में, वैष्णव कविताओं में नहीं—केवल एक मार्ग के रूप में ही अभिमत था जिसका अंत मिलन या पूर्ण एकत्व है। किंतु कुछ लोग अशुभ तत्त्वों पर जो बल देते हैं उससे तो प्रायः यही जान पड़ेगा कि कलह, वियोग और अभिमान इस प्रकार के प्रेमयोग का यथार्थ लक्ष्य नहीं तो संपूर्ण साधन-क्रम अवश्य हैं। और फिर, यह विधि मूर्त्त-देहधारी भगवान् के लिये नहीं, बल्कि केवल अंतःस्थ भगवान् के लिये प्रयुक्त की जाती थी और भगवान् की खोज में अंतश्चेतना की कुछ एक विशेष अवस्थाओं एवं प्रतिक्रियाओं की ओर संकेत करती थी। मूर्त्त भागवत अभिव्यक्ति अर्थात् मूर्त्तिमान् भगवान् के साथ के

संवंधों में, या, मैं यह भी कह दूं कि गुरु के साथ शिष्य के संवंधों में, मनुष्य की अपूर्णता के परिणामस्वरूप ऐसी चीजें पैदा हो सकती है किंतु ये संवंधों के सिद्धांत का अंग नहीं वनाई गई थी। मेरे विचार में ये गुरु के साथ भक्तों के संवंधों का नियमित और स्वीकृत अंग नही थीं। गुरुवाद में गुरु-शिष्य-संवंध सदा पूजा, सम्मान, पूर्ण एवं सहर्ष विश्वास, और मार्गनिर्देश की शंकारहित स्वीकृति का संवंध माना जाता है। मूर्त्तिमान् भगवान् के साथ व्यवहार में अरूपांतरित प्राणिक संवंधों का प्रयोग करने से ऐसी प्रवृत्तियां उत्पन्न हो सकती है तथा हुई हैं जो योग की प्रगति में सहायक नही होतीं।

रामकृष्ण के योग का उद्देश्य भी केवल अंतःस्थ भगवान् की उपलब्धि ही था,—इससे कम नहीं, पर इससे अधिक भी नहीं। मेरा विश्वास है कि रामकृष्ण का वह वचन जो भगवान् के लिये सब कुछ न्योछावर करनेवाले साधक के भगवान् पर किये गये दावे के संवंध में है, वाह्य नही वरन् आंतरिक दावे का स्थापक था, किसी मूर्त्त-देहधारी भगवान् पर नहीं वरंच अंतःस्थ भगवान् पर किये गये दावे का समर्थक था: यह पूर्ण आध्यात्मिक मिलन का दावा था, भगवत्प्रेमी भगवान् को खोजता है परंतु भगवान् भी अपने आपको दे देता है और भगवत्प्रेमी से मिलता है। इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती; ऐसा दावा भगवान् के सभी जिज्ञासु करते हैं; परंतु जहां तक इस दिव्य मिलन के स्वरूप का संवंध है वह हमें वहुत दूर नहीं ले जाता। जो हो, मेरा लक्ष्य भौतिक स्तर पर सिद्धि प्राप्त करना है और मैं केवल रामकृष्ण के ही कार्य को दुहराने के लिये सहमत नहीं हो सकता। मुझे यह भी याद पड़ता है कि दीर्घकाल तक वे अपने अंतर में ही लीन रहे थे और उनका सारा जीवन अपने शिष्यों के साथ ही नहीं वीता था। अपनी सिद्धि उन्हें पहले-पहल एकांतवास में प्राप्त हुई थी और जव वे वाहर आये तथा हर किसी से मिलने-जुलने लगे तो इससे कुछ वर्षों में ही उनका शरीर क्षीण हो गया। मेरी समझ में इसपर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी; क्योंकि जव केशव चंद्र मरणासन्न थे तव उन्होंने यह सिद्धांत घोषित किया था कि आध्यात्मिक अनुभव से शरीर क्षीण हो जाता है। परंतु साथ ही, जव उनसे पूछा गया कि आपको गले की वीमारी क्यों हुई तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह मेरे शिष्यों के उन पापों का परिणाम है जो उन्होंने मुझपर डाल दिये हैं और जो मुझे निगलने पड़े हैं। उनकी भांति केवल आंतरिक मुक्ति से संतुष्ट न होने के कारण मैं ये विचार या ये परिणाम स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह मुझे भौतिक स्तर पर भगवान् और साधक का सफल मिलन जैसा नहीं प्रतीत होता, अंतर्जीवन के लिये यह चाहे कितना भी सफल रहा हो। श्रीकृष्ण ने महान् कार्य किये और, अत्यंत स्पष्ट रूप में, वे भगवान् के अवतार थे। परंतु मुझे महाभारत का एक स्थल स्मरण है जिसमें वे शिकायत करते है कि मेरे अनुयायियों तथा उपासकों ने मेरे जीवन को अशांत वना दिया है, वे वार वार मांगें पेश करते, भर्त्सना करते तथा अपनी असंस्कृत प्राणिक प्रकृति मुझपर फेंकते हैं। गीता मे वे इस मानवीय जगत् को अनित्य तथा दुःखमय बताते

हैं और अपने दिव्य कर्म के सिद्धांत के होते हुए भी लगभग यही मानते प्रतीत होते हैं कि आखिर इसे त्याग देना ही सर्वोत्तम समाधान है। अतीत की परंपराएं, अतीत काल में, अपने स्थान पर अत्यंत महान् थीं, परंतु मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि हम क्यों केवल उन्हें ही दुहरायें और उनसे और आगे न बढ़ें। भूतल पर चेतना के आध्यात्मिक विकास में महान् भूत के बाद महत्तर भविष्य अवश्य आना चाहिये।

एक विधान है जिसकी तुम सब सर्वथा उपेक्षा करते दीखते हो—वह है भौतिक स्तर पर स्थूल अभिव्यक्ति तथा दिव्य उपलब्धि की कठिनाइयों का होना। अधिकांश लोगों को यह एक सरल विकल्प प्रतीत होता है कि या तो भगवान् पूर्ण शक्ति के साथ उतर आयें और कार्य संपन्न हो जाय, कोई कठिनाई न हो, कोई आवश्यक शर्तें न हों, कोई नियम या प्रक्रिया न हो, बस हो केवल चमत्कार तथा जादू, या फिर, वह भगवान् नहीं हो सकता। फिर, तुम सभी (या प्रायः सभी) भगवान् के मनुष्य बनने तथा मानवी चेतना में रहने पर आग्रह करते हो और तुम मनुष्य को दिव्य बनाने के किसी भी प्रयत्न का विरोध करते हो। दूसरी ओर, यदि मानवीय कठिनाइयां उपस्थित हों, यदि शरीर पर बहुत श्रम पड़े, विरोधी शक्तियों के साथ हार-जीत से भरा संघर्ष हो, यदि विघ्न-बाधाएं और रोग आवें तो हम निराशा, व्याकुलता, अविश्वास और संभवतः रोष के मारे चीख पड़ते हैं और कुछ लोग तो कहने लगते हैं, "ओह, यहां पर भगवान् नाम की कोई चीज नहीं है!"—मानों कोई अरूपांतरित वैयक्तिक मानवीय चेतना के साथ अपना संबंध बदले बिना, प्राणिक और शारीरिक तौर पर इसी चेतना में रहता हुआ तथा इसकी मांगें पूरी करता हुआ भी सभी परिस्थितियों एवं सभी अवस्थाओं में आयास, संघर्ष और रोग से मुक्त रह सकता हो। यदि मैं मानव चेतना को दिव्य बनाना चाहता हूं, यदि मैं भौतिक स्तर के रूपांतर के लिये इसके भीतर अतिमानसिक चेतना, सत्य-चेतना, ज्योति तथा शक्ति को उतारना और यहां सत्य, ज्योति, शक्ति, आनंद एवं प्रेम का विपुल वैभव उत्पन्न करना चाहता हूं तो इसके प्रतिक्रियास्वरूप विकर्षण, भय, अनिच्छा या यह संदेह देखने में आता है कि क्या यह संभव भी है। एक ओर तो यह मांग है कि रोग, शोक आदि का आना असंभव हो जाय, दूसरी ओर उस एक-मात्र अनिवार्य अवस्था का ही उग्र परित्याग किया जाता है जिसमें ये चीजें संभव हो सकती हैं। मैं जानता हूं कि यह मानवीय प्राणिक मन की स्वभावगत असंगति है जिसके कारण वह एक साथ दो असंगत तथा बेमेल चीजों की इच्छा करता है; परंतु यह भी एक कारण है जिससे हम कहते हैं कि मनुष्य को रूपांतरित कर उसके स्थान पर कुछ अधिक प्रकाशमय वस्तु स्थापित करना आवश्यक है।

परंतु क्या भगवान् कोई ऐसी भीषण, भयावह या विकर्षक वस्तु है कि भौतिक स्तर में इसके प्रविष्ट होने तथा मानव को दिव्य बनाने के विचार से ही ऐसी जुगुप्सा, अस्वीकृति, विद्रोह या भय का भाव पैदा हो? यह तो मेरी समझ में आ सकता है कि असंस्कृत प्राण,

जो अपने तुच्छ सुख-दुःखों तथा जीवन के क्षणिक अज्ञ नाटक में आसक्त है, अपने को बदलने-वाली वस्तु से कतराए। किंतु एक ईश्वरप्रेमी, ईश्वर को खोजनेवाले या साधक को भला चेतना के दिव्यीकरण से डरने की क्या जरूरत है? वह जिस वस्तु को खोजता है उसके साथ प्रकृति की एकाकारता प्राप्त करने में उसे क्यों आपत्ति होनी चाहिये, वह क्यों सादृश्य-मुक्ति से मुंह मोड़े? इस भय के मूल में साधारणतया दो कारण होते हैं: प्रथम, प्राण को ऐसा लगता है कि वह अब तमोवृत, अपक्व, पंकिल, अहंभावमय, अपरिष्कृत (अध्यात्मतः) और उत्तेजक कामनाओं, तुच्छ सुखों एवं रोचक दुःखों (क्योंकि यह इनका स्थान लेनेवाले आनंद से भी डरता है) से पूर्ण नहीं रह सकेगा। दूसरा, मन का यह एक धुंधला अज्ञ विचार है–मेरे मत से, इसका कारण संन्यासमार्गीय परंपरा है–कि दिव्य प्रकृति कोई उदासीन, नग्न, शून्य, कठोर और एकाकी वस्तु है तथा इसमें अहंभावमय मानवीय प्राणिक जीवन के भव्य ऐश्वर्य का अभाव है। मानों दिव्य प्राण का अस्तित्व ही नहीं है और मानों अभी-तक-इतनी-अपूर्ण मानव सृष्टि के वर्तमान, अशक्त, पीड़ित, क्षुद्रतः और क्षणिकतः उत्तेजित तथा शीघ्र-श्रांत प्राण की अपेक्षा वह दिव्य प्राण स्वयं सौंदर्य, प्रेम, तेज, उष्णता, अग्नि, तीव्रता और दिव्य संवेग, एवं आनंद धारण करने की सामर्थ्य से अनंतगुना अधिक पूर्ण नहीं है और जब वह प्रकट होने के साधन प्राप्त कर लेगा तो इस भूलोक के जीवन को भी ऐसा ही नहीं बना देगा।

परंतु तुम कहोगे कि तुम भगवान् से पराङ्मुख नहीं होते हो, बल्कि उन्हें तो तुम स्वीकार करते हो और उन्हें प्राप्त करना चाहते हो (हां, यदि वे अति दिव्य न हों), किंतु जिसपर तुम्हें आपत्ति है, वह तो अतिमानस है–विशाल, दूरस्थ, अगम, अगोचर, एक प्रकार का कठोर निराकार ब्रह्म। इस प्रकार वर्णित अतिमानस एक ऐसा भूत-प्रेत है जिसकी रचना तुम्हारे प्राणिक मन के इस भाग ने अपने को डराने तथा अपनी वृत्ति को उचित सिद्ध करने के लिये की है। इस विचित्र वर्णन के पीछे यह विचार प्रतीत होता है कि अतिमानस उस वैदांतिक निराकार, अनिर्देश्य परब्रह्म का नया विवरण है जो बृहत्, महान्, उदासीन, रिक्त, सुदूर, सर्वापहारी एवं सर्वाभिभावी है; वास्तव में वह बिलकुल वही नहीं है, क्योंकि वह पृथ्वी पर अभिव्यक्त हो सकता है, किंतु सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये यह भी ठीक उतना ही बुरा है! यह विचित्र बात है कि अतिमानस के स्वरूप के संबंध में अपना अज्ञान स्वीकार करते हुए भी तुम अपने मन की इन दशाओं में केवल यह सुनिश्चित घोषणा ही नहीं करते कि यह कैसा है, बल्कि इसके विषय में मेरे अनुभव का बलपूर्वक इन शब्दों में खंडन करते हो कि यह व्यावहारिक दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं है या यह मेरे सिवा और किसी के लिये सत्य नहीं है! मैंने आग्रह नहीं किया है, मैंने केवल तुम्हें प्रसंगवश उत्तर दिया है क्योंकि मैं तुम्हें अभी अ-मानवीय तथा दिव्य होने को नहीं कह रहा हूं, अतिमानसिक की तो बात ही दूर रही; पर जब तुमपर उदासी आदि के ये आक्रमण होते हैं तो तुम सदा इसी विषय पर आ जाते हो और इसे अपने अवसाद की धुरी–या कम से कम एक मुख्य

आधार—बना लेते हो, अतः मुझे उत्तर देना पड़ रहा है। अतिमानस बृहत्, दूरस्थ, उदासीन और कठोर नहीं है; यह पूर्ण प्राणिक तथा शारीरिक अभिव्यक्ति के विपरीत या उससे असंगत भी नहीं है। प्रत्युत, यह भूतल पर प्राणिक शक्ति तथा शारीरिक जीवन के पूर्ण वैभव की एकमात्र संभावना को अपने अंदर वहन करता है। चूंकि यह ऐसा ही है, चूंकि यह मेरे सामने इसी रूप में प्रकाशित हुआ था, इसी कारण, अन्य किसी कारण से नहीं, मैंने इसका तब तक अनुसंधान किया और इसके लिये अध्यवसाय करता रहा जब तक मैं इसके संपर्क में नहीं आ गया और इसकी कुछ शक्ति तथा इसका प्रभाव नीचे उतार लाने में समर्थ नहीं हो गया। मुझे इस भूतल से मतलब है, इससे परे के लोक अपने आपमें मेरे लिये कुछ महत्त्व नहीं रखते; मुझे पार्थिव उपलब्धि की चाह है, सुदूर शिखरों की उड़ान की नहीं। अन्य सब लोग इस जीवन को माया या क्षणिक अवस्था मानते हैं; केवल अतिमानसिक योग ही इसे एक ऐसी वस्तु मानता है जिसे भगवान् ने बढ़ती हुई अभिव्यक्ति के लिये बनाया है और इसका लक्ष्य है जीवन तथा शरीर की परिपूर्णता। अतिमानस बस सत्य-चेतना है और अपने अवतरण के साथ यह जड़तत्त्व के अंदर जीवन का पूर्ण सत्य तथा चेतना का पूर्ण सत्य लाता है। अवश्य ही, इसे प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को ऊंचे शिखरों पर चढ़ना होगा, परन्तु जितना ही ऊंचा वह चढ़ेगा उतना ही अधिक वह सत्य को नीचे उतार सकेगा। इसमें संदेह नहीं कि जीवन और शरीर को वैसे ही अज्ञ, अपूर्ण एवं अशक्त नहीं रहना है जैसे कि वे आज हैं; परंतु पूर्णतर जीवन-शक्ति तथा पूर्णतर देह-शक्ति में परिवर्तित होने को एकाकी, उदासीन एवं अवांछनीय वस्तु क्यों समझा जाय? शरीर और जीवन आज जिस अधिकतम आनंद को प्राप्त करने में समर्थ हैं वह प्राणिक मन, स्नायुओं या कोषों का अल्पकालिक उत्तेजन है जो सीमित एवं अपूर्ण है तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतिमानसिक परिवर्तन के द्वारा सभी कोष, स्नायु, प्राणिक शक्तियां और देहस्थित मानसिक शक्तियां हजारगुना आनंद से परिपूरित हो सकती हैं, आनंद की एक ऐसी प्रगाढ़ता को धारण करने के योग्य बन सकती हैं जिसका न तो वर्णन ही हो सकता है और न जो क्षीण ही हो सकती है। यह फिर अलग-सा, विकर्षक और अवांछनीय कैसे हुआ! अतिमानसिक प्रेम का अर्थ है आत्मा की आत्मा के साथ, मन की मन के साथ, प्राण की प्राण के साथ प्रगाढ़ एकता, एकता के भौतिक अनुभव के द्वारा शरीर-चेतना का पूरी तरह भर जाना, अंग-प्रत्यंग में, शरीर के प्रत्येक कोषाणु में प्रियतम की उपस्थिति। क्या यह भी कोई दूरस्थ, महत् पर अवांछनीय वस्तु है? अतिमानसिक परिवर्तन के द्वारा, ठीक वही वस्तु जिसका तुम आग्रह करते हो, अर्थात् शक्तियों के संघर्ष तथा अवांछनीय प्रतिक्रियाओं के बिना साधक के साथ साकार भगवान् के स्वतंत्र भौतिक मिलन की संभावना, साध्य, निश्चित तथा उन्मुक्त हो जाती है। यह भी शायद दूरस्थ और अवांछनीय वस्तु है? मैं पृष्ठ पर पृष्ठ लिख सकता हूं परंतु अभी इतना ही पर्याप्त है।

विगत और आगामी आध्यात्मिक विकास

साधारणतया मुझे पुस्तकें पढ़ने का समय नही मिलता। पुस्तके भी मै कदाचित् ही रखता था और अब तो बिलकुल नही रखता। विजय गोस्वामी की साधना से मुझे कोई प्रेरणा प्राप्त नही हुई, यद्यपि रामकृष्ण और विवेकानद से मुझे एक समय पर्याप्त प्रेरणा मिली। मेरे कथन का अभिप्राय इतना ही था कि मनुष्यजाति के तथा विशेपतः भारत के आध्यात्मिक इतिहास को मै दिव्य प्रयोजन का एक निरंतर विकास मानता हूं, न कि एक पुस्तक जो पूरी हो चुकी है और जिसकी पंक्तियों को सदा दुहराते रहना चाहिये। यहां तक कि उपनिषद् तथा गीता भी अंतिम पुस्तकें नही है भले ही उनमें हर एक चीज बीज-रूप में क्यो न विद्यमान हो। इस क्रमविकास में भारत का आधुनिक आध्यात्मिक इतिहास अति महत्त्वपूर्ण अवस्था को सूचित करता है और जिन नामों का मैंने उल्लेख किया था वे उस समय मेरे मन मे अधिक प्रधान रूप में उपस्थित थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि वे उन सरणियों या लीकों की ओर निर्देश कर रहे है जिनपर भावी आध्यात्मिक विकास को बिलकुल सीधे ही चलना है, ठहरना नही है बल्कि चलते ही जाना है। मै नहीं समझता कि जो भाषा तुम सुझा रहे हो उसमे मै ठीक-ठीक अपना अर्थ प्रकट कर सकता हूं। मैं यह भी कह सकता हूं कि भावी मानवजाति के लिये किसी नये या पुराने धर्म का प्रचार करना मेरे लक्ष्य से बाहर की वस्तु है। इस विषय में मेरी धारणा यह है कि अभी तक रुके पड़े मार्ग को खोलने की जरूरत है न कि किसी धर्म की स्थापना करने की।

१८. ८. १९३५

गीता का योग और पूर्णयोग

हमारा योग ठीक गीता के योग के समान ही नही है, यद्यपि गीता के योग की सभी सार बातें इसमें आ जाती है। अपने योग मे हम पूर्ण समर्पण के विचार, संकल्प एवं अभीप्सा से आरंभ करते हैं; पर साथ ही हमे निम्न प्रकृति का परित्याग करना, अपनी चेतना को उससे मुक्त करना तथा उच्च प्रकृति के स्वातंत्र्य की ओर उठनेवाली आत्मा के द्वारा निम्न प्रकृति मे डूबे हुए आत्मा का उद्धार करना है। यदि हम यह दोहरा प्रयत्न न करें तो भय है कि कही हम तामसिक और फलतः मिथ्या समर्पण ही न कर बैठें, किसी प्रकार की भी तपश्चर्या और पुरुषार्थ न करे और परिणामतः हमारी कुछ भी उन्नति न हो। अथवा, यह भी संभव है कि हम भगवान् के प्रति नही बल्कि भगवद्-विषयक किसी स्व-कल्पित मिथ्या धारणा या उनकी एक वैसी ही प्रतिमा के प्रति राजसिक समर्पण कर बैठें, जो हमारे राजसिक अहं को, अथवा उससे भी निकृष्ट किसी वस्तु को अपने अंदर छिपाये रहती है।

गीताकृत समन्वय और पूर्ण अतिमानसिक सत्य

अनेक विपयों में गीता की भाषा कभी कभी स्व-विरोधी प्रतीत होती है क्योंकि यह दो

आपाततः विरोधी सत्यों को स्वीकार कर लेती और उन्हें समन्वित करने का यत्न करती है। संसार का त्याग कर ब्रह्म में लीन होने के आदर्श को यह एक संभावना के रूप में स्वीकार करती है; साथ ही भगवान् में (गीता के अपने शब्द हैं–'मुझ' में) मुक्त भाव से निवास करने तथा जगत् में जीवन्मुक्त की भांति कर्म करने की संभावना को भी यह प्रस्थापित करती है। इस पिछली कोटि के समाधान पर ही यह सर्वाधिक बल देती है। इसीलिये रामकृष्ण "दिव्य आत्माओं" (ईश्वरकोटि) को जो सीढ़ी पर से उतर सकती हैं और फिर ऊपर चढ़ सकती हैं, जीव कोटि की आत्माओं से जो एक बार ऊपर चढ़ चुकने के बाद भगवत्कार्य के लिये फिर उतर नहीं सकती, श्रेष्ठ मानते हैं। पूर्ण सत्य तो अतिमानसिक चेतना में तथा वहां से जीवन एवं जड़तत्त्व पर कार्य करने की शक्ति में ही निहित है।

कर्म और पूर्णयोग

पुराने योगों के सत्य को मैंने कभी अस्वीकार नहीं किया है–मुझे स्वयं वैष्णव भक्ति तथा ब्रह्मनिर्वाण का अनुभव हुआ है। उनके अपने ही क्षेत्र में अपने अनुभव और पहुंच के अनुसार तथा उनके अपने ही प्रयोजन के लिये उनका सत्य मैं अंगीकार करता हूं–यद्यपि उस अनुभव पर आधारित मानसिक दर्शनशास्त्रों का सत्य स्वीकार करने को मैं किसी प्रकार भी बाध्य नहीं। उसी तरह मैं देखता हूं कि मेरा योग अपने ही क्षेत्र में–जो मेरी समझ में अधिक व्यापक क्षेत्र है–तथा अपने ही प्रयोजन के लिये सच्चा है। पुराने योगों का प्रयोजन है जीवन को त्याग कर भगवान् को पाना–अतः स्पष्ट ही है कि हमें कर्म छोड़ देने चाहियें। इस नये योग का प्रयोजन है भगवान् को पाना तथा जो कुछ प्राप्त हो वह सारे का सारा जीवन में उतार लाना–इसके लिये कर्मयोग (कर्मों द्वारा योग) अनिवार्य है। मुझे लगता है, इसमें कोई रहस्य की बात या किसी को चकरानेवाली कोई बात नहीं है–यह युक्तियुक्त एवं अवश्यंभावी है। तुम्हारा कहना इतना ही है कि यह असंभव है; पर यह तो ऐसी बात है जो प्रत्येक काम के बारे में उसके सिद्ध होने से पहले कही जाती है।

मैं यह भी बता दूं कि कर्मयोग नया नही वरन् बहुत पुराना योग है; गीता कोई कल तो लिखी नहीं गयी थी और कर्मयोग गीता से भी पहले विद्यमान था। तुम्हारा यह विचार बड़ा ही संक्षिप्त तथा अधकचरा है कि, 'गीता में कर्मों के पक्ष में एकमात्र युक्ति यह दी गई है कि यह सब अनिवार्य बखेड़ा है, अतः अच्छा यह है कि इसका उत्तम से उत्तम उपयोग किया जाय'। यदि इतनी ही बात होती तो गीता एक मूर्ख की कृति होती और मेरा इस पर दो जिल्दें लिखना या संसार का इसे एक बहुत बड़े धर्मग्रंथ के रूप में, विशेषकर इसने आध्यात्मिक पुरुषार्थ में कर्मों को जो स्थान दिया है उसके लिये, पढ़ना किसी तरह भी उचित न ठहरता। अवश्य ही गीता में इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। अस्तु, तुम्हारे ये संदेह कि क्या कर्मों से सिद्धि प्राप्त होना संभव है या यूं कहें कि ऐसी संभावना

से तुम्हारा साफ इन्कार करना उन लोगो के अनुभव का विरोध करता है जो इस असंभव मानी हुई चीज की प्राप्ति कर चुके है। तुम कहते हो कि कर्म चेतना को नीचे के स्तर मे उतार लाता है, तुम्हे अंतश्चेतना से बहिश्चेतना मे ले आता है–हां, पर यदि तुम्ही अंदर से काम करने के स्थान पर कर्म मे अपने को वहिर्मुख करना स्वीकार कर लो; यही वह चीज है जिसे नही करना मनुष्य को सीखना है। विचार और भाव भी व्यक्ति को इमी प्रकार वहिर्मुख कर सकते है, पर यह तो अन्तश्चेतना में निवास करते हुए शेप मारी सत्ता को उसका यत्र-वनाकर विचार, भाव तथा कर्म को दृढतापूर्वक उस चेतना के साथ जोड़ देने का प्रश्न है। कठिन? पर भक्ति भी कहां सुगम है और निर्वाण तो वहुत से लोगों के लिये उससे भी अधिक कठिन है।

मेरी समझ मे नही आता कि तुम मानवहितवाद, कर्मवाद, परोपकारमय सेवा आदि को क्यो वीच मे खीच लाते हो। इनमे से कोई भी चीज न तो मेरे योग का अंग है और न मेरे कर्मो से मेल ही खाती है, अत. इनसे मुझपर कोई असर नही पड़ता। मैने यह कभी नही सोचा कि राजनीति से अथवा गरीवो को भोजन खिलाने या सुदर कविताएं लिखने से सीधे वैकुण्ठ या परव्रह्म की प्राप्ति हो जायगी। यदि ऐसा होता तो एक ओर रमेश दत्त तथा दूसरी ओर वोदलेअर (Baudelaire) परम धाम पहुंचने तथा वहा हमारा स्वागत करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति होंगे। स्वयं कर्म का वाह्य रूप या वाह्य चेष्टामात्र नही, वल्कि उसके मूल में निहित चेतना एवं भगवन्मुख सकल्प ही कर्मयोग का सार है। कर्म तो कर्मो के स्वामी से मिलन प्राप्त करने का आवश्यक साधनमात्र है, वह अविद्या के सकल्प एवं वल से निकलकर प्रकाश के शुद्ध संकल्प एव शक्ति-सामर्थ्य की ओर जाने का मार्ग है।

अंत मे, तुम यह कल्पना ही क्यो करते हो कि मै ध्यान या भक्ति के विरुद्ध हूं। मुझे इसमे तनिक भी आपत्ति नही कि तुम इनमे से किसी एक को या दोनो को भगवत्प्राप्ति के साधन के रूप में अपनाओ। मैं कर्मो की पुष्टि केवल इसलिये करता हूं कि मुझे इसमे कुछ कारण नही दीखता कि कोई कर्मो के विषय मे विवाद उठावे और उन लोगों के उपलब्ध सत्य को इन्कार करे जिन्होने, गीता के कथनानुसार, कर्मो द्वारा पूर्ण सिद्धि तथा भगवत्साधर्म्य (भगवान् की प्रकृति से एकरूपता), ससिद्धि साधर्म्यम्, प्राप्त किया है (जैसे जनक तथा दूसरे योगियो ने किया)–केवल इसलिये इन्कार करे कि वह स्वय कर्मो का गहनतर रहस्य नही जान पाता या अभी तक नही जान पाया है।

२३ १२. १९३४

कर्म और ध्यान

एकाग्रता और ध्यान एक ही वस्तु नही है। कोई कर्म या भक्ति मे भी एकाग्र हो सकता है और उसी प्रकार ध्यान मे भी ..... यदि मै अपने समय का नौ-दशाश एकाग्रता मे लगाता

और कर्म के लिये कुछ भी न लगाता तो उसका परिणाम भी इतना ही असंतोषजनक होता। मेरी एकाग्रता एक विशेष कार्य के लिये है–यह जीवन से विच्छिन्न ध्यान के लिये नहीं है। जब मैं एकाग्र होता हूं, तब दूसरों पर, जगत् पर तथा शक्तियों की क्रीड़ा पर कार्य करता हूं। मेरे कहने का मतलब यह है कि सारा समय चिट्ठियों के पढ़ने-लिखने में व्यय करना उक्त प्रयोजन के लिये पर्याप्त नहीं। मैं ध्यानशील संन्यासी बनने के लिये नहीं कह रहा हूं।

....इसका यह अर्थ नहीं कि चिट्ठी-पत्री का कार्य करते समय मैं उच्चतर चेतना को खो बैठता हूं। यदि ऐसा हो तो इतना ही नहीं कि मैं अतिमानसिक नहीं हूंगा बल्कि पूर्ण यौगिक चेतना से भी कोसों दूर हूंगा.....।

यदि मुझे किसी आक्रमण का प्रतिकार करने में किसी व्यक्ति की सहायता करनी होती है तो यह मैं उसे केवल एक पत्र लिखकर नहीं कर सकता, मुझे उसके भीतर कोई शक्ति भेजनी होती है अथवा एकाग्र होकर उसके लिये वह कार्य कर देना होता है। फिर अतिमानस को मैं केवल इसके विषय में लोगों को सुन्दरता से लिखकर ही नहीं अवतरित कर सकता। मैं सुखमय आलस्य के अंदर आराम के साथ ध्यान करने के लिये अवकाश नहीं मांग रहा हूं। मैंने स्पष्ट कहा था कि चिट्ठी-पत्री से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कार्य में अपने को लगा सकने के लिये ही मुझे अवकाश की आवश्यकता है।

इस वृत्ति के मूल में एक अज्ञानमय धारणा काम कर रही है। वह यह कि व्यक्ति को अनिवार्य रूप से केवल कर्म या केवल ध्यान करना चाहिये। या तो कर्म ही साधन है या ध्यान ही साधन है, दोनों भला कैसे साधन हो सकते हैं! जहां तक मुझे मालूम है, मैंने कभी नहीं कहा कि ध्यान नहीं करना चाहिये। कर्म और ध्यान में खुला या लुकाछिपा संघर्ष खड़ा कर देना भेदजनक मन की एक चालाकी है जो पुराने योग से संबंध रखती है। कृपया याद रखो कि मैं सदा ही उस पूर्णयोग का प्रतिपादन करता रहा हूं जिसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म–चेतना का प्रकाश, आनंद एवं प्रेम, कर्मों के निमित्त संकल्प एवं सामर्थ्य–भगवान् का ध्यान, पूजा, सेवा सबका अपना अपना स्थान है। क्या मैंने 'आर्य' के सात खंडों को व्यर्थ ही लिखा है? ध्यान कर्मयोग से बड़ा नहीं और न कर्म ही ज्ञानयोग से बड़ा है–दोनों समान हैं।

एक बात और–दूसरे लोगों के अनुभव की अवहेलना कर अपने ही अति सीमित अनुभव के सहारे तर्क-वितर्क करना तथा उसके आधार पर योगविषयक बड़ी व्याप्तियां (व्यापक सिद्धांत) बनाना भारी भूल है। यही अधिकांश लोग करते हैं, पर इस विधि के दोष स्पष्ट ही हैं। कर्मों द्वारा प्राप्य प्रधान उपलब्धियों की तुम्हें कुछ भी अनुभूति नहीं, पर तुम यह निर्णय कर लेते हो कि ऐसी उपलब्धियां असंभव हैं। परंतु उन बहुत से लोगों का क्या होगा जिन्होंने उन्हें प्राप्त किया है–अन्यत्र और यहां आश्रम में भी। क्या उनकी उपलब्धि का कुछ भी महत्त्व नहीं है? तुमने संकेत किया है कि कर्मों के द्वारा मुझे कुछ भी नहीं

प्राप्त हो सका है। पर तुम्हे कैसे पता लगा? मैंने अपनी साधना का इतिहास नहीं लिखा है—यदि मै लिखता तो तुम्हे पता चलता कि अगर मैं कार्य और कर्म को उपलब्धि का मुख्य साधन न बनाता तो न तो साधना संभव होती और न कोई उपलब्धि ही, संभवतः निर्वाण की उपलब्धि के सिवा।

कर्मों से क्या क्या हो सकता है इस विषय में मै शायद फिर कभी कुछ और भी लिखूंगा, पर आज रात को तो समय नही है।

किंतु इससे यह परिणाम न निकाल लो कि मैं कर्मो को सिद्धि के एकमात्र साधन के रूप में अतिरंजित कर रहा हूं। मै केवल उन्हे उनका उचित स्थान दे रहा हूं।

इस सब मे व्यंग्य-परिहास का जो पुट है उसके लिये तुम मुझे क्षमा करना—परंतु सच पूछो तो जव मुझसे कहा जाता है कि मेरा दृष्टांत मेरे संपूर्ण अध्यात्म-दर्शन तथा संचित ज्ञान एवं अनुभव का खंडन करता है तो इसके उत्तर में परिहास का हलका सा पुट देना उचित ही प्रतीत होता है।

१९. १२. १९३४

वैदांतिक सर्वेश्वरवादी अनुभव की अपर्याप्तता

मैंने रामदास की पुस्तकें नहीं पढ़ी है न मुझे यह मालूम है कि उनका व्यक्तित्व अथवा उनके अनुभव का स्तर क्या था। तुमने उनके जो शव्द उद्धृत किये है वे या तो सरल श्रद्धा की या सर्वेश्वरवादी अनुभव की अभिव्यक्ति हो सकते है। यह स्पष्ट है कि यदि वे इस सिद्धांत की स्थापना के लिये प्रयुक्त किये गये है या अभिप्रेत है कि भगवान् सर्वत्र है और सब कुछ है और इसलिये सव कुछ शुभ है—क्योकि वह भगवन्मय है, तो इस प्रयोजन के लिये वे सर्वथा अपर्याप्त है। परंतु एक अनुभव के रूप मे, वैदान्तिक साधना में इस अनुभूति या उपलव्धि का प्राप्त होना एक साधारण वात है। वास्तव में, इसके विना वैदान्तिक साधना हो ही नही सकती—स्वयं मुझे यह चेतना के अनेक स्तरो पर तथा नाना रूपों में उपलव्ध हुई है और ऐसे वीसियो मनुष्य मेरे देखने में आये है जिन्हे यह अत्यंत वास्तविक रूप में प्राप्त थी—वौद्धिक सिद्धांत या वोध के रूप मे नही वरन् एक ऐसे आध्यात्मिक सत्य के रूप मे जो उनके लिये इतना मूर्त्त था कि वे उससे इन्कार नही कर सकते थे, भले ही साधारण वुद्धि के लिये वह कितना भी परस्परविरोधी क्यों न हो।

निःसंदेह इसका यह अर्थ नहीं कि यहां सव कुछ शुभ है अथवा मूल्यांकन की दृष्टि से एक वेश्यालय भी उतना ही अच्छा है जितना एक आश्रम, किंतु इसका इतना अर्थ अवश्य है कि सभी एक ही अभिव्यक्ति के अंग है और वेश्या के अन्तस्तल में भी भगवान् उसी तरह विद्यमान है जिस तरह किसी साधु-संत के अन्तस्तल में . . . .।

१५. ४. १९३४

पुराने योगों की निंदा करने की मूर्खता

(१)

पुरान योगों की इस प्रकार की निन्दा करना कि वे सर्वथा सुगम, महत्त्वहीन एवं निरर्थक है तथा बुद्ध एवं याज्ञवल्क्य की और भूतकाल के अन्य आध्यात्मिक महापुरुषों की निन्दा करना,–क्या यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में एक मूर्खतापूर्ण कार्य नही है ?
१४. ४. १९३६

(२)

वाह, धन्य है ! आत्मा की उपलब्धि जिसमें अहं से मुक्ति, भूतमात्र मे एकमेव का ज्ञान, वैश्व अज्ञान का दृढ एवं परिपूर्ण अतिक्रमण, परम, अनन्त एवं सनातन के साथ एकत्व के अंदर चेतना की स्थिरता–यह सब सम्मिलित हैं, वह कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, न प्राप्त करने के लिये किसी से कहने के योग्य है–"कोई अत्यंत दुष्प्राप्य अवस्था भी नही है"!

नया कुछ भी नही ! नया कुछ हो ही क्यों ? आध्यात्मिक खोज का उद्देश्य सनातन सत्य का अनुसन्धान करना है न कि किसी कालगत नवीन का।

पुराने योगो और योगियों के संबध मे यह विचित्र मनोवृत्ति तुम्हे कहां से प्राप्त हुई? क्या वेदान्त और तंत्र का ज्ञान कोई छोटी एवं तुच्छ वस्तु है ? तब क्या इस आश्रम के साधक आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर चुके है और क्या वे जीवन्मुक्त हो गये है, अहंता और अज्ञान से मुक्त हो चुके है ? यदि नही तो, तुम ऐसा क्यो कहते हो कि "यह कोई दुष्प्राप्य, अवस्था नही है", "उनका लक्ष्य उच्च नहीं है", "क्या यह ऐसी लंबी प्रक्रिया है ?"

•ने कहा था कि यह योग "नया" है क्योकि इसका लक्ष्य जगत् के परे ही नही बल्कि इसके भीतर भी भगवान् को समग्र रूप मे उपलब्ध करना तथा अतिमानसिक सिद्धि लाभ करना है। परंतु इससे भला उस आध्यात्मिक अनुभव के प्रति, जो अन्य योगो के समान ही इसका भी एक लक्ष्य है, उच्चताभिमानी घृणा कैसे उचित ठहरती है ?
३. ४. १९३६

श्रीरामकृष्ण का मूल्यांकन

यदि मै इन विषयों में आश्चर्यो से ऊपर न उठ गया होता तो मैं यह सुनकर चकित हुआ होता कि (एक "उन्नत" साधक के साथ सहमत होते हुए) मैं रामकृष्ण को एक क्षुद्र कोटि का आध्यात्मिक पुरुष मानता हूं। ऐसा लगता है मानो मैंने ऐसी बहुत सी बातें कही होंगी जो मेरे मन मे भी कभी नही आई और ऐसे कार्य भी बहुत से किये होंगे जिनके करने का मुझे कभी स्वप्न में भी विचार नहीं आया ! मुझे आश्चर्य या क्षोभ नही होगा यदि एक दिन, "उन्नत" या अनुन्नत साधकों की साक्षी के आधार पर, मुझे बताया जाय

कि आपने बुद्ध को ढोंगी घोषित किया है और यह भी कहा है कि शेक्सपीयर एक कुकवि थे जिनका मूल्य यों ही वढ़ा चढ़ा दिया गया है अथवा न्यूटन कालिज के एक निम्न कोटि के उपाध्याय थे जिनमें कुछ भी प्रतिभा नही थी। इस संसार में सब कुछ संभव है। क्या यह कहना मेरे लिये आवश्यक है कि इस प्रकार की कोई भी वात मेरे मन में कभी नहीं आई और न यही संभव है कि मैंने कभी ऐसी वात कही हो, क्योंकि आध्यात्मिक मूल्य-मानों का कम से कम कुछ हलका-सा वोध तो मुझे है ही न? तुमने जो संदर्भ उद्धृत किया है[1] वह श्री रामकृष्ण के संवंध में मेरा सोच-समझकर किया हुआ मूल्यांकन है।
३. २. १९३२

श्रीअरविन्द और वैदिक ऋषि

प्रश्न–आपकी पुस्तक "इस जगत् की पहेली" पर लिखे हुए एक समालोचनात्मक लेख में एक स्वामी ने कहा है कि आप यंह कहने का साहस करते हैं कि आपने वह कार्य किया है जो वैदिक ऋषि नही कर पाये थे। इस समालोचना में क्या सत्य है?

उत्तर–वैदिक ऋषियों ने जो नहीं किया था उसे करनेवाला अकेला मैं ही नहीं हूं। चैतन्य तथा दूसरों ने एक ऐसी प्रगाढ़ भक्ति का विकास किया जो वेद में नहीं पायी जाती। इसी प्रकार अन्य कई दृष्टांत भी दिये जा सकते हैं। भूतकाल को आध्यात्मिक अनुभव की सीमा भला क्यों होना चाहिये?
१९. १२. १९३४

कृष्ण और भौतिक रूपांतर

श्रीकृष्ण किसी प्रकार का भौतिक रूपांतर साधित करने में कभी प्रवृत्त नही हुए, इसलिये उनमे इस प्रकार की किसी वस्तु की आशा नही की जा सकती।

बुद्ध, शंकर या रामकृष्ण के मन में भी शरीर के रूपांतर के संवंध में कोई धारणा नहीं थी। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक मोक्ष था, और कुछ नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मों में

---

[1] "और एक आधुनिक अनुपम उदाहरण में, रामकृष्ण परमहंस के जीवन में, हम अति महान् आध्यात्मिक सामर्थ्य देखते हैं जो पहले तो सीधे दिव्य साक्षात्कार तक वेग से जा पहुंचता है, मानों जवर्दस्ती स्वर्गलोक अधिकृत कर लेता है, और फिर एक के वाद एक कितनी ही योगपद्धतियों को पकड़ता है तथा विश्वासातीत शीघ्रता के साथ उनमें से सार-तत्त्व को निचोड़ लेता है,–ऐसा वह सदा ही संपूर्ण विषय के हृदय में वापस आने के लिये ही, प्रेम की शक्ति द्वारा, जन्मजात आध्यात्मिकता को नानाविध अनुभवों के रूप में विस्तारित करके तथा संवोधिजन्य ज्ञान की स्वतःस्फूर्त क्रीड़ा के द्वारा भगवान् को प्राप्त करने तथा अधिकृत करने के लिये ही करता है।"–योगविचार पृ. २७ पंक्ति ३-१२

मुक्त स्थिति प्राप्त करने की शिक्षा दी, किंतु किसी भौतिक रूपांतर की चर्चा उन्होंने कभी नहीं की।

मुझे मालूम नहीं कि हम इसे (हिमालय पर युधिष्ठिर के सशरीर स्वर्ग-राज्य में प्रवेश करने को) ऐतिहासिक तथ्य मान सकते हैं या नहीं। स्वर्ग कहीं हिमालय पर नहीं है, वह तो चेतना एवं सत्तत्त्व के किसी अन्य स्तर में कोई अन्य ही लोक है। अतएव उस कथा का अभिप्राय चाहे जो भी हो, इस भूतल पर होनेवाले भौतिक रूपांतर के प्रश्न से उसका कुछ भी संबंध नहीं है।

१.६.१९३७

श्रीकृष्ण और अतिमानस

२४ नवंबर (सन् १९२६) भौतिक सत्ता में श्रीकृष्ण के अवतरण का दिन था।

श्रीकृष्ण अतिमानसिक प्रकाश नहीं हैं। श्रीकृष्ण के अवतरण का अर्थ होगा विज्ञान और आनंद के अवतरण को तैयार करनेवाले अधिमानसिक भगवान् का अवतरण स्वयं विज्ञान और आनंद का अवतरण नहीं। कृष्ण आनंदमय हैं; वे अधिमानस के द्वारा विकासक्रम में सहायता पहुंचाते हैं और इसे आनंद की ओर ले जाते हैं।

२९.१०.१९३५

श्रीअरविन्द और कृष्ण

तुम मुझसे यह आशा नहीं कर सकते कि मैं श्रीकृष्ण की तुलना में अपनी आध्यात्मिक महानता का तर्क द्वारा समर्थन करूं। स्वयं यह प्रश्न भी केवल तभी संगत होगा यदि दो सांप्रदायिक धर्म, अरविन्द-मत और वैष्णव मत, एक दूसरे के विरोध में उपस्थित हों और उनमें से प्रत्येक अपने ईश्वर की महानता पर आग्रह कर रहा हो। यहां वैसी बात है ही नहीं। और फिर किस कृष्ण को मैं चुनौती दूं,—गीता के कृष्ण को जो विश्वातीत भगवान्, परमात्मा, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, विश्वदेवता, जगत् के स्वामी, सर्वमय वासुदेव, प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान अंतर्यामी हैं अथवा उन कृष्ण भगवान् को जो वृन्दावन, द्वारका और कुरुक्षेत्र में साकार रूप में अवतरित थे तथा मेरे योग के मार्गदर्शक थे और जिनके साथ मैंने एकात्मता प्राप्त की थी? यह सब मेरे लिये कोई दार्शनिक या मानसिक विषय नहीं वरन् प्रतिदिन एवं प्रति घंटे की अनुभूति का विषय है और साथ ही मेरी चेतना के उपादान के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। तब भला किस स्थिति से मैं उस विवाद में न्यायाधीश का काम कर सकता हूं? 'क्ष' का विचार है कि मैं महानता में उत्कृष्ट हूं, तुम समझते हो कि कृष्ण से महान् कोई हो ही नहीं सकता: प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार या अनुभव को मानने का अधिकार है, भले ही वह ठीक हो या गलत। बस इस विषय को यहीं समाप्त

कर सकते हैं; यह तुम्हारे आश्रम छोड़ने का कारण नहीं होना चाहिये।
२५. २. १९४५

(२)

मैं समझता था कि मैं तुम्हें पहले ही कह चुका हूं कि श्रीकृष्ण की ओर तुम्हारा झुकाव किसी प्रकार भी वाधक नहीं है। कुछ भी हो, तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैं यह वात पुनः दृढ़तापूर्वक कहता हूं। मेरी साधना में उन्होंने जो वड़ा और वस्तुतः सर्वोपरि भाग लिया उसपर यदि हम विचार करें, तो यह वात विचित्र लगेगी कि तुम्हारी साधना में उनका जो भाग है उसे आपत्तिजनक समझा जाय! सांप्रदायिकता मत-मतांतर, वाह्य अनुष्ठान आदि का विषय है, आध्यात्मिक अनुभव का नहीं; कृष्ण में एकाग्र होना इष्टदेव के प्रति आत्म-दान करना है। यदि तुम श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हो तो तुम भगवान् को ही प्राप्त करते हो; यदि तुम उनके प्रति आत्म-दान कर सकते हो तो तुम मेरे प्रति ही आत्म-दान करते हो। इस प्रकार का अभेद अनुभव करने में तुम्हारी असमर्थता का कारण संभवतः यह है कि तुम, सचेत या अचेत रूप में, वाह्य रूपों पर अत्यधिक वल दे रहे हो।
१८. ६. १९४३

कृष्ण और ईसा

श्रीमती 'र' के ईसा और कृष्ण के विषय में कुछ कहना मुझे-कठिन-सा प्रतीत होता है। उसका कहना है कि लोग ईसा के प्रति एक विशेष आकर्षण अनुभव करते हैं; पर मुझे तो उस आकर्षण ने कभी स्पर्श भी नहीं किया। इसका कारण कुछ तो यह है कि इंगलैंड में ईसाई मत की नीरसता और निर्जीवता देखकर मुझे उससे अरुचि हो गई थी और कुछ यह कि 'गास्पेल (सुसमाचार) के क्राइस्ट (कुछ एक काल्पनिक प्रसंगों को छोड़कर) निःसंदेह तेजोमय हैं सही, तथापि उनकी तेजस्विता यत्किंचित् छायामय तथा अपूर्णतः ही चित्रित है। सुसमाचार में उनके आध्यात्मिक या दैवी व्यक्तित्व की अपेक्षा उनका नैतिक व्यक्तित्व ही अविक प्रकटित किया गया है। जो ईसा पश्चिमी संतों एवं गुह्यदर्शियों के अंतर में ओजस्वी रूप से जीवित रहे हैं वे तो अस्सिसी के सेंट फ्रांसिस (St. Francis of Assisi) तथा सेंट तेरेस्सा (St. Teressa) आदि के ईसा हैं। परंतु इसके अतिरिक्त, क्या यह तथ्य है कि ईसाई लोग ईसा के प्रवल एवं जीवंत उपासक रहे हैं? मेरे विचार में ऐसे ईसाई वहुत ही कम होंगे। अव रही श्रीकृष्ण की वात। उनका तथा उनकी ज्ञानदायिनी परं-परा का ईसा-प्रतीक और ईसा-परंपरा के द्वारा विचार करना संभव नहीं। दोनों की स्थिति दो भिन्न लोकों में है। गीता में हमें जो महान्, असीम एवं परमोच्च आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभव की शक्ति दिखायी देती है उसका किंचित् भी अंश ईसा में नहीं है। फिर गोपी-प्रतीकका भावोद्रेक, प्रेमातुरता, सौंदर्य तथा इसका मूलभूत समस्त रहस्य और कृष्ण-प्रतीक

की बहुमुखी अभिव्यक्ति–इनमेंसे किसी का कुछ भी अंश वहां दृष्टिगोचर नहीं होता है। ईसा की विशेषताएं कुछ और ही हैं: दोनों को साथ साथ रखकर दोनों में तुलना करने की चेष्टा करने से कुछ लाभ नहीं। यह तो क्रिश्चियन मनोवृत्ति का चिरभ्यस्त पाप है, यहां तक कि डा. स्टानली जोन्स (Dr. Stanley Jones) जैसे अत्युदार व्यक्ति भी इससे मुक्त नहीं है। उनके लिये यह संभव नहीं कि वे सांप्रदायिक संकीर्णता से पूर्णरूपेण मुक्त होकर भगवान् की प्रत्येक अभिव्यक्ति को उसके अपने अन्तर्जगत् में रहने दें ताकि जो लोग जिस किसी के प्रति अन्तराकर्षण अनुभव करते हैं वे उसका अनुसरण कर सकें। इस भूल से बचने के लिये ही मैं अपनी प्रकाशित रचनाओं में ऐसी तुलनाओं से सदा दूर रहा हूं। मैं व्यक्तिगत रूप में जो कुछ अनुभव करता हूं वह मेरे लिये ही है–दूसरों से मैं अपने मानदंड को स्वीकार करने के लिये नहीं कह सकता।

४. १. १९३६

(अपूर्ण)

सह

भारत माता

अड़तालीसवीं कला

श्रीअरविन्द के सिद्धि-दिवस, २४ नवम्बर १९५४ के उपलक्ष्य में

विशेषांक

श्रीअरविन्द—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(धारावाहिक)
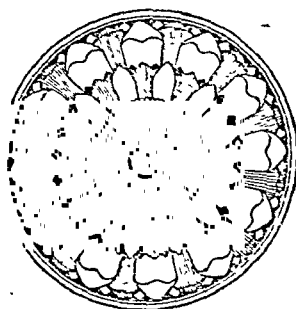
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी
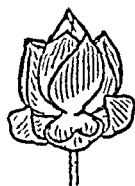
विषय-सूची

अदिति सह भारत माता, २४ नवंबर १९५४

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

पहला भाग

(१५ अगस्त १९५४ के अंक से आगे)

आशीर्वादी-वचन–

११ अक्तूबर १९५४

जो हो, हममेंसे चाहे बड़े-से-बड़े की बात हो या छोटे-से-छोटे की, हमारी शक्ति हमारी अपनी नहीं है, बल्कि वह हमें उस खेल के लिये दी गयी है जिसे यहां खेलना है, उस कार्य के लिये दी गयी है जो हमें करना है। हो सकता है कि शक्ति हमारे अंदर ही गढ़ी गयी हो, पर उसका वर्तमान रूप ही अंतिम नहीं है–चाहे वह शक्तिमय रूप हो या दुर्बलतामय। किसी भी मुहूर्त्त वह रूप बदल सकता है–किसी भी मुहूर्त्त हम, विशेषकर योग का दबाव पड़ने पर, दुर्बलता को शक्ति में बदलते हुए, अयोग्य को योग्य बनते हुए, एकाएक या धीरे-धीरे यंत्रात्मक चेतना को एक नयी उच्चता की ओर ऊपर उठते हुए या अपनी सोई हुई शक्तियों को विकसित करते हुए देखते है। हमारे ऊपर, हमारे भीतर, हमारे चारों ओर सर्वसमर्थ शक्ति विद्यमान है और बस उसी पर हमें अपने कार्य, अपने विकास और अपने रूपांतरकारी परिवर्तन के लिये निर्भर करना चाहिये। अगर हम कार्य में तथा अपने आप उस कार्य के एक यंत्र होने में विश्वास रखते हुए और हमें काम में लगानेवाली शक्ति पर श्रद्धा रखते हुए आगे बढ़े तो स्वयं परीक्षाओं, मुश्किलों और असफलताओं का सामना करने और उन पर विजय प्राप्त करने के समय ही हमारे अंदर शक्ति आयेगी और सर्वसमर्थ शक्ति–जिसके हम अधिकाधिक पूर्ण पात्र बनते जायंगे–की हमें जितनी आवश्यकता होगी उसे धारण करने के लिये हमारे अंदर क्षमता आयेगी।

२९. २. १९३२

–श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

पहला भाग

श्रीअरविन्द

(उनके जीवन पर पत्र और टिप्पणियां)

(१५ अगस्त १९५४ के अंक से आगे)

४

पृथ्वी-चेतना के लिये साधना

अतिमानस तथा सत्य

सभी स्तरों पर व्यक्त होनेवाला सत्य एक चीज है, और अतिमानस दूसरी चीज, यद्यपि यह समस्त सत्य का स्रोत है।

२९-८-१९३६

अतिमानस सत्य की खोज का उद्देश्य

मेरा प्राण इन अहंकारमय भावनाओं में चक्कर नहीं लगाता। मैं एक ज्यादा ऊंचे सत्य की तलाश में हूं। प्रश्न यह नहीं है कि वह सत्य मनुष्य को ज्यादा बड़ा बनाता है या नहीं, प्रश्न यह है कि क्या वह लोगों को सत्य, शांति और प्रकाश में निवास प्रदान करके उन्हें असत्य, अनृत, कष्ट और कलह-भरे जीवन से कुछ अच्छा जीवन दे सकता है या नहीं। इतना हो सके तो मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, चाहे लोग पुराने जमाने के लोगों से कम महान् ही क्यों न रहें। मेरे लिये मानसिक धारणाएं ही इस जगत् का अंत नहीं हो सकतीं; मुझे मालूम है कि अतिमानस एक सत्य है।

मैं अपने बड़प्पन के लिये अतिमानस को नीचे उतारने की कोशिश नहीं कर रहा हूं। मुझे मानव अर्थों में बड़प्पन और छुटपन की तनिक भी परवाह नहीं। मैं पृथ्वी-चेतना में आंतरिक सत्य, प्रकाश, सामंजस्य और शांति के तत्त्व को उतारने का प्रयत्न कर रहा हूं। मैं उसे ऊपर की ओर देखता हूं और जानता हूं कि वह क्या है। मैं उसे हमेशा ऊपर से अपनी चेतना पर किरणें डालते हुए देखता हूं और मैं कोशिश कर रहा हूं कि वह सारी सत्ता को अपनी स्वाभाविक शक्ति के अंदर उठा ले और मनुष्य की प्रकृति आधे अंधेरे आधे उजाले में ही न पड़ी रहे। मेरा विश्वास है कि पृथ्वी पर विकास का अंतिम उद्देश्य ही है यहां पर दिव्य चेतना के विस्तार का रास्ता खोल देनेवाले इस सत्य को नीचे उतार

लाना। अगर मुझसे बड़े लोगों के सामने यह दृष्टि न थी और यह आदर्श न था तो यह कोई कारण नहीं कि मुझे भी अपनी सत्य भावना और सत्य दृष्टि के अनुसार काम नहीं करना चाहिये। मुझे जरा भी परवाह नहीं है यदि मानव बुद्धि मुझे इस बात के लिये मूर्ख ठहराये कि मैं एक ऐसा काम करने के लिये कोशिश कर रहा हूं जिसके लिये श्री कृष्ण तक ने प्रयत्न नहीं किया। यह भगवान् की इच्छा है या नहीं या मैं उस सत्य को नीचे उतारने या उसके लिये मार्ग खोलने या कम से कम उसके अवतरण को ज्यादा संभव बनाने के लिये भेजा गया हूं या नहीं, इसमें 'क' 'ख' या किसी और का तो सवाल ही नहीं है। यह तो मेरे और भगवान् के बीच की बात है। दुनिया मेरा मजाक उड़ाना चाहे तो उड़ाती रहे और मेरी इस धृष्टता से जहन्नम टूटा पड़ता हो तो टूट पड़े, मैं विजय प्राप्त करके रहूंगा या मर मिटूंगा। इसी भावना से मैं अतिमानस की खोज कर रहा हूं, अपने लिये या दूसरों के लिये बड़प्पन की लालसा से नहीं।

१०-२-१९३५

अतिमानसिक अवतरण की प्रक्रिया

नहीं, शरीर या जड़-तत्त्व में अतिमानस का अवतरण नहीं हुआ है। वह केवल ऐसी स्थिति तक आ पहुंचा है जहां से उसका अवतरण सिर्फ संभव ही नहीं, अनिवार्य है। निःसंदेह मैं अपने अनुभव की बात कह रहा हूं, परंतु यह आश्वासन के लिये पर्याप्त है, क्योंकि मेरा अनुभव ही बाकी सब चीजों का केंद्र और आधार है।

मेरी कठिनाई यह है कि तुम सब चमत्कार-भरे परियों की कहानी के से परिवर्तन की आशा करते दीखते हो। तुम यह अनुभव ही नहीं करते कि मेरी साधना का लक्ष्य एकाग्रता के साथ और तेजी से होनेवाला विकास है और इसके लिये कोई खास विधि भी होनी चाहिये। ऊपर के तत्त्वों की नीचे के तत्त्वों पर क्रिया भी होनी चाहिये जिसमें साथ ही बीच के आवश्यक अंतरालों का भी समाधान होता जाये–यह नहीं कि सृष्टि की आकस्मिक करामात से चीज झट एक नियत तारीख पर पूरी हो जाय। यह अतिमानसिक प्रक्रिया है परंतु युक्तिशून्य प्रक्रिया नहीं। जो किया जाना है वह तो होगा ही और शायद बड़े वेग से भी हो, लेकिन वह परीलोक की तरह से नहीं, एक सुव्यवस्थित ढंग से होगा।

१४-११-१९३३

अतिमानसीकरण की शर्तें

मेरा केवल अपने लिये अतिमानस को प्राप्त करने का इरादा बिलकुल नहीं है। मैं अपने लिये कुछ भी नहीं कर रहा; क्योंकि मुझे अपने लिये किसी चीज की जरूरत नहीं है, न तो मोक्ष की और न अतिमानसिक स्थिति की। यदि मैं अतिमानसीकरण के लिये

कोशिश कर रहा हूं तो वह सिर्फ इसलिये कि पृथ्वी-चेतना के लिये इस काम का किया जाना आवश्यक है और अगर यह मेरे अंदर सिद्ध न हो तो दूसरों में भी नहीं हो सकेगा। स्वयं मेरा अतिमानसिक स्थिति को प्राप्त करना पृथ्वी-चेतना के लिये अतिमानस के द्वार खोलने की कुंजी मात्र है। मेरा उसको केवल प्राप्त करने के उद्देश्य से ही प्राप्त करना बिलकुल बेकार होगा। परंतु इससे यह परिणाम भी नहीं निकाल लेना चाहिये कि यदि या जब मैं अतिमानसिक हो जाऊंगा तो प्रत्येक मनुष्य ही अतिमानसिक हो जायगा। दूसरे जो भी मनुष्य इसके लिये तैयार होंगे, और जब वे इसके लिये तैयार होंगे तब वे भी अतिमानसिक बन सकेंगे—यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि मेरी उपलब्धि उनके लिये इसमें अत्यंत सहायक होगी। अतएव इसके लिये अभीप्सा करना सर्वथा उचित है यदि :—

(१) मनुष्य इसे अतीव वैयक्तिक या अहंभावमय विषय बनाकर अतिमानव बनने की नीत्से (Nietzsche) की-सी या और किसी महत्त्वाकांक्षा का रूप न दे।

(२) वह इस उपलब्धि के लिये जरूरी और अनिवार्य अवस्थाओं और स्थितियों में से गुजरने के लिये तैयार हो।

(३) वह सच्चा हो और इसे भगवान् की खोज एवं उससे फलित होनेवाली अपने अंदर भागवत संकल्प की सिद्धि का अंग माने और इससे अधिक और किसी चीज का आग्रह न करे कि वह परम संकल्प चरितार्थ हो, उस चरितार्थता का रूप चाहे जो भी हो—आंतरात्मीकरण, आध्यात्मीकरण या अतिमानसीकरण। इसे संसार में ईश्वर के कार्य की परिपूर्णता समझना चाहिये, वैयक्तिक सुयोग या उपलब्धि नहीं।

अप्रैल १९३५

श्रीअरविन्द और अतिमानस

मैं नहीं जानता कि मैंने अपने को अतिमानव कहा है। पर निश्चय ही मैं साधारण मानव मन से ऊपर उठ चुका हूं, अन्यथा भौतिक स्तर पर अतिमानस को उतारने का प्रयत्न करने की बात मैं कभी न सोचता।

१५-९-१९३५

भूतल पर आनंद

मेरा अपना अनुभव 'ज्योतिर्मय शांति' तक ही सीमित 'नहीं' है; मुझे भलीभांति मालूम है कि हर्षोद्रेक और आनंद—ब्रह्मानंद से लेकर शरीर-आनंद तक—क्या वस्तु हैं और उन्हें मैं किसी भी समय अनुभव कर सकता हूं। परंतु इन वस्तुओं के संबंध में मैं केवल तभी कहना पसंद करूंगा जब मेरा कार्य पूरा हो जायगा—क्योंकि मैं केवल ऊपर ही नहीं, जहां कि आनंद सदा-सर्वदा रहता ही है, बल्कि यहां, रूपांतरित चेतना के अंदर भी उनके स्थायी रहने का आधार प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूं।

(२)

मैं मन की भाषा का प्रयोग इसलिये करता हूं कि और कोई ऐसी भाषा है ही नहीं जिसे मनुष्य समझ सकें,–यद्यपि उनमें अधिकांश इसे अशुद्ध रूप में ही समझते हैं। यदि मैं ज्वायस (Joyce) की तरह किसी अतिमानसिक भाषा का प्रयोग करता तो उसे समझने का भ्रम भी तुम्हें न होता; अतएव, आयर्लैंड का निवासी न होने के कारण, मैं वैसा प्रयास नहीं करता। परंतु, इसमें संदेह नहीं कि जो कोई विश्व-प्रकृति को बदलना चाहता है उसे इसे बदलने के लिये सबसे पहले इसको अपनाना होगा। यहां अपनी एक अप्रकाशित कविता[1] का एक अंश उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :

He who would bring the heavens here,
Must descend himself into clay
And the burden of earthly nature bear
And tread the dolorous way . . . .

–अर्थात् "जो स्वर्ग को यहां उतारना चाहता है उसे पहले स्वयं यहां कीचड़ में उतरना होगा और पार्थिव प्रकृति का भार वहन करते हुए यहां के दुःखदायी मार्ग पर चलना होगा।"
२५-८-१९३५

नरक में गोता

नहीं, मैं उच्चतम स्वर्ग को लेकर ही व्यस्त नहीं हूं : काश ऐसा ही होता। पर अभी मैं वस्तुओं के दूसरे छोर को ही लेकर व्यस्त हूं; इन दोनों के बीच पुल बनाने के लिये मुझे पाताल में गोता लगाना पड़ता है। परंतु यह भी मेरे कार्य के लिये आवश्यक है और हमें इसका सामना करना ही चाहिये।
३०-५-१९३६

कठिनाइयों से प्राप्त सहायता

जहां तक श्रद्धा का प्रश्न है, तुमने ऐसे लिखा है मानों मुझे कभी कोई संदेह या कठिनाई हुई ही न हो। तुम्हारा मन जितनी कल्पना कर सकता है उससे कहीं अधिक से मुझे पाला पड़ा है। यह नहीं कि मैंने कठिनाइयों की परवा ही नहीं की, बल्कि अपने जमाने के या अपने से पहले के किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा मैंने उन्हें अधिक साफ तौर पर देखा तथा व्यापक रूप में अनुभव किया है और इस प्रकार उनका सामना करने तथा उनकी ... के कारण ही मुझे अपने काम की सफलता पर पूर्ण विश्वास है। यह सब

[1] ...our" शीर्षक कविता जो अब उनके Poems–Past and Present में प्रकाशित हो गई है।

होते हुए भी यदि मुझे यह संभावना दिखती कि सारे प्रयास का परिणाम कुछ नहीं होगा (जो कि असंभव है) तो भी, मैं विचलित हुए विना वढ़ता जाता, क्योंकि जो काम करना मेरे लिये जरूरी होता उसे मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर करता जाता और इस प्रकार किया हुआ काम विश्व-व्यवस्था में हमेशा अपना स्थान रखता है। परंतु भला ऐसा लगे ही क्यों, इस सबके व्यर्थ हो जाने का ख्याल ही क्यों आये जब कि मुझे एक एक कदम साफ दीख रहा है तथा यह भी दीख रहा है कि वह किधर लिये जा रहा है और प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक दिन—कभी यह प्रत्येक वर्ष और प्रत्येक मास था और आगे चलकर यह प्रत्येक दिन तथा प्रत्येक घड़ी हो जायगा—मुझे अपने लक्ष्य के इतना अधिक निकट ले आ रहा है ? ऊपर के महान् प्रकाश में पथ पर चलते हुए प्रत्येक कठिनाई भी सहायता पहुंचाती है, अपना मूल्य रखती है, और स्वयं रात भी आनेवाली ज्योति को अपने अंदर लिये होती है।

संघर्ष और युद्ध का जीवन

फिर वही ऊटपटांग विचार !—कि मैं अतिमानसिक मनोभाव लेकर जन्मा था और मुझे कठोर वास्तविकताओं का कुछ भी पता नहीं ! वाह धन्य है ! मेरा सारा जीवन ही कठोर वास्तविकताओं से एक संघर्ष रहा है—पहले इंगलैंड के जीवन की तकलीफें और अनाहार, फिर निरंतर आनेवाले संकट और भीषण कठिनाइयां और फिर उनसे भी कहीं वढ़कर यहां पांडिचेरी में अंदर और वाहर से सिर उठानेवाली नित नई मुसीवतें। मेरा जीवन अपने प्रारंभिक वर्षों से ही एक युद्ध रहा है और अभी तक युद्ध ही है: इस वात से इसके स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता कि अव मैं इसे ऊपरी मंजिल के कमरे में वैठा हुआ और आध्यात्मिक एवं अन्यान्य वाहरी साधनों से चला रहा हूं। निःसंदेह, इन चीजों के वारे में चूंकि हम चिल्लाते नहीं रहे हैं, इसलिये मेरी समझ में, दूसरों के लिये यह समझना स्वाभाविक है कि मैं एक प्रतापवान्, मनोमोहक, सुखमय स्वप्न-लोक में निवास कर रहा हूं जहां जीवन या विश्वप्रकृति के कठोर सत्य उपस्थित ही नहीं होते। पर फिर भी यह कितना वड़ा भ्रम है !

आंधी-तूफान और ज्योतिर्मय पथ

इस प्रकार के एक और आक्रमण की संभावना उन्हें नापसंद है, और मैं इससे सहमत हूं। मैं स्वयं भी शायद स्वेच्छा से नहीं वल्कि आवश्यकता के कारण ही योद्धा वना हूं—मुझे कम से कम सूक्ष्म स्तर पर आंधी और संग्राम प्रिय नहीं हैं। ज्योतिर्मय मार्ग एक भ्रम हो सकता है,—यद्यपि मैं नहीं समझता कि यह ऐसा है,—क्योंकि मैंने लोगों को वर्षों इसपर चलते देखा है। परंतु ऐसा मार्ग तो अवश्य ही संभव है जिसमें आंधी और तूफान न हों और वुरी ऋतु के प्रकोप भी केवल स्वाभाविक या हलके से हों। इसके अनेक दृष्टांत हैं; 'दुर्गं पथस्तत्' वर्णन सामान्य रूप से सत्य हो सकता है और निःसंदेह लय या निर्वाण का मार्ग

श्रीअरविन्द के कार्य में मानवता का स्थान

(१)

पर तुमने निश्चय ही यह समझने में भूल की है कि मैंने यह कहा था कि हम गरीबों का दुःख दूर करने के लिये आध्यात्मिक ढंग से कार्य कर रहे हैं। ऐसा मैंने कभी नहीं कहा। मेरा कार्य वर्तमान मानवता के ढांचे के भीतर सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना नहीं, वरन् एक उच्चतर आध्यात्मिक प्रकाश एवं एक श्रेष्ठतर शक्ति को नीचे उतार लाना है जो पृथ्वी-चेतना में आमूल परिवर्तन ले आय। २२-१२-१९३६

(२)

विवेकानंद-विषयक[१] उद्धरण का जहां तक संबंध है उसमें मैंने जिस बात पर जोर दिया है वह मेरी समझ में मानव-हितवाद नहीं है। तुम देखोगे कि वहां मैंने उस पृष्ठ पर उद्धृत विवेकानंद के अंतिम वाक्यों पर ही जोर दिया है, दरिद्र और पापी और अपराधी-रूपी भगवान् से संबंध रखनेवाले शब्दों पर नहीं। वहां पर बात कही गयी है जगत् में विद्यमान भगवान् के विषय में, सर्वमय तथा गीता के 'सर्वभूतानि' के विषय में। वे केवल मानवजाति ही नहीं हैं, उससे भी कम, केवल दीन-दुखी या दुष्टजन ही नहीं हैं; निश्चय ही, धनी या सज्जन भी और वे भी, जो न अच्छे हैं न बुरे और न धनी हैं न निर्धन, सभी 'सर्व' के अंश हैं। और वहां (मेरा मतलब मेरे अपने कथन से है) परोपकारात्मक सेवा का भी कोई प्रश्न नहीं है; अतः 'दरिद्रेर सेवा' (दरिद्र की सेवा) भी वहां अभिप्रेत विषय नहीं है। आरंभ में मेरी दृष्टि मानवहितवादी नहीं वरन् मानवतापरक थी—'आर्य' के मेरे लेखों में इस दृष्टि का कुछ प्रभाव अवश्य मिला हो सकता है। परंतु मैंने पहले ही अपनी दृष्टि बदलकर "मानवता के लिये योग" के स्थान पर "भगवान् के लिये योग" को अपना सिद्धांत बना लिया था।

---

[१]"मुझे अपनी मुक्ति की कोई इच्छा नहीं रही। मैं चाहता हूं कि मैं बार-बार पैदा होऊं और हजारों कष्ट भोगूं जिसमें कि मैं उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूं जो सत् है; उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूं जिसे मै मानता हूं और जो सब आत्माओं का योग-फल है,—और सबसे बढ़कर सभी जातियों और उपजातियों में विराजमान दुष्ट-रूपी भगवान्, दीन-रूपी भगवान् और दरिद्र-रूपी भगवान् मेरी पूजा के विशेष पात्र हैं। जो ऊंच और नीच है, संत और पापी है, देवता और कीट है उनकी पूजा करो, उन दृश्य, ज्ञेय, वास्तव और सर्वव्यापी की पूजा करो; और सब मूर्तियों को तोड़ डालो। जिनमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु है न आवागमन, जिनमें हम सदा एक रहे हैं और सदा ही एक रहेंगे, उनकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियों को तोड़ डालो।"

—विवेकानंद, 'The Synthesis of Yoga' भाग १ पृ. २७५ पर उद्धृत।

भगवान् के अंदर केवल विश्वातीत ही नहीं बल्कि विश्वगत और व्यष्टिगत सत्ता भी आ जाती है—केवल निर्वाण या परात्पर ही नहीं बल्कि जीवन तथा यहां जो कुछ है वह सब आ जाता है। इसी बात पर मैं सर्वत्र बल दिया करता हूं। २९-१२-१९३४

(३)

मृत विभावनाओं (concepts) से छुट्टी पाने के लिये जो उपाय 'क' ने बताया है उसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। प्रत्येक मन की अपनी अलग कार्य-विधि होती है। मेरी अपनी विधि रही है एक प्रकार से विभावनाओं को पुन यथास्थान व्यवस्थित करने की अथवा उन्हें संशोधित करने की; बल्कि मैं यों कहना अधिक पसंद करूंगा कि मेरी विधि रही है उनमें परस्पर विवेक करने की और उसके साथ-ही-साथ अनर्ज्ञानों को सुव्यवस्थित करते रहने की। एक समय था जब जागतिक वस्तुओं की अपनी योजना के अंदर मैंने 'मानवता' को बहुत बड़ा स्थान दे रखा था और उस अतिरंजन के साथ ऐसी बहुतेरी भावनाएं जुड़ी हुई थीं जिन्हें ठीक-ठीक स्थान पर रखने की आवश्यकता थी। परंतु जब परिवर्तन आया तो जो कुछ मैंने पहले से निश्चित कर रखा था उसपर संदेह करने के कारण नहीं, बल्कि वस्तुओं पर पड़नेवाली एक नई ज्योति के कारण आया जिसमें 'मानवता' अपने-आप ही नीचे सरक गयी और अपने ठीक स्थान पर जा बैठी और उसके फलस्वरूप बाकी सब चीजें भी स्वयं ही फिर से यथास्थान व्यवस्थित हो गई। परंतु यह सब होने का कारण संभवतः यह था कि मैं स्वभाव से (पत्रव्यवहार करने की अपनी वर्तमान करामात के होते हुए भी) थोड़ा आलसी हूं और यथासंभव अत्यंत सहज और स्वाभाविक पद्धति को ही पसंद करता हूं। फिर भी मुझे संदेह है कि 'क' की पद्धति मूलतः मेरी जैसी ही है, सिर्फ वह उसे थोड़ी अधिक एकाग्रता और सावधानी के साथ करता है। यह बात विभावनाओं के संबंध में की हुई उसकी इस टिप्पणी से सूचित होती है कि वे केवल झंडियां हैं, आगे बढ़ने के साधन नहीं। २६-१०-१९३४

प्रेम का भार

(१)

एकमात्र दिव्य प्रेम ही उस भार को वहन कर सकता है जिसे मुझे वहन करना है, जिसे उन सब लोगों को वहन करना होता है जिन्होंने पृथ्वी को अंधकार के अंदर से भगवान् की ओर उठा ले जाने के एकमात्र उद्देश्य के लिये बाकी सब कुछ न्योछावर कर दिया है। गालियो (Gallio) का-सा "मैं कोई परवा नहीं करता" का सिद्धांत ("Je m'en fiche"–ism) मुझे एक पग भी आगे नहीं ले जा सकता; निश्चय ही वह भाव दिव्य नहीं हो सकता। वह चीज तो बिलकुल दूसरी ही है जो मुझे बिना रोये-गाये अपने लक्ष्य की ओर जाने की शक्ति देती है। अप्रैल १९३४

बहुतों के लिये अत्यंत कठिन होता है (यद्यपि मैं तो विना इच्छा किये ही निर्वाण में जा पहुंचा था या यों कहें, निर्वाण ही मेरे यौगिक जीवन के आरंभ होने के कुछ समय वाद मुझसे विना पूछे ही अकस्मात् मेरे अंदर चला आया था)। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि समय-समय पर प्रचंड आंधियों द्वारा मार्ग अवरुद्ध हो जाया करे, यद्यपि यह प्रत्यक्ष वात है कि वहुतों का पथ इस प्रकार अवरुद्ध हो जाता है। किंतु मैं देखता हूं, यदि वे मार्ग पर डटे रहें तो, एक विशेष स्थान पर आ जाने के वाद आंधियों का वेग, उनका वार वार आना और उनकी अवधि कम हो जाती है। यही कारण है कि मैंने इस वात पर अत्यधिक वल दिया था कि तुम्हें दृढ़ रहना चाहिये—क्योंकि यदि तुम दृढ़ रहोगे तो परिवर्तन का आना अनिवार्य होगा। हाल ही में मैंने कुछ ऐसे आश्चर्यजनक दृष्टांत देखे हैं जिनमें ये प्रचंड आंधी के दौरे वर्षों के उग्र पुनरावर्तन के वाद समाप्त होने लगे हैं।

११-२-१९३७

श्रद्धा का मंत्र

साधना-पथ पर अवसाद, अंधकार और निराशा के दौरों की एक परंपरा सी चली आती है। प्रतीत होता है कि ये पूर्वी या पश्चिमी सभी योगों के नियत अंग-से रहे हैं। मैं 'स्वयं' इनके विषय में सव कुछ जानता हूं, परंतु अपने अनुभव के द्वारा मै इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि ये अनावश्यक परंपरा हैं तथा यदि कोई चाहे तो इनसे वच सकता है। यही कारण है कि जव कभी ये तुममें या दूसरों में आते हैं तो मैं उनके सामने श्रद्धा का मंत्र उद्‌घोषित करने का यत्न करता हूं। यदि ये फिर भी आवें तो मनुष्य को इन्हें यथासंभव शीघ्र से शीघ्र पार करके पुनः प्रकाश में वापस आ जाना चाहिये।

९-४-१९३०

विरोधी सुझाव की अतिशयोक्ति

यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि शक्ति और पवित्रता की वह गति मन का वहलाव थी। नही, वह एक सच्ची चीज थी। परंतु आगे वढ़ने की इन प्रवल गतियों के साथ साथ प्रायः प्राणिक उत्साह जयनाद करता हुआ कहता है, लो, काम पूरा हो गया। पर यह पूरी तरह से ठीक नहीं है; ज्यादा ठीक तो यह होगा कि अव काम शीघ्र ही पूरा हो जायेगा। ऐसे ही समय पर कमवख्त छिद्रान्वेषी झूमता हुआ आता है और प्रकृति के किसी ऐसे टुकड़े को उठा लेता है जो अभी तक अस्थिर है और उसे लेकर ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है जो उस छोटे से टुकड़े से अनुपात में कहीं वढ़कर होते हैं। और यह सव केवल यह दिखाने के लिये कि काम अभी पूरा नहीं हुआ। स्वयं मुझे यह अनुभव कितनी ही वार हुआ है। यह सव हमारी विकसित होनेवाली प्रकृति की पेचीदगी और मंद गति के कारण होता है जिसे योग वेग तो प्रदान करता है पर सारी प्रकृति को एक झटके के साथ

नहीं। वास्तव में जैसा मैंने कहा ये संकट प्रकृति में स्थित अपने कारणों की अपेक्षा अनुपात में बहुत बड़े होते हैं। अतएव मनुष्य को निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। अपने पूर्ण और निश्चित विजय के विचारों और विरोधी द्वारा किये गये उनके सफल प्रतिवाद की अतिशयोक्ति को देख सकना चाहिये।

२४-६-१९२६

प्राणिक गतियों का उठना

प्राण की कुछ क्रियाओ का प्रकोप योग में एक सुपरिचित घटना है जिसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य पतित हो गया है, बल्कि केवल यह होता है कि पार्थिव प्राणिक प्रकृति की मूल सहज-प्रवृत्तियों के साथ झूमते हुए साहब सलामत करने के बदले मुठभेड़ हो गई है। स्वयं मुझे भी, आध्यात्मिक विकास की एक विशेष अवस्था में, ऐसी चीजों के अतिशय उभार का अनुभव हुआ था, जिनका पहले अस्तित्व भी शायद ही रहा हो और शुद्ध यौगिक जीवन में तो सर्वथा अभाव ही प्रतीत होता था। ये चीजें इस प्रकार से उभरती ही हैं क्योंकि ये अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रही हैं—ये वास्तव में तुम्हारी वैयक्तिक नहीं हैं और इनके आक्रमण की उग्रता का कारण तुम्हारी वैयक्तिक प्रकृति में किसी "बुराई" का होना नही है। मै तो यहां तक कह सकता हूं कि दस में से सात साधकों को ऐसा अनुभव होता है। बाद में, जब ये साधक को उसकी साधना से च्युत करने का अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं कर पाती तो यह सब कुछ दब जाता है और फिर उसके बाद कोई उग्र उपद्रव नहीं होता।

२४-६-१९३२

साधना का क्षणिक या अस्थायी अवरोध

साधना के लिये सबसे बुरी बात है एक ऐसी दूषित मनोदशा में जा गिरना जहां मनुष्य सदा निम्नतर शक्तियों एवं आक्रमणों आदि की ही बात सोचता रहता है। यदि साधना कुछ समय के लिये रुक गई है तो उसे रुका रहने दो, तुम शांत रहो, साधारण काम-काज में लगे रहो, जब आराम की आवश्यकता हो तो आराम भी करो—जब तक भौतिक चेतना तैयार न हो जाय तब तक प्रतीक्षा करो। मेरी अपनी साधना, जब यह तुम्हारी साधना से बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई थी, एक साथ छः छः महीनों के लिये रुक जाया करती थी। मैं उसके लिये कोई हाय-तोबा नही मचाया करता था। बल्कि, जब तक वह रिक्तता या जड़ता का काल निकल न जाता तब तक शांत बना रहता था।

८-३-१९३५

बर्गसों की योजना में संशोधन

प्रश्न—बर्गसों लिखते हैं कि जीवन की प्रगति में पहले तो खींच-तान दिखायी देती है

और उसके बाद फल-फूल निकलते हैं। इस विषय में आपका क्या विचार है, आखिर वे महान् दार्शनिक भी संघर्ष एवं दुःख-कष्ट में से होते हुए परमानंद की ओर अग्रसर होने की हमारी पद्धति से सहमत हैं?

उत्तर–ऐसी पद्धति है तो बहुत ठीक पर जीवन में तथा इस आश्रम में यह इतनी अधिक है कि मैं बर्गसों की शैली से भिन्न किसी अन्य प्रकार के विकास के लिये ही उत्कंठित हूं। यदि अल्ला मियां और बर्गसों दोनों ने मिलकर इसकी योजना बनाई हो तो भी मैं इसमें सुधार करने का प्रस्ताव करूंगा।

ठीक तिथियां निश्चित करना संभव नहीं

दो वर्ष की अवधि के विषय में टैगोर का कथन[1] पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। निश्चय ही उन्होंने मेरी बात को समझने या सुनने में गलती की होगी। मैंने उन्हें यह अवश्य कहा था कि मैं यहां पूर्ण (आंतरिक) आधार स्थापित कर लेने के बाद ही अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करूंगा, किंतु मैंने कोई तिथि नहीं बतायी थी। हां, इससे बहुत पहले 'ब' के नाम लिखी एक चिट्ठी में मैंने दो वर्ष की अवधि की बात अवश्य कही थी। परंतु जो काम करना है उसके विषय में उस समय मेरी दृष्टि उतनी विशाल नहीं थी जितनी अब है–और अब मैं तिथियां नियत करने के संबंध में पहले से अधिक सतर्क हूं। ध्रुवता के दो क्षेत्रों को छोड़कर और कहीं के लिये ठीक ठीक समय निश्चित करना असंभव है–उन दो में से एक तो है शुद्ध जड़ात्मक जो गणित-शास्त्रीय निश्चयताओं का क्षेत्र है और दूसरा अतिमानसिक जो ईश्वरीय ध्रुवताओं का लोक है। इनके बीच के स्तरों में जहां जीवन का भी हाथ होता है तथा वस्तुओं का विकास अनिवार्य रूप से दबाव तथा चोटों के द्वारा ही होता है, वहां, 'काल' और 'शक्ति' अत्यधिक अस्थिर हैं तथा किसी पहले से ठीक की हुई तिथि या समय-विभाग की कठोर सीमा को तोड़ सकते हैं।

१६-८-१९३१

जगत् की निराशाजनक स्थिति तथा नयी सृष्टि

प्रश्न–संसार में जो कुछ हो रहा है उससे मेरा चित्त अत्यंत उद्विग्न है। सर्वत्र दुःख-दैन्य छाया हुआ है, सभी वस्तुओं से लोगों की श्रद्धा उठती जा रही है, यहां तक कि टैगोर, रसेल और रोलां जैसे मनीषी भी इस युग को समाप्त कर देने के लिये चिल्ला रहे हैं। यह कैसी बात है कि जगत् बेतहाशा ऐसी दलदल में दौड़ा जा रहा है? कभी कभी मुझे भय होता है कि अंत में आप तथा श्री माताजी भी इस पापी जगत् को यथाशक्ति तैरने

---

[1] टैगोर ने 'क' से कहा कि श्रीअरविन्द ने उन्हें १९२८ में बताया था कि दो वर्ष के बाद मैं अपने कार्यक्षेत्र को "विस्तृत" रूप दूंगा।

या डूब जाने के लिये अकेला छोड़कर किसी विश्वातीत समाधि में ही लीन हो जायंगे। शायद यह अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण पथ होगा–कौन जाने?

उत्तर–मेरा विचार ऐसा करने का नहीं है–यदि सब कुछ ध्वस्त भी हो जाय तो भी मैं अपनी दृष्टि ध्वंस से परे नव सृष्टि पर ही लगाए रहूंगा। जगत् में जो कुछ हो रहा है उससे मैं घबराता नहीं हूं क्योंकि मुझे पहले से ही मालूम था कि चीजें ऐसा रूप धारण कर लेंगी। अब रही बुद्धिशाली आदर्शवादियों की आशाओं की बात, सो उनसे मैं सहमत नहीं था और इसलिये मुझे निराशा भी नही हुई है।

१०-८-१९३३

अतिमानसिक हस्तक्षेप के लिये प्रयत्न

मैंने तुमसे यह कभी नहीं कहा है कि जो शक्ति यहां काम कर रही है वह इस समय सर्वसमर्थ है। इसके विपरीत मैंने तुमसे यह कहा है कि मैं इसे सर्वसमर्थ बनाने का यत्न कर रहा हूं और इसी प्रयोजन के लिये मैं चाहता हूं कि अतिमानस हस्तक्षेप करे। परंतु यह कहना कि चूंकि यह सर्वसमर्थ नहीं है इसलिये इसका अस्तित्व ही नहीं है, मुझे तर्क-विरुद्ध प्रतीत होता है।

२८-८-१९३४

पार्थिव जीवन पर अतिमानसिक अवतरण का प्रभाव

प्रश्न–जब मैं लोगों को अतिमानसिक अवतरण के विषय में बातें करते सुनता हूं तो मैं थोड़ा संदेहवादी बन जाता हूं। वे आशा करते हैं कि जब अतिमानस का अवतरण होगा, तब प्रत्येक वस्तु तुरंत अध्यात्ममय हो जायगी और यहां तक कि अत्यंत बहिर्मुख राजनीतिक जीवन में भी इस समय जो जो बुराइयां हैं वे सब एकदम ही सुधर जायंगी–और यह आशा उनके अंदर अत्यधिक कुतूहल एवं सनसनी पैदा करती है।

उत्तर–यह सब मूर्खतापूर्ण है। अतिमानस के अवतरण का अर्थ केवल इतना ही है कि जिस प्रकार आज चिंतनशील मन एवं उच्चतर मन की शक्तियां पृथ्वी-चेतना में उपस्थित हैं उसी प्रकार यहां अतिमानसिक शक्ति भी जीवंत रूप में उपस्थित रहेगी। परंतु जिस प्रकार कोई पशु चिंतनशील मन की शक्ति की उपस्थिति से लाभ नहीं उठा सकता और न कोई अविकसित मनुष्य उच्चतर मानसिक शक्ति की उपस्थिति से लाभ उठा सकता है, उसी प्रकार अतिमानसिक शक्ति की उपस्थिति से भी प्रत्येक मनुष्य लाभ नहीं उठा सकेगा। मैंने यह भी अनेक बार कहा है कि पहले-पहल यह शक्ति इने-गिने लोगों के लिये ही होगी, संपूर्ण संसार के लिये नहीं–हां, पार्थिव जीवन पर इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा।

१५-१२-१९३४

अतिमानस का अवतरण निश्चित

जगत् की बुरी दशा के बारे में मैं पहले ही कह चुका हूं। इस संबंध में गुह्यवेत्ताओं का साधारण विचार यह है कि दशा जितनी ही अधिक बुरी होती है, ऊपर से दिव्य हस्तक्षेप का होना या नवीन प्रकाश का आना उतना ही अधिक संभव होता है। साधारण मन को इस बात का पता नहीं चल सकता—उसके लिये बस यही चारा है कि या तो वह इस बात पर विश्वास करे या न करे अथवा प्रतीक्षा करे और राह देखता रहे।

अब रहा यह प्रश्न कि क्या भगवान् सचमुच ही चाहते हैं कि ऐसा कुछ घटित हो। इस बारे में मेरा विश्वास है कि उन्हें यह अभिमत है। मुझे पूरी तरह से, निश्चित रूप से, मालूम है कि अतिमानस एक सत्य है और, जगत् की वस्तुस्थिति को देखते हुए, उसका यहां आना अवश्यंभावी है। प्रश्न तो बस केवल कब और कैसे का है। और वह भी कहीं ऊपर से निश्चित और पूर्व-निर्धारित हो चुका है। परंतु उसकी प्राप्ति के लिये यहां विरोधी शक्तियों के बीच घमासान लड़ाई चल रही है, क्योंकि पार्थिव जगत् में वह पूर्व-निर्धारित परिणाम छिपा हुआ है। और यहां जो कुछ हम देखते हैं वह तो संभावनाओं तथा शक्तियों का भंवर ही है और वे संभावनाएं एवं शक्तियां किसी चीज की प्राप्ति के लिये यत्न कर रही हैं पर इस सबका भविष्य मनुष्य की दृष्टि से ओझल है। तो भी इतना निश्चित है कि कुछ एक आत्माएं इसलिये भेजी गयी हैं कि वह अभी सिद्ध हो जाय। बस, वस्तुस्थिति यही है। मेरी श्रद्धा और संकल्प इसी ओर हैं कि यह अभी सिद्ध हो। अवश्य ही, यह सब मैं मानवीय बुद्धि के धरातल से ही कह रहा हूं, या यूं कहें कि गुह्य-बौद्धिक शैली से कह रहा हूं। इससे अधिक कहना विषय की सीमा को पार करना होगा। मैं समझता हूं कि तुम यह नहीं चाहते कि मैं भविष्यवाणी करना शुरू कर दूं। बुद्धिवादी होने के कारण तुम ऐसा चाह भी नहीं सकते।

२८-१२-१९३४

भौतिक स्तर में डुबकी

प्रश्न—जब आपने मुझे लिखा था कि "तुम भौतिक चेतना में हो" तो उससे आपका क्या अभिप्राय था? क्या आपका यह मतलब था कि मैं पशु-जैसा जीवन बिता रहा हूं अथवा एक पौधे की तरह पनप रहा हूं और क्या आपका संकेत इस ओर था कि मुझे "भौतिक चेतना" से बाहर आना चाहिये और मानसिक स्तर पर निवास करना चाहिये?

उत्तर—मैं स्वयं भौतिक चेतना में निवास कर रहा हूं और वह भी बहुत वर्षों से। प्रारंभ में यह भौतिक स्तर में, उसकी समस्त अचेतना एवं जड़ता में, डुबकी थी, उसके बाद यह भौतिक स्तर में एक ऐसा निवास था जहां उच्चतर चेतनाओं की ओर खुले रहकर धीरे-धीरे भौतिक चेतना के रूपांतर के लिये अंत तक युद्ध होता रहा जिसमें कि वह अतिमान-

सिक रूपांतर के लिये तैयार हो जाय। मानसिक स्तर में वापस चला जाना संभव है जहां, अपने मन के खुले हुए और निर्मल रहने पर, सब प्रकार की मानसिक अनुभूतियां काफी सुगमता से प्राप्त होती है। परंतु साधारणतया साधना इस पथ का अनुसरण नहीं करती।
२९-१२-१९३४

भौतिक निष्क्रियता में से निकलने का मार्ग

प्रश्न–क्या १९३३ में मेरे भीतर निरंतर सच्ची साधना चल रही थी? क्या वास्तव में वह केवल एक ऐसी मानसिक अनुभूति नही थी जिसमें सच्चे सत्त्व का सर्वथा अभाव था? नहीं तो इन दो वर्षों में ऐसा पतन होने का भला क्या कारण हो सकता है?

उत्तर–निश्चय ही उस समय सच्ची साधना चल रही थी और मन तथा प्राण के स्तर पर अत्यंत दृढ़तापूर्वक तैयारी हो रही थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो शांति का अव-तरण आरंभ ही न हो पाता। पतन इस कारण हुआ कि जब तुम भौतिक चेतना की तैयारी पूरी करने के लिये उसमें उतरे, तो तुम अत्यंत निष्क्रिय बन गये, तुमने अपना तपस्या का संकल्प बनाये नही रखा और इसका परिणाम यह हुआ कि काम-शक्ति ने भौतिक चेतना की जड़ता से लाभ उठाकर पूर्ण रूप से अपना अधिकार जमा लिया। भौतिक स्तर में उतरने पर शक्तियों के प्रति इस प्रकार की निष्क्रियता की अवस्था बहुतों में आ जाती है। उस समय मनुष्य चेतना में विभिन्न शक्तियों को खेलते हुए अनुभव करता है–कभी ऊपर से आनेवाली शांति आदि और कभी तंग करनेवाली शक्तियां किंतु उसमें प्रतिक्रिया करने की वैसी शक्ति नही होती जैसी मन तथा प्राण के स्तर पर थी। स्वयं मुझे भी इस अवस्था में से गुजरना पड़ा था और इसमें से निकलने में मुझे कम से कम दो वर्ष लगे थे। उच्चतर चेतना को–विशेषकर ऊपर की शांति और शक्ति को,–नीचे उतार लाने के लिये स्वयं भौतिक चेतना में अटूट संकल्प का विकास करना ही इसमें से निकलने का सर्वोत्तम मार्ग है।
८-७-१९३५

क्या संसार अतिमानस को ग्रहण करने के लिये तैयार है?

प्रश्न–मै इस संसार से ऊब गया हूं और यदि आपका प्रोग्राम इसे बदलने तथा इसमें कुछ श्रेष्ठतर वस्तुएं लाने का न होता तो मै इसे छोड़कर किसी सूक्ष्मतर लोक में जाना अधिक पसंद करता। परंतु क्या संसार भी बदलना चाहता है और अभी जो कुछ यह है, जो कुछ इसके पास है तथा जो कुछ यह करता है उन सबके त्याग का भारी मूल्य चुका-कर क्या यह आपका माल खरीदने को तैयार है?

उत्तर–जो चीज इसके पास नहीं है, उसे यह लेना भी चाहता है और नहीं भी। अति-मानस जो कुछ दे सकता है उस सबको जगत् का आंतरिक मन लेना तो चाहता है, परंतु

उसका बाह्य मन, उसका प्राण तथा उसका शरीर मूल्य नहीं चुकाना चाहते। खैर, आखिर में जगत् को एकबारगी ही बदल देने की चेष्टा नहीं कर रहा हूं, बल्कि केवल, केंद्रीय रूप में, इसके अंदर एक ऐसी चीज उतार लाने का यत्न कर रहा हूं जो अभी तक इसमें नहीं है, अर्थात् एक नयी चेतना एवं शक्ति।

३१-७-१९३५

अतिमानसिक सत्य-शक्ति की क्रिया

तुमने स्वयं अपनी ही विचार-सामग्री जुटाकर अपने लिये सिर चकरानेवाली समस्या पैदा कर ली है! अतिमानस के संबंध में कुछ भी अस्पष्ट और धुंधला नहीं, उसकी क्रिया जितना संभव हो सकता है उतनी यथार्थता पर निर्भर है। अब रहा ठोस वास्तविकता का प्रश्न: मैं अतिमानस से बहुत नीचे की कई शक्तियों से अनेक ठोस चीजें प्राप्त कर चुका हूं, फिर मेरी समझ में नहीं आता कि ऊंची शक्तियां सिर्फ अस्पष्ट धुंध ही क्यों दें। परंतु मानव मन की मान्यता यही मालूम होती है कि जो वस्तु पार्थिव है वही ठोस है, जो उच्च है वह धुंधली और अवास्तविक है—कीड़ा तो वास्तविक सत्य है और गरुड़ केवल भाप!

अस्तु, मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं बराबर सीढ़ी पर चढ़ता जा रहा हूं अथवा उड़ान लेता रहा हूं—इसके विपरीत, मैं अत्यंत कठोर व्यावहारिक तथ्यों से जूझता रहा हूं। मैंने तो उससे केवल यही कहा था कि जो कठिनाई गत नवंबर से मुझे रोके हुए थी उसे हल करने का गुर मुझे मिल गया है और अब मैं उसे लेकर काम कर रहा हूं।

अब पुनः अतिमानस की बात पर आवें: अतिमानस बस साक्षात् स्वयंभू (अपने आपमें बिना किसी सहारे के रहनेवाली) सत्य-चेतना और साक्षात् स्वतःसमर्थ सत्य-शक्ति है। अतः इस विषय में जादूगरी का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक भी नहीं है। जहां तक स्थिरता एवं निश्चल-नीरवता का प्रश्न है, उन्हें प्राप्त करने के लिये अतिमानस की कुछ भी आवश्यकता नहीं। उन्हें तो मनुष्य उच्चतर मन के स्तर पर भी प्राप्त कर सकता है जो मानवी बुद्धि के ऊपर का बस अगला ही स्तर है। मैंने ये चीजें २७ वर्ष पहले १९०८ में ही प्राप्त कर ली थीं और मैं तुम्हें विश्वास दिला सकता हूं कि वे निःसंदेह काफी ठोस तथा काफी अद्भुत थीं तथा उन्हें और अधिक वैसा बनाने के लिये अतिमानसिकता की कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर "ऐसी स्थिरता जो क्रिया एवं गति-जैसी दीख पड़ती है" एक ऐसी बात है जिसके संबंध में मैं कुछ नहीं जानता। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है वह स्थिरता या निश्चल-नीरवता है। इसका प्रमाण यह है कि मन की पूर्ण नीरवता के द्वारा मैंने ४ महीने 'वंदे मातरम्' का संपादन किया तथा "Arya" (आर्य) के ६ खंड लिखे। तब से मैंने जो इतने सारे पत्र और संदेश इत्यादि लिखे हैं उनकी तो बात ही अलग है। यदि तुम कहो कि लिखना कोई कर्म या गति नहीं है वरन् केवल एक ऐसी चीज है

जो कर्म या गति-जैसी दिखाई देती है, चेतना का एक जादू है—अच्छा तो, फिर उस स्थिरता तथा निश्चल-नीरवता के रहते हुए ही मैंने एक पर्याप्त आयास-पूर्ण राजनीतिक आंदोलन का संचालन किया और एक आश्रम की व्यवस्था करने में भी योगदान किया है जो कम से कम स्थूल इंद्रियों को ठोस तथा भौतिक दृष्टिगोचर होता है! यदि तुम इन चीजों को भौतिक या ठोस मानने से इन्कार करो (तात्त्विक दृष्टि से तुम अवश्य ही ऐसा कर सकते हो), तब तुम धम से शंकर के मायावाद में जा गिरोगे और मैं तुम्हें वहीं छोड़ दूंगा।

परंतु तुम कहोगे कि जिस चीज ने मुझे इन स्थूल गतियों और कर्मों में सहायता दी वह अतिमानस नहीं बल्कि अधिक से अधिक अधिमानस है। किंतु पारिभाषिक रूप में अतिमानस मन या अधिमानस की अपेक्षा एक महत्तर शक्तिशाली क्रियाशीलता है। मैं कह चुका हूं कि जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है, इसके साथ मैं इतना और जोड़ दूंगा कि जो चीज प्रभावशाली नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है। और अंत में, मैं यह कहकर उप-संहार करता हूं कि मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं पूर्णतया अतिमानस को अधिकृत कर चुका हूं—मैं केवल यही स्वीकार करता हूं कि मैं इसके अतिनिकट हूं। परंतु "अतिनिकट" तो, आखिरकार, सभी मानवीय शब्दों की भांति एक आपेक्षिक शब्द है।

मुझे मालूम नहीं कि तुम्हें 'र' को कैसे उत्तर देना चाहिये। शायद तुम मेरे दो सूत्रों द्वारा उत्तर दे सकते हो, पर यह संदिग्ध है। अथवा शायद तुम उसे बता सकते हो कि अति-मानस निश्चल-नीरवता है—पर यह बात होगी मिथ्या! अतः मैं तुम्हें तुम्हारी द्विविधा में ही छोड़े देता हूं—और कोई गति ही नहीं। कम से कम जब तक मैं अतिमानस पर दृढ़ भौतिक अधिकार प्राप्त करके और फिर मनोमय जीवों एवं मनुष्यों के पास आकर उन्हें उसकी बात न सुना सकूं—निःसंदेह, एक ऐसी भाषा में जो उनकी समझ में आने योग्य हो,—तब तक मुझे कुछ हद तक मूक ही रहना होगा। कारण, अब तक मेरे लेखों द्वारा जो थोड़ा-सा व्यक्त हुआ है उसे भी उन्होंने बिलकुल गलत ही समझा है।

२३-८-१९३५

सीमा को पार करना

गत दर्शन (१५ अगस्त १९३६ का दर्शन) मोटे तौर पर अच्छा ही था। इन दिनों मैं कोई सनसनीपूर्ण चीज उतारने का यत्न नहीं कर रहा हूं, बल्कि जो शक्ति और चेतना पहले से ही यहां उपस्थित हैं उनके कार्य की तथा ऊपर के महत्तर प्रकाश एवं शक्ति के धीरे धीरे फैलने की प्रगति का निरीक्षण कर रहा हूं। एक कठिन सीमा को अत्यंत संतोष-जनक रूप में पार किया गया है जिससे निकट भविष्य के लिये आशा बंधती है। एक काम, जो है तो बहुत महत्त्वपूर्ण पर अभी तक असफल होता आ रहा था, वह पूरा हो गया है। इसकी व्याख्या मैं अभी नहीं करूंगा, क्योंकि यह एक पूरे व्यवस्थित कार्य का अंग है जिसकी

व्याख्या तभी की जा सकती है जब कि वह पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाय। परंतु यह एक प्रकार का प्रबल व्यावहारिक आश्वासन प्रदान करता है कि कार्य अवश्य सिद्ध होगा।
२६-८-१९३६

पर्दे के पीछे तैयारी

मैं जानता हूं कि यह तुम्हारे लिये तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये कष्ट का समय है। यह सारे संसार के लिये ऐसा ही है। सभी जगह गड़बड़, दुःख, अराजकता तथा उलटापलटी–यही आज की सामान्य वस्तुस्थिति है। जो अच्छी चीजें प्रकट होने को हैं वे पर्दे के पीछे तैयार या विकसित हो रही हैं तथा सभी जगह बुरी चीजों का बोलबाला है। बस एकमात्र आवश्यकता इस बात की है कि जब तक प्रकाश की घड़ी न आ जाय तब तक अडिग और अटल रहा जाय।
२-६-१९४६

विजय की ज्योति

बंगाल की अवस्था निश्चय ही बहुत बुरी है। वहां के हिन्दुओं की स्थिति भयानक है और दिल्ली में हुए अंतरिम सुविधा के गठबंधन के होते हुए भी वह और अधिक बुरी हो सकती है। परंतु इसके बारे में हमारी प्रतिक्रिया अति तीव्र या निराशामय नहीं होनी चाहिये। बंगाल में कम से कम दो करोड़ हिन्दू होंगे और वे समूल नष्ट नहीं किये जा सकते–हिटलर तक अपने संहारकारी वैज्ञानिक साधनों से संपन्न होते हुए भी यहूदियों को निर्मूल नहीं कर सका। आज भी वे पूरी तरह जीवित हैं। और फिर हिंदू संस्कृति तो कोई इतनी दुर्बल और हलकी-फुलकी चीज नहीं है जो सहज ही मिटायी जा सके। यह, कम से कम, ५ हजार वर्षों से जीवित है और अभी इससे भी अधिक दीर्घकाल तक जीवित रहनेवाली है और अपना जीवन बनाये रखने के लिये इसने पर्याप्त शक्ति संचित कर ली है। जो कुछ हो रहा है उससे मुझे बिलकुल आश्चर्य नहीं हुआ। जब मैं बंगाल में था तभी मैंने इसे भाविदृष्टि से देख लिया था और लोगों को चेतावनी दी थी कि ऐसा होने की अत्यधिक संभावना है और यह प्रायः अवश्यंभावी है, उन्हें इसके लिये तैयार रहना चाहिये। उस समय किसी ने भी मेरे कथन को कोई महत्त्व नही दिया, यद्यपि बाद में, जब मुश्किल ने सिर उठाया, तो कइयों को मेरी बात स्मरण हो आयी और उन्होंने स्वीकार किया कि मैंने ठीक कहा था। केवल चित्तरंजन दास को इस संबंध में बहुत आशंका थी; यहां तक कि जब वे पांडिचेरी आये थे तो उन्होंने मुझसे कहा कि वह नही चाहते कि अंग्रेज यह भयंकर समस्या हल होने से पहले हमारे देश से चले जायं। परंतु जो घटनाएं आज हो रही हैं उनसे मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूं, क्योंकि मैं यह जानता हूं और मैंने सैकड़ों बार यह अनुभव किया है कि जो व्यक्ति भगवान् का यंत्र है उसके लिये घोर से घोर अंधकार के परे भागवत विजय की ज्योति विद्यमान रहती है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैंने इस संसार

में किसी बात के लिये—यहां मैं व्यक्तिगत चीजों के बारे में नहीं कह रहा हूं—कोई प्रबल और आग्रहपूर्ण संकल्प किया हो और वह पूरी न हुई हो, भले ही उसके पूरे होने में विलंब हुआ हो या पराजय और महाविपत्ति का सामना करना पड़ा हो। एक समय था जब हिटलर की सर्वत्र विजय हो रही थी और यह निश्चित प्रतीत होता था कि असुर का अंधकारपूर्ण जुआ समस्त संसार के कंधों पर लाद दिया जायगा; परंतु अब कहां है हिटलर और कहां है उसका राज्य? बर्लिन और न्यूरेमबर्ग ने मानव इतिहास के उस भयानक अध्याय का अंत सूचित कर दिया है। अब अन्य अंधकारमय शक्तियां मानवजाति को ढक देने या निगल जाने की धमकी दे रही है, पर वे भी उसी प्रकार नष्ट हो जायंगी जिस प्रकार वह दुःस्वप्न नष्ट हो गया है। अपने इस विश्वास को पुष्ट करनेवाली सभी बातों को मैं पूर्ण रूप से इस पत्र में नहीं लिख सकता—संभवतः एक दिन आयेगा जब मैं ऐसा कर सकूंगा।

१९-१०-१९४६

उषा से पहले का अंधकार

तुम्हारी कठिनाइयों की चरम तीव्रता का कारण यह है कि योग ने निश्चेतना की आधार-शिला पर आक्रमण कर दिया है और यह निश्चेतना ही आत्मा की विजय में तथा उस विजय की प्राप्ति करानेवाले भगवत्कर्म में आनेवाली समस्त व्यक्तिगत एवं विश्वगत बाधाओं का मुख्य आधार है। कठिनाइयां आश्रम में तथा बाहर की दुनिया में एकसमान हैं। संदेह, निरुत्साह, श्रद्धा का ह्रास या लोप, आदर्श के लिये प्राणिक उत्साह की न्यूनता, भविष्य के संबंध में परेशानी एवं निराशा इत्यादि इस कठिनाई के मोटे-मोटे लक्षण हैं। बाहर की दुनिया में इनसे भी बहुत अधिक बुरे लक्षण उपस्थित हैं, जैसे हृदयहीनता की सामान्य वृद्धि, किसी भी चीज में विश्वास करने से इन्कार, ईमानदारी की कमी, अपरिमित भ्रष्टाचार, अधिक ऊंची चीजों का सर्वथा बहिष्कार करके मुख्यतः भोजन, धन, सुख और भोग में ही व्यस्त रहना, संसार में बुरी से बुरी अवस्थाओं के घटित होने की सामान्य आशा। ये सभी, चाहे ये कितनी भी प्रबल क्यों न हों, अस्थायी चीजें हैं और जो लोग विश्वशक्ति की क्रिया-शैलियों तथा परम आत्मा की क्रिया-शैलियों के संबंध में कुछ भी जानते हैं वे इनके लिये तैयार थे। स्वयं मैंने यह पहले से ही देख लिया था कि यह अत्यंत बुरी अवस्था आयेगी, उषा से पहले निशा का अंधकार दिखाई देगा। इसलिये मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूं। मुझे पता है कि अंधकार के पीछे क्या तैयार हो रहा है और मैं उसके आने के पूर्वचिह्न देख तथा अनुभव कर सकता हूं। जो भगवान् को पाना चाहते हैं उन्हें डटे रहना होगा और अपनी खोज में निरंतर लगे रहना होगा। कुछ समय बाद अंधेरा कम होकर दूर होने लगेगा और दिव्य प्रकाश आ जायेगा।

९-४-१९४७

वर्तमान प्रयत्न

यदि मै अतिमानस के स्तर पर खड़ा होकर अतिमानस की सहायता से संसार पर कार्य करता, तो संसार बदल चुका होता अथवा जिस प्रकार अब बदल रहा है उसकी अपेक्षा अत्यधिक वेग से तथा भिन्न ढंग से बदलता। इस समय मैं उच्च एवं सुदूर अतिमानसिक स्तर में स्थित होकर वहीं से जगत् को परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूं, बल्कि उसकी कुछ शक्ति यहां उतार करके उसके आधार पर तथा उसके द्वारा कार्य करने की कोशिश कर रहा हूं। परंतु वर्तमान अवस्था में एकदम पहला काम है अधिमानस को उत्त-रोत्तर अतिमानसभावापन्न करना और दूसरा है निश्चेतना के भारी प्रतिरोध को कम करना तथा यह मानव अज्ञान को जो सहारा देता है उसके बल को क्षीण करना क्योंकि वह सदा ही संसार को और स्वयं अपने आपको भी बदलने के हमारे सभी प्रयत्नों में सबसे अधिक बाधा पहुंचाता है। मैं हमेशा यह कहता आया हूं कि युद्ध आदि मानवव्यापारों में मैं जिस आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करता रहा हूं वह अतिमानसिक नहीं बल्कि अधिमानसिक है; और जब यह शक्ति जड़ जगत् में कार्य करती है तो यह संसार की निचली शक्तियों के जाल में इतनी बुरी तरह उलझ जाती है कि इसके परिणाम चाहे जितने भी प्रबल या उस समय के उद्देश्य को पूरा करने के लिये कितने भी पर्याप्त क्यों न हों, वें जरूर ही अपूर्ण होते हैं। यही कारण है कि मुझे अपने जन्मदिन १५ अगस्त को स्वाधीन भारत का उप-हार तो मिल रहा है पर दो गठरियों में दो स्वतंत्र भारतों के दिये जाने से यह पेचीदा हो गया है। मैं ऐसी उदारता के बिना ही भला था। यदि बिना तोड़े हुए एक ही स्वतंत्र भारत मुझे दे दिया जाता तो मेरे लिये काफी होता।

७-७-१९४७

अडिग रहने के लिये पुकार

अंधकार के बीच में अडिग बने रहो; प्रकाश विद्यमान है और उसकी विजय अवश्य होगी।

४-२-१९४८

वर्तमान अंधकार और नया जगत्

(१)

मुझे भय है कि तुम्हारे साथ चिट्ठी-पत्री करनेवालों में से जो आजकल की हालत का रोना रो रहे हैं, उन्हें मैं कम से कम अभी तो कोरा आश्वासन ही दे सकता हूं। हालत खराब है, और ज्यादा खराब होती जा रही है और किसी भी समय खराब से खराब हो सकती है और यदि उससे भी खराब होना संभव हो तो वैसी भी हो सकती है—आजकल के विक्षुब्ध संसार में हर चीज चाहे वह कितनी भी असंभव क्यों न हो, संभव होती हुई प्रतीत होती

है। उनके लिये सबसे अच्छी बात यही है कि वे इस बात का अनुभव करें कि यदि एक नई और ज्यादा अच्छी सृष्टि होनी ही है तो कुछ संभावनाओं को प्रकट करके उनसे पिंड छुड़ाना जरूरी है, उन्हें पीछे के लिये उठा रखने से काम नहीं चल सकता। यह ठीक योग की तरह है जिसमें क्रियाशील या सोई चीजों को प्रकाश के सामने लाया जाता है ताकि उनके साथ भिड़कर उन्हें पछाड़ा जा सके; गहराइयों में छिपी चीजों को इसी तरह शुद्ध करने के लिये बाहर निकाला जाता है। वे इस पुरानी कहावत को याद रखें कि उषाकाल से पहले रात ज्यादा अंधेरी होती है और उषा का आना अवश्यंभावी है। यह भी याद रखें कि हम जिस नई दुनिया को लाने की कोशिश कर रहे हैं वह इसी ताने-बाने की पर जरा नमूने में अलग चीज न होगी और उसके आने के साधन भी अलग होंगे, अंदर के साधन न कि बाहर के : इसलिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि वे बाहर होने-वाली शोचनीय बातों में ही न लगे रहें अपितु अपने आप अंदर से प्रगति करें ताकि वे नई सृष्टि के लिये तैयार रहें चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न आये। १८-७-१९४८

(२)

तुमने अपने एक पत्र में अपने चारों ओर जगत् में छाये हुए अंधकार के बारे में अपनी भावना प्रकट की है। शायद यह भी एक कारण है जिससे तुम इतनी बुरी तरह परेशान हो गये हो और आक्रमण को तुरंत ही पीछे धकेलने में असमर्थ हो। जहां तक मेरा संबंध है, मुझे अंधकारमय अवस्थाएं निरुत्साहित नहीं करतीं और न मेरे अंदर यह विश्वास ही बिठाती हैं कि "संसार की सहायता" करने का मेरा संकल्प निरर्थक है, क्योंकि मुझे मालूम था कि ऐसी अवस्थाएं आयेंगी; वे विश्वप्रकृति में मौजूद थीं और उनका प्रकट होना जरूरी था ताकि वे समाप्त की जा सकें या निकाल फेंकी जायं और उनसे मुक्त एक अधिक अच्छा संसार जन्म ले सके। आखिर बाह्य क्षेत्र में कुछ तो किया ही गया है और वह आंतरिक क्षेत्र में भी कुछ करने में सहायक हो सकता है या उसके लिये तैयारी कर सकता है। उदाहरण के लिये, भारत अब स्वतंत्र है और इसकी स्वतंत्रता भगवान् का काम पूरा होने के लिये जरूरी थी। आज जो कठिनाइयां उसे घेरे हुई हैं और जो शायद कुछ समय तक बढ़ती ही जायं—विशेषकर पाकिस्तान के झमेले-झंझट को लेकर—वे भी ऐसी चीजें हैं जिनका आना जरूरी था ताकि उन्हें साफ किया जा सके। यहां भी पूरे तौर से सफाई जल्द होगी यद्यपि दुर्भाग्यवश इस प्रक्रिया में मनुष्य को काफी मुसीबतें उठानी पड़ेंगी। पर भगवान् का काम ज्यादा संभव हो सकेगा और यह जरूर हो सकता है कि संसार को आध्यात्मिक प्रकाश की ओर ले जाने का स्वप्न—यदि वह स्वप्न है—एक वास्तविक सत्य बन जाय। मैं आज भी, इन सब अंधकारमय अवस्थाओं के होते हुए भी, यह मानने को तैयार नहीं हूं कि मेरा जगत् की सहायता करने का संकल्प जरूर असफल होगा। ४-४-१९५०

५

गुरु और मार्गदर्शक

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधनाशैली

श्रीअरविन्द की शिक्षा भारत के प्राचीन ऋषियों की इस शिक्षा से आरंभ होती है कि विश्वब्रह्माण्ड के दिखाई देनेवाले रूप के पीछे एक सत्ता और चेतना का सत्य-स्वरूप है, सब वस्तुओं की एक अद्वितीय और शाश्वत आत्मा है। सभी सत्ताएं उस एक आत्मा के अंदर युक्त हैं, परंतु चेतना की एक प्रकार की पृथक्ता के कारण, मन, प्राण और शरीर में अपनी सत्य आत्मा और सत्य-स्वरूप के विषय का ज्ञान न होने के कारण विभक्त हैं। परंतु एक मनोवैज्ञानिक साधना के द्वारा भेदात्मक चेतना के इस पर्दे को दूर किया जा सकता है और अपने सच्चे आत्म-स्वरूप को, अपने अंदर तथा सबके अंदर विद्यमान भगवान् को जाना जा सकता है।

श्रीअरविन्द की शिक्षा यह कहती है कि वह 'एक' सत्ता और चेतना यहां जड़ तत्त्व में अंतर्निहित है और विकास की प्रक्रिया के द्वारा वह अपने आपको मुक्त करती है। जो कुछ निश्चेतन प्रतीत होता है उसी में चेतना दिखाई देती है और जब एक बार चेतना प्रकट हो जाती है तो उसके बाद वह अपने आप ही क्रमशः ऊंची होती और साथ ही बड़ी से बड़ी पूर्णता की ओर बढ़ती और विकसित होती है। चेतना की इस उन्मुक्ति की प्रथम अवस्था है प्राण; दूसरी अवस्था है मन; परंतु मन तक आकर ही चेतना का क्रमविकास समाप्त नही हो जाता, वह किसी और बड़ी चीज के अंदर, एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना के अंदर जा मिलने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है। अतएव क्रमविकास का अगला कदम होगा सचेतन सत्ता में अतिमानस और आत्मा के सर्वोपरि शक्ति बनने की ओर प्रगति करना, और केवल उसी अवस्था में सभी वस्तुओं में अंतर्लीन भगवान् अपने को पूरी तरह मुक्त करेंगे और जीवन पूर्णता को व्यक्त करने में समर्थ होगा।

परंतु जहां प्रकृति ने विकास के पहले कदम पौदे और पशुओं में कोई सचेतन इच्छा हुए विना ही आगे बढ़ाये थे, वहां मनुष्य में आकर वह अपने यंत्र की सचेतन इच्छाशक्ति की सहायता से विकसित होने के योग्य हो जाती है। परंतु मनुष्य की केवल मानसिक इच्छा-शक्ति की सहायता से ही पूर्ण रूप से यह कार्य संपन्न नही हो सकता, क्योंकि मन कुछ दूर तक ही जाता है, और उसके बाद केवल गोल गोल चक्कर काट सकता है। एक बड़े परि-वर्तन का होना, चेतना का पलट जाना अत्यंत आवश्यक होता है जिससे कि मन एक उच्च-तर तत्त्व में बदल जाय। इसकी पद्धति हमें योग के प्राचीन मनोवैज्ञानिक अनुशासन और

साधना में मिलती है। प्राचीन काल में इस संसार से अलग होकर तथा आत्मा या आत्म-तत्त्व की उच्चता में विलीन होकर इसे साधित करने की चेष्टा की जाती थी। परंतु श्रीअरविन्द की शिक्षा यह है कि एक उच्चतर तत्त्व का अवतरण संभव है और वह अवतरण हमारे आध्यात्मिक आत्मस्वरूप को केवल जगत् से बाहर ले जाकर ही मुक्त नहीं करेगा, बल्कि इस जगत् के अंदर भी मुक्त करेगा, मन के अज्ञान या इसके अत्यंत सीमित ज्ञान के स्थान पर अतिमानसिक सत्य-चेतना को स्थापित करेगा जो आंतरिक आत्मा का ठीक यंत्र होगी और इसी की सहायता से मनुष्य अंतर्मुख और क्रियाशील दोनों भावों में अपने आपको प्राप्त करेगा और अपनी पशुता से भरी मनुष्यता से निकलकर एक दिव्य जाति में परिणत होगा। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये योग के मनोवैज्ञानिक अनुशासन और साधना का उपयोग किया जा सकता है—अपनी सत्ता के सभी अंगों को खोलकर और उच्चतर तथा अब तक छिपे हुए अतिमानस-तत्त्व के अवतरण तथा उसकी क्रिया की सहायता से परिवर्तन या रूपांतर लाकर इस उद्देश्य को सिद्ध किया जा सकता है।

पर यह कार्य एकदम या थोड़े से समय में अथवा किसी तेज या चमत्कारपूर्ण रूपांतर के द्वारा नहीं पूरा किया जा सकता। साधक को बहुत से स्तर पार करने होते हैं और तब कहीं अतिमानस का अवतरण संभव होता है। साधारण तौर पर मनुष्य अधिकांश में अपने ऊपरी मन, प्राण और शरीर में ही रहता है, पर उसके अंदर एक आंतर सत्ता भी है जिसमें बहुत सी महत्तर संभावनाएं हैं और अपनी इस आंतर सत्ता के विषय में उसे सचेतन होना है। अभी उस सत्ता का एक अत्यंत सीमित प्रभावमात्र ही मनुष्य ग्रहण करता है और वही उसे सदा एक महत्तर सौंदर्य, सामंजस्य, शक्ति और ज्ञान की खोज में लगाये रहता है। अतएव योग की सबसे पहली प्रक्रिया है इस आंतर सत्ता के सभी क्षेत्रों को खोल देना और वहां रहते हुए बाहरी जीवन बिताना, एक आंतरिक ज्योति और शक्ति की सहायता से अपने बाहरी जीवन को नियंत्रित करना। जब मनुष्य ऐसा करता है तब वह उसके फल-स्वरूप अपने अंदर अपनी सच्ची अंतरात्मा का पता पा लेता है जो केवल मन, प्राण और शरीररूपी तत्त्वों का बाहरी संमिश्रण ही नहीं है, बल्कि इन सबके पीछे विद्यमान परम सद्वस्तु का एक अंश है, अद्वितीय भागवत अग्नि की एक चिनगारी है। मनुष्य को अपनी इस अंतरात्मा में निवास करना सीखना होगा और अंतरात्मा का जो सत्य की ओर एक प्रवेग है उसके द्वारा अपनी बाकी प्रकृति को शुद्ध करना तथा उसे भी लक्ष्य की ओर मोड़ना होगा। उसके बाद फिर हमारा आधार ऊपर की ओर खुल सकता है और उसके अंदर दिव्य सत्ता का एक उच्चतर तत्त्व अवतरित हो सकता है। परंतु इतना होने पर भी एकाएक पूर्ण अतिमानसिक ज्योति और शक्ति का अवतरण नहीं होता; क्योंकि साधारण मानव मन और अतिमानसिक सत्यचेतना के बीच चेतना की बहुत सी भूमिकाएं हैं। इन मध्यवर्ती भूमिकाओं को भी खोलना होगा और उनकी शक्ति को मन, प्राण और शरीर में

उतारना होगा और ऐसा कर लेने के बाद ही अतिमानसिक सत्य-चेतना की पूर्ण शक्ति मनुष्य की प्रकृति के अंदर कार्य कर सकती है। अतएव इस आत्मानुशासन या साधना की प्रक्रिया लंबी और कठिन है; परंतु इसका थोड़ा सा भी अंश यदि जीवन में उतारा जाय तो वह भी लाभ ही है, क्योंकि उससे अंतिम मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करना अधिक संभव हो जाता है।

प्राचीन योगपद्धतियों में ऐसी बहुत सी चीजें हैं जिनकी इस पथ में भी आवश्यकता होती है–जैसे, एक महत्तर विशालता की ओर तथा आत्मा और अनंत की अनुभूति की ओर अपने मन को खोलना, जिसे विश्वचेतना कहा जाता है उसमें प्रवेश, वासनाओं और षड्-रिपुओं पर प्रभुत्व स्थापित करना। बाह्य तपस्या आवश्यक नहीं है, परंतु कामना-वासना और आसक्ति पर विजय प्राप्त करना तथा शरीर और उसकी आवश्यकताओं को, उसकी लालसाओं और अंध-प्रेरणाओं को संयमित करना आवश्यक है। इस मार्ग में प्राचीन योग-पद्धतियों की सभी मूल बातों का समावेश किया गया है–जैसे, ज्ञानमार्ग का मन के द्वारा सद्वस्तु और बाह्य रूप के बीच विवेक करना, हृदयमार्ग का भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण करना, कर्ममार्ग का अपनी इच्छाशक्ति को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से हटाकर सत्य की ओर लगाना, अपने अहं से बड़ी दिव्य सद्वस्तु की सेवा में लगाना इत्यादि। इस मार्ग में सारी सत्ता को इस प्रकार तैयार करना है कि जब महत्तर ज्योति और शक्ति के लिये हमारी प्रकृति के अंदर क्रिया करना संभव हो तब हमारी सारी सत्ता उनकी क्रिया को प्रत्युत्तर दे सके तथा रूपांतरित हो सके।

इस साधना में गुरु की प्रेरणा तथा कठिन अवस्थाओं में उनका नियंत्रण और उनकी उपस्थिति आवश्यक है। इनके अभाव में इस पथ पर बहुत ठोकरें खाये बिना और भूलें किये बिना नहीं चला जा सकता; यहां तक कि इनके कारण सफलता की सारी संभावना ही नष्ट हो सकती है। गुरु वह है जो उच्चतर चेतना और सत्ता को प्राप्त हो चुके हैं। उन्हें बहुधा उस चेतना और सत्ता का व्यक्त रूप या प्रतिनिधि माना जाता है। वह केवल अपनी शिक्षा द्वारा और उससे भी अधिक अपने प्रभाव तथा उदाहरण के द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुंचा सकने की शक्ति के द्वारा भी सहायता करते हैं।

यही श्रीअरविन्द की शिक्षा तथा उनकी साधनापद्धति है। किसी एक धर्मविशेष को उन्नत करना, अथवा प्राचीन धर्मों को एक साथ मिला देना या कोई नया धर्म प्रचलित करना उनका उद्देश्य नही है, क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक चीज उनके मुख्य उद्देश्य से दूर हटा ले जायगी। उनके योग का एकमात्र उद्देश्य है आंतरिक आत्म-विकास जिसके द्वारा इस योग का प्रत्येक साधक यथासमय सर्व भूतों में स्थित अद्वितीय आत्मा को प्राप्त कर सके तथा अपने अंदर मानसिक चेतना से उच्चतर एक ऐसी चेतना को, एक ऐसी आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना को विकसित कर सके जो मानव प्रकृति को रूपांतरति करके दिव्य बना दे।

अगस्त १९३४

सत्य का स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव

जो सत्य मैं ला रहा हूं वह यदि तुम्हारे लिये इतना अधिक महान् है कि तुम उसे न समझ सकते हो न सह सकते हो तो तुम यहां से चले जाने और किसी अर्द्धसत्य या अपने निजी अज्ञान में निवास करने के लिये स्वतंत्र हो। मैं यहां किसी का धर्म बदलने के लिये नहीं बैठा हूं; मैं अपने पास आने के लिये संसार से नहीं कहता और न मैं किसी को बुलाता ही हूं। मैं तो यहां इसलिये हूं कि जो लोग मेरे पास आने की आंतरिक पुकार अनुभव करें और उससे लगे रहें, केवल उन्हीं में, अन्य लोगों में नहीं, दिव्य जीवन और दिव्य चेतना को स्थापित करूं। न तो मैं तुमसे कह रहा हूं और न श्री माताजी ही तुमसे कह रही हैं कि तुम हम लोगों को स्वीकार करो। तुम किसी भी दिन जा सकते हो और अपनी रुचि के अनुसार चाहे सांसारिक जीवन यापन करो या कोई धार्मिक जीवन विताओ। परंतु, जिस प्रकार तुम स्वतंत्र हो उसी प्रकार दूसरे भी यहां रहने के लिये और अपने पथ का अनुसरण करने के लिये स्वतंत्र हैं। तुम्हें किसी उपद्रव का केंद्र बनने तथा दूसरों की शांति और आध्यात्मिक उन्नति में बाधा डालने की कोशिश करने का कोई अधिकार नहीं है।
२३-१०-१९२९

मेरे योग को स्वीकार करने की शर्तें

(१)

यदि वह मेरे योग को स्वीकार करना चाहता है तो उसकी शर्तें हैं—दृढ़ निश्चय, जिस सत्य को मैं नीचे उतार रहा हूं उसके लिये अभीप्सा, शांत निष्क्रियता तथा जिस उद्गम से प्रकाश आ रहा है उसकी ओर उद्घाटन। उसके अंदर शक्ति पहले से ही कार्य कर रही है और यदि वह इस मनोभाव को ग्रहण करे तथा निरंतर बनाये रहे और मेरे ऊपर उसका पूर्ण विश्वास हो तो कोई कारण नहीं कि वह साधना में सुरक्षित रूप से अग्रसर न हो।
९-१२-१९२२

(२)

मालूम होता है कि जमींदार मुझसे कोई परंपरागत दीक्षा प्राप्त करने की आशा रखता है, परंतु वैसी दीक्षा मैं नहीं दे सकता। उससे यह कह देना चाहिये कि मैं ऐसी दीक्षा नहीं दिया करता तथा मेरी विधि भिन्न है। उसे यह समझाना और उसके लिये भी शायद यह समझना कुछ कठिन होगा कि वह विधि क्या है। संभवतः उससे यह कहा जा सकता है कि जो लोग यहां योग करने के लिये आते हैं वे तुरंत ही स्वीकार नहीं कर लिये जाते और कभी कभी तो स्वीकार करने से पहले लंबे अरसे तक परीक्षा-काल चलता है। देखें, वह इस बात को किस रूप में ग्रहण करता है और यदि फिर भी उसकी यहां आने की इच्छा

बनी रही तो पीछे इस विषय में कोई निर्णय करेंगे।
११-७-१९४९

(३)

यदि उसमें सच्ची यौगिक क्षमता होती तो और बात थी, परंतु हम इसका कोई चिह्न भी नहीं देखते। उससे कह दो कि उसे किसी अन्य प्रकार के मार्गदर्शन की आवश्यकता है–वह इस योग में नहीं टिक सकेगा।

उसे साहाय्य एवं मार्ग-निर्देश देना मेरे लिये संभव नही–क्योंकि इसका अर्थ होगा उसपर एक 'प्रभाव' डालना और अपने विकास की वर्तमान अवस्था में उसे ग्रहण एवं सहन करने के लिये आवश्यक शक्ति और संतुलन उसमें नही है।

मैं कह चुका हूं कि वह इस योग की साधना नहीं कर सकता। उसे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है जिसे वह आत्मसात् कर सकता हो।
४-७-१९३६

(४)

यदि मैं केवल ऐसी ही बातें कहूं जिन्हें मानव प्रकृति सुगम एवं स्वाभाविक अनुभव करे तो वे शिष्यों के लिये निश्चय ही अत्यंत सुविधाजनक होंगी, किंतु उस हालत में आध्यात्मिक लक्ष्य या प्रयास के लिये कोई स्थान नहीं रह जायगा। आध्यात्मिक ध्येय तथा साधन सरल या स्वाभाविक नही होते (जैसे, कलह, कामोपभोग, लोभ, आलस्य तथा सब प्रकार की त्रुटियों के आगे चुपचाप शीश नवाना सरल और स्वाभाविक होता है) और यदि लोग शिष्य बनते है तो यही समझा जाता है कि वे सरल स्वाभाविक चीजों का नहीं वरन् आध्यात्मिक लक्ष्यों एवं प्रयासों का ही अनुसरण करेंगे चाहे वे कितने भी कठिन और सामान्य प्रकृति से ऊपर क्यों न हों।
३-५-१९३६

साधकों से पत्र-व्यवहार

(१)

पत्रव्यवहार के विषय में मुझे यह कहना है कि यदि मै ढेर की ढेर निरर्थक चिट्ठियों के पढ़ने को ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बना लू तथा सब उच्चतर लक्ष्यों को ताक पर रख दूं तो मैं नि.संदेह एक मस्तिष्कहीन मूर्ख ही हूंगा ! यदि मैंने पत्रव्यवहार को महत्त्व दिया है तो इसलिये कि यह मेरे प्रधान लक्ष्य का एक प्रभावशाली साधन है–ऐसे बहुतसे साधक है जिन्हें इसने तमोनिद्रा से जागने तथा आध्यात्मिक अनुभव के पथ पर पदार्पण करने मे सहायता पहुंचाई है, कुछ ऐसे भी है जिन्हें इसने अनुभवों के एक संकुचित घेरे से

निकालकर उनके लिये उपलब्धियों की एक बाढ़ सी ला दी है। अन्य कइयों का भी, जो वर्षों तक पूर्णतः निराश रहे हैं. कायापलट हो गया है और वे अंधकार से प्रकाश के द्वार में प्रविष्ट हो गये हैं। कुछ ऐसे भी अवश्य हैं जिन्हें लाभ नहीं हुआ है अथवा केवल थोड़ा सा ही लाभ हुआ है। फिर कई ऐसे भी थे जो बेसिरपैर की बातें लिखते और हमारा समय नष्ट करते थे। परंतु मेरी समझ में हम कह सकते हैं कि लिखनेवालों में से अधिकतर ने सचमुच उन्नति की है। इसमें भी संदेह नहीं कि स्वयं पत्रव्यवहार नहीं बल्कि वह शक्ति ही, जिसका भौतिक प्रकृति पर दबाव दिन-पर-दिन बढ़ रहा था, यह सब करने में समर्थ हुई, परंतु उस शक्ति को प्रवाहित करने की आवश्यकता थी और यह कार्य इस पत्रव्यवहार ने किया। ऐसे बहुत से लोग थे जिनके लिये इसकी आवश्यकता नहीं थी, फिर कुछ ऐसे भी थे जिनके लिये यह उपयुक्त नहीं था। यदि यह केवल बौद्धिक जिज्ञासामात्र होता तो इसका कुछ लाभ न होता, किंतु इसका अधिकांश भाग साधना एवं अनुभूति-विषयक था और वही अत्यंत उपयोगी भी सिद्ध हुआ।

परंतु समय बीतने के साथ साथ पत्रव्यवहार अत्यधिक बढ़ने लगा, यहां तक कि पत्रों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई कि उनका उत्तर देना संभव नहीं रहा। तथापि उस बाढ़ को रोकना भी कठिन था और साथ ही पत्रों में भेद-प्रभेद करना सुगम नहीं था क्योंकि लोग उसे समझ ही न पाते। इसलिये हमें निस्तार का मार्ग ढूंढ़ना है पर अभी तक तो हम केवल इसे कुछ हलका करने के उपाय ही निकाल पाये हैं। सुगम उपाय यह होगा कि जो लोग उद्घाटित हो चुके हैं वे अब आंतरिक वार्तालाप पर ही निर्भर करने लग जायं और केवल यदा-कदा ही, जब कोई बात पूछना आवश्यक हो, पत्रव्यवहार करें—कुछ लोगों ने ऐसा करना आरंभ कर दिया है। मैं समझता हूं, अंत में हम इसे इतना कम करने में समर्थ हो जायंगे कि हम इसे निभा सकें।

१२-१-१९३४

(२)

मेरे प्रतिदिन दस घंटे "तुच्छ" पत्र लिखते रहने से नई जाति का निर्माण होने के बारे में तुमने जो बात कही है उसे मैं नहीं समझ पाया और महत्त्वपूर्ण पत्र लिखने से भी ऐसा नहीं हो सकता। यदि मैं बढ़िया कविताएं लिखने में अपना समय लगाऊं तो उससे भी नई जाति का निर्माण नहीं होगा। प्रत्येक काम अपने अपने स्थान पर महत्त्व रखता है—विद्युत्कण या अणु-परमाणु या दाने स्वयं छोटी सी चीजें हो सकते हैं पर अपने अपने स्थान में वे संसार की रचना के लिये अनिवार्य हैं; यह केवल पहाड़ों तथा सूर्यास्त एवं उत्तरी ध्रुव की ज्योतियों (aurora borealis) से ही नहीं बन सकता—चाहे वहां इनकाभी अपना स्थान है। सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि इन चीजों के पीछे कौनसी शक्ति है तथा इनकी क्रिया का प्रयोजन क्या है और इस संसार में जो विश्वात्मा कार्य कर

रहा है उसे यह सब मालूम है। मैं यह भी कह दूं कि वह विश्वात्मा मन या मानवीय मानदंडों के अनुसार नहीं बल्कि इनसे अधिक महान् चेतना से कार्य करता है। वह चेतना विद्युत्कण से आरंभ कर समूचे संसार को बना सकती है तथा नाड़ियों की एक विशेष ग्रंथि का प्रयोग कर उन्हें यहां जड़ के भीतर मन एवं आत्मा के कार्यों का आधार बना सकती है, किसी रामकृष्ण, नेपोलियन या शेक्सपियर को पैदा कर सकती है। भला एक महान् कवि का जीवन भी क्या केवल उज्ज्वल एवं महत्त्वपूर्ण चीजों से ही बना होता है? "किंग लिअर (King Lear)" या "हैमलेट (Hamlet)" की रचना कर सकने के पूर्व रचयिता को कितनी ही क्षुद्र कृतियों में व्यस्त रहना तथा उन्हें पूरा करना पड़ा? और, तुम्हारी अपनी ही तर्कणा के अनुसार, क्या लोग छंद, मात्रानिर्णय तथा पदांश के उच्चारण के नाना ढंगों के बारे में तुम्हारे कोलाहल का–वे इसे कोलाहल ही कहेंगे, मैं तो ऐसा नहीं कहता–मजाक उड़ाने में युक्तिसंगत नहीं हरेंगे? शायद वे कहेंगे कि क्यों वह ऐसी तुच्छ नीरस चीजों में अपना समय गंवा रहा है जब कि वह यही समय सुंदर गीतिकाव्य या उत्कृष्ट संगीत की रचना में लगा सकता था? परंतु काम करनेवाले को जो सामग्री लेकर काम करना होता है उसका उसे ज्ञान होता है तथा उसका वह मान करता है और उसे पता होता है कि वह क्यों "तुच्छ बातों" एवं छोटी छोटी ब्योरे की बातों में संलग्न है और उसके प्रयत्न की पूर्णता में उनका क्या स्थान है।

दिसम्बर १९३२

(३)

परंतु मेरी समझ में नहीं आता कि ये सब बातें मुझे मानसिक प्रश्नों का उत्तर देने से क्योंकर रोक सकती हैं? मेरी राय में यदि भागवत प्रयोजन के लिये यह कार्य करना आवश्यक हो तो इसे करना ही चाहिये। मेरी समझ में स्वयं श्रीरामकृष्ण ने भी सहस्रों प्रश्नों का उत्तर दिया था। परंतु उत्तर वैसे ही होने चाहियें जैसे वे देते थे और जैसे मैं देने का यत्न करता हूं अर्थात् वे उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव से, ज्ञान के गंभीरतर उद्गम से उद्भूत होने चाहियें, न कि अपने अज्ञान को सुसंगत करने में तत्पर तर्कबुद्धि के टिमटिमाते प्रकाश से। यह तो और भी अनुचित है कि भागवत सत्य को बुद्धि के सम्मुख निर्णयार्थ उपस्थित किया जाय और उसके प्रमाण के आधार पर उसे दोषी या निर्दोषी ठहराया जाय, क्योंकि बुद्धि-शक्ति को ऐसा करने का पर्याप्त अधिकार नहीं है न उसमें ऐसी योग्यता ही है।

(४)

प्रश्न–क्या यह सत्य नहीं है कि हमें आप से जो चिट्ठियां प्राप्त होती हैं वे शक्ति से भरी होती हैं?

उत्तर–हां, उनमें शक्ति ढाली जाती है।

(५)

प्रश्न–ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग आपको प्रतिदिन चिट्ठी नहीं लिखते उन्हें इसके कारण कोई विशेष हानि नहीं हो रही है। इसका क्या कारण है?

उत्तर–या तो उनमें साधना के लिये उतना उत्साह नहीं है अथवा वे अपनी कठिनाइयों को खोलकर रखने की आवश्यकता कम अनुभव करते हैं, क्योंकि उन्हें निश्चयात्मक अनुभव की कोई धारा प्राप्त हो गई है जिसका वे विश्वासपूर्वक अनुसरण करते हैं।
२४-९-१९३३

(६)

प्रश्न–जो लोग आपको बराबर चिट्ठी नहीं लिखते रहते तथा किसी निश्चयात्मक अनुभव की धारा का विश्वासपूर्वक अनुसरण करते हैं, उन्हें भी क्या यह भय नहीं है कि अशुद्ध सुझाव एवं अन्यान्य रचनाएं उनके सामने उपस्थित हों और साथ ही उनके अनुभव में विविधता या समग्रता का भी अभाव हो?

उत्तर–हां, ये ोनों ही खतरे हैं। जिनको किन्हीं भीषण कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, उन्हें भी सदा अनुभव के एक ही स्तर पर बने रहने का दूसरा खतरा तो रहता ही है। पर बहुत से लोग इस कारण नहीं लिखते कि पत्र लिखने से तो तीव्र गति से प्रगति करने के लिये उनपर दवाव पड़ेगा और अभी वे उस दवाव के लिये तैयार नहीं हैं।
२५-९-१९३३

लेखन के द्वारा सहायता तथा आंतरिक सहायता

जो कुछ मैं लिखता हूं उससे साधारणतया मन को ही सहायता मिलती है और वह भी बहुत कम, क्योंकि मैं जो कुछ लिखता हूं उसे लोग वास्तव में नहीं समझते–वे उसपर अपनी अपनी इमारतें खड़ी कर देते हैं। आंतरिक सहायता इससे सर्वथा भिन्न वस्तु है और उसमें भ्रांति नहीं हो सकती क्योंकि वह मन तक ही नहीं बल्कि चेतना के सारतत्त्व तक पहुंचती है।

आध्यात्मिक परिवर्तन और स्कूल-शिक्षक की पद्धति

मैं कभी किसी भी व्यक्ति को उसके दोष नही बताता जब तक कि वह मुझे इसके लिये अवसर न दे। साधक को स्वयं सचेतन बनना तथा अपने आपको प्रकाश के सामने खोल कर रखना चाहिये, अपने दोषों को देखना, उन्हें त्यागना और अपने-आपको बदलना चाहिये। हमारे लिये यह ठीक पद्धति नहीं है कि हम हस्तक्षेप करें, व्याख्यान दें तथा बराबर किसी-न-किसी बात की ओर ध्यान खींचा करें। यह तो स्कूल-शिक्षक की पद्धति है–यह आध्या-

त्मिक परिवर्तन में काम नहीं आती।

१०-५-१९३६

सहायता के लिये द्वार बंद कर देना

मुझे मालूम नहीं कि मैंने सहायता देने से इनकार किया है। परंतु सहायता को ग्रहण करना भी तो आवश्यक है। जब तुम इस अवस्था में होते हो तब ऐसा प्रतीत होता है कि तुम रोष और कटुता की भावना के द्वारा उन्हीं के विरुद्ध, जिनसे तुम सहायता पाना चाहते हो, अपने द्वार झट बंद कर देते हो। यह ऐसा मनोभाव नहीं है जिससे कि ग्रहण करना अथवा सचेतन होना सरल बन जाता है और न इसके कारण सहायता का सफल होना ही सुगम होता है! मैं तो केवल तुम्हारे पास अपनी शक्ति भेज सकता हूं जो ग्रहण की जाय तो तुम्हें अपनी अवस्था के बदलने में सहायता देगी; मैंने सदा यही किया है। परंतु उस शक्ति के लिये यदि द्वार बंद कर दिये जांय तो वह अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकेगी–अथवा कम से कम तुरंत ही नहीं कर सकेगी।

श्रीअरविन्द का स्पर्श

(१)

मेरा स्पर्श हमेशा विद्यमान है; परंतु तुम्हें यह सीखना होगा कि उसका अनुभव तुम केवल बाहरी संपर्क और माध्यम के द्वारा–लेखनी के स्पर्श द्वारा ही नहीं बल्कि मन, हृदय, प्राण और शरीर पर उसकी सीधी क्रिया के द्वारा भी पा सको। तब कठिनाई बहुत कम हो जायगी या बिलकुल न रहेगी।

२७-३-१९३३

(२)

बाह्य स्पर्श भी सहायक होता है; परंतु आंतरिक स्पर्श और भी अधिक सहायक होता है जब कि कोई उसे एक मूर्त्त रूप में ग्रहण करने का अभ्यासी हो जाय–और फिर बाह्य स्पर्श का पाना सदा पूर्ण रूप से संभव भी तो नहीं होता, जब कि आंतरिक स्पर्श सब समय ही उपस्थित रह सकता है।

निर्वैयक्तिक कार्य और वैयक्तिक स्पर्श

हां तो, मेरा ख्याल है कि क्या यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा कि इंगलैंड या अमरीका के लोगों के लिये हम दर्शन तथा योग के पहलुओं द्वारा निर्वैयक्तिक रूप से ही अपना कार्य आरंभ करें, और व्यक्ति को अभी दृश्यपट के कुछ पीछे ही रहने दें, जब तक कि वहां के लोग व्यक्ति-रूप में वैयक्तिक स्पर्श के लिये तैयार न हो जायं।

अब तक हम इसी प्रणाली का अनुसरण करते आये हैं। भारत में इससे भिन्न स्थिति है, क्योंकि यहां के लोगों की सामान्य मनोवृत्ति और ही प्रकार की है और यहां तो गुरु-शिष्य की प्रथा भी प्रचलित है।

मई, १९४३

श्रीअरविन्द की करुणा

प्रश्न–'आपकी करुणा' का प्रतीक-स्वरूप पुष्प इतना सुकुमार क्यों है और क्यों वह इतनी जल्दी कुम्हला जाता है?

उत्तर–मेरी करुणा अपने प्रतीक के साथ ही नहीं कुम्हला जाती। फूल तो उन वस्तुओं के, जो स्वयं शाश्वत होती है, क्षणिक प्रतिरूप होते हैं।

९-८-१९३६

काम और समय

(१)

तुम इस बात को अनुभव नहीं करते कि साधारण पत्रव्यवहार तथा बहुत सी रिपोर्टों आदि पर मुझे १२ घंटे व्यय करने पड़ते हैं। इसके लिये मैं तीसरे पहर ३ घंटे और सारी रात, प्रातः ६ बजे तक, काम करता हूं। अतः यदि मेरे पास कोई ऐसा लंबा पत्र आये जिसमें बहुत से प्रश्न पूछे गये हों तो मैं उसका उत्तर तुरंत ही नहीं दे सकता। इससे ऐसे डांवांडोल हो जाना तथा योग को त्याग देने की इच्छा करना सर्वथा अनुचित है।

१७-६-१९३३

(२)

पुस्तक के विषय में मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि ऐसे कार्यों के लिये मेरे पास समय नहीं है। मुझे जो कुछ करना है उसके लिये ही चौबीस घंटे बहुत कम पड़ते हैं।

३-९-१९३०

एकांतवास के कारण

(१)

मेरा एकांतसेवन कोई नई वस्तु नहीं है, यहां तक कि पत्रव्यवहार के द्वारा प्राप्त होनेवाले संपर्क का बंद होना भी कोई नई चीज नहीं है,–इस विच्छेद को आरंभ हुए आज बहुत समय हो गया है। यह नियम मुझे वैयक्तिक पसंद या रुचि-अरुचि के कारण नहीं वरन् इस कारण बनाना पड़ा कि मेरा अधिकांश समय और शक्ति पत्रव्यवहार में खर्च हो जाते थे और यदि मैं अपना कार्यक्रम न बदलता तथा अपनी सारी सामर्थ्य अपने वास्तविक कार्य

में न लगाता तो यह भय था कि वह उपेक्षित या अपूर्ण ही रह जाता। और फिर इस बाह्य कार्य का वास्तविक परिणाम भी अत्यंत न्यून ही था–यह नहीं कहा जा सकता कि इसके फलस्वरूप आश्रम में अत्यधिक आध्यात्मिक उन्नति हुई। अब इन विश्व-संकट के दिनों में जब मुझे असाध्य विपत्तियों का निवारण करने के लिये हर समय सतर्क एवं एकाग्र रहना पड़ता है तथा अब भी ऐसा रहना आवश्यक है, और इसके अतिरिक्त जब आंतरिक आध्यात्मिक कार्य के मुख्यतर प्रयास में भी इतनी ही एकाग्रता एवं सतत प्रयास की आवश्यकता है, तब अपने नियम को त्यागना मेरे लिये संभव नहीं। (और व्यक्तिगत रूप में भी यह 'साधक के' अपने हित की बात है कि यह प्रधान आध्यात्मिक कार्य पूरा किया जाय, क्योंकि इसके सफल होने पर ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न हो जायंगी जिनमें उसकी कठिनाइयां पहले की अपेक्षा अत्यधिक सुगमता से दूर हो सकेंगी।) तथापि मैंने अपना नियम तोड़ा है, और वह केवल तुम्हारे लिये ही तोड़ा है: मेरी समझ में नहीं आता कि इसे प्रेम का अभाव तथा कठोर, वज्र की सी उदासीनता कैसे समझा जा सकता है।

२९-५-१९४२

(२)

नहीं; उदासी, कठोरता, घोर तपस्या या 'एकांतवास के ठाठ-बाट का एश्वर्य' इस योग का आवश्यक अंग नहीं है। यदि मैं अपने कमरे में ही रहता हूं तो वह एकांतवास से प्रेम होने के कारण नहीं। इस सर्वथा बाह्य अवस्था को योग की महान् प्रगति के आवश्यक चिह्न के रूप में प्रस्तुत करना अथवा एकांतवास को लक्ष्य घोषित करना हास्यास्पद होगा। अतः तुम्हें चिंता करने की आवश्यकता नहीं; तुमसे एकांतवास की अपेक्षा नहीं की जाती।

१९३२

(३)

मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि भविष्य में संबंध तोड़ने का मेरा कोई विचार नहीं है। जो प्रतिबंध मैंने लगा रखे है, उनका लगाना कुछ अनिवार्य कारणों से आवश्यक ही था। स्वयं मेरा एकांतसेवन भी अपरिहार्य था; अन्यथा मैं उस स्थिति में न होता जिसमें मैं आज हूं, अर्थात् व्यक्तिगत रूप से मैं लक्ष्य के निकट न होता। जब लक्ष्य प्राप्त हो जायगा तब स्थिति कुछ और ही होगी। यदि तुम्हें इतने लंबे समय तक अभूतपूर्व शांति प्राप्त रही तो उसका कारण यह था कि मेरा आंतरिक दबाव तुमपर निरंतर पड़ रहा था। मैं इसका सारा श्रेय अपने प्रतिरूप श्रीकृष्ण को देने से इनकार करता हूं। १४-८-१९४५

(४)

मेरे एकाकीपन या एकांतवास का कारण अंतरात्मा नहीं है–बल्कि मुझे जिस बृहत् विरोध

का सामना करना पड़ता है वही इसका कारण है। मेरा एकांतवास तभी समाप्त हो सकेगा जब मैं अंतरात्मा तथा (क्षमा करना!) तुम्हारे उस दूसरे हौए अतिमानस की सहायता से विजय प्राप्त कर लूंगा।

(५)

प्रश्न—मेरी प्रार्थना है कि जाने से पहले मुझे एक बार पुन: श्रीअरविन्द के दर्शन करने की अनुमति दी जाय। मुझे मालूम है कि यह नियम के विरुद्ध है, किंतु मुझे आशा है कि आप एक भक्त के लिये अपने नियम की ढिलाई का कुछ ख्याल न करेंगे।

उत्तर—मुझे खेद है कि ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान अवस्था में किसी व्यक्ति को पृथक् दर्शन नहीं दिया जा सकता।—यह नियम की बात नहीं, वरन् श्रीअरविन्द जो कार्य कर रहे हैं उसके लिये यह आवश्यक है।

१७-८-१९३४

(६)

प्रश्न—आप अपने एकांतवास से कब बाहर आयेंगे?

उत्तर—यह एक ऐसी बात है जिसके संबंध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। मेरे एकांतवास का कुछ उद्देश्य है और वह उद्देश्य पहले पूर्ण होना चाहिये।

२५-८-१९३३

(७)

प्रश्न—यदि आप वर्ष भर में केवल तीन बार की जगह प्रति मास एक बार दर्शन देने के लिये बाहर निकल सकें तो बहुत अच्छा हो। क्या यह संभव है?

उत्तर—यदि मैं महीने में एक बार बाहर निकलूं तो मेरे बाहर निकलने का प्रभाव एक तिहाई कम हो जायगा।

२-३-१९३३

(८)

प्रश्न—क्या आप अतिमानसिक अवतरण के अनंतर अपने एकांतवास से बाहर आयेंगे?

उत्तर—इसका निश्चय अवतरण के बाद किया जायगा।

२३-९-१९३५

(९)

प्रश्न—सरदार वल्लभभाई ने 'ग' से पूछा था कि आप कब बाहर निकलेंगे तथा जनता का

पथप्रदर्शन करेंगे। 'ग' ने उत्तर दिया कि इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। परंतु वल्लभ-भाई के प्रश्न का संभवतः एक विशेष अभिप्राय था जिसे 'ग' ने नहीं समझा।

उत्तर—संभवतः नही। यह संभव नही दीखता कि वल्लभभाई इस बात को दूसरों की अपेक्षा अधिक समझते हों कि मैं महत्तम भारत (या जगत्) के महत्तम कल्याण के लिये भविष्य में वापस आने के विचार के विना भी आध्यात्मिक जीवन विता सकता हूं। टैगोर को मेरे वापस आने की आशा थी और उन्हें इस बात से बहुत निराशा हुई है कि मैंने ऐसा नही किया।

९-३-१९३५

श्रीअरविन्द का प्रकाश

(१)

प्रश्न—दो दिन हुए स्वप्न में मैंने श्रीअरविन्द को अपनी ओर आते देखा। उनका शरीर और वेश नीले रंग के थे। क्यों मैंने उन्हें इसी रंग में देखा, किसी और में नहीं?

उत्तर—यही वह मूल ज्योति है जिसे श्रीअरविन्द व्यक्त करते हैं।

२३-६-१९३३

(२)

यदि यह हल्का नीला है तो यह मेरा रंग हो सकता है। हलका लवेण्डरी नीला, हलका किंतु अपनी निजी झलक में अत्यंत कांतिमान्।

६-८-१९३२

(३)

यह (अर्थ) नीले रंग की गहराई पर निर्भर करता है। साधारण हलका नीला प्रायः प्रदीप्त मन का प्रकाश या अंतर्ज्ञान का कोई आलोक होता है। श्वेत-नील श्रीअरविन्द या श्रीकृष्ण का प्रकाश है।

(४)

नीले रंग अनेक हैं और यह कहना कठिन है कि वे कौन कौन से हैं। साधारणतया गहरा नीला उच्चतर मन का और हलका नीला प्रदीप्त मन का प्रकाश है—श्वेत-नील श्रीकृष्ण का प्रकाश है (इसे श्रीअरविन्द का प्रकाश भी कहते हैं)।

(५)

विभिन्न प्रकार के नीले रंग विभिन्न शक्तियों को सूचित करते हैं (वास्तविक नीले रंग

का विष से कोई संबंध नहीं)। श्वेत-नील विशेष रूप से मेरा प्रकाश कहलाता है—परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मुझसे केवल यही प्रकाश आ सकता है।
२२-११-१९३३

(६)

प्रश्न—आजकल मुझे श्रीअरविन्द का प्रकाश प्रायः हर समय ही दिखाई देता है, पर भिन्न भिन्न रूपों में—कभी तो एक बड़े तारे के समान, कभी चांद के जैसा, कभी बिजली की छटा की भांति। यह मुझे एक-सा क्यों नहीं दिखाई देता?

उत्तर—यह अवस्थाओं के अनुसार बदलता रहता है। यह सदा एक-सा ही क्यों हो?
२१-४-१९३३

(७)

प्रश्न—मन में मुझे श्रीअरविन्द का प्रकाश किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—यदि तुम धैर्यपूर्वक अभीप्सा करो तो यह सदा ही आ सकता है। परंतु यदि तुम मन में उस प्रकाश को प्राप्त करना चाहते हो तो उसकी मूल शर्त यह है कि तुम अन्य सभी मानसिक प्रभावों से मुक्त हो जाओ।

(८)

प्रश्न—"अन्य सभी मानसिक प्रभावों से मुक्त होने" का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह मतलब है कि मुझे श्रीअरविन्द को छोड़कर और किसी के ग्रंथ नहीं पढ़ने चाहियें और न अन्यों के वचन सुनकर या सराहकर उनसे कुछ सीखने का ही यत्न करना चाहिये?

उत्तर—यह पुस्तकें पढ़ने अथवा जानकारी प्राप्त करने का प्रश्न नहीं है। जब कोई स्त्री किसी को प्यार करती या सराहती है तो उसका मन सहज ही उसी के सांचे में, जिसे वह प्यार करती या सराहती है, ढल जाता है; और यह प्रभाव तब भी बना रहता है जब स्वयं वह मन का भाव चला जाता या चला गया प्रतीत होता है। यह बात केवल 'क्ष' के प्रभाव से ही संबंध नहीं रखती, यह एक सामान्य नियम है जो तुम्हें इसलिये बताया गया है कि तुम अपनेको किसी अन्य की सराहना या उसके प्रभाव से मुक्त रख सको।
३०-५-१९३२

(९)

प्रश्न—जैसे ही कोई आश्रम के 'रिसेप्शन रूम' (मुलाकात करने के कमरे) के समीप पहुंचता है, उसे अनुभव होता है कि वह आपकी अंशविभूति है। :
प्रकाश प्रतीत होता है।

उत्तर–फोटो के द्वारा मेरे समीप पहुंचकर साधक स्वयं ऐसा प्रकाश ला सकते हैं।
२४-८-१९३४

पांच अंतर्दर्शन

(१)

प्रश्न–जब मैं प्रार्थना कर रहा था, तब मैंने सूक्ष्म रूप में देखा कि श्रीअरविन्द जीने से उतर रहे हैं और अंत में वह फर्श के बिलकुल पास पहुंच गये हैं। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर–संभवतः इसका अर्थ यह है कि भागवत चेतना को एक एक स्तर करके नीचे उतारा गया है और अब वह भौतिक स्तर के निकट पहुंच गई है।
२३-९-१९३३

(२)

प्रश्न–आज ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म रूप में देखा कि श्रीअरविन्द के प्रकाश में नटराज शिव अपनी अनेक भुजाओं के साथ प्रकट हो रहे हैं। यह किस बात का सूचक है?

उत्तर–यह अभिव्यक्ति का सूचक है।

(३)

प्रश्न–फिर मैंने देखा कि आकाश में श्रीअरविन्द का प्रकाश और लाल प्रकाश एक वृत्त के रूप में प्रकट हो रहे हैं। क्या यह भौतिक स्तर पर श्रीअरविन्द के दैवी प्रकाश की अभिव्यक्ति को सूचित करता है?

उत्तर–हां।

(४)

प्रश्न–फिर मैंने देखा कि श्रीअरविन्द का प्रकाश एक अन्य हलके नीले रंग के प्रकाश के साथ समुद्र पर अभिव्यक्त हो रहा है। क्या इसका यह अर्थ है कि चेतना के विशाल सागर में श्रीअरविन्द का दैवी प्रकाश संबुद्ध मन की चेतना के द्वारा व्यक्त हो रहा है?

उत्तर–हां।
१५-१०-१९३३

(५)

प्रश्न–कल रात मुझे श्रीअरविन्द के अंतर्दर्शन हुए। वे एक कुर्सी पर बैठे कुछ लिख रहे थे। उनके सिर के पीछे मंडलाकार हरा प्रकाश था। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—हरा प्रकाश क्रियाशील प्राणिक शक्ति (कर्मशक्ति) का प्रकाश है। जव मैं लिख रहा था—कार्यरत था—तो यह स्वाभाविक ही है कि वह प्रकाश मेरे सिर के पीछे विद्यमान हो।
५-११-१९३३

श्रीअरविन्द की शक्ति की क्रिया

निःसंदेह, मेरी शक्ति आश्रम तथा इसकी अवस्थाओं तक ही सीमित नहीं है। तुम जानते ही हो कि युद्ध के तथा मानव जगत् में होनेवाले परिवर्तन के समुचित विकास में सहायता पहुंचाने के लिये भी इसका अत्यधिक प्रयोग किया जा रहा है। यह आश्रम तथा योगाभ्यास के क्षेत्र के वाहर भी वैयक्तिक प्रयोजनों के लिये प्रयोग में लाई जाती है। परंतु, निश्चय ही, यह सब मौन रूप से तथा मुख्यतया आध्यात्मिक क्रिया के द्वारा ही किया जाता है। फिर भी, कर्म का केंद्र आश्रम ही रहता है और योग-साधना के विना इस कर्म का अस्तित्व ही न होता और न इसका कोई अर्थ या फल ही संभव होता।
१३-३-१९४४

योग-शक्ति का ठोस रूप

हां, जिस समय मैंने ग्रामोफोन रिकार्डों की सफलता के लिये प्रयुक्त अपनी शक्ति के संवंध में वह अभागा वाक्य[1] लिखा था उस समय मैंने मानों "अपनी लेखनी द्वारा मन ही मन वातें करने" की भूल की थी। मेरा तो संपूर्ण कार्य ही है शक्ति का प्रयोग करना। (निःसंदेह पत्रों का उत्तर लिखने का कार्य, जो कि ठोस है, इस वात का अपवाद है, किंतु यह भी मुझे शक्ति के द्वारा तथा उसकी सहायता से ही करना पड़ता है, अन्यथा तुम निश्चित जानो कि मैं न तो इसे करता और न इसे कर ही सकता।) इसीलिये कभी कभी मैं काफी असावधान हो जाता हूं और ऐसी भूल कर बैठता हूं। ऐसा करना मूर्खतापूर्ण ही है, क्योंकि आध्यात्मिक या और कोई शक्ति स्पष्ट ही अगोचर होती है और उसकी क्रिया भी अगोचर ही होती है, तव भला कोई कैसे उसमें विश्वास कर सकता है? केवल परिणाम ही दृष्टि-गोचर होते हैं और तव भला कोई कैसे यह जान सकता है कि वे शक्ति के ही परिणाम हैं? वह तो कोई ठोस चीज नहीं है।

किंतु ठोस वस्तुओं के तुमने जो उदाहरण दिये हैं उनसे स्वयं मैं भी कुछ चकरा सा गया

---

[1] 'द' व्यक्ति ने श्रीअरविन्द को लिखा था कि मेरे ग्रामोफोन रिकार्ड अत्यधिक सफल सिद्ध हो रहे हैं और उनकी विक्री धड़ाधड़ हो रही है। इसपर श्रीअरविन्द ने उत्तर दिया था, "मुझे इस समाचार से प्रसन्नता हुई है क्योंकि उनकी सफलता के लिये मैंने वहुत शक्ति लगाई थी।" 'द' ने पुनः पत्र लिखकर पूछा कि क्या शक्ति ऐसा परिणाम उत्पन्न कर सकती है, जिसका उत्तर इस पत्र में दिया गया है।

हूं। किसी आयोजक की योजनाएं भला कैसे ठोस होती हैं? कोई घटना घटित होती है और तुम मुझे बताते हो कि यह एक आयोजक की योजना का परिणाम है। परंतु आयोजक की योजना उसकी चेतना की उपज थी और वह बिलकुल ही ठोस नहीं थी। वह तो उसके मन में छिपी थी और किसी अन्य व्यक्ति का मन मेरे लिये तब तक मूर्त नहीं होता जब तक कि मैं योगी या अंतर्यामी हीं न होऊं। उसने जो कुछ बातें कही या की हों उनसे मैं अनुमान भर कर सकता हूं कि उसकी एक योजना थी। परंतु वे तो ऐसी बातें हैं जिन्हें स्वयं मैंने नहीं देखा या सुना और इसलिये वे मेरे लिये ठोस भी नहीं हैं। तब भला उस योजक की योजना को मैं कैसे स्वीकार कर सकता हूं अथवा क्योंकर उसपर विश्वास कर सकता हूं? और चाहे मैंने देखा या सुना भी हो तो भी मैं यह मानने के लिये बाध्य नहीं हूं कि इसके मूल में एक योजना है अथवा जो कुछ हुआ वह एक योजना का ही परिणाम है। हो सकता है कि उसने आवेगों की एक श्रृंखला के वश में होकर कार्य किया हो और जो कुछ हुआ वह एक सर्वथा भिन्न या निरी आकस्मिक वस्तु का परिणाम हो। और फिर, गायकमंडली का नियंत्रण तुमने कैसे किया? शब्दों और संकेतों आदि के द्वारा जो कि निःसंदेह ठोस हैं। परंतु उन शब्दों एवं संकेतों का प्रयोग तुमसे किसने कराया और वह नियंत्रणरूपी परिणाम उनसे क्यों उत्पन्न हुआ? फिर दूसरे साथियों ने तुम्हारे कथनानुसार ही कार्य क्यों किया? यह उनसे किसने कराया? मेरी समझ में वह तुम्हारी तथा उनकी चेतना की ही कोई वस्तु थी; पर वह तो मूर्त्त नहीं है। फिर, वैज्ञानिक विद्युत् की बात करते हैं जो, प्रतीत होता है कि, एक कार्यरत बल वा शक्ति है; साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक कार्य इसी शक्ति के द्वारा संपन्न हुआ है, मेरी अपनी स्थूल सत्ता भी इसी के द्वारा गठित हुई है और यही मेरी समस्त मानसिक एवं प्राणिक शक्तियों का भी आधार है। पर वह शक्ति मेरे लिये ठोस नहीं है। मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि मेरा शरीर बिजली द्वारा बना है, मैं कभी यह अनुभव नहीं कर सकता हूं कि मेरे विचार और प्राण की गतियों को वह तैयार कर रही है—तो फिर भला कैसे मैं इसमें विश्वास कर सकता अथवा इसे स्वीकार कर सकता हूं? जिस शक्ति का मैं प्रयोग करता हूं वह कोई मधुर आशीर्वाद नहीं है—निश्चय ही, आशीर्वाद (मौन आशीर्वाद) भी किसी पत्थर या ठोकर या अन्य इंद्रियगोचर वस्तुओं की भांति ठोस नहीं होता; न वह शक्ति खाली एक इच्छा ही है जो मेरे भीतर कहती है "तथास्तु"—और यह भी तो ठोस वस्तु नहीं है। यह तो चेतना की शक्ति है जो व्यक्तियों, पदार्थों और घटनाओं को लक्ष्य करके या उनपर प्रयुक्त की जाती है—परंतु यह स्पष्ट ही है कि चेतना की शक्ति स्थूल इंद्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है और इसलिये यह ठोस भी नहीं है। मैं इसे अनुभव कर सकता हूं तथा जिस आदमी पर मैं क्रिया करता हूं वह भी इसे अनुभव कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता, पर अनुभूति आंतरिक ही होती है, बाह्य एवं दूसरों के द्वारा नहीं जानी जा सकती, इसलिये वह ठोस

नहीं कही जा सकती और कोई भी उसे स्वीकार करने या उसपर विश्वास करने के लिये बाध्य नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि मैं किसी को एक ही रात में (बिना ओषधियों के) ज्वर से मुक्त कर दू और उसे ताजा और सबल बनाकर उसके काम पर भेज दूं, तो भी कोई तीसरा व्यक्ति इस बात पर क्यो विश्वास करे अथवा इसे क्यों स्वीकार करे कि यह सब मेरी शक्ति ने ही किया ? हो सकता है कि प्रकृति ने या उसकी अपनी कल्पना ने ही उसे अच्छा किया हो (जय हो उन ठोस वस्तुओ की, उस कल्पना और उस प्रकृति की !) —अथवा शायद सारी चीज अपने-आप ही हो गई हो। इस प्रकार तुम देखते हो कि यह विषय एकदम निराशाजनक है, इसे बिलकुल सिद्ध नही किया जा सकता—बिलकुल ही नहीं।

आध्यात्मिक शक्ति और राजसिक वेग

जोश और उत्साह अच्छी वस्तुएं है तथा अत्यंत आवश्यक भी, किंतु आध्यात्मिक स्थिति तीव्रता और शांति दोनों को मिलाती है। चैत्य अग्नि एक भिन्न वस्तु है—यहां तुम जिसकी बात कर रहे हो वह आयास, उग्र आत्मरक्षा, न्याय्य अधिकारों का प्रयोग आदि करने की राजसिक प्राणगत अग्नि है।

मैं अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। मेरे अंदर ठोस शक्ति अवश्य है, किंतु मेरे अंदर उस आग की मात्रा अधिक नही है जो न्यायोचित अधिकारों को न देनेवाले व्यक्ति के प्रति भड़क उठती है। फिर भी मै अपने को दुर्बल या निर्जीव नही अनुभव करता। मैंने सदा ही अपना यह नियम रखा है कि किसी भी रूप में क्षुब्ध नही हूंगा, क्षुब्धता का वर्जन करूंगा—फिर भी आवश्यकता पड़ने पर मै अपने ठोस बल का प्रयोग करने में सफल हुआ हूं। तुम इस तरह बातें करते हो मानों राजसिक बल और उत्साह ही एकमात्र शक्ति हों तथा शेप सब निर्जीवता एवं दुर्बलता ही हो। परंतु असल में बात ऐसी नहीं है—शांत आध्यात्मिक शक्ति सैकड़ों गुना अधिक बलवान् होती है; यह भड़कने और फिर ठंढी पड़ जानेवाली शक्ति नही है—बल्कि स्थिर, अचल तथा निरंतर क्रियाशील शक्ति है।

२१-१०-१९३३

रुद्र-शक्ति का प्रयोग

रुद्र-शक्ति का प्रयोग करना मैंने छोड़ दिया है; इसके परिणाम संहारकारी होते थे, और अब चिरकाल से प्रयोग न करने के कारण इसे प्रयुक्त करने की रुचि भी मंद पड़ गई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं सत्याग्रह या अहिंसा का अनुयायी बन गया हूं: पर हिंसा की भी अपनी असुविधाएं हैं। अतएव अग्नियां सोई पड़ी हैं।

रोगों को ठीक करने के लिये अध्यात्मशक्ति का प्रयोग

(१)

रोगों को स्वस्थ करने के लिये मैं जिस शक्ति का प्रयोग करता हूं उसके संबंध में भी मैं देखूंगा कि क्या मैं इस बात की व्याख्या कर सकता हूं कि उस शक्ति से मेरा क्या अभिप्राय है और वह कैसे तथा किन अवस्थाओं में कार्य करती है (जिस शक्ति की ओर मेरा संकेत है वह न तो अतिमानसिक है न सर्वशक्तिमान् और न वह हर रोगी पर बीचम (Beecham) की गोलियों के समान प्रभाव दिखाने की गारंटी ही रखती है)। 'द' के अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों रोगियों पर मैंने उसका प्रयोग किया है (अपने शरीर पर तो सर्वप्रथम और सर्वदा ही प्रयोग किया है) और ऐसी अवस्थाओं में उसकी अमोघता या सत्यता के संबंध में मुझे तनिक भी संदेह नहीं। मई, १९३३

(२)

शक्ति के बारे में मैंने अभी तक तुम्हें कुछ नहीं लिखा, क्योंकि वह इतनी जटिल है कि थोड़ी सी पंक्तियों में उसका पर्याप्त रूप में निरूपण करना संभव नहीं और कोई लंबी चीज लिखने का इन दिनों मेरे पास समय नहीं है। कुछ भी हो, (इस विषय को समझने के लिये) सूत्र यह है कि "प्रकाश हो जाय, और प्रकाश हो गया", इस गुर को कोरे कागज पर या हवा में लिखने की तरह शक्ति शून्य में तथा एकदम अखंड रूप में कार्य नहीं करती। बल्कि वह तो हस्तक्षेप करती हुई आती है और पहले से कार्य करनेवाली शक्तियों की अत्यंत जटिल ग्रंथि पर क्रिया करती है तथा उनकी प्रवृत्ति, परस्परसंवद्ध गति और स्वाभाविक परिणाम के स्थान पर एक नई प्रवृत्ति, गति तथा परिणाम को स्थापित करती है।

ऐसा करते हुए प्रायः उसे पहले से वहां सिक्का जमाये हुई तथा कार्य करती हुई अधिकांश शक्तियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता है और उसपर विजय पाने के लिये तीन बातों की आवश्यकता होती है: (१) स्वयं उस शक्ति की क्षमता, अर्थात् कार्यक्षेत्र पर (इस प्रसंग में रुग्ण मनुष्य, उसकी अवस्था तथा उसकी देह पर) उस शक्ति का स्वयं अपना दबाव तथा उसकी सीधी क्रिया; (२) यंत्र (तुम स्वयं); और (३) साधन (औषधोपचार)।

मैंने अनेक बार बिना किसी मानवीय माध्यम या बाह्य साधनों के केवल शक्ति का ही प्रयोग किया है, परंतु ऐसी अवस्था में सब कुछ ग्रहीता तथा उसकी शक्ति पर निर्भर करता है–यहां सहायता करनेवाली कोई अगोचर सत्ताएं या शक्तियां ही उपस्थित हों तो और बात है जैसा कि बिना दवा के रोग दूर करनेवालों (healers) के कार्य में देखने में आता है।

यदि रोगी के साथ सीधा संबंध रखनेवाला कोई माध्यम विद्यमान हो, वह चाहे डाक्टर हो या कोई ऐसा व्यक्ति जो शक्ति को संचारित कर सकता हो, तो क्रिया करने में अत्य-

धिक सहायता प्राप्त होती है,–कितनी सहायता प्राप्त होती है यह यंत्र, उसकी श्रद्धा, उसकी सामर्थ्य एवं संचारण-शक्ति पर निर्भर करता है। जहां उग्र विरोध विद्यमान होता है वहां बहुधा यह शक्ति पर्याप्त नही होती अथवा, कम से कम, तेज या पूरे-पूरे परिणाम के लिये तो पर्याप्त नही ही होती, वहां साधन (औषधोपचार) की आवश्यकता पड़ती है। विशेषकर जहां देह या देह-चेतना पर काम करनेवाली शक्तियों का विरोध प्रबल होता है वहां ओषधि सहायक सिद्ध होती है।

परंतु डाक्टर यदि चैत्य-सत्ताहीन हो अथवा दवा गलत हो या उपचार में नमनीयता न हो तो ये प्रतिरोध को और भी अधिक बढा देते हैं और उसे शक्ति को पार करना पड़ता है।

यह एक संक्षिप्त एवं अत्यंत अपूर्ण निरूपण है, परंतु मैं समझता हूं इसमें सभी मुख्य बातें आ गई हैं।

२४-१-१९३६

पुनश्च–यह कहना मैं भूल ही गया कि रोगी के चारों ओर के, विशेषकर उसके आसपास के लोग, वहां का वातावरण तथा वे सुझाव जो उस वातावरण में विद्यमान होते हैं या जो उन लोगों के द्वारा रोगी को दिये जाते है,–ये सभी प्रायः काफी महत्त्व रखते हैं।

(३)

शरीर के प्रति रामकृष्ण का जो मनोभाव था उसके विषय में मैं दो-एक शब्द कह दूं। ऐसा मालूम होता है कि शरीर को बनाये रखने के लिये या उसकी बीमारियों को दूर करने के लिये या उसकी देख-भाल करने के लिये आध्यात्मिक शक्ति के प्रयोग को वे सदा ही उस शक्ति का दुर्व्यवहार मानते रहे। दूसरे योगी–मैं उन योगियों की बात नहीं कहता जो यौगिक सिद्धियों को विकसित करना उचित समझते हैं–शरीर की इस प्रकार पूर्ण उपेक्षा नहीं करते थे। उन्होंने इसे योग में अपने विकास का एक साधन या भौतिक आधार मानकर इसको स्वस्थ और अच्छी अवस्था में बनाये रखने का यत्न किया। मैं सदा ही इस मत के पक्ष में रहा हूं, अपने तथा दूसरों के अंदर स्वास्थ्य और भौतिक जीवन की रक्षा के साथ साथ सभी न्यायसंगत उद्देश्यों के लिये आध्यात्मिक शक्ति का व्यवहार करने में मुझे कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई–और निःसंदेह यही कारण है कि माताजी बीमारियों में केवल आशीर्वाद के रूप में ही नहीं वरन् एक सहायता के रूप में भी फूल दिया करती हैं। मैं सबसे पहले एक साधन–'धर्म-साधन'–के रूप में शरीर को महत्त्व देता हूं, अथवा, अधिक पूर्ण रूप में कहूं तो, कार्यशील मूर्तिमान् व्यक्तित्व के केंद्र के रूप में, पृथ्वी पर के सभी जीवनों और कर्मो की तरह ही आध्यात्मिक जीवन और कर्म के आधार के रूप में मूल्य देता हूं, पर साथ ही इस कारण भी मूल्य देता हूं कि मेरी दृष्टि में मन और प्राण की तरह शरीर भी समग्र भगवान् का एक अंश है, आत्मा का एक रूप है और इसलिये यह समझकर

कि शरीर असाध्य स्थूलता से ग्रस्त और आध्यात्मिक सिद्धि या आध्यात्मिक उपयोग के लिये अयोग्य या अनुपयुक्त है, यह उपेक्षा करने या घृणा करने की चीज नहीं है। स्वयं जड़तत्त्व गुह्यतः आत्मा का ही एक रूप है और उसी के रूप में इसे अपने आपको प्रकट करना है। यह चेतना के प्रति जागरित हो सकता है तथा विकसित होकर अपने अंदर आत्मा को, भगवान् को प्राप्त कर सकता है। मेरी दृष्टि में मन और प्राण के साथ साथ शरीर को भी अध्यात्मभावापन्न, आत्मामय बनाना होगा अथवा, हम कह सकते हैं, दिव्य बनाना होगा जिससे कि वह भगवान् की प्राप्ति के लिये सुयोग्य यंत्र और आधार बन सके। वैष्णव साधना के अनुसार भागवत लीला में, यहां तक कि भागवत प्रेम के आनंद और सौंदर्य में भी इसका अपना स्थान है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर को अलग शरीर के ही नाते महत्त्व प्रदान किया जाय अथवा समस्त सत्ता के भावी क्रमविकास के अंदर दिव्य शरीर की सृष्टि को एक साधन नहीं वरन् लक्ष्य समझा जाय,—यह तो एक भारी भूल होगी जिसे कभी स्थान नहीं दिया जा सकता। जो हो, दिव्यीकरण के चरम स्वरूप के विषय में जो मेरी कल्पनाएं हैं वे अभी बहुत दूर की चीजें हैं और निकट-भविष्य में आध्यात्मिक जीवन से संबंध रखनेवाले जितने प्रश्न हैं उनमें उनका स्थान नहीं।

७ दिसम्बर १९४९

(४)

निःसंदेह, दूसरों के रोगों को अपने ऊपर ले लेना और, यहां तक कि, स्वेच्छापूर्वक ऐसा करना भी संभव है, यूनानी राजा एंटीगोनस और उसके पुत्र डिमित्रिअस का उदाहरण इस विषय का प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान है; योगी भी कभी कभी ऐसा करते हैं; अथवा विरोधी शक्तियां भी योगी को रोगों से आक्रांत कर सकती हैं, इसके लिये वे उसके आस-पास के लोगों को द्वार या मार्ग बनाती हैं या लोगों की बुरी इच्छाओं की शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त करती हैं। निःसंदेह, ये सब विशेष परिस्थितियां हैं जो उसकी योगसाधना से संबद्ध होती हैं; परंतु ये एक पक्के नियम के रूप में किसी सामान्य सिद्धांत की स्थापना नहीं करतीं। दूसरी ओर, यौगिक चेतना का इससे विपरीत उपयोग और परि-णाम भी हो सकता है: मनुष्य अपने शरीर से रोग को हटा सकता या अच्छा कर सकता है, पुराने या बद्धमूल रोगों और चिरप्रतिष्ठित शारीरिक दोषों को भी मिटा सकता या बाहर निकाल सकता है और यहां तक कि पूर्वनियत मृत्यु को भी दीर्घकाल के लिये टाल सकता है। कलकत्ते के एक दैवज्ञ, नारायण ज्योतिषी ने, बहुत पहले, जब कि अभी राज-नीतिक क्षेत्र में मेरा नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था, मुझे न जानते हुए भी मेरे विषय में भविष्यवाणी की थी कि मैं म्लेच्छ शत्रुओं के साथ संघर्ष करूंगा और फिर मुझपर तीन अभियोग चलाये जायंगे और उन तीनों में मैं छूट जाऊंगा। उन्होंने यह भी बताया था कि

यद्यपि मेरी जन्मपत्री के अनुसार ६३ वर्ष की आयु में मेरी मृत्यु निश्चित है, फिर भी मैं योगशक्ति से बहुत दीर्घकाल के लिये अपनी आयु बढ़ाकर पूर्ण प्रौढ़ वय प्राप्त करूंगा। सचमुच ही मैं योगबल से उन अनेक जीर्ण रोगों से मुक्त हो गया हूं जिन्होंने मेरे शरीर में घर कर लिया था। परंतु इनमेंसे किसी एक दृष्टांत को लेकर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, भले ही वह दृष्टांत अनुकूल या प्रतिकूल कैसा भी क्यों न हो; मानव बुद्धि की जो यह प्रवृत्ति है कि वह इन वस्तुओं की सापेक्षता को निरपेक्ष नियम का रूप दे देती है उसमें कुछ भी बल नहीं है।

८-१२-१९४९

६

कवि और समालोचक

अध्ययन, काव्य-रचना और योग

साहित्यिक वह है जो साहित्य तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों से स्वयं उन्हीं के हित प्रेम करता हो। एक योगी जो लेखन-कार्य करता है वह साहित्यिक नहीं होता, क्योंकि वह तो केवल वही लिखता है जो आंतर 'संकल्प' तथा 'शब्द' उससे व्यक्त कराना चाहते हों। वह अपने साहित्यिक व्यक्तित्व से अधिक महान् किसी वस्तु को लानेवाला और उसका यंत्र होता है। निःसंदेह, साहित्यिक और बुद्धिविलासी व्यक्ति अध्ययनप्रिय होते हैं—पुस्तकें ही उनके मन की खुराक होती हैं। परंतु लिखना कुछ और ही चीज है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो साहित्यिक ढंग से कभी एक शब्द तक नहीं लिखते पर हैं बहुत अधिक पढ़ाकू। मनुष्य अध्ययन करता है विचारों के लिये, ज्ञान के लिये और संसार जो कुछ चिंतन कर चुका है या कर रहा है उससे अपने मन को उद्‌बुद्ध करने के लिये। मैंने साहित्य-सर्जन के लिये कभी अध्ययन नहीं किया। जैसे-जैसे योग में उन्नति होती गई, मैं पढ़ना कम करता गया—क्योंकि जब संसार के सभी विचार अंदर से या ऊपर से उमड़ते चले आते हों तो बाहरी स्रोतों से मानसिक आहार इकट्ठा करने की बहुत आवश्यकता नहीं रहती। इसका उपयोग अधिक से अधिक यही रह जाता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है उसका पता रहे—यह नहीं कि संसार, परम सत्य तथा पदार्थों के संबंध में हमारी दृष्टि का निर्माण करने के लिये यह सामग्री हो सके। मनुष्य विराट् मनीषी से संपर्क रखनेवाला एक स्वतंत्र मन बन जाता है।

काव्य, यहां तक कि शायद सभी प्रकार की पूर्ण अभिव्यक्ति अंतःप्रेरणा से ही प्राप्त होती है, अध्ययन से नहीं। अध्ययन केवल इतनी सहायता करता है कि यंत्र को भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है या वह साहित्यिक ढंग से अपनी बात कहने की कला प्राप्त कर लेता है। आगे चलकर मनुष्य भाषा का अपना निजी प्रयोग, अपनी निजी शैली, अपनी निजी कला विकसित करता है। मैंने कोई दो-एक दशाब्दियों से, अत्यंत सामयिक चीजों के सिवा, सब तरह का पढ़ना बंद कर रखा है। परंतु मेरी काव्यमयी और पूर्ण अभिव्यंजना की शक्ति दसगुना बढ़ गई है। जो चीज मैं कुछ कठिनाई से, बहुत बार तो बड़ी मुश्किल से लिख पाता था वह अब मैं बड़ी आसानी से लिख लेता हूं। मुझे दार्शनिक माना जाता है, पर मैंने दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया—मैंने जो कुछ लिखा है वह मुझे यौगिक अनुभव, ज्ञान तथा अंतःप्रेरणा से प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार काव्य तथा पूर्ण भावप्रकाशन पर अधिक

महान् अधिकार मैंने इन पिछले दिनों प्राप्त किया है—दूसरे लोग कैसे लिखते हैं उसे पढ़-समझ करके नहीं, वरन् अपनी चेतना को ऊंचा उठाकर और इसके फलस्वरूप एक महत्तर अंतःप्रेरणा प्राप्त करके।

अध्ययन और कठिन परिश्रम साहित्यिक के लिये अच्छी चीजें हैं, परंतु उसके लिये भी वे उसके उत्तम लेखन का कारण नहीं होतीं, वरन् उसमें सहायकमात्र होती हैं। कारण तो स्वयं उसके भीतर होता है। 'स्वाभाविक' होने की जो बात है, वह मुझे मालूम नहीं। हां, कभी कभी जब कि प्रतिभा जन्मजात होती है और अभिव्यक्ति के लिये तैयार होती है, तब उसे लोग 'स्वाभाविक' कह सकते हैं। कभी कभी वह बाद में अंदर से, अरसे तक प्रकृति में छिपे पड़े रहने के बाद जाग उठती है।

११-९-१९३४

बुद्धि का स्वाभाविक विकास

मेरे योग आरंभ करने से पहले इस तरह की कोई बात नहीं थी। योग मैंने १९०४ में आरंभ किया और कुछ कविताओं को छोड़कर मेरी अन्य सभी रचनाएं उसके बाद की है। और फिर, मेरी प्रतिभा जन्म से ही थी और योगाभ्यास से पूर्व उसका जितना भी विकास हुआ वह प्रशिक्षण के द्वारा नहीं बल्कि एक आकस्मिक विशाल प्रवृत्ति के द्वारा हुआ जो सभी पढ़ी हुई, देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तुओं से विचारों का विकास करती थी। यह प्रशिक्षण नहीं, स्वाभाविक विकास है।

कला-दृष्टि का खुलना

चित्रकला के पारखी के रूप में अपनी अयोग्यता के संबंध में निराश मत होओ। इस विषय में मेरी अवस्था तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक बुरी थी: मूर्तिकला का तो मुझे कुछ ज्ञान था, पर चित्रकला के प्रति मैं अंधा ही था। एक दिन जब अलीपुर जेल में मैं ध्यान कर रहा था तो मुझे एकाएक कोठरी की दीवार पर कुछ चित्र दिखाई दिये और फिर क्या था! मेरे अंदर की कला-दृष्टि खुल गयी और उसकी कार्य-प्रणाली आदि ऊपरी चीजों को छोड़कर मै चित्रकला के विषय में सब कुछ जान गया। यद्यपि अपने ज्ञान को प्रकट करने का ढंग मुझे सदा विदित नहीं होता, क्योंकि मुझे ठीक ढंग से व्यक्त करने का ज्ञान नहीं है, पर इससे कला के सूक्ष्म एवं ज्ञानपूर्ण मूल्यांकन में कोई बाधा नहीं पड़ती। लो देखो, योग में सभी कुछ संभव है।

सर्जनशील रचना का दबाव

सर्जनशील रचना द्वारा प्रकट होने और अपने आपको चरितार्थ करने के लिये डाले हुए इस प्रकार के दबाव से मैं भली भांति परिचित हूं। जब वह इस प्रकार जोर डाले तो इस-

के सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि उसे अपनी राह लेने दी जाय ताकि मन और बातों में न लगा रहे और खाली रह सके–नहीं तो वह दो दिशाओं में धकेला जाता रहेगा और एकाग्रता के लिये आवश्यक शांति की अवस्था में नहीं रह सकेगा।

अंतःप्रेरणा और छंदशास्त्र

तुम्हें छंदशास्त्र का अध्ययन अपनी अंतःप्रेरणा पर लादने की जरूरत नहीं है। तुम्हें जितने छंदशास्त्र की जरूरत है वह तुम्हारे ही भीतर है। स्वयं मैंने कम से कम अंग्रेजी का पिंगल तो कभी नहीं पढ़ा। जो कुछ मै जानता हूं वह मैं लिख-पढ़कर और अपने कान का अनुसरण तथा बुद्धि का उपयोग करके ही जान पाया हूं। यदि किसी को अध्ययन के लिये ही पिंगल के शास्त्रीय अध्ययन का चाव हो तो वह दूसरी बात है–परंतु वह बिलकुल ही अनिवार्य नहीं है।

२८-४-१९३४

काव्य का आध्यात्मिक मूल्य

जो कुछ मै लिखता हूं उसका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और व्यापक अर्थ लगाना उचित नहीं, अन्यथा उसका वास्तविक भाव समझने में सहज ही भूल हो सकती है। मैंने कहा था कि कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक कोटि के काव्य से–वैरलेन (Verlaine), स्विनबर्न (Swinburne) या बोदलेअर (Baudelaire) के जैसे किसी काव्य से नहीं–एकदम कोई उपलब्धि ही न हो। इसका मतलब यह नहीं था कि काव्य भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन है। मैंने यह नहीं कहा था कि यह हमें भगवान् की ओर ले जायगा या किसी ने काव्य द्वारा भगवान् को उपलब्ध किया है या काव्य स्वयं अपने बलपर हमें सीधे भगवान् के मंदिर में ले जा सकता है। यह स्पष्ट ही है कि यदि मेरे शब्दों का ऐसा अतिरंजित अर्थ लगाया जाय तो वे मूर्खतापूर्ण बन जायंगे और टिक नहीं सकेंगे।

मेरा कथन पूरी तरह स्पष्ट है और उसमें बुद्धि या साधारण समझ के विरुद्ध कोई भी बात नहीं है। शब्द में शक्ति होती है–यहां तक कि साधारण लिखित शब्द में भी शक्ति होती है। यदि वह अंतःप्रेरित शब्द हो तब तो उसमें और भी अधिक शक्ति होगी। वह शक्ति किस प्रकार की या किस प्रयोजन के लिये होती है यह तो अंतःप्रेरणा के स्वरूप एवं विषय पर निर्भर करता है और साथ ही सत्ता के उस भाग पर भी जिसे यह स्पर्श करती है। यदि वह साक्षात् परम शब्द ही हो,–जैसा कि महान् धर्मशास्त्रों, वेदों, उपनिषदों और गीता के कुछ वचनों में हम पाते है, तो उसमें आध्यात्मिक और ऊपर उठानेवाले संवेग को, यहां तक कि कई प्रकार की उपलब्धियों को भी जगाने की शक्ति हो सकती है। यह कहना कि वह ऐसा नहीं हो सकता आध्यात्मिक अनुभूति का खंडन करना है।

वैदिक कवि अपने काव्य को मंत्र मानते थे, वे उनकी अपनी अनुभूतियों के वाहन थे और दूसरों के लिये भी अनुभूति के वाहन बन सकते थे। स्वभावतः ही, वे अनुभूतियां अधिकतर ज्ञानदीप्तियां ही होंगी, दृढ़-स्थिर स्थायी उपलब्धियां नहीं जो कि योग का लक्ष्य हैं-परंतु वे मार्ग के सोपान या कम से कम मार्ग के प्रकाश तो हो ही सकती हैं। उपनिषदों या गीता के श्लोकों का मनन करते हुए मुझे पहले अनेक ज्ञानदीप्तियां, यहां तक कि प्रारंभिक उपलब्धियां भी प्राप्त हुई थीं। कोई भी वस्तु जिसके अंदर वह 'शब्द' एवं प्रकाश हो, चाहे वह उच्चारित हो या लिखित, अंदर की इस अंतर्ज्योति को प्रज्वलित कर सकती है, मानो एक आकाशमंडल को खोल सकती है, एक ऐसा प्रभावशाली दर्शन करा सकती है जिसका शरीर वह शब्द होता है। तुम स्वयं भी जानते हो कि तुम्हारी कुछ कविताओं ने आध्यात्मिक झुकाव रखनेवाले लोगों को अत्यधिक प्रभावित किया था। "आर्य" के लेख पढ़ते समय बहुतों के लिये अनुभूतियों के द्वार खुल गये हैं, यद्यपि वे लेख काव्य नहीं हैं तथा आध्यात्मिक काव्य की शक्ति से रहित हैं-परंतु यह इस बात का और भी बड़ा प्रमाण है कि आध्यात्मिक विषयों के लिये भी शब्द शक्ति से शून्य नहीं हैं। सभी युगों में आध्यात्मिक साधकों ने अपनी अभीप्साएं या अनुभूतियां कविता या अंतःप्रेरित भाषा में व्यक्त की हैं और इससे उन्हें तथा अन्यों को सहायता प्राप्त हुई है। अतएव मेरा ऐसे काव्य के आध्यात्मिक या आंतरात्मिक मूल्य और आंतरात्मिक प्रभाव का उल्लेख करना असंगत नहीं है।

काव्य और योग

(१)

साहित्य और कला अंतःसत्ता-आंतर मन तथा प्राण में प्रवेश करने के लिये प्रथम द्वार होते हैं या हो सकते हैं; क्योंकि वे वहीं से आते हैं। और यदि कोई भक्ति और ईश्वर-जिज्ञासा आदि की कविताएं लिखता है अथवा इस प्रकार के गीत रचता है तो इसका अर्थ यह है कि उसके अंदर एक भक्त या जिज्ञासु है जो अपनी अभिव्यक्ति द्वारा अपने आपको परिपुष्ट कर रहा है। एक दृष्टिबिंदु और भी है जो हमें लेले द्वारा दिये गये उत्तर के पीछे प्रतीत होता है। जब मैंने उनसे कहा कि मैं योग करना चाहता हूं पर कर्म और प्रवृत्ति के लिये ही, संन्यास और निर्वाण के लिये नहीं,-किंतु वर्षों आध्यात्मिक पुरुषार्थ करने पर भी मैं इस प्रकार का मार्ग नहीं ढूढ़ सका और इसी कारण मैंने आपसे मिलने की इच्छा प्रकट की थी, तो उनका पहला उत्तर यही था कि "तुम्हारे लिये यह सुगम होगा क्योंकि तुम कवि हो।" परंतु 'क्ष' ने किसी ऐसे दृष्टिकोण से प्रश्न नहीं किया था और न मैंने ही इस दृष्टिकोण से उत्तर दिया था। उसके प्रश्न से ऐसा प्रतीत होता था कि वह साहित्य में चरित्र-निर्माण करने के एक विशेष गुण को स्वीकार करता है। मेरा उत्तर इसी बात से संबंध रखता था।

१८-११-१९३६

(२)

मैंने नहीं देखा कि 'म' ने क्या कहा है। परंतु, उसने यदि यह कहा है कि तुम अब प्रेम-गीत नहीं गाते इसलिये अनुदार या अवनत हो गये हो तो यह बात मेरी समझ में नहीं आती। यदि किसी को जाज (Jazz) में रस नहीं आता और वह केवल महान् गायकों को या उनके जैसे संगीत को सुनने में ही अतिशय आनंद अनुभव कर सकता है तो वह संकीर्ण नहीं हो जाता। जब कोई चिंतन, अनुभव या कलात्मक आत्म-अभिव्यक्ति के निचले स्तर से ऊपर उठता है तो वह पतन नहीं कहलाता। मैं प्राणिक प्रेम पर कविताएं लिखा करता था, अब मैं यह नहीं कर सकता (क्योंकि यदि मैं प्रेम पर लिखूं तो वह आंतरात्मिक और आध्यात्मिक अनुभूति होगी), इसलिये नहीं कि मैं संकीर्ण या अवनत हो गया हूं बल्कि इसलिये कि मैं उच्चतर चेतना में केंद्रित हो गया हूं और फलतः कोई भी निरी प्राणिक वस्तु मुझे व्यक्त नहीं कर सकती। जो कोई भी अपनी चेतना का स्तर बदल लेगा उसके साथ यही होगा। जो आदमी लड़कपन को पार कर चुका है और बचकाने खिलौनों से नहीं खेलता उसके बारे में क्या कोई यह कह सकता है कि इस परिवर्तन से वह संकीर्ण और पतित हो गया है?

२७-८-१९३३

(३)

तुमने जो लिखा है कि समस्त मानवीय महत्ता, प्रतिष्ठा और सफलता अनंत और सनातन की महत्ता के सामने कुछ भी नहीं हैं—यह पूर्ण रूप से सत्य है। इससे दो निष्कर्ष निकल सकते हैं। एक तो यह कि सबके सब मानवीय कर्म त्याग कर मनुष्य को कंदरा में चले जाना चाहिये। दूसरा यह कि उसे बढ़कर अहंकार से बाहर निकल आना चाहिये जिससे प्रकृति की क्रियाएं एक दिन, सचेतन रूप में, अनंत और सनातन के कार्य बन जायं। स्वयं मैंने तपस्या के भाव से कविता या अन्य सर्जनशील मानव प्रवृत्तियों का त्याग कभी नहीं किया। वे गौण हो गईं क्योंकि अंतर्जीवन उत्तरोत्तर प्रबल होता गया: वास्तव में मैंने उन्हें छोड़ा ही नहीं, हां, मुझपर इतना भारी कार्य आ पड़ा कि मैं उन्हें जारी रखने का समय ही नहीं निकाल पाया। परंतु उनके संबंध में अपनी अहंभावना या प्राणिक आसक्ति को दूर करने में मुझे बरसों लग गये, तो भी मैंने किसी व्यक्ति को कभी यह कहते नहीं सुना न मेरे मन में ही कभी यह आया कि यह इस बात का प्रमाण है कि मैं योग के लिये नहीं जन्मा हूं।

(४)

साधना के संबंध में तुम्हें या और किसी साधक को जो कठिनाई अनुभव होती है वह वस्तुतः ध्यान बनाम भक्ति बनाम कर्म की कठिनाई नहीं है। कठिनाई यह है कि साधक को

क्या मनोभाव धारण करना चाहिये, उसका दृष्टिकोण क्या होना चाहिये, इसी बात को तुम चाहे जिन शब्दों में कह लो। तुम्हारी विशेष कठिनाई यह प्रतीत होती है कि एक ओर तो तुम्हारा मन घोर प्रयत्न कर रहा है और दूसरी ओर तुम्हारा प्राण निराशापूर्ण निर्णय किये बैठा है और शायद वह ध्यानपूर्वक देखता तथा जोर से नहीं तो दबी आवाज में ही यह गुनगुनाता है, "हां, हां, मेरे प्यारे दोस्त, बढ़े 'चलो, किंतु . . ." और ध्यान के अंत में कहता है, "क्या कहा था तुमसे ?". . . तुम्हारा प्राण निराश होने के लिये इतना उद्यत रहता है कि कविता का "शानदार" प्रवाह फूटने पर भी वह निराशा का उपदेश देने के लिये उस अवसर का उपयोग करता है ! मैं साधकों की अधिकतर कठिनाइयों में से गुजरा हूं, परंतु मुझे स्मरण नहीं आता कि काव्य-रचना के आनंद को या उसमें होनेवाली एकाग्रता को मैंने अदिव्य तथा निराशाजनक वस्तु समझा हो। यह मुझे अति मालूम पड़ती है।
२३-१२-१९३४

"THE LIFE HEAVENS" (लाइफ हेवन्स) कविता पर टैगोर के आक्षेप

मुझे 'प' से मालूम हुआ है कि "The Life Heavens" (जीवन-स्वर्ग) कविता पर टैगोर के आक्षेप सैद्धांतिक न होकर वैयक्तिक थे—अर्थात्, 'उन्हें स्वयं' ऐसा अनुभव नही हुआ है और उन जीवन-स्वर्गों को वे (अपने लिये) सत्य नहीं मान पाते, इसी लिये उनके द्वारा उनके अंदर कोई भाव उद्दीप्त नहीं हुआ, जब कि मेरी कविता 'शिव' की प्रतिक्रिया इससे बिलकुल उलटी हुई। इसपर मैं कुछ नहीं कहता, जैसे मैं उस समय कुछ नहीं कह सकता, जब कि कोई मेरी किसी कविता को इसलिये संपूर्ण रूप से बेकार बतलाये कि वह उसे पसंद नहीं आती, अथवा युक्तियुक्त आधार पर ही उसकी निंदा करे, जैसे कजिन्स (Cousins) ने आक्षेप किया है कि मेरी कविता "In the Moon-light" (चंद्रिका) का अधिक बड़ा भाग प्रारंभिक पदों से हीन कोटि का है। उस आक्षेप से मैंने बहुत कुछ सीखा : उसने मुझे वह मार्ग दिखाया जिससे मुझे "The Future Poetry" (भावी काव्य) की ओर जाना था। इसका यह अर्थ नहीं कि पहले मैं उस मार्ग को जानता ही न था, बल्कि उसने मेरी पहले से देखी-समझी चीज को ठीक-ठीक रूप और दिशा दे दी। परंतु टैगोर का आक्षेप मेरी समझ में बिलकुल नही आता। मैं स्वयं काव्य की बहुत सी बातों को (उदाहरणार्थ, दांते के "Hell"—नरक—आदि को) सत्य नहीं मानता और फिर भी उनका भावोद्रेक अनुभव करता हूं। निश्चय ही नवीन लोकों को हमारे सम्मुख खोल देना तथा हमारे अपने भावों, विचारों एवं अनुभवों को परमोच्च वाणी का रूप देना काव्य-शक्ति का अंग है। "लाइफ हेवन्स" शायद अपने पाठकों के लिये ऐसा न कर सकती हो, पर यदि ऐसी बात है तो यह रचना का दोष है, सिद्धांत का नहीं।

"LOVE AND DEATH" "(प्रेम और मृत्यु)" कविता का प्रकाशन

खेद है कि इंगलैंड में "Love and Death" (प्रेम और मृत्यु) शीर्षक कविता की सफलता के संबंध में तुम्हें कुछ भ्रम है। "प्रेम और मृत्यु" उस काल की कविता है जब मरडिथ और फिलिप्स अभी लिख रहे थे और यीट्स तथा ए. ई. गर्भस्थ नहीं तो केवल एक कलिका के रूप में ही थे। तब से हवा बदल गई है और यीट्स तथा ए. ई. भी कुछ-कुछ अतीत की वस्तु बन चुके है जब कि "प्रेम और मृत्यु" का काव्य-रूप या उसकी अन्य विशेषताएं ठीक वही चीजें हैं जो युद्धोत्तर लेखकों तथा साहित्य-समालोचकों के लिये 'अभिशाप' है। मुझे भय है कि यदि इसकी नितांत अवहेलना–जिसकी अत्यधिक संभावना है–न की गई, तो इसे कम से कम एक ऐसे साहित्यिक ढांचे का दुर्बल और असामयिक अनुकरण तो समझा ही जायगा जो बहुत समय पहले ही निकाल दिया गया और दफना दिया गया था। स्वयं मै इसे इस दृष्टिकोण से नही देखता, पर इसकी सफलता के लिये तो आधुनिक निष्पक्ष आलोचकों की सम्मति ही महत्त्व रखती है, मेरी सम्मति नही। यदि यह तब प्रकाशित की जाती जब यह लिखी गई थी तो यह शायद सफल होती किंतु अब! निःसंदेह, मैं जानता हूं कि इंगलैंड में अब भी ऐसे बहुत से लोग हैं जो, यदि यह पुस्तक उनके हाथ मे पड़ जाय तो, इसे बड़े उत्साह से पढ़ेंगे, पर मेरे विचार में यह उनके हाथों तक पहुंच ही न पायेगी।

अन्य कविताएं "प्रेम और मृत्यु" के साथ नही जा सकती। जब प्रकाशन का समय आयेगा 'सानेट'[1] (Sonnets) सानेटों की पृथक् पुस्तक में प्रकाशित करने होंगे तथा अन्य कविताएं (मुख्यतः) गीतिमय कविताओं की एक पृथक् पुस्तक मे–अतएव वे अभी प्रकाशित नही की जा सकतीं। कम से कम इस समय मेरा विचार यही है। यह बात नही कि मैं सदा के लिये प्रकाशन के विरुद्ध हूं किंतु मेरा विचार यह था कि समय से पहले कुछ करने की अपेक्षा उपयुक्त समय की प्रतीक्षा की जाय।

तथापि एक चीज की जा सकती है। 'प' "प्रेम और मृत्यु" तथा शायद छः कविताएं अपने मित्र के पास भेज सकता और प्रकाशकों से पुछवा सकता है कि उनकी दृष्टि में इनका प्रकाशन उपयोगी होगा या नही। कम से कम उससे कुछ संकेत मिल सकता है।
२४-१०-१९३४

आध्यात्मिक अनुभव का बौद्धिक वर्णन

मेरे विचार में अतिबौद्धिक चीजों का वर्णन करने के लिये यह आवश्यक नही है कि बुद्धि की भाषा मे उनमें परस्पर भेद किया ही जाय। क्योंकि, मूलतः वह वर्णन अनुमाना-

[1] चतुर्दशपदी कविता–अनुवादक।

त्मक चिंतन द्वारा प्राप्त विचारों की अभिव्यक्ति नहीं होता। आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य को अनुभव के द्वारा तथा वस्तुविषयक उस चेतना के द्वारा करनी होती है जो सीधे उस अनुभव में से उठती है अथवा उसके मूल में विद्यमान या उसमें अंतर्निहित होती है। सुतरां, इस प्रकार का ज्ञान मूलतः एक चेतना ही होता है, कोई विचार या सूत्रबद्ध भावना नहीं। उदाहरणार्थ, मेरा पहला बड़ा अनुभव--जो गंभीर और अभिभावी था, यद्यपि, जैसा कि आगे चलकर सिद्ध हुआ, आखिरी और सब कुछ लिये हुए न था--विचारमात्र को बहिष्कृत एवं नीरव करने के बाद तथा इसके द्वारा ही प्राप्त हुआ। सबसे पहले निस्तब्धता और नीरवता की एक ऐसी चेतना प्राप्त हुई जिसे आध्यात्मिक रूप में वास्तविक या ठोस चेतना कह सकते हैं; उसके बाद उस एकमात्र चरम सद्वस्तु का बोध हुआ जिसके सम्मुख जगत् के पदार्थ रूपमात्र प्रतीत होते थे--ऐसे रूप जो सारपूर्ण या वास्तविक या ठोस नहीं थे। परंतु यह सब एक आध्यात्मिक दर्शन तथा मूल एवं निर्वैयक्तिक बोध के लिये प्रत्यक्ष था और वास्तविकता या अवास्तविकता का प्रत्यय या विचार वहां लेशमात्र भी नहीं था, न कोई अन्य धारणा ही थी, क्योंकि प्रत्यय या विचारमात्र शांत हो गया था, वरंच यों कहना चाहिये कि उस पूर्ण निस्तब्धता में वह बिलकुल विद्यमान ही नहीं था। ये चीजें मन द्वारा नहीं बल्कि सीधे शुद्ध चेतना द्वारा प्राप्त हुईं, अतएव प्रत्ययों या शब्दों या नामों की आवश्यकता ही नही थी। पर फिर भी आध्यात्मिक अनुभव का यह मूल स्वभाव एकदम सीमा बांधनेवाला नही है; यह विचार के बिना भी काम चला सकता है और विचार के द्वारा भी। निःसंदेह, मन का प्रथम विचार यह होगा कि चिंतन का आश्रय मनुष्य को तुरंत बुद्धि के क्षेत्र में उतार लाता है--और प्रारंभ में तथा दीर्घकाल तक ऐसा होना संभव भी है; परंतु मेरा अनुभव यह है कि ऐसा होना अनिवार्य नहीं। ऐसा तभी होता है जब कोई अनुभूत सत्यों का बुद्धि द्वारा वर्णन करने का प्रयत्न करता है। परंतु एक और प्रकार का विचार भी है जो इस प्रकार उद्भूत होता है मानों वह अनुभव का या उसमें अंतःस्यूत चेतना का--या उस चेतना के किसी भाग का--विग्रह या रूप हो और यह मुझे अपने स्वरूप में बौद्धिक नही प्रतीत होता। इसमें एक और ही प्रकाश होता है, एक और ही शक्ति होती है; इसमें भाव के भीतर एक भाव होता है। जो विचार अपने को मूर्त रूप देनेवाले शब्दों की आवश्यकता के बिना ही प्रकट होते हैं, जो चेतना के भीतर प्रत्यक्ष दर्शन-रूप होते हैं, यहां तक कि एक ऐसा अंतरीय इंद्रिय-बोध या संस्पर्श होते हैं जो चेतनागत ज्ञान का एक सुनिश्चित रूप धारण कर लेता है,--उन विचारों में ऐसा प्रकाश और शक्ति आदि अत्यंत स्पष्ट रूप में विद्यमान होते हैं (मैं आशा करता हूं कि यह अत्यंत गुह्य या समझ के बाहर की बात नही है)। परंतु यह कहा जा सकता है कि ज्यों ही विचार शब्दों का जामा पहनते हैं, वे बुद्धि के जगत् की वस्तु बन जाते हैं--क्योंकि शब्द तो बुद्धि के ही घड़े हुए हैं। परंतु क्या सचमुच ऐसी ही बात है अथवा क्या ऐसा होना अनिवार्य ही है? मुझे सदैव ही ऐसा

प्रतीत हुआ है कि मूलतः शब्द चिंतक मन से भिन्न किसी अन्य स्तर से आये यद्यपि चिंतक मन ने उनपर अपना अधिकार जमा लिया, उन्हें अपने काम में लगाया तथा अपने प्रयोजनों के लिये उन्हें स्वच्छंदतापूर्वक गढ़ लिया। परंतु चाहे ऐसा न भी हो, तो भी क्या शब्दों को बौद्धिक चीजों से भिन्न वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त करना संभव नहीं है? हाउसमैन का कहना है कि काव्य पूर्ण रूप से कवित्वमय तभी होता है जब वह अ-बौद्धिक हो, अनर्थक प्रलाप हो। यह अतीव विरोधाभासी कथन है, किंतु मेरी समझ में उसका अभिप्राय यह है कि यदि काव्य को बुद्धि की कठोर कसौटी पर कसा जाय तो वह बुद्धि-विसंगत प्रतीत होगा, क्योंकि यह तथ्य एक ऐसी चीज को वहन करता है जो बौद्धिक विचार द्वारा दी हुई दृष्टि से भिन्न किसी अन्य प्रकार की दृष्टि को व्यक्त करती है और उसी के लिये सत्य होती है। क्या यह संभव नहीं कि शब्द उस अतिबौद्धिक चेतना से ही, जो आध्यात्मिक अनुभव की मूल शक्ति है, पैदा हों तथा भाषा भी उस चेतना को ही अभिव्यक्त करने के लिये प्रयोग में लाई जाय–कम से कम एक खास हद तक और एक खास ढंग से? जो हो, यह बात यहां केवल प्रसंगवश ही कही गई है–जब कोई आध्यात्मिक अनुभव को स्वयं बुद्धि को समझाने का यत्न करता है तो बात बिलकुल और होती है।

गद्य का कविता में अनुवाद

मेरी समझ में काव्यमय गद्य का कविता में अनुवाद करना सर्वथा न्याय्य है। स्वयं मैंने भी 'विक्रमोर्वशीयम्' का अनुवाद करते समय ऐसा किया है और वह इस कारण कि कालिदास के गद्य की सुषमा अंग्रेजी में काव्य के द्वारा ही सर्वोत्तम रीति से लाई जा सकती है, अथवा इस कारण कि स्वयं मैं उसे सबसे अच्छी तरह कविता में ही ला सकता था। तुम्हारे समीक्षक का नियम मुझे बहुत कठोर मालूम होता है; अन्य सभी नियमों की तरह वह अधिकतर उदाहरणों में सिद्धांततः टिक सकता है, किंतु अन्य अल्पसंख्यक उदाहरणों में (जो सर्वोत्तम कोटि के होते हैं, क्योंकि न्यून प्रायः ही अधिक से श्रेष्ठ होता है) वह शायद बिलकुल नहीं टिक सकता। यदि उस नियम को अधिक दूर तक खींचा जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि होमर और वरजिल का अनुवाद केवल षट्पदी कविता में ही किया जा सकता है। और फिर, इससे विपरीत दृष्टांतों के संबंध में भला तुम क्या कहोगे-अर्थात् काव्यों के अनेक उत्कृष्ट गद्यानुवाद भी तो मिलते हैं जो उनके आज तक किये गये किसी भी काव्यात्मक भाषांतर की अपेक्षा अत्यधिक अच्छे हैं तथा मूल की भावना के भी अधिक सदृश हैं? अधिक दूर जाने की जरूरत नहीं, टैगोर की गीतांजलि के अंग्रेजी रूपांतर को ही ले लो। यदि कविता को ऐसे सराहनीय (और अतएव उचित) ढंग से गद्य में अनूदित किया जा सकता है तो भला गद्य को उचित (तथा सहारनीय) ढंग से कविता में अनूदित क्यों न किया जाय? आखिर नियम जितनी समालोचकों की सुविधा के लिये बनाये जाते हैं उतने रचयिताओं को बांधने के लिये नहीं।

अनुवाद की अविकलता

मेरी समझ में अनुवाद की अविकलता के विषय में ठीक नियम यह है कि अनुवादक को मूल के यथासंभव निकट रहना चाहिये यह ध्यान में रखते हुए कि अनूदित कविता अनुवाद नहीं वल्कि बंगला की मूल कविता जैसी प्रतीत हो और जहां तक वन पड़े, वह ऐसी प्रतीत हो मानों वह मूलतः बंगला में ही लिखी हुई एक मौलिक कविता हो।

मैं स्वीकार करता हूं कि जिस नियम का मैंने प्रतिपादन किया था उसका पालन मैंने अपने आप नहीं किया है,—जव कभी मैंने अनुवाद किया, मूल कृति के आहत भावों की कुछ परवा नहीं की और अपनी कल्पना की मौज के अनुसार उसे निर्दयतापूर्वक एक अनूठे रूप में परिवर्तित कर डाला, परंतु यह तो एक बहुत वड़ा और भारी अपराध है जिसका अनुकरण करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। हाल में मैंने अपनी शैली में मूल के प्रति अधिक न्याय करने का यत्न किया है पर मैं नहीं जानता कि उसमें मुझे कहां तक सफलता मिली है। पर जो हो, इस विषय में वस यही सलाह ठीक है कि "जैसा मैं कहता हूं वैसा करो, जैसा मैं करता हूं वैसा नहीं।"

१०-१०-१९३४

अंग्रेजी काव्य में वर्णवृत्त के प्रयोगार्थ यत्न

'न' की 'लघु-गुरु' में लिखी कविता सुन्दर है। परंतु 'ग' शायद यह कहेगा कि यह विशुद्ध बंगला छंद है; मेरी समझ में उसके कथन का अभिप्राय यह है कि यह बंगला में इतनी अच्छी तरह तथा इतनी आसानी से पढ़ी जाती है मानों यह किसी अप्रचलित छंद-शास्त्र के अनुसार नहीं लिखी गई है। मैं समझता हूं, किसी नए छंद या छंद-शास्त्र का उद्देश्य आवश्यक रूप से यही होना चाहिये; अंग्रेजी में वर्णवृत के प्रयोग का यत्न करते हुए मैं इसी वात की चेष्टा कर रहा हूं।

नए कवियों को सहायता

(१)

हां, मैं 'ज' की सहायता अवश्य करता रहा हूं। जव कोई व्यक्ति सचमुच में साहित्यिक क्षमता का विकास करना चाहता है तो मैं (लेखक या लेखिका की) सहायता के लिये शक्ति का प्रयोग करता हूं। यदि क्षमता तथा उसका प्रयोग वहां विद्यमान हो, भले ही क्षमता कितनी भी सोई हुई क्यों न हो, तो वह दवाव के पड़ने से सदा ही वढ़ती है और यहां तक कि वह चाहे जिस दिशा में मोड़ी भी जा सकती है। स्वभावतः ही, कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक अनुकूल आधार होते हैं और वे अधिक सुनिश्चित रूप में तथा शीघ्रता के साथ प्रगति करते हैं। अन्य लोग प्रयोग की अपेक्षित शक्ति न होने के कारण साहित्यिक

क्षेत्र से अलग हो जाते हैं। परंतु, सब मिलाकर देखें तो, इस क्षमता का विकास कराना पर्याप्त सुगम है क्योंकि लेनेवाले की ओर से सहयोग प्राप्त होता रहता है और केवल मानव मन की तमोमय अप्रवृत्ति एवं अप्रकाश को ही दूर करना होता है और ये मानव-मन के कार्यों में आनेवाली उतनी बड़ी बाधाएं नहीं हैं जितना बड़ा कि वह प्राण का विरोध अथवा संकल्प या भावना का असहयोग होता है जो व्यक्ति के सामने तब उपस्थित होता है जब किन्हीं अन्य दिशाओं में परिवर्तित होने या प्रगति करने के लिये उसपर दबाव डाला जाता है।

११-६-१९३५

(२)

(उस लेखिका की पुस्तक के संबंध में) मैं कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि जब मैं किसी नये और तरुण लेखक को निश्चयात्मक रूप से उत्साहित नहीं कर पाता तब मैं चुप रहना ही पसंद करता हूं... प्रत्येक लेखक को अपने ही ढंग से विकसित होने के लिये छोड़ देना चाहिये।

३१-५-१९४३

(३)

अब 'स' के संबंध में। तुम चाहो तो उसे मेरी सम्मति का प्रशंसासूचक अंश लिखकर भेज सकते हो। संभवतः उसके साथ यह संकेत भी करना चाहिये कि मुझे उसकी रचना आद्योपांत एक समान नहीं लगी, जिसमें बात एकदम मीठी ही मीठी न हो। परंतु संग्रह-पद्य तथा अस्तव्यस्त काव्य-कला के संबंध में मेरे शब्द इतने कड़े हैं कि उन्हें आलोचित कविता के रचयिता के पास लिख भेजना ठीक नहीं–वे तो केवल तुम्हारे निजी उपयोग के लिये है। रचयिता के पास भिजवाने के लिये मैं इसी विचार को कम कड़े शब्दों में प्रकट करता। मैं एक बार पहले भी कह चुका हूं कि जिन्हें मैं अधिक अच्छी रचना करने के लिये सहायता नहीं दे सकता उनके लिये मैं कोई भी निंदात्मक या निराशाजनक बात नहीं लिखना चाहता। 'आर्य' में समालोचना के लिये मुझे भारतीय लेखकों से कितनी ही कविताएं प्राप्त होती थीं, परंतु मैं उनकी समालोचना से सदैव बचता रहा क्योंकि उसके लिये मुझे अत्यंत कठोर होना पड़ता। केवल 'ह' के बारे में ही मैंने कुछ लिखा क्योंकि उसके लिये मैं गंभीरतापूर्वक, तथा मेरी समझ में न्यायपूर्वक, ठीक ठीक प्रशंसासूचक आलोचना लिख सकता था।

२५-५-१९३१

(४)

'र' की कविताएं प्रयासमात्र हैं–उसकी उम्र के कवि के लिये वे उत्तम प्रयास हैं–अतः मैं

उसे यह कहकर उत्साहित करता हूं कि वे उत्तम प्रयास हैं। उसकी अंग्रेजी कविताएं ही मैं संशोधित करता हूं, क्योंकि उसमें प्रतिभा है, परंतु उसका भाषा पर अधिकार अभी स्वभावतः ही अत्यंत अपूर्ण है। अन्य तीन अंग्रेजी भाषा के विद्वान् हैं और 'द' तो अत्युच्च कोटि का कवि है। लोगों के मांगने पर मैं केवल अपनी सामान्य सम्मति ही देता हूं, सुझाव कभी नहीं देता। सम्मति या सुझाव मैं अंग्रेजी कविता पर ही देता हूं और संशोधन भी उसी का करता हूं।

२२-११-१९३३

(५)

मुझे मालूम नहीं कि मैं बंगला कविता की किसी प्रकार की विस्तृत समीक्षा के विषय में कोई सुझाव दे सकता हूं, क्योंकि मुझे भाषा तथा छंद के किसी व्युत्पन्न ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक हृद्गत बोध पर ही निर्भर करना पड़ता है।

७

संस्मरण और टिप्पणियां

१५ अगस्त १९४७

१५ अगस्त १९४७ स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारत के लिये पुराने युग की समाप्ति और नये युग का प्रारंभ सूचित करता है। परंतु हम एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपने जीवन और कार्यों के द्वारा इसे ऐसा महत्त्वपूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो संपूर्ण जगत् के लिये, सारी मानवजाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्य के लिये, नवयुग लानेवाला सिद्ध हो।

१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है कि इस दिन ने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परंतु इसके भारतीय स्वाधीनता-दिवस भी हो जाने को मैं कोई आकस्मिक संयोग नही मानता, बल्कि यह मानता हूं कि जिस कर्म को लेकर मैंने अपना जीवन आरंभ किया था उसको मेरा पथ-प्रदर्शन करनेवाली भागवती शक्ति ने इस तरह मंजूर कर लिया है और उसपर अपनी मुहर भी लगा दी है और वह कार्य पूर्ण रूप से सफल होना आरंभ हो गया है। निःसंदेह, आज के दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आंदोलनों को,—जिन्हे मैंने अपने जीवनकाल में ही सफल देखने की आशा की थी, यद्यपि उस समय वे असंभव स्वप्न जैसे ही दिखाई देते थे,—सफल होते हुए या अपनी सफलता के मार्ग पर जाते हुए देख सकता हूं। इन सभी आंदोलनों में स्वाधीन भारत एक बड़ा पार्ट अच्छी तरह अदा कर सकता और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

इन स्वप्नों में पहिला था एक क्रांतिकारी आंदोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारत को जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता नही प्राप्त की है। एक समय प्रायः ऐसा दीखता था मानो अपने स्वाधीन होने की प्रक्रिया में ही वह फिर से उस पृथक्-पृथक् राज्यों की अव्यवस्थापूर्ण स्थिति मे जा गिरेगा जो ब्रिटिश विजय से पहले विद्यमान थी। परंतु सौभाग्य से अब ऐसी प्रबल संभावना हो गई है कि यह संकट टल जायगा और अभी पूर्ण न सही पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जायगा। विधान-परिषद् की दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीति ने इस बात को संभव बना दिया है कि दलित वर्गों की समस्या बिना फूट-फटाव के हल हो जायगी। परंतु हिंदुओं और मुसलमानों का पुराना सांप्रदायिक भेद देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन के रूप में सुदृढ़ हो गया दीखता

है। यह आशा करनी चाहिये कि इस तै किये गये विभाजन को पत्थर की लकीर नहीं मान लिया जायगा और इसे एक कामचलाऊ अस्थायी उपाय से बढ़कर और कुछ न माना जायगा। क्योंकि यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूप में दुर्बल और अपंग तक हो सकता है; गृह-कलह का होना सदा ही संभव बना रह सकता है, नये आक्रमण और विदेशी राज्य का हो जाना तक संभव हो सकता है। भारत की आंतरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुंठित, यहां तक कि व्यर्थ भी हो सकता है। यह नहीं होना चाहिए; देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूप से ही हो जायगा, न केवल शांति और मेल-मिलाप की बल्कि मिलजुलकर काम करने की भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने तथा मिलजुलकर काम करने के अभ्यास और उसके लिये साधनों को उत्पन्न कर लेने से संपन्न हो जायगा। इस प्रकार अंत में एकता चाहे किसी भी रूप में आ सकती है—उसके ठीक-ठीक रूप का व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर कोई प्रधान महत्त्व नहीं। परंतु चाहे किसी भी उपाय से हो; चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिये, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारत के भविष्य की महानता के लिये यह आवश्यक है।

दूसरा स्वप्न था एशिया की जातियों का पुनरुत्थान तथा स्वातंत्र्य और मानव-सभ्यता की उन्नति के कार्य में एशिया का जो महान् स्थान पहले था उसी स्थान पर उसका लौट जाना। एशिया जग गया है; उसके बड़े बड़े भाग स्वतंत्र हो गये हैं या इस समय बंधन-मुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतंत्र या अंशतः परतंत्र हैं वे भी, चाहे कैसे भी घोर संघर्षों में से गुजरते हुए, स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाकी है और वह आज न सही कल पूरा हो जायगा। उसमें भारत को अपना पार्ट अदा करना है और उसे उसने एक ऐसी सामर्थ्य और योग्यता के साथ करना शुरू कर दिया है जो अभी से उसकी संभावनाओं की मात्रा को तथा उस स्थान को सूचित करती है जिसे वह राष्ट्रों की सभा में ग्रहण कर सकता है।

तीसरा स्वप्न था एक विश्व-संघ जो समस्त मानवजाति के लिये एक सुंदरतर, उज्ज्वल-तर और महत्तर जीवन का बाहरी आधार निर्मित करे। मानव संसार का वह एकीकरण प्रगति के पथ पर है। एक अधूरा प्रारंभ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठि-नाइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किंतु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूप से बढ़ता चला जायगा और विजयी होगा। इस कार्य में भी भारतवर्ष ने प्रमुख भाग लेना प्रारंभ कर दिया है और, यदि वह उस अधिक विशाल राजनीतिज्ञता को विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक संभावनाओं से ही सीमित नहीं होती बल्कि भविष्य को देख लेती और उसे निकट लाती है, तो भारत की उपस्थिति मंद एवं भीरुतापूर्ण

विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकास में जो महान् भेद है उसे प्रदर्शित कर सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें बाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, किंतु तो भी अंतिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, अनिवार्य गति है। इसकी आवश्यकता राष्ट्रों के लिये भी स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता किसी भी क्षण खतरे में पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रों का भी जीवन असुरक्षित हो सकता है। इसलिये इस एकीकरण में ही सबका हित है और केवल मानवीय निःशक्तता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परंतु ये भी प्रकृति की आवश्यकता और भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकती। परंतु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है, अंतर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होने चाहियें, अंतर्राष्ट्रीय पद्धति तथा संस्थाएं भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहियें, शायद इस प्रकार की प्रगतियां भी पैदा हों जैसे कि दो या अनेक देशों का एकसंग नागरिक होना, संस्कृतियों का आपस में ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्धप्रियता को छोड़ चुकी होगी, और तब वह ऐसी चीजों को आत्म-संरक्षण तथा अपनी दृष्टि की अखंडता से असंगत नहीं अनुभव करेगी। एकत्व की एक नई भावना मनुष्यजाति पर आधिपत्य जमा लेगी।

चौथा स्वप्न, संसार को भारत का आध्यात्मिक दान, पहिले से ही प्रारंभ हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिका में नित्य बढ़ती हुई मात्रा में प्रवेश कर रही है। यह आंदोलन बढ़ेगा; वर्तमान काल की विपदाओं के बीच अधिकाधिक लोगों की आंखें आशा के साथ भारत की ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओं का अपितु उसकी आंतरात्मिक और आध्यात्मिक साधना का भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

अंतिम स्वप्न था क्रमविकास में अगला कदम जो मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतर चेतना में उठा ले जायगा और उन समस्याओं का हल करना प्रारंभ कर देगा जिन समस्याओं ने मनुष्य को तभी से हैरान और परेशान कर रखा है जब से कि उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाज के विषय में सोचना विचारना शुरू किया था। यह अभी तक एक व्यक्तिगत आशा और विचार और आदर्शमात्र है जिसने भारत और पश्चिम में दोनों जगह दूरदर्शी विचारकों को वश में करना शुरू कर दिया है। इस मार्ग की कठिनाइयां प्रयास के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परंतु कठिनाइयां जीती जाने के लिये ही बनी थीं और यदि दिव्य परम इच्छाशक्ति का अस्तित्व है तो वे दूर होंगी ही। यहां भी, यदि इस विकास को घटित होना है, तो चूंकि यह आत्मा और आंतर चेतना की अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका प्रारंभ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केंद्रीय आंदोलन भारत ही करेगा।

ये हैं वे भाव और भावनाएं जिनको मैं भारतीय स्वाधीनता की इस तिथि के साथ संबद्ध करता हूं। क्या ये आशाएं ठीक सिद्ध होंगी, या कहां तक सिद्ध होंगी, यह बात नये और स्वाधीन भारत पर निर्भर करती है।

राजनीति को त्यागने का कारण

मैं यह भी कह दूं कि मैंने राजनीति को इसलिये नहीं छोड़ा कि मुझे यह लगता था कि मैं अब और कुछ नहीं कर सकता; यह विचार तो मेरे पास तक नही फटका। मैं इसलिये चला आया कि मैं नहीं चाहता था कि कोई भी चीज मेरे योग में हस्तक्षेप करे और फिर इसलिये कि मुझे इस विषय में एक सुस्पष्ट आदेश प्राप्त हुआ था। मैंने राजनीति से पूर्णतः संबंध-विच्छेद कर लिया है, परंतु ऐसा करने से पहले मुझे भीतर से पता चल गया था कि राजनीतिक क्षेत्र में मैंने जो कार्य आरंभ किया है उसे दूसरे लोग मेरी पूर्वदृष्ट पद्धति के ही अनुसार निश्चित रूप से आगे बढ़ायेंगे, और मैंने जो आंदोलन शुरू किया है उसमें मेरे कार्य करने या शामिल रहने के बिना भी उसकी अंतिम विजय निश्चित है। मेरे राजनीति से पृथक् होने के मूल में निराशा या विफलता की भावना तनिक भी नहीं थी। शेष बात यह है कि ऐसा कभी नहीं हुआ कि संसार के मामलों के संचालन में किसी बड़ी घटना के लिये मैंने संकल्प किया हो और वह अंततः सफल न हुआ हो, चाहे उसे सिद्ध करने में विश्व-शक्तियों को अत्यधिक समय ही क्यों न लग गया हो। अपने आध्यात्मिक कार्य के विफल होने की संभावना के बारे में मैं और किसी समय लिखूंगा। कठिनाइयां अवश्य हैं किंतु मैं निराश होने या विफलता की सनद देने का कोई कारण नही देखता। अक्तूबर १९३२

"भारत के अत्यंत खतरनाक व्यक्ति"

भगवान् को पाना कठिन हो सकता है, परंतु यदि कोई उन्हीं में लगा रहे तो उनकी प्राप्ति की कठिनाइयां जीती जा सकती है। यहां तक कि मेरा कभी न मुस्कराने का स्वभाव भी पराभूत हो गया था जिसपर नेविन्सन ने बीस से भी अधिक वर्ष पहले भयपूर्वक टिप्पणी की थी–"भारत के अत्यंत खतरनाक व्यक्ति", अरविन्द घोष जो "कभी नहीं मुस्कराते"। उसे यह भी जोड़ देना चाहिये था: "किंतु जो सदा मजाक करते हैं"–पर उसे यह मालूम ही नही था, क्योंकि मैं उसके सामने बहुत गंभीर रहता था, या शायद उन दिनों इस दिशा में मेरा पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। जो भी हो, यदि तुम 'उसपर'–कभी न मुस्कराने की मेरी वृत्ति पर–विजय पा सको तो तुम अन्य सब कठिनाइयों को भी अवश्य जीत लोगे। ११-२-१९३७

मराठा भोजन का स्वाद

मैं आशा करता हूं कि देवास के यहां तुम्हारा भोजन का अनुभव मेरे मराठा भोजन के

पहले अनुभव के जैसा नहीं हुआ। किसी कारण मेरा भोजन गायव था और एक आदमी मेरे पड़ोसी मराठा प्रोफेसर के यहां जाकर मेरे लिये खाना ले आया। मैंने एक ग्रास लिया और वस एक ही। राम रे! मुंह में एकाएक आग लग जाती तो भी उससे अधिक आश्चर्य न होता। संपूर्ण लंदन को एक ही लहर की प्रचण्ड दुःखदायी चपेट में भूमिसात् कर डालने में पर्याप्त था वह ग्रास!

पीड़ा और भौतिक आनंद

दिव्य हर्षातिरेक के संवंध में वात यह है कि सिर या पैर या और कहीं लगी हुई चोट को पीड़ा के भौतिक आनंद के साथ अथवा पीड़ा और आनंद या शुद्ध भौतिक आनंद के साथ ग्रहण किया जा सकता है–क्योंकि मैंने स्वयं अनेक वार इच्छा के विना ही ऐसा परीक्षण किया है और उसमें 'सम्मान ('आनर्स') के साथ ही उत्तीर्ण हुआ हूं। प्रसंगतः यह परीक्षण वहुत पहले अलीपुर जेल में आरंभ हुआ जव कि मुझे कोठरी में एक प्रकार की लाल और डरावनी सूरतवाली लड़ाकू चींटियोंने काट खाया था। तव मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सुख-दुःख हमारी इंद्रियों के अभ्यास है। परंतु दूसरों से मैं उस असामान्य प्रतिक्रिया की आशा नहीं करता। और शायद उसकी भी अपनी सीमाएं हैं।

१३-२-१९३२

वहिन निवेदिता और वहिन क्रिस्तीन

वहिन निवेदिता को मैं अच्छी तरह जानता था (वर्षो तक वे मेरी मित्र रहीं और राजनीतिक क्षेत्र में सहयोगिनी भी रहीं) और वहिन क्रिस्तीन से भी मेरी भेंट हुई थी,–वे दोनों विवेकानंद की अंतरंग यूरोपीय शिष्याएं थीं। दोनों पूरी तरह से पश्चिमीय थीं और उनमें हिंदू दृष्टिकोण लेशमात्र भी नहीं था। यद्यपि वहिन निवेदिता में, जो आयरिश महिला थीं, तीव्र सहानुभूति के द्वारा अपने समीपवर्ती लोगों की जीवन-प्रणाली में पैठने की शक्ति थी, फिर भी उनकी अपनी प्रकृति अंत तक पूर्ववालों से भिन्न ही रही। तथापि वेदांत की पद्धति के अनुसार उपलव्धि लाभ करने में उन्हें कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई।

गुरुगिरी

कृपा के विषय में 'क' का आक्षेप तभी उचित ठहरता यदि धार्मिकों की वात होती, पर आध्यात्मिक विषयों में उनके लिये कोई स्थान नहीं। स्वभावतः ही उनका कार्य कृपा का ही नहीं, वरन् प्रत्येक वस्तु का एक सूत्र एवं शुष्क ढांचा वना डालना होता है। यहां तक कि "उठो, जागो (उत्तिष्ठत, जाग्रत[1])" की उद्बोधक वाणी भी एक प्रकार के अहंकार या एक

---

[1]कठोपनिषद् १-३-१४

सूत्र की ओर ही ले जाती है—जब हर एक ही दिव्य वस्तुओं के साथ व्यवहार करता है तब ऐसी बातों से नहीं बचा जा सकता। मुझे भी गुरुगिरी पर इसी प्रकार की प्रबल आपत्ति थी, वस्तुओं के व्यंग या यों कहें कि उनके पीछे विद्यमान कठोर सत्य ने मुझे गुरु बनने और गुरुवाद का प्रचार करने के लिये विवश कर दिया। ऐसी है विधि की लीला।
१६-१-१९३६

शिव-स्वभाव

मेरे अंदर शिव के आदर्श के लिये कोई विशेष रुचि नहीं है, यद्यपि शिव-स्वभाव का कुछ अंश मेरे अंदर जरूर होगा। मेरे अंदर न तो कभी धन-शक्ति का त्याग करने की प्रवृत्ति रही और न उसके प्रति आसक्ति ही। मनुष्य को इन चीजों से ऊपर उठना ही चाहिये और इनसे ऊपर उठकर ही इनपर भली भांति अधिकार किया जा सकता है।
१५-१-१९३९

सच्चा संन्यास

यह इसपर निर्भर है कि संन्यास शब्द से तुम क्या समझते हो। मेरे अंदर कोई कामनाएं नहीं हैं किंतु मैं बाहर से संन्यासी का-सा जीवन नहीं बिताता; हां, केवल एकांतवास करता हूं। गीता के अनुसार, त्याग अर्थात् कामना और आसक्ति से आंतरिक मुक्ति ही सच्चा संन्यास है।
९-७-१९३७

शिष्टाचार—सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन

लेकिन आखिर भद्रता और सामाजिक शिष्टाचार आध्यात्मिक अनुभव या सच्ची योग-सिद्धि के अंग या कसौटी कब से बन गए? आध्यात्मिकता की कसौटी के रूप में इनका मूल्य अच्छा नाच सकने या सुन्दर कपड़े पहन सकने से बढ़कर नहीं है। जिस प्रकार ऐसे बहुत अच्छे और दयालु व्यक्ति देखने में आते हैं जो अपने व्यवहार में गंवार और असभ्य होते हैं, उसी प्रकार ऐसे अत्यंत आध्यात्मिक मनुष्य भी हो सकते हैं (यहां आध्यात्मिक मनुष्यों से मेरा मतलब उनसे है जिन्हें गंभीर आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हो) जिन्हें भौतिक कर्म-जीवन पर कुछ भी अधिकार प्राप्त न हो (प्रसंगतः, अनेक बहुश्रुत व्यक्ति भी ऐसे ही होते हैं) और जो शिष्टाचार के विषय में तनिक भी सावधान न हों। मैं समझता हूं स्वयं मुझपर भी असभ्य और उच्छृंखल व्यवहार का दोष लगाया जाता है क्योंकि मैं लोगों से मिलना अस्वीकार कर देता हूं, पत्रों का जवाब नहीं देता, तथा और भी कितनी तरह से दुर्व्यवहार करता हूं। मैंने एक प्रसिद्ध संन्यासी के विषय में सुन रखा है कि वह अपनी एकांत कुटी

में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पत्थर मारा करता था, क्योंकि उसे शिष्यों की चाह नहीं थी और प्रार्थियों की बाढ़ को रोकने का उसे और कोई उपाय नहीं दीखता था। कम से कम मैं यह फैसला करते हुए सकुचाता हूं कि ऐसे लोगों को आध्यात्मिक जीवन या अनुभव की प्राप्ति नहीं हुई। निःसंदेह, मैं यह अधिक अच्छा समझता हूं कि साधक एक दूसरे के साथ उचित रूप से समझ-बूझ कर व्यवहार करें, पर यह बात सामूहिक जीवन एवं सामंजस्य के नियम के लिये है, योग की सिद्धि या आंतरिक अनुभूति के अपरिहार्य चिह्न के रूप में नहीं है।

दिसंबर १९३५

यौगिक शांति और सात्त्विक स्वभाव

प्रश्न–सामान्य जीवन में 'सात्त्विक' स्वभाव के लोग क्रियात्मक रूप में उन साधकों की भांति व्यवहार करते हैं जिन्हें योग के फलस्वरूप आध्यात्मिक शांति उपलब्ध होती है। क्या यह कहा जा सकता है कि 'सात्त्विक' लोगों में भी शांति उतरती है पर गुप्त रूप में ही, अथवा क्या उनका स्वभाव उनके अतीत जीवनों के कारण ही सात्त्विक होता है?

उत्तर–निःसंदेह, मन में निवास करने की शक्ति उन्हें विगत विकास के द्वारा ही प्राप्त होती है। परंतु आध्यात्मिक शांति कुछ और ही वस्तु है तथा मानसिक शांति से अनंतगुना अधिक है, और उसके परिणाम भी अलग ही होते है, केवल स्पष्ट चिंतन या कुछ संयम या संतुलन या सात्त्विक अवस्था ही नही। पर उसके महत्तर परिणाम केवल तभी पूर्ण एवं स्थायी रूप से प्रकट हो सकते है जब वह देह-संस्थान में काफी देर तक स्थिर रहे अथवा जब व्यक्ति अपने को सिर के ऊपर उसी के अंदर फैला हुआ और साथ ही सब तरफ अनतता की ओर फैलता हुआ एवं ठेठ कोषाणुओं तक उसी के द्वारा ओतप्रोत अनुभव करे। तब वह शान्ति अपने संग उस गभीर, विशाल और ठोस सुस्थिरता को वहन करती है जिसे कोई भी वस्तु चलायमान नहीं कर सकती–ऊपर-ऊपर तूफान और युद्ध भले ही चलता रहे। यौवनकाल मे मैं भी वैसी सात्त्विक प्रकृति का था जिसका तुमने वर्णन किया है, परंतु जब ऊर्ध्व की शांति का अवतरण हुआ, तो वह बिलकुल और ही चीज थी। सत्त्वगुण निर्गुण मे लीन हो गया और अभावात्मक निर्गुण भावात्मक त्रैगुण्यातीत में।

२२-७-१९३५

कर्म करने की क्षमता और रुचि

यह रुचि का नही बल्कि क्षमता का प्रश्न है–यद्यपि साधारणतया (पर सदा नही) रुचि क्षमता के साथ ही रहा करती है। परंतु क्षमता भी विकसित की जा सकती है और रुचि भी, अथवा यूं कहना चाहिये कि रस भी, जिसकी तुम बात करते हो, विकसित किया जा

सकता है। यदि कोई व्यक्ति निजको सौंपे हुए किसी भी कर्म को भगवान् के प्रति अर्घ्य के रूप में सहर्ष नहीं अपना सकता तो यह नहीं कहा जा सकता कि–इस योग के प्रयोजन के लिये–वह पूर्ण यौगिक अवस्था में प्रतिष्ठित है। एक समय था जब मैं किसी भी शारीरिक कर्म के लिये सर्वथा अयोग्य था और केवल मानसिक कर्म की ओर ही ध्यान देता था, परंतु अपनी सत्ता के इस ज्वलंत दोष को दूर करने तथा देह-यंत्र को उपयुक्त एवं सचेतन बनाने के लिये मैंने शारीरिक कार्यों को सावधानी तथा पूर्णता के साथ करने का अभ्यास किया। यहां रहनेवाले और कइयों की भी ऐसी ही अवस्था थी: ऐसी प्रकृति, जो बाहरी कार्य और कर्मशीलता को स्वीकार करने के लिये अभ्यस्त नहीं होती, मानसिक रूप में अत्यंत भारी-भरकम हो जाती है–पर शारीरिक रूप में बेकार और तामसिक रहती है। शारीरिक कर्म को केवल तभी एकदम छोड़ा जा सकता है यदि कोई अपाहिज हो गया हो या शरीर से अत्यंत दुर्बल हो। अवश्य ही मै आदर्श की बात कह रहा हूं–बाकी सब तो व्यक्ति की प्रकृति पर निर्भर करता है।

सेवकों पर नियंत्रण करने का कार्य हो या गोदाम का कार्य, काव्य हो या चित्रकला, सभी कार्यों की अधिष्ठात्री देवी सदा वही एक हैं–शक्ति, श्री मां।

१२-१२-१९३४

सुस्ताने की शक्ति

अच्छा तो, भारी काम की बारी खतम करके कुछ सुस्ता लेने की तुम्हारी सत्कामना के विषय में 'कैसे' का कोई प्रश्न नहीं है: मनुष्य बस जरा सुस्ता लेता है यदि उसमें वैसा करने की क्षमता हो! मुझमें वह क्षमता है, यद्यपि उसे दिखाने के अवसर अब नही मिलते; परंतु उसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती न उसकी किसी प्रक्रिया का ही आविष्कार किया जा सकता है: बस वह तो प्रकृति की एक देन है।

अपरिचित लोगों को अंतर्दर्शन द्वारा देखना

हां, निश्चय ही, मुझे 'ब' की याद है। मै यह नही कह सकता कि वह मेरी स्मृति में है क्योंकि मैने उसे कम से कम शारीरिक रूप से कभी नहीं देखा। संभवत: वह अतिमानस से जो अभिप्राय समझता है वह ऊर्ध्व मन है–जिसे मै अब प्रबुद्ध मन–संबोधि मन–अधिमानस कहता हूं–प्रारंभ में मैं भी ऐसा ही घपला किया करता था।

यह चर्चा करने का कुछ विशेष लाभ नहीं कि क्या वह वास्तव में माताजी को देखता है या अपने मन में प्रतिबिंबित उनकी किसी प्रतिमा को। किंतु किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे हमने पहले कभी नही देखा, अंतर्दर्शन द्वारा देखना असंभव तो क्यों कोई असाधारण बात भी नहीं, तुम यों सोचते हो मानों आंतर मन और इंद्रिय, अर्थात् आन्तर दर्शन बाह्य मन और इंद्रिय अर्थात् बहिर्दर्शन से ही परिसीमित हो अथवा केवल उसी की प्रतिच्छाया हो। आंतर

मन, इंद्रिय और दर्शन यदि केवल यही हों और इससे अधिक और कुछ भी न हों तो उन-का कुछ विशेष प्रयोजन नहीं होगा। अंतर्दर्शन की क्षमता अंतरिंद्रिय एवं अंतर्दृष्टि की एक अन्यतम आरंभिक शक्ति है और यह केवल योगियों में ही नहीं बल्कि साधारण पारदर्शियों, स्फटिकदर्शियों आदि में भी होती है। साधारण पारदर्शी, स्फटिकदर्शी आदि ऐसे लोगों को, जिन्हें उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होता न उनके बारे में कभी सुना ही होता है, किन्हीं सुनिश्चित परिस्थितियों में कुछ खास क्रियाएं करते हुए देख सकते हैं, और उस अंतर्दर्शन की प्रत्येक छोटी मोटी बात बाद में उन देखे हुए व्यक्तियों के द्वारा संपुष्ट होती है–इस प्रकार के अनेक असंदिग्ध तथा आश्चर्यजनक दृष्टांत पाये जाते हैं। माताजी ऐसे लोगों को जिन्हें वे नहीं जानतीं, सदा ही देखा करती है, उनमें से कई बाद में यहां आते हैं अथवा उनके फोटो यहां आते हैं। स्वयं मुझे भी ऐसे अंतर्दर्शन हुए है, हां, साधारणतया मैं उन्हें स्मरण करने या परखने का यत्न नहीं करता। परंतु शुरू शुरू में इस प्रकार के जो अंत-र्दर्शन हुए उनमें दो विलक्षण कोटि के थे और इसी लिये वे मुझे अभी तक स्मरण हैं। एक बार मैं यहां के नव-निर्वाचित प्रतिनिधि को देखने का यत्न कर रहा था, पर मुझे उनसे सर्वथा भिन्न कोई व्यक्ति, वह व्यक्ति जो यहां बाद में गवर्नर होकर आया, दिखाई दे गया। साधारण घटनाक्रम में मेरा उनसे मिलना कभी संभव न होता, परंतु एक अनोखी भूल हो गयी और उसके परिणामस्वरूप मै उनके दफ्तर में जा पहुंचा, उनसे मिला और देखते ही पहचान लिया। दूसरा कोई बी. आर. था. जिससे मुझे मिलना था, परंतु उसका अंतर्दर्शन मुझे उस रूप में नहीं हुआ जो मेरे यहां वस्तुतः आने के दिन उसका था, बल्कि उस रूप में हुआ जो मेरे घर में एक वर्ष रहने के बाद उसका हो गया। वह उस अंतर्दर्शन की हूबहू प्रतिमूर्त्ति बन गया, बारीक-छंटे बाल, रूखा-सूखा, भद्दा, फुर्तीला चेहरा, मेरे पास जो चिकने-चुपड़े मुंहवाला उत्साही वैष्णव आया था उससे ठीक उलटा। इस प्रकार, वह एक ऐसे मनुष्य का अंतर्दर्शन था जिसे मैंने कभी नहीं देखा था, परंतु जैसा उसे भविष्य में बनना था उसी का दर्शन, अर्थात् एक भविष्य-संबंधी अंतर्दर्शन था।

२४-१०-१९३४

हिलने का संवेदन

प्रश्न–मै एक मचान पर (भित्ति पर) खड़ा था जो इधर-उधर हिल रही थी। एक बार मैंने पास की दीवारों को पेंडुलम की न्याईं हिलते देखा। उसका कारण मुझे समझ में आ गया, परंतु दीवारें ऐसे स्पष्ट रूप में झूमती दिखाई देती थी कि मैंने यह निश्चय करने के लिये कि वे हिल नहीं रही हैं पास की दीवार पर हाथ रखा–तथापि "दृष्टि-मानस" ने "स्पर्श-मानस" की साक्षी को मानने से इन्कार कर दिया!

उत्तर–परंतु उसका कारण क्या था? मानों मस्तिष्क के किसी केंद्र पर पड़े हुए संस्कार

के अंदर मचान के हिलने का अनुभव अपने को दीवारों में संक्रांत कर रहा हो। एक समय नौका में बहुत देर तक यात्रा करने के बाद उससे बाहर आने पर मुझे दो-एक बार उसके हिलने का संवेदन हुआ था, मानो मेरे चारों ओर की धरती नौका की तरह डोल रही हो–निःसंदेह वह एक सूक्ष्म भौतिक अनुभव था पर था अत्यंत सुस्पष्ट।
४-४-१९३५

शरीर के बहिःस्थित किसी स्तर से चिंतन करना

प्रश्न–अधिक पढ़ने के कारण मुझे सिर में थकान एवं खुश्की अनुभव होती है और नींद भी मुश्किल मे आती है। परतु पढते और स्मरण करते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता है मानों उसकी क्रिया सिर में नही बल्कि कही छाती में चल रही हो और फिर भी थकावट सिर में अनुभूत होती है। ऐसा क्यों होता है?

उत्तर–छाती में क्रिया का अनुभव होना वास्तव में एक विचित्र बात है, क्योंकि वहां तो प्राणिक मन का स्थान है और रोमन विचारक मन के संबंध में सदा इस प्रकार की बातें किया करते थे मानो वह हृदय में हो। परंतु सच पूछो तो स्मरण और अध्ययन भौतिक मन मे ही होते है। अस्तु, मस्तिष्क इन सब व्यापारों के लिये वाहक यंत्र है और यदि कोई थकान हो तो उसे वह अनुभव कर सकता है। मस्तिष्क को सर्वोत्तम विश्राम तब प्राप्त होता है जब चिंतन की क्रिया शरीर से बाहर तथा सिर से ऊपर हो (अथवा आकाश में या अन्य स्तरों पर, किंतु फिर भी शरीर से बाहर)। कुछ भी हो, मेरे प्रसंग में ऐसा ही हुआ; क्योंकि ज्यों ही ऐसा हुआ, अत्यधिक विश्रांति अनुभव हुई। उसके बाद से मुझे शारीरिक थकान तो यदा-कदा अनुभव हुई पर मस्तिष्क की किसी प्रकार की भी थकान कभी नहीं हुई। दूसरों से भी मैंने यही बात सुनी है।
१९-१२-१९३४

एक संकेत

प्रश्न–अध्ययन में मै इतना अधिक एकाग्र हो जाता हूं कि साधना-संबंधी चिंतन के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। परिणाम यह होता है कि ज्यों ही मै उस एकाग्र अवस्था से बाहर आता हूं, त्यों ही कोई भी बात मेरे मन में प्रवेश कर सकती है। क्या यह साधना की दृष्टि से अवांछनीय अभ्यास नहीं है?

उत्तर–मुझे कहना होगा कि यदि तुम अध्ययन और साधना-चिंतन एवं एकाग्रता के बीच अपने ध्यान को अधिक विभक्त कर सको तो यह उस दृष्टि से, जिसका तुमने उल्लेख किया है, अधिक अच्छा हो सकता है। मेरा मतलब यह है कि तुम्हारे मन में साधना के प्रति इतनी काफी एकाग्रता होनी चाहिये कि उसके अंदर साधना का एक वातावरण उत्पन्न हो

जाय जिसे तुम पढ़ना समाप्त होते ही अथवा जब कभी किसी आक्रमण करनेवाली चेष्टा को ठीक करने की आवश्यकता हो तब, उपरितल पर ला सको। अन्यथा अवचेतन शक्तियां खुलकर खेलना शुरू कर देती हैं और बलवत्तर हो जाती हैं। साथ ही, व्यक्ति की स्थिति अवचेतनमय अर्थात् जड़ तथा आंधी के पत्ते की-सी हो जाती है। कम से कम, हाल ही में अपने अवचेतन के ऊपर क्रिया करते हुए मैंने जो देखा है वह यही है, अतएव तुम्हें भी मैं यह संकेत दे रहा हूं।

२७-५-१९३५

अवचेतन स्वप्न

(१)

प्रश्न–अपने स्वप्नों के स्वरूप में मैं अभी तक कोई परिवर्तन नहीं देखता–अभी मुझे घरेलू जीवन, खाना-पीना, विचित्र प्रकार के लोगों से मिलना, इधर-उधर घूमना-फिरना आदि विषयक सामान्य कोटि के स्वप्न ही आते है। यहां तीन वर्ष साधना करने पर भी इस दिशा में परिवर्त्तन क्यों नहीं हुआ?

उत्तर–जब जाग्रत् चेतना इस प्रकार की चीजों में दिलचस्पी लेना छोड़ चुकती है उसके बाद भी वर्षो तक इस प्रकार के स्वप्न आते रह सकते हैं। अपने पुराने संस्कारों को सुरक्षित रखने में अवचेतन अत्यंत हठी होता है। अभी हाल में भी मुझे क्रांतिकारी कार्यो का एक स्वप्न आया है अथवा एक और स्वप्न भी आया है जिसमें बड़ौदे के महाराज आ घुसे थे, ऐसी चीजें और ऐसे लोग स्वप्न में देखे जिनके बारे में लगभग पिछले बीस वर्षो से अकस्मात् भी विचार नहीं आया। मेरी समझ में इसका कारण यह है कि मानव मनोविज्ञान में अवचेतन का कार्य ही संपूर्ण भूत को अपने अंदर सुरक्षित रखना है और, सचेतन मनःशक्ति से रहित होने के कारण, यह अपने कर्तव्य से तब तक चिपका रहता है जब तक इसके अंदर प्रकाश पूर्ण रूप से उतरकर इसके कोने-कोने और रंध्र-रंध्र तक को आलोकित नहीं कर देता।

१७-१२-१९३४

(२)

प्रश्न–पिछले कुछ दिनों से मुझे बारंबार खाने के स्वप्न आ रहे है। क्या यह भोजन की लालसा या शारीरिक आवश्यकता को सूचित करता है अथवा क्या यह किसी आनेवाली बीमारी का चिह्न है जैसा कि गांवों में लोग विश्वास करते है?

उत्तर–मैं ऐसा नहीं समझता–ये संभवतः पुराने संस्कार हैं जो नींद में अवचेतन चीजों से

उठ रहे हैं (प्राण से नहीं—अतएव ये कामना नहीं वरंच एक स्मृति हैं)। मुझे वह समय याद आता है जब मुझे सदा भोजन की थालियां ही दीखा करती थीं यद्यपि उन दिनों में भोजन की तिलमात्र भी पर्वाह नहीं करता था।

२-४-१९३४

विभिन्न व्यक्तित्व

प्रश्न—अभी तक मैं अपनी साधना में समुचित मनोवृत्ति बनाये रखने में समर्थ नहीं हुआ हूं और फिर भी दूसरों को उनकी कठिनाइयों में परामर्श देता हूं। क्या यह कपट और असत्यता नहीं है?

उत्तर—हां साहब! आदमी अच्छी सलाह तो दे ही सकता है फिर अपने-आप चाहे उसपर चले या न चले—एक प्राचीन वचन है, "मेरे उपदेश का अनुसरण करो, आचरण का नहीं।" अधिक गंभीरतापूर्वक कहूं तो, व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं और उनमें से जो उपदेश तथा सहायता देने के लिये उत्कंठित होता है वह सर्वथा सच्चा हो सकता है। मुझे बहुत पहले की बात याद है जब वैयक्तिक संघर्ष एवं कठिनाइयां अभी तक मेरे सामने थीं, बाहर से लोग परामर्श आदि के लिये मेरे पास आते थे; तब मैं घोर विषाद में डूबा हुआ था और निराशा एवं विफलता की अवस्था में से निकलने का मार्ग नहीं देख पाता था, फिर भी उसके संबंध में एक भी शब्द मेरे मुंह से बाहर न निकलता और मैं सुनिश्चित विश्वास के साथ परामर्श देता। क्या वह असत्यता थी? मैं समझता हूं, नहीं,—मेरे अंदर जो बोलता था वह जो कुछ बोलता था उसके विषय में एकदम निश्चित था। अपनी संपूर्ण सत्ता को भगवान् की ओर मोड़ना सुगम कार्य नहीं है और यदि इसमें समय लगे तथा अन्य क्रियाएं फिर भी हस्तक्षेप करती रहें तो भी हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखना, सुधारना तथा आगे बढ़ते जाना चाहिये—**अनिर्विण्णेन चेतसा**।

२४-२-१९३५

मनुष्य का उत्तरदायित्व

मेरा अनुभव मुझे बताता है कि मनुष्य उससे बहुत ही कम सावधान तथा अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी होते हैं जितना कि नैतिकतावादी, उपन्यासलेखक तथा नाटककार उन्हें बना देते हैं। सुतरां, मैं यह देखने की जगह कि आदमी ने अपने आप अपने अनुमान के अनुसार क्या करने की ठानी थी या उसका उद्देश्य क्या था, यह देखता हूं कि उसे किन शक्तियों ने प्रेरित किया। हमारे अनुमान तो प्रायः ही गलत होते हैं और जब वे ठीक होते भी हैं, तब भी वे केवल विषय के ऊपरी तल को ही स्पर्श करते हैं।

२२-६-१९३४

जन्मपत्री और फलित ज्योतिष

(१)

जन्मपत्री के संबंध में मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि जो थोड़ा बहुत फलित ज्योतिष मुझे आता भी था वह सब भी अब भूल चुका हूं।
१४-९-१९३६

(२)

फलित ज्योतिषी सब तरह की बातें बतलाते हैं जो सच्ची नहीं निकलती। एक ज्योतिषी के अनुसार मेरा देहांत गत वर्ष हो जाना चाहिये था, एक दूसरे के कथनानुसार मुझे गत वर्ष मार्च या मई में पांडिचेरी छोड़कर अपने शिष्यों के साथ भारत का तब तक भ्रमण करना चाहिये था जब तक मैं नदी में अंतर्धान न हो जाता। चाहे कोई भविष्यवाणी जन्मपत्री के अनुसार ठीक भी हो फिर भी उसका पूरा होना जरूरी नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के कारण मनुष्य एक नई शक्ति की ओर खुल जाता है जो उसके भाग्य को बदल सकती है।
२२-८-१९३७

(३)

प्रश्न—'स' ने मुझे बताया कि आज (४ अप्रैल १९३६) पांडिचेरी का जन्मदिन है, क्योंकि आप इसी तिथि को यहां आये थे। यदि कोई अपने को सन् २०३६ की स्थिति में रख सके तो वह संभवतः देखेगा कि ४ अप्रैल भूतल के आध्यात्मिक -जीवन के जन्मदिन के रूप में मनायी जा रही है। शायद पृथ्वी की जन्मपत्री इस बात को अधिक ठीक रूप में दिखा सकती है; परंतु जैसे कुछ गांवों की जन्मपत्रियां होती हैं वैसे ही क्या पृथ्वी की भी जन्मपत्री है?

उत्तर—पांडिचेरी का जन्म हुए तो चिरकाल हो गया है, पर यदि 'स' का मतलब उसके पुनर्जन्म से हो तो यह बात संभव है, क्योंकि जब मैं आया था तब यह सर्वथा निर्जीव थी। मुझे मालूम नहीं कि पृथ्वी की भी जन्मपत्री है या नहीं। जब उसका जन्म हुआ तब तो वर्ष, दिन, घंटे तथा मिनट को नोट करने के लिये कोई व्यक्ति विद्यमान ही नहीं था। परंतु शायद कोई ज्योतिषी मेरे नौका से उतरने के समय की ग्रह-स्थिति का चक्र बनाकर उसके आधार पर संसार के घटना-चक्र का निर्धारण कर सकता है! दुर्भाग्यवश वह शायद सभी गलत परिणामों पर पहुंचेगा उस ज्योतिषी की तरह जिसने कहा था कि मैं (श्रीअरविन्द) मार्च १९३६ में पांडिचेरी छोड़कर १९४८ तक भारत में पर्यटन करूंगा और फिर

अपने शिष्यों के साथ नदी में स्नान करते समय अंतर्धान हो जाऊंगा। मेरे विचार में उसने भृगु-संहिता—उस पुराने कूटग्रंथ—के बल पर भविष्यवाणी की थी; परंतु मुझे इस बात का निश्चित पता नहीं है। बहुत समय पहले भी उसी पुराने पौराणिक भृगु के आधार पर मुझे बताया गया था कि मेरा भविष्य मुसोलिनी-नैपोलियन जैसा शानदार होगा।
४-५-१९३६

पुस्तकें लिखने का रिकार्ड

प्रश्न—'अ' ने मुझे बताया कि 'क्ष' ने एक उपन्यास का अंग्रेजी में अनुवाद किया है जिसका आधा हिस्सा आपने संशोधित किया है, कार्यतः इसका अभिप्राय यह है कि 'क्ष' स्वयं "आर्य" का अनुवाद करने के स्थान पर, जो कि अधिक उचित होता, आपसे किसी के उपन्यास का अनुवाद कराता है। आह! आपको कैसी कठिनाइयों में से गुजरना पड़ता है! लंदन के किसी पत्र में एक व्यक्ति ने जो यह टिप्पणी लिखी थी कि आपने ५०० पुस्तकें लिखी हैं वह शायद सर्वथा गलत बात नहीं थी। इस समय तक साधकों को आपने जो पत्र लिखे है उन्ही से प्रति साधक तीन-चार पुस्तकें बन जायंगी। फिर यदि उनमें आपकी कविताएं, अनुवाद तथा अन्य लेख जोड़ दिये जायं तो सब मिलकर पांच सौ पुस्तकों से कम नहीं होंगे।

उत्तर—'क्ष' के "आर्य" का अनुवाद करने के विचार से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं! उससे तो पांच सौ पुस्तकें लिखना मेरे लिये कहीं आसान होगा। शायद मै लिख भी चुका हूं—मैंने जितना भी घसीटा है वह सब यदि मेरे नाम जमा किया जाय तो। परंतु उसमेंसे अधिकांश, कम से कम सार्वजनिक रूप से, प्रकाश में नहीं आयगा। इस प्रकार मै पुस्तक-रचना का रिकार्ड कायम करने से बच भी सकता हूं। ३-२-१९३५

"ARYA" ("आर्य")

(१)

प्रश्न—कहा जाता है कि "Arya" ("आर्य") का प्रकाशन विश्वयुद्ध के आरंभ होने के दिन या उससे ठीक पहले शुरू हुआ था। क्या यह बात अर्थपूर्ण नहीं है? क्या वह एक प्रकार का समानांतर आंदोलन नहीं था?

उत्तर—"आर्य" के प्रकाशन का निश्चय पहली जून (१९१४) को किया गया था और यह तै हुआ था कि इसका आरंभ १५ अगस्त को होगा। इस बीच चौथी तारीख को युद्ध शुरू हो गया। तुम चाहो तो इसे तिथियों की "समानांतरता" कह सकते हो, पर वह अत्यंत निकट नहीं थी और इतना तो निश्चित ही है कि उस समय कोई भी अवतरण नही हुआ।
९-९-१९३५

(२)

'आर्य' सचमुच ही आर्थिक दृष्टि से सफल पत्र था। इसके सारे खर्चे के वाद भी वहुत अधिक वचत होती थी।

(३)

"ग्लोवल" ("global") शब्द भी अव चल पड़ा है। यह इतना उपयोगी है और सच पूछो तो इतना अनिवार्य है कि इसे त्यागा नहीं जा सकता। ऐसा कोई और शब्द है ही नहीं जो अर्थ के ठीक इसी सूक्ष्म भेद को व्यक्त कर सके। मैंने यह शब्द पहले पहल आर्जव के मुंह से सुना था जिसने "आर्य" की भाषा का इन शब्दों में वर्णन किया था कि यह सर्वग्राही चिंतन (global thinking) को प्रकट करती है। मैंने इसे तुरंत ही इस रूप में पकड़ लिया कि यह कई भावों के लिये एकमात्र उपयुक्त शब्द है, उदाहरणार्थ समष्टि-चिंतन के लिये जो अधिमानस का नित्य स्वभाव है। ३-४-१९४७

"THE MOTHER" ("माता")

The Mother (माता) पुस्तक की रचना उसी प्रकार नहीं हुई थी जिस प्रकार कि अन्य उल्लिखित पुस्तकों Lights on Yoga, Bases of Yoga, The Riddle of This World 'योग-प्रदीप', 'योग के आधार', 'इस जगत् की पहेली' की। इस पुस्तक का मुख्य भाग, जिसमें चार शक्तियों आदि का वर्णन है, स्वतंत्र रूप से लिखा गया था, पत्र के रूप में नहीं, और इसी प्रकार आरंभिक भाग भी।

"THE SYNTHESIS OF YOGA" ("योग-समन्वय")

(१)

"The Synthesis of Yoga" ("योग-समन्वय") सवके अनुसरण करने योग्य एक विधि के रूप में नहीं लिखा गया था। योग के प्रत्येक पक्ष का पृथक् पृथक् वर्णन करते हुए इस वात की ओर संकेत किया गया था कि किस प्रकार वे सव एक ही विंदु पर आ मिलते हैं जिससे कोई व्यक्ति ज्ञानमार्ग से आरंभ करके भी कर्म तथा भक्ति को प्राप्त हो सकता है और यही वात हर एक पथ के लिये कही जा सकती है। "Self-perfection" ("आत्म-सिद्धि") की लेखमाला समाप्त करके एक ऐसे मार्ग का निर्देश करने का विचार था जिसमें सभी मार्गों को एक किया जा सके परंतु उस विषय पर कभी लिखा नहीं गया। The Mother ("माता") और Lights on Yoga ("योग-प्रदीप") संपूर्ण साधना का क्रमवद्ध वर्णन करने के लिये अभिप्रेत नहीं थीं; वे तो उसके विविध तथ्यों को छू देती हैं।
१८-५-१९३६

(२)

जब The Synthesis of Yoga (" योग-समन्वय") के अंतिम अध्याय 'आर्य' में लिखे गये थे उस समय "अधिमानस" शब्द नहीं मिला था, इसलिये वहां इसका कोई जिक्र नहीं है। उन अध्यायों में अतिमानस की उस समय की क्रिया का वर्णन किया गया है जब वह अधिमानस-स्तर में अवतरित होता है तथा अधिमानस की क्रियाओं को हाथ में लेकर उन्हें रूपांतरित करता है। उच्चतम अतिमानस या स्वतःस्थित दिव्य विज्ञान तो इससे भी परे की वस्तु है और वह बहुत ऊपर है। पिछले अध्यायों में यह दिखाने का विचार था कि अतिमानस को प्राप्त करना ही कितना कठिन है और मानव मन तथा अतिमानस के बीच कितने स्तर हैं और यहा तक कि किस प्रकार अतिमानस अवतरण करता हुआ निम्न-तर क्रिया के साथ मिलकर वास्तविक सत्य से हीन वस्तु में परिणत हो सकता है। परंतु ये पिछले अध्याय लिखे ही नहीं गये।
१३-४-१९३२

(३)

प्रश्न–The Synthesis of Yoga ("योग-समन्वय") के प्रकाशन के विषय में आप-का क्या विचार है ? लोग इस विषय में मुझसे पूछ रहे हैं। बहुत से इसके लिये उत्सुक हैं कि वह अब प्रकाश में आये, क्योंकि हम सबके सब ही मन की सायंस तथा प्राण के अज्ञान द्वारा किये हुए जगत् के विश्लेषण से ऊब गये है, सो आपका क्या विचार है ?

उत्तर–मैं आशा करता हूं कि तुम The Synthesis of Yoga ('योग-समन्वय') की संपूर्ण बृहत् लेखमाला के संबंध में नही पूछ रहे हो,–यद्यपि वह भी आगामी विश्व-युद्ध (?) से पहले या सत्य-युग (नवीन विश्व-व्यवस्था ?) के आरंभ होने के बाद प्रकाशन के लिये तैयार हो सकती है। यदि तुम्हारा मतलब "कर्मयोग" से है, तो उसके लिये मैं और चार-पांच अध्याय लिख रहा हूं या लिखने का यत्न कर रहा हूं। मुझे आशा है कि वे समुचित समय में तैयार हो जायंगे; परंतु इसके लिये मैं प्रतिदिन जो समय देता हूं वह थोड़ा ही है और अध्याय अपेक्षाकृत लंबे हैं। (निश्चित समय की) भविष्यवाणी करने की निर्भ्रांत शक्ति के अभाव में मैं बस केवल इतना ही कह सकता हूं।
२-३-१९४४

Essays on the Gita (गीता-प्रबंध)

प्रश्न–आपकी Essays on the Gita (गीता-प्रबंध) मैं तीन बार पहले पढ़ चुका था, फिर भी हाल में जब मैंने पुनः उसे पढ़ना शुरू किया तो मुझे पता लगा कि उसमें कितने

ही ऐसे विचार हैं जो पहले मेरी पकड़ से छूट गये थे। मेरी समझ में यदि मैं इसे पुनः पुनः पढ़ूं तो प्रत्येक वार मुझे नए नए विचार मिलेंगे।

उत्तर—यह एक सर्वसामान्य अनुभव है—कुछ गंभीर ज्ञानवाली अधिकतर पुस्तकों का ऐसा ही प्रभाव होता है। गीता में प्रायः सभी आध्यात्मिक समस्याओं का संक्षिप्त पर गंभीर विवेचन किया गया है और मैंने "एसेज" में उस समस्त रहस्य को पूर्ण रूप से व्यक्त करने का यत्न किया है।

१-११-१९३६

The Future Poetry ("भावी काव्य")

The Future Poetry ("भावी काव्य") में कजिन्स (Cousins) की पुस्तक की विस्तृत समालोचना करने का विचार नही था, वह तो केवल एक आरंभ-बिंदु था। शेष सब सामग्री श्रीअरविन्द की अपनी धारणाओं तथा कला और जीवनविषयक उनकी पूर्व-चिंतित विचारधारा से ली गई।

"Yogic Sadhan" (यौगिक साधन)

(१)

तुम्हारा मित्र लिखता है कि "Yogic Sadhan" (यौगिक साधन) मे मैंने वैराग्य का निषेध किया है। परंतु 'यौगिक साधन' मेरी रचना 'नही' है, न इसके अंतर्गत तथ्य मेरे योग का सार ही हैं, भले ही इसके प्रकाशक, प्रतिवादों के रहते भी, इसकी मिथ्या प्रशंसा में कुछ भी क्यों न कहते रहें।

४-५-१९३४

(२)

उत्तर योगी (उत्तर से आनेवाला योगी) मेरा ही नाम था जो मुझे एक प्रसिद्ध तामिल योगी की वहुत पहले की भविष्यवाणी के आधार पर दिया गया था। उनकी भविष्यवाणी यह थी कि ३० वर्ष बाद (मेरे पांडिचेरी पहुंचने के समय से यह संगत है) उत्तर से एक योगी भागकर दक्षिण में आयगा और यहां पूर्णयोग का अभ्यास करेगा, और यह भारत की आनेवाली स्वतंत्रता का एक चिह्न होगा। उन्होंने उस योगी की पहचान कर सकने के लिये लक्षण के रूप में तीन वचन कहे और वे तीनों ही अपनी पत्नी के नाम मेरे पत्रों में पाये गये।

"Yogic Sadhan" (यौगिक साधन) के विषय में यह कहना है कि यथार्थ में यह मैंने ही नहीं लिखा, यद्यपि यह भी ठीक है कि मैं मायावादी नहीं हूं।

"श्रीअरविंद-प्रसंगे"

यह न तो बड़ौदे से नवद्ध है और न मेरी रचना ही है–यह एक युवक के साथ हुए कुछ वार्तालापों का संग्रह है जो यहा थोड़े समय के लिये चंद्रनगर आया था। मैं नहीं जानता कि उसने उन वार्तालापों का विवरण कहां तक ठीक दिया है। मैं नहीं समझता कि इस पुस्तक का कोई मूल्य है। यह वहुत पुरानी चीज है और तव से अवस्थाएं वहुत अधिक वदल गई हैं।
२५-१-१९३५

A. G. (ए. जी.)

A. G. (ए. जी.) इन आद्यक्षरो का प्रयोग मैं नही करता–इन्हें छोड़े वहुत समय हो गया है।
१४-९-१९३३

अरस्तू का नीरस दर्शन

प्रश्न–मैंने अरस्तु का दर्शन पढ़ने का यत्न किया पर उसे अत्यंत नीरस और दुरूह पाया।

उत्तर–मुझे भी वह हमेशा अत्यंत नीरस लगा। वह निरा मानसिक दर्शन है, अफलातून के दर्शन जैसा नहीं है।

विशेषांकों[1] का उद्देश्य

ऐसे विशेषांकों का उद्देश्य मेरी नुमाइश करना और जनता को मेरे सभी पक्ष दिखाना, अर्थात् सार्वजनिक स्टेज पर मुझसे मेरे सभी संभवनीय करतब करवाना नहीं है। उद्देश्य यह है कि पाठकों को इस योग के स्वरूप तथा आश्रम में किये जानेवाले कार्य के मूल स्वरूप का परिचय कराया जाय। स्वयं आश्रम के निजी विषय जनता के लिये 'नहीं' हैं–जनता के लिये तो अधिक से अधिक उतना ही हो सकता है जितना वह देख सके। इससे भी अधिक युक्तियुक्त रूप में यह कहा जा सकता है कि मेरे संवंध में कोई व्यक्तिगत तथा निजी वात भी सर्वथा निषिद्ध है। मेरी चर्चा केवल वहीं तक हो जहां तक मेरे विचार को तथा उस कार्य को जिसका मैं प्रतिनिधि हूं, जानने के लिये जनता को इसकी आवश्यकता है। तुम देखोगे कि स्वयं मेरा जीवन भी विना तड़क-भड़क के और ऊपरी घटनाओं को गिनाते हुए ही लिखा गया है, इससे वढकर कुछ नही। पुरस्कार के लिये लड़नेवाले जो जोन्स (Joe Zones), डग्लस फेअरवैंक्स (Douglas Fairbanks), एच. जी. वेल्स, किंग जार्ज

[1]श्रीअरविंद के विषय में कई दैनिक या साप्ताहिक पत्रों के विशेषांक।

और क्वीन मेरी, हेल सेलासी (Haile Sellassie), होब्स (Hobbs), हिटलर, जैक रिपर (Jack Ripper) (या उसके जैसा कोई आधुनिक मनुष्य) तथा मुसोलिनी के साथ या इनके मुकाबले में पत्रकार जगत्-के "विशिष्ट व्यक्तियों" के बड़े बारनम सरकस (Barnum Circus) में मुझे प्रदर्शित करने की समस्त प्रवृत्ति को अपने मन से सदा के लिये कठोरतापूर्वक बहिष्कृत कर देना चाहिये।
२४-९-१९३५

आध्यात्मिक विषयों में रहस्य-गोपन

प्रश्न–क्या कभी कभी सत्य बोलना संकटपूर्ण नहीं होगा, उदाहरणार्थ, राजनीति, युद्ध तथा विप्लव में? सत्यभाषी नैतिकतावादी, जो सदा किसी भी बात को न छिपाने पर आग्रह करता है, एक पक्ष की योजनाओं तथा चेष्टाओं को विरोधी पक्ष के सम्मुख प्रकट करके संकट उत्पन्न कर सकता है।

उत्तर–राजनीति, युद्ध और क्रांति छल-कौशल तथा दांव-घात के विषय हैं–वहां मनुष्य सत्य की आशा नही कर सकता। 'द' ने मुझे बताया कि बिना लंबी-चौड़ी झूठी बातें हांके राजनीति में लोगों का मार्गप्रदर्शन करना या अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना असंभव है। वह बहुधा अपने आपसे तथा अपने कार्य से अत्यंत विरक्ति अनुभव करता था, परंतु उसका ख्याल था कि उसे अंत तक इस कार्य का भार उठाना ही पड़ेगा।

हमारी योजनाओं एवं प्रवृत्तियों को जानने से जिन लोगों का कुछ मतलब नहीं और जो उन्हें समझने में असमर्थ है अथवा जो शत्रुवत् व्यवहार करेंगे या अपने ज्ञान के परिणाम-स्वरूप सब कुछ बिगाड़ डालेंगे उन्हें अपनी योजनाएं तथा प्रवृत्तियां बताने की कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक विषयों में रहस्य को गुप्त रखना सर्वथा उचित है और ऐसा प्रायः ही किया जाता है। केवल गुरु-शिष्यसंबंध जैसे विशेष संबंधों में ही इस नियम का अपवाद किया जाता है। हम बाहर के लोगों को यह नहीं पता लगने देते कि आश्रम में क्या हो रहा है, परंतु इस बारे में हम झूठ भी नहीं बोलते। अधिकतर योगी आध्यात्मिक अनुभवों के संबंध में दूसरों को कुछ नहीं बताते अथवा बहुत दिनों बाद तक नहीं बताते। रहस्य को गुप्त रखना प्राचीन गुह्यवेत्ताओं का एक साधारण नियम था। कोई भी नैतिक या आध्यात्मिक नियम हमें जगत् के सामने अपने को नग्न रूप में उपस्थित कर देने या जनसाधारण के निरीक्षण के लिये अपने मन और हृदय को खोलकर रख देने का आदेश नहीं देता। गांधीजी कहते थे कि कोई बात गुप्त रखना पाप है पर वह तो उनकी अतियों में से एक अति ही है।
१७-५-१९३६

(२)

विरोधी मनवालों या अविश्वासियों के साथ मेरे आश्रम या आध्यात्मिक विषयों के संबंध में तर्क-वितर्क करना वहुत ठीक नहीं है। ये तर्क साधारणतया साधक पर विरोधी वातावरण का दवाव डालते हैं और उसकी उन्नति में सहायक नहीं हो सकते। मौन रहना सर्वोत्तम मनोवृत्ति है; मनुष्य को उनकी दुर्भावना या अज्ञान को दूर करने के लिये चिंतित होने की जरूरत नहीं।

१३-९-१९३२

श्रीअरविंद के लेखों को गलत समझना

(१)

जो कुछ मैं लिखता हूं उसे लोग नहीं समझते क्योंकि मन अपने ही वल पर अपने से परे की चीजों को नहीं समझ सकता। वह जिस वात को ग्रहण कर लेता है या ग्रहण कर चुका है उसी के द्वारा अपना विचार गढ़ लेता है तथा उस विचार को लेख के संपूर्ण अर्थ का स्थान दे देता है। प्रत्येक व्यक्ति का मन सत्य के स्थान पर अपने अपने विचारों को विठा देता है।

६-६-१९३६

(२)

लोग प्रायः ही मेरी लिखी हुई या माताजी की कही हुई किसी वात को पकड़ लेते हैं, उसे उसके सच्चे अर्थ से सर्वथा भिन्न या वहुत दूर का अर्थ देकर उससे एकदम चरम तथा 'तर्कसंगत' परिणाम निकाल लेते हैं जो हमारे ज्ञान और अनुभव के सर्वथा विपरीत होता है। मेरी समझ में यह स्वाभाविक ही है, और विरोधी शक्तियों की क्रीड़ा का एक अंग है। इस प्रकार के तीव्र तर्कसंगत परिणामों पर पहुंचना वहुपक्षी और समग्र सत्य को देखने की अपेक्षा कहीं अधिक सुगम है।

मई १९३३

(३)

मैं मानवीय निर्णयों पर विश्वास नहीं करता; क्योंकि मैंने उन्हें सदा ही भूल-चूक-भरा पाया है—और शायद इस कारण भी कि स्वयं मुझे मानवीय निर्णयों ने इतना वदनाम किया है कि दूसरों के संबंध में उनके अनुसार चलने की मैं परवा नहीं करता। तथापि यह सब मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिये लिख रहा हूं; मैं इसे दूसरों के लिये एक नियम वनाने का आग्रह नहीं कर रहा हूं। मुझे ऐसा आग्रह करने की कभी आदत नहीं रही है कि प्रत्येक

मनुष्य को मेरी तरह ही सोचना चाहिये–जैसे कि मैंने यह आग्रह भी कभी नहीं किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को मेरा तथा मेरे योग का अनुसरण करना चाहिये।

दिसंबर १९३४

(४)

यदि मैं इन विषयों पर,–जैसे, चमत्कार, इंद्रियगोचर तथ्यों के द्वारा निर्णय करने की सीमाओं आदि पर–यौगिक दृष्टि से लिखूं तो वह चाहे तर्कसंगत आधार पर ही हो, फिर भी उसमें निश्चय ही बहुत-सी बातें प्रचलित मतों के विरुद्ध होंगी। मैं यथासंभव इन विषयों पर लिखने से बचता रहा हूं, क्योंकि इसके लिये मुझे ऐसी बातों का प्रतिपादन करना होगा जो स्थूल इंद्रियों या इनपर ही आश्रित तर्क-बुद्धि के द्वारा ज्ञात तथ्यों से भिन्न तथ्यों के उल्लेख के बिना नहीं समझी जा सकतीं। मुझे ऐसे नियमों एवं शक्तियों की चर्चा भी करनी पड़ सकती है जो बुद्धि या भौतिक विज्ञान के द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। जनता तथा साधकों के लिये लिखे गये अपने लेखों में मैंने इनकी चर्चा नहीं की है क्योंकि ये साधारण ज्ञान तथा उसपर आधारित बुद्धि के क्षेत्र से बाहर हैं। कुछ लोग इन विषयों को जानते हैं पर साधारणतया इनके बारे में वे बोलते नहीं, जब कि जो विषय ज्ञात हैं उनमें से अधिकांश के संबंध में जनसाधारण की राय या तो अंधविश्वासपूर्ण है या अविश्वासपूर्ण, पर दोनों ही अवस्थाओं में वह अनुभव या ज्ञान से शून्य है।

दिसंबर १९३५

जड़वादी विज्ञान तथा गुह्यवाद

खेद है कि ऐसे विचार-वितर्क में मुझे कुछ भी रुचि नहीं है; मेरे लिये स्थिति इतनी गंभीर होती जा रही है कि मैं इन निष्फल ऊहापोहों में समय नहीं गंवा सकता। मुझे इसकी तनिक भी परवाह नहीं कि तुम अपनी बात सफलतापूर्वक सिद्ध कर लो और जड़वादी विज्ञान के मतवाद को उसके आधी सदी पहले के सिंहासन पर पुनः स्थापित कर दो, उस सिंहासन पर जहां से वह अपनी संकीर्ण सीमाओं के परे के सभी विचारों को निरा दार्शनिक शब्दजाल, रहस्यवाद और कपोल-कल्पना कहकर जयघोषपूर्वक बहिष्कृत कर सकता है। स्पष्ट है कि यदि इस जड़ जगत् में जड़ शक्तियां ही रह सकती हैं तो इस भूतल पर दिव्य जीवन की किंचित् भी संभावना नहीं हो सकती। विज्ञानमूलक नास्तिकवाद तथा प्रत्यक्ष सामान्य बुद्धि के आक्षेपों के विरोध में निरा दार्शनिक "मन-बुद्धि" का कौशल–जैसा कि इसे कहा जा सकता है–दिव्य जीवन का समर्थन नहीं कर सकता। मेरा ख्याल था कि यूरोप के अनेक वैज्ञानिक विचारक भी यह मानने लगे हैं कि विज्ञान अब जगत् के वास्तविक सत्य का निर्णय करने का दावा नहीं कर सकता, इसका निर्णय करने के साधन ही इसके पास नहीं हैं और यह तो केवल इतना ही जान सकता और जतला सकता है कि जगत् के

स्थूल ऊपरी तल में जड़शक्ति की जो क्रियाएं होती हैं वे कैसे होती हैं और उनकी पद्धति तथा प्रणाली क्या है। फलस्वरूप, उच्चतर विचार-वितर्क और आध्यात्मिक अनुभव के लिये, यहां तक कि रहस्यविद्या, गुह्यविद्या और उन सब महत्तर चीजों के लिये क्षेत्र खुला रह जाता है जिन्हें प्रायः प्रत्येक मनुष्य असंभव प्रलाप कहकर अविश्वसनीय मानने लग पड़ा था। जब मैं इंगलैंड में था तब वस्तुस्थिति ऐसी ही थी। यदि फिर वही स्थिति लौट आनी है या यदि रूस और उसके द्वंद्वात्मक जड़वाद को संसार का नेता बनना है तब तो भावी के आगे सिर झुकाना होगा और दिव्य जीवन को शायद सहस्र वर्ष और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी। परंतु यह विचार मुझे पसंद नही कि हमारी कोई पत्रिका इस प्रकार के दंगल का अखाड़ा बने। बस इतना ही। यह सब मैं इस विषय पर तुम्हारे पिछले लेख की स्मृति के आधार पर लिख रहा हू, क्योंकि अभी हाल के लेख मैंने आद्योपांत ध्यान से नहीं पढ़े हैं; संभवतः ये नए लेख पूरी तरह जंचने लायक होंगे और इन्हें पढ़ लेने पर मुझे पता चलेगा कि मेरा अपना पक्ष अशुद्ध है तथा अब कोई आग्रही गुह्यवित् ही प्रकृति पर आत्मा की ऐसी विजय में विश्वास रख सकता है जिसे मैं निश्चित रूप से संभव समझता रहा हूं। परंतु मैं ठीक ऐसा ही आग्रहशील गुह्यवादी हूं; अतः, यदि मैंने अपनी किसी पत्रिका में इस विषय पर तुम्हारा विस्तृत लेख प्रकाशित होने दिया तो मुझे भी बाध्य होकर अपने पक्ष की पुनः स्थापना करने के लिये फिर से यह विषय हाथ में लेना होगा जब कि इसमें मुझे रस नहीं रहा है और इसलिये लिखने की रुचि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त, जड़वादी विज्ञान इन विषयों पर सब प्रकार का निर्णय देने का अपना जो अधिकार समझता है उसका भी मुझे प्रतिरोध करना होगा; क्योंकि न तो इसके पास इनकी छानबीन करने का कोई साधन है न ही युक्तियुक्त निर्णय पर पहुंचने की कोई संभावना। तब तो वास्तव में जड़वादी की विजयशाली अस्वीकृति के उत्तर में मुझे शायद सारा ही 'लाइफ डिवाइन (दिव्य जीवन)' नए सिरे से लिखना होगा! अपनी लंबी और निराशाजनक चुप्पी के विषय में, इस विषय की चर्चा करने के लिये महज समय के अभाव के साथ-साथ, बस यही व्याख्या दे सकता हूं।

दर्शन लिखना—यश और प्रोपेगेंडा

(१)

देखो तो! क्या ये लोग मुझसे पुनः अपने को लेख लिखने की मशीन बना देने की आशा करते हैं? शुक्र है ईश्वर का कि 'वन्दे मातरम्' और 'आर्य' का जमाना गुजर गया। अब मेरे पास केवल आश्रम की चिट्ठी-पत्री का काम है और वह सचमुच ही इतना "भारी" है कि प्रामाणिक पुस्तकों के लिये दर्शन लिखना आदि कार्य आरंभ नहीं किया जा सकता।

और फिर दर्शन! मैं तुम्हें गुप्त रूप से यह बता दूं कि मैं कभी दार्शनिक नहीं था, कभी नहीं,—यद्यपि मैंने दर्शन लिखा है जो एक बिलकुल और ही कहानी है। योग करने

तथा पांडिचेरी आने से पहले मैं दर्शन के संबंध में बहुत ही कम जानता था–मैं कवि और राजनीतिज्ञ था, दार्शनिक नहीं। तब मैं इसे कैसे लिख पाया और क्यों? प्रथम तो इसलिये कि 'क्ष' ने एक दार्शनिक पत्र में सहयोग देने के लिये मेरे सामने प्रस्ताव रखा–और चूंकि मेरा सिद्धांत यह था कि योगी को किसी भी काम में हाथ डालने में समर्थ होना चाहिये, मैं एकदम इन्कार न कर सका। फिर उसे युद्ध में जाना पड़ा और प्रति मास दर्शन के चौसठ पृष्ठ अकेले ही लिखने के लिये वह मुझे बिना सहायता के छोड़ गया। दूसरे, इसलिये कि प्रतिदिन योगाभ्यास करते हुए मैंने जो देखा तथा जाना था वह सब मुझे केवल बुद्धि की भाषा में लिखना था और इस प्रकार अपने आप ही दर्शन की रचना हो गई। पर यह तो दार्शनिक होना नहीं है!

मुझे नहीं मालूम कि 'र' के सामने मैं क्या बहाना बनाऊं–क्योंकि यह सब बात तो मैं उससे नहीं कह सकता। शायद तुम मेरे लिये कोई सूत्र ढूंढ सकते हो? शायद:–"इतने व्यस्त हैं, और किसी काम के लिये क्षण भर की भी फुरसत नहीं, वे यह काम हाथ में नहीं ले सकते क्योंकि शायद अपने वचन को पूरा न कर सकें।" क्यों, तुम्हारी क्या राय है?
४-९-१९३४

(२)

अब 'र' के संबंध में। मुझसे लेख प्राप्त करने की अपनी उत्कंठा में वह सही है या गलत इसकी मुझे कुछ भी परवा नहीं। परंतु पहली बात यह है कि मांग के अनुसार दर्शन लिखना मेरे लिये सर्वथा असंभव है। यदि कोई चीज मेरे अंदर अपने आप उठे तो मैं लिख सकता हूं, वह भी यदि मुझे समय हो। परंतु मेरे पास समय ही नहीं है। मुझे 'अ' को लिखने का कुछ विचार आया था कि चेतना और अंतर्ज्ञान-विषयक मेरे विचारों की आलोचना में उसने गलती की है और मैं इन चीजों के बारे में अपने वास्तविक विचार संक्षेप में प्रतिपादित करना चाहता था। परंतु वह मैं कभी न कर सका। इस तरह तो मैं चांद को अपनी बगल में दबाकर हनुमान की भांति–यद्यपि उन्होंने सूर्य को बगल में दबाया था–सैर के लिये जाने की सोच सकता हूं। पर न चांद मिलेगा न सैर होगी। यदि मैं 'र' को कोई लेख देने का वचन दूं तो बस ऐसी ही बात होगी–वह पूरा नहीं होगा और यह इन्कार करने से भी बहुत अधिक बुरा होगा।

दूसरी बात यह है कि किसी गौरवपूर्ण स्थान पर अपना नाम छपवाने की मैं रत्ती भर भी परवा नहीं करता। यहां तक कि राजनीतिक कार्य के दिनों में भी मैं यश के लिये कभी उत्कंठित नहीं हुआ। मुझे तो पर्दे के पीछे रहना, लोगों को उनके जाने बिना ही आगे बढ़ाना और कार्य पूरा करा लेना अधिक पसंद था। पर यह तो घबड़ायी हुई ब्रिटिश सरकार का काम था जिसने मुझपर मुकदमा चलाकर जबर्दस्ती मुझे जनता में प्रसिद्ध कर दिया और नेता बना करके मेरा खेल ही

बिगाड़ दिया। और फिर पुस्तकों आदि के सिवाय अन्य चीजों के विज्ञापन भी मुझे पसंद नहीं और राजनीति तथा पेटेंट दवाइयों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के प्रचार का भी कोई उपयोग नहीं देखता। गंभीर कार्य के लिये तो प्रचार विष ही है। इसका मतलब होता है प्रदर्शन और नारेबाजी। प्रदर्शन तथा हो-हुल्लड़ जिस चीज का नारा बुलन्द करते हैं उसे निःसत्त्व कर डालते हैं तथा शून्य सागर के तीर पर दूर कहीं निष्प्राण एवं छिन्न-भिन्न छोड़ देते हैं। अथवा इस विज्ञापन एवं प्रचार का अर्थ होता है आंदोलन। जैसा मेरा काम है वैसे काम के लिये आंदोलन का आशय होता है किसी मत या संप्रदाय या और किसी निरर्थक चीज की स्थापना करना। इसका मतलब होता है कि सैकड़ों या हजारों निकम्मे आदमी सम्मिलित हों और कार्य को बिगाड़ दें अथवा उसे एक आडंबरपूर्ण तमाशे का रूप दे दें और इस तरह जो सत्य उतर रहा था वह पीछे हटकर एकांत तथा नीरवता में चला जाय। "धर्ममतों" के साथ यही किस्सा हुआ है और उनकी असफलता का कारण भी यही है। यदि मैं अपने विषय में कुछ लिखना सहन कर लेता हूं तो वह केवल इसलिये कि इस अज्ञानमय जगत् में नये क्रियाशील सत्य का प्रकाश होने पर उसके प्रति जो द्वेषभाव सदा ही पैदा हुआ करता है उसके प्रतिकार के लिये उस बेढंगी अव्यवस्था में—यानी जनता के मन में—पर्याप्त भार डालकर दोनों पलड़े बराबर कर दूं। परंतु इसकी उपयोगिता बस इतनी ही है और अत्यधिक विज्ञापन इस उद्देश्य को निष्फल कर देगा। मैं तुम्हें निश्चयपूर्वक कहता हूं कि मैं अपनी विधियों में पूरी तरह "युक्तिसंगत" हूं और मैं केवल इस आधार पर कार्य नहीं करता कि मुझे यश के प्रति एक प्रकार की वैयक्तिक अरुचि है। जहां तक प्रचार से सत्य की सेवा होती है, वहां तक मैं इसे सहने को सर्वथा उद्यत हूं; परंतु मुझे ऐसा नहीं लगता कि प्रचार अपने आप में कोई वांछनीय वस्तु है।

यह "समकालीन दर्शन", ब्रिटिश हो या भारतीय, मुझे बहुत कुछ ऐसा जान पड़ता है जैसे यह पुस्तकें तैयार करने का धंधा हो और (चाहे फ्रेंच मुहावरे के अनुसार ज्ञान को पुस्तक-रचना द्वारा "सर्वसाधारण की चीज बनाने—Vulgarisation—" का कुछ लाभ अवश्य हो सकता है) उसे दूसरों के लिये छोड़कर ठोस काम करना ही मुझे अधिक पसंद है। शायद तुम कहोगे कि मैं ऐसा कर सकता हूं कि दर्शन पर कुछ ठोस चीज लिखकर उसे पुस्तकाकार प्रकाशित होने दूं। परंतु ऐसी परिस्थिति में ठोस चीज भी नकली दीखने लगती है। इसके अतिरिक्त, फिलहाल मेरा ठोस काम दर्शन नहीं वरन् ऐसी चीज है जिसमें शब्दाडंबर कम है और जो अधिक उपयुक्त है। यदि वह काम पूरा हो जाय तो उसके जितने प्रचार की आवश्यकता है उतना वह अपने आप ही कर लेगी—और यदि वह पूरा न होना हो तो, प्रचार व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

ये ही मेरी युक्तियां हैं। तो भी पुस्तक आने तक ठहरो, देखो वह कैसी चीज है।

२-१०-१९३४

एक जीवनी-लेखक के प्रति

(१)

मैं देखता हूं कि तुम जीवनी लिखने में दृढ़तापूर्वक लगे हुए हो–क्या यह सचमुच आवश्यक या उपयोगी है? तुम्हारा प्रयत्न अवश्य ही असफल होगा, क्योंकि मेरे जीवन के बारे में कुछ भी न तो तुम जानते हो न कोई और ही जानता है; यह उपरितल पर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सकें।

तुमने मेरे राजनीतिक कार्य का एक प्रकार का वर्णन-सा किया है, परंतु मुझपर यह जो प्रभाव डालता है और, मेरी समझ में, तुम्हारे पाठकों पर इसका जो प्रभाव पड़ेगा वह यही है कि मैं एक प्रचंड आदर्शवादी हूं जो यथार्थ तथ्यों की पकड़ तथा किसी बुद्धिगम्य राजनीतिक प्रणाली या कार्य-योजना के बिना ही असंभव लक्ष्य की ओर बेतहाशा दौड़ पड़ता है (पत्थर की दीवार से अपना सिर टकराता है, जो कोई बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है)। पश्चिम के कार्यकुशल लोगों पर ऐसे चित्र का कदाचित् ही कोई अच्छा प्रभाव पड़े और इससे उन्हें यह संदेह भी होगा कि संभवतः मेरा योग भी इसी प्रकार की चीज है!

(२)

परंतु मेरा जीवन-चरित आखिर लिखा ही क्यों जाय? क्या यह सचमुच आवश्यक है? मेरी दृष्टि में, किसी व्यक्ति का मूल्य उसकी शिक्षा, पद, प्रतिष्ठा या कार्य पर नहीं बल्कि जो कुछ वह है तथा जो कुछ वह आंतरिक तौर पर बनता है उसपर निर्भर करता है।

(अपूर्ण)

प्रबंध-संपादक, श्री केशवदेव पोद्दार (३२ राम्पर्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता–२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)।
Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry
691/9/54/1200

सह

भारत माता

उनचासवीं कला

श्री माताजी के जन्मदिवस, २१ फरवरी १९५५ के उपलक्ष्य में

विशेषांक

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(धारावाहिक–३)
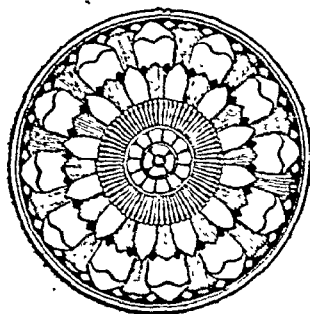
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

*
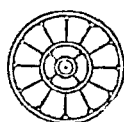
१९५५

कोई भी मानवीय इच्छा भागवत इच्छा के विरुद्ध अंत तक नहीं टिक सकती। आओ, हम स्वेच्छापूर्वक और ऐकांतिक भाव से भगवान् के पक्ष में आ खड़े हों, अंत में विजय निश्चित ही है।

—श्रीमां

विषय-सूची

अदिति सह भारत माता, २१ फरवरी १९५५

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

दूसरा भाग

(२४ नवंबर १९५४ के अंक से आगे)

तीसरा भाग

६ जनवरी १९५५

एक दिन आयेगा जब इस जगत् की सारी धन-संपत्ति, आखिर आसुरी शक्तियों की दासता से छुटकारा पाकर, अपने-आप को धरती पर होनेवाले भगवान् के कार्य की सेवा के लिये सहज भाव से, पूरी तरह न्योछावर कर देगी।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

दूसरा भाग

(२४ नवंबर १९५४ के अंक से आगे)

श्रीअरविन्द तथा श्री माताजी

१

क्रमविकास के नेता

क्रमविकास के गुप्त सहायक

(१)

प्रश्न–कहा जाता है कि आप और माताजी सृष्टि के आरंभ से ही इस धरती पर रहते आये हैं। कृपा करके मुझे समझाइये कि लाखों वर्षों से आप दोनों छिपकर यहां क्या कर रहे थे। 'छिपकर' मैं इसलिये कहता हूं कि केवल इसी जन्म में आपने जगत् को अपना वास्तविक स्वरूप दिखलाया है।

उत्तर–हम क्रमविकास का कार्य चला रहे थे।

२५. ५. १९३५

(२)

प्रश्न–इस बात को कुछ अधिक विस्तार से समझाने की कृपा कीजिये।

उत्तर–इसे समझाने का अर्थ होगा मानव का संपूर्ण इतिहास लिखना। मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि जैसे क्रमविकास को और आगे की अवस्था में ले जाने के लिये चेतना के विशेष अवतरण होते हैं, वैसे ही भगवान् का कुछ अंश भी प्रत्येक अवस्था में एक न एक दिशा में सहायता करने के लिये हमेशा उपस्थित रहता है।

२६. ५. १९३५

अभिव्यक्ति का रहस्य

प्रश्न–माताजी ने लिखा है: "अपने दैनिक कार्य-व्यवहार में हम भागवत अभिव्यक्ति के महान् रहस्य को व्यक्त करने का यत्न कर रहे हैं।" इसका क्या मतलब है?

उत्तर–इसका मतलब है, हम जो कुछ कर रहे हैं उसका कारण यह है कि हम इस बात को सत्य मानते हैं कि भगवान् मानव शरीर में प्रकट हो सकते हैं और हुए हैं।

वैयक्तिक भगवान् की अभिव्यक्ति

यह आश्चर्य की बात है कि तुम ऐसी सीधी और परिचित बात को न समझ पाओ;

क्योंकि इस योग का संपूर्ण तर्क ही सदा यह रहा है कि केवल निर्वैयक्तिक ब्रह्म का अनुसरण करने से आंतरिक अनुभूति अथवा, अधिक से अधिक, मुक्ति प्राप्त होती है और समग्र भगवान् की क्रिया के बिना संपूर्ण प्रकृति का परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि ऐसी बात न होती, तो श्री माताजी यहां न होतीं और यदि निर्वैयक्तिक ब्रह्म का अनुभव ही पर्याप्त होता तो मैं यहां न होता।

१५. ९. १९३६

मानव से मिलने के लिये भगवान् का अपने आपको छिपाना

प्रश्न–मुझे ऐसा लगता है कि यदि माताजी की देह-चेतना में अतिमानस प्रतिष्ठित नहीं हुआ है तो इसका कारण यह नहीं कि वे भी हमारी तरह इसके लिये तैयार नहीं हैं, बल्कि यह कि इसे प्रतिष्ठित करने के लिये उन्हें पहले साधकों तथा पृथ्वी के स्थूल शरीर को कुछ हद तक तैयार करना है। परंतु कुछ लोग इस बात को गलत रूप में ग्रहण करते हैं; वे मानते हैं कि अतिमानस माताजी के शरीर में इस कारण प्रतिष्ठित नहीं हुआ है कि अभी तक उन्हें पूर्णता नहीं प्राप्त हुई है। क्या मेरा कहना ठीक है?

उत्तर–निःसंदेह। यदि हम आरंभ से ही भौतिक तौर पर अतिमानस में रहते तो कोई भी आदमी हमारे पास न पहुंच सकता और न कोई साधना ही हो पाती। हमारे तथा संसार और मनुष्यों के बीच संपर्क स्थापित होने की कोई आशा ही न होती। यहां तक कि जैसी अवस्था अब है उसमें भी माताजी को सदा अपनी चेतना में रहने के बजाय साधकों की निम्नतर चेतना की ओर उतरना पड़ता है, अन्यथा वे कहने लगते हैं "ओह, आप कितनी दूर, कितनी कठोर हैं; आप मुझसे प्रेम नहीं करतीं, मुझे आपसे कोई सहायता नहीं मिलती, आदि-आदि।" मानव से मिलने के लिये भगवान् को अपने आपको छिपाना पड़ता है।

अभिव्यक्ति की तैयारी

हां, अवश्य। जो कुछ किया जा रहा है उसका उद्देश्य है पृथ्वी-चेतना में, ठेठ जड़तत्त्व तक में, अतिमानस की अभिव्यक्ति के लिये तैयारी करना। अतएव यह सब केवल मेरी या माताजी की देह के लिये ही नहीं हो सकता।

यदि वह (अतिमानस) हमारी देह में अवतरित हो तो इसका अर्थ यह होगा कि वह जड़तत्त्व में उतर आया है और कोई कारण नहीं कि वह साधकों में अभिव्यक्त न हो।

१५. ९. १९३५

युग-युग-व्यापी कार्य

प्रश्न–अपनी पुस्तक "मातृवाणी" (Conversations) में माताजी कहती हैं: "हम सभी गत जीवनों में मिल चुके हैं.....और युग-युग में भगवान् की विजय के लिये कार्य

कर चुके हैं।" क्या यह उन सब लोगों के बारे में सत्य है जो यहां आते तथा रहते हैं? उन सब लोगों के बारे में क्या कहा जायगा जो आये और चले गये?

उत्तर–जो चले गये वे भी इन्ही में से थे और अब भी इसी दल के हैं। अस्थायी बाधाएं अंतरात्मा की खोज के मूल सत्य में कोई अंतर नहीं डालती।

१८. ६. १९३३

(२)

प्रश्न–किस प्रकार हम सबने "युग-युग में भगवान् की विजय के लिये कार्य किया है?" अब तक कितना कार्य संपन्न हुआ है?

उत्तर–विजय का अभिप्राय है धरती पर देहधारी चेतना का अज्ञान के बंधन से अंतिम छुटकारा पाना। इसके लिये युग-युग में आध्यात्मिक विकास के द्वारा तैयारी करने की आवश्यकता थी। स्वभावतः ही, अब तक का कार्य तैयारी के रूप में ही रहा है जिसका परिणाम है अतीत का सुदीर्घ आध्यात्मिक प्रयास तथा अनुभव। वह अब ऐसे बिंदु पर पहुंच गया है जहां निर्णायक प्रयत्न करना संभव हो गया है।

१८. ६. १९३३

नीले झंडे का अर्थ

नीले झंडे के विषय में। मैं समझता हूं तुम्हारा मतलब श्वेत कमलवाले झंडे से है। यदि ऐसा है तो वह माताजी का झंडा है, क्योंकि श्वेत कमल उनका प्रतीक है जैसे कि लाल कमल मेरा। झंड़े का नीला रंग कृष्ण का रंग है और इसलिये वह आध्यात्मिक या दिव्य चेतना को सूचित करता है जिसे प्रतिष्ठित करना माताजी का काम है ताकि पृथ्वी पर उसका राज्य हो जाय। इस झंडे को आश्रम के झंडे के रूप में प्रयुक्त करने का अर्थ यह है कि हमारा काम इस चेतना को नीचे उतारना तथा इसे जगत् के जीवन की मार्गदर्शिका बनाना है।

१४. ३. १९४९

२

श्रीअरविन्द और माताजी की चेतना की अभिन्नता

चेतना और पथ की अभिन्नता

(१)

माताजी की चेतना और मेरी चेतना के बीच का विरोध पुराने दिनों का आविष्कार था (जिसके कारण मुख्यतया 'क्ष', 'त्र' तथा उस समय के अन्य व्यक्ति थे)। यह विरोध उस समय पैदा हुआ जब आरंभ में यहां रहनेवाले लोगों में से कुछ एक माताजी को पूर्ण रूप से नहीं पहचानते थे या उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। और फिर उन्हें पहचान लेने के बाद भी वे इस निरर्थक विरोध पर अड़े रहे और उन्होंने अपने आपको और दूसरों को बड़ी हानि पहुंचाई। माताजी की और मेरी चेतना एक ही है, एक ही भागवत चेतना दोनों में है, क्योंकि लीला के लिये यह आवश्यक है। माताजी के ज्ञान और बल के बिना, उनकी चेतना के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सचमुच उनकी चेतना को अनुभव करता है तो उसे जानना चाहिये कि उसके पीछे मैं उपस्थित हूं और यदि वह मुझे अनुभव करता है तो वैसे ही माताजी भी मेरे पीछे उपस्थित होती है। यदि इस प्रकार भेद किया जाय (उन लोगों के मन इन चीजों को इतने प्रबल रूप में जो आकार दे देते हैं उन्हें तो मैं एक ओर ही छोड़े देता हूं), तो भला सत्य अपने को कैसे स्थापित कर सकता है—सत्य की दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है।

१३. ११. १९३४

(२)

श्री माताजी की चेतना दिव्य चेतना है और उससे जो ज्योति आती है वह दिव्य सत्य की ज्योति है। जो मनुष्य माताजी की ज्योति को ग्रहण करता, स्वीकार करता और उसमें निवास करता है, वह मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आदि सभी स्तरों पर सत्य को देखना आरंभ कर देता है। जो कुछ अदिव्य है उस सबका वह त्याग करता है—और अदिव्य है मिथ्यापन, अज्ञान, अंधकार की शक्तियों की भूल-भ्रांति; वह सब कुछ अदिव्य है जो अंधकारपूर्ण है और दिव्य सत्य और उसकी ज्योति और शक्ति को स्वीकार करने के लिये इच्छुक नहीं है। अतएव अदिव्य वह सब कुछ है जो श्री मां की ज्योति और शक्ति को स्वीकार करना नहीं चाहता। यही कारण है कि मैं बराबर ही तुमसे कहता रहता हूं कि

तुम श्री मां के साथ और उनकी ज्योति और शक्ति के साथ संस्पर्श वनाये रखो। क्योंकि केवल ऐसा करने पर ही तुम इस गोलमाल और अंधकार से वाहर निकल सकते हो और ऊपर से आनेवाले सत्य को ग्रहण कर सकते हो।

जव हम एक विशेष अर्थ में श्री मां की ज्योति या मेरी ज्योति की वात कहते हैं तव हम एक विशिष्ट गुह्य क्रिया की वात कहते हैं—हम किन्हीं ऐसी ज्योतियों की वात कहते हैं जो अतिमानस से आती हैं। इस क्रिया में श्री मां की ज्योति श्वेत होती है जो पवित्र वनाती, आलोकित करती, सत्य के समस्त सारतत्त्व और शक्ति को नीचे लाती और रूपांतर को संभव वनाती है। परंतु सच पूछा जाय तो जो ज्योतियां ऊपर से, उच्चतम दिव्य सत्य से आती हैं वे सवकी सव श्री मां की ही हैं।

श्री मां के और मेरे पथ में कोई अंतर नहीं है; हमारा पथ एक ही है और सदा एक ही रहा है—यह वह पथ है जो अतिमानसिक परिवर्तन और दिव्य सिद्धि तक ले जाता है; हमारा पथ केवल अंत में ही एक नहीं है, वल्कि वह आरंभ से ही एक रहा है।

श्री मां को एक ओर और मुझे दूसरी ओर एक-दूसरे के विरुद्ध या एकदम भिन्न पक्ष में रखकर एक विभेद और विरोव खड़ा करने की चेष्टा करना सदा ही मिथ्यापन की शक्तियों की एक चालवाजी रही है और वे इसे उस समय प्रयुक्त करती हैं जव वे सावक को सत्य पर पहुंचने से रोकना चाहती हैं। ऐसे सभी मिथ्यापनों को अपने मन से वाहर निकाल दो।

जान लो कि श्री मां की ज्योति और शक्ति सत्य की ज्योति और शक्ति है; वरावर श्री मां की ज्योति और शक्ति के साथ संपर्क वनाये रखो, केवल तभी तुम दिव्य सत्य में वढ़ सकते हो।

१०. ९. १९३१

(३)

जो कुछ भी सावक माताजी से प्राप्त करता है, वह मुझसे भी आता है—इसमें कुछ भी भेद नहीं है। इसी प्रकार यदि मैं कोई चीज देता हूं तो वह माताजी की शक्ति के द्वारा ही साधक के पास पहुंचती है।

२०. ८. १९३६

(४)

तुम समझते हो कि श्री मां तुम्हें कोई मदद नहीं दे सकती।....अगर उनकी सहायता से तुम्हें कोई लाभ नहीं हो सकता तो फिर मेरी सहायता से तुम्हें उससे भी कहीं कम लाभ मिलेगा। पर, कुछ भी हो, मैं अपनी उस व्यवस्था में, जिसे मैंने विना किसी अपवाद के सभी शिष्यों के लिये वनाया है, कोई भी हेरफेर नहीं करना चाहता। वह व्यवस्था यह है

कि साधकों को श्री मां से ही ज्योति और शक्ति ग्रहण करनी चाहिये, सीधे मुझसे नहीं, और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये पथप्रदर्शन भी उन्हीसे ग्रहण करना चाहिये। यह व्यवस्था मैंने किसी सामयिक उद्देश्य से नहीं की है, बल्कि इस कारण की है कि (यह देखते हुए कि माताजी क्या है और उनकी शक्ति क्या है) यही एक तरीका है जो सच्चा और फलप्रद है, बशर्ते कि शिष्य बराबर खुला रहे और ग्रहण करता रहे।

(५)

माताजी और मैं एक ही शक्ति के दो रूपों के प्रतिनिधि हैं–अतएव तुम्हें स्वप्न में जो अनुभव प्राप्त हुआ वह पूर्णतः युक्तिसंगत था। ईश्वर-शक्ति किंवा पुरुष-प्रकृति केवल एकमेव भगवान् (ब्रह्मन्) के दो पक्ष हैं।
१९३३

(६)

मेरी तथा माताजी की एकात्मता का अनुभव (यह अनुभव कि हम एक ही है) जो दो मूर्त्तियों के घुल-मिलकर एक हो जाने के रूप में प्रकट हुआ है, एक अत्यंत सामान्य अनुभव है।
४. ११. १९३५

(७)

प्रश्न–अंतर्दर्शनों में दृष्ट प्रकाशों की क्रीड़ा से मुझे वारंवार जो संकेत प्राप्त हुए हैं उनके कारण मुझे यह गहरा अनुभव हो रहा है कि श्रीअरविन्द और माताजी एक ही हैं, यद्यपि हम उन्हें भिन्न भिन्न शरीरों में देखते हैं। क्या मेरा यह अनुभव ठीक है?

उत्तर–हां।
२५. ४. १९३३

(८)

स्वप्न इस बात का सूचक था कि माताजी और मैं क्या हैं तथा किस चीज के प्रतिनिधि हैं–मेरी समझ में इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यह इस बात को सूचित करता है कि जिस चीज के हम प्रतिनिधि हैं उसकी परिपूर्त्ति है भागवत प्रेम और आनंद।
१९३३

माताजी के आने से पूर्व की साधना

(१)

यह स्पष्ट नहीं है कि 'मेरे पथ पर बैठे होने' से तुम्हारे गुरु का क्या अभिप्राय था।

१९१५ से १९२० के बीच के समय के बारे में यह कथन सत्य हो सकता था जब कि मैं 'आर्य' के लिये लिख रहा था और साधना तथा कार्य माताजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। जहां तक साधना का संबंध है, १९२३ या १९२४ में मुझे पथ पर बैठा हुआ नहीं कहा जा सकता था, परंतु यह कार्य के बाह्य स्वरूप के तब तक तैयार न होने को सूचित करने के लिये शायद एक उपमा या प्रतीकमात्र हो सकता है। एक और योगी ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में वक्तव्य दिया था कि मैं इतना ऊंचा चला गया हूं कि जगत् में कार्य करने के लिये वापस नीचे नहीं उतर सकता। वह बात मेरी उस समय की स्थिति की ओर संकेत करती थी और उसे इससे अधिक कुछ नहीं समझा जा सकता।

१६. ९. १९३५

(२)

प्रश्न—सुना है 'क्ष' ने 'य' को कहा है कि १९२६ में माताजी के काम हाथ में लेने से पहले यहां जो पुराने साधक थे उन्हें वैश्व चेतना के अनेक अनुभव प्राप्त हुए थे और साधना आज की अपेक्षा अधिक अच्छी तथा अधिक गंभीर थी। यह कहां तक सत्य है?

उत्तर—माताजी के आने से पहले सभी मन में निवास कर रहे थे, उन्हें केवल कुछ मानसिक उपलब्धियां एवं अनुभूतियां ही हुई थीं। प्राण तथा अन्य सब कुछ असंस्कृत था और चैत्य था पर्दे के पीछे। मुझे नहीं मालूम कि उनमेंसे कोई उस समय वैश्व चेतना में प्रविष्ट हुआ था। उन दिनों मैं अभी रूपांतर तथा अतिमानस में प्रवेश करने के लिये (योग के उस सब भाग के लिये जो साधारण वेदांत से परे जाता है) मार्ग खोज रहा था और यहां जो थोड़े से साधक थे उनके साथ बहुत कुछ 'छूट देने' के सिद्धांत पर ही व्यवहार करता था। 'क्ष' उनमें से एक है जिन्होंने उस 'छूट' के लिये दुःख करना कभी बंद नहीं किया है—उस समय उन्हें जो प्राणिक स्वाधीनता प्राप्त थी तथा अनुशासन का अभाव था, उसके लिये वह दुःख करता है।

२७. ७. १९३४

३

मार्गान्वेषकों की कठिनाइयां

कठिन मार्ग

इस योग को किसी ने भी ग्राण्ड ट्रंक रोड नहीं अनुभव किया है, न तो 'क' और न 'ख' ने, यहा तक कि न मैंने और न माताजी ने भी । इस तरह के सब विचार रोमांचक भ्रम ही है।

अगस्त १९३५

मानवता का भार

(१)

हम एसे कष्टों और संघर्षो मे से गुजर चुके है जिनके सामने तुम्हारा कष्ट और संघर्ष बच्चे का खेलमात्र है; मैंने अपनी अवस्था को तुम्हारी अवस्था के समान नही बताया है। मैंने कहा है कि अवतार वह है जो मानवता के लिये उच्चतर चेतना का मार्ग खोलने आता है। यदि कोई भी मनुष्य उस मार्ग पर न चल सके, तो या तो हमारी इस विषय की कल्पना, जो ईसा, कृष्ण और बुद्ध की भी कल्पना है, पूर्ण रूप से गलत है अथवा अवतार का संपूर्ण जीवन और कार्य ही सर्वथा निरर्थक है। मालूम होता है 'क' यह कहता है कि अवतार का अनुसरण करने का कोई रास्ता नही है और न यह संभव ही हो सकता है और अवतार के कष्ट तथा संघर्ष मिथ्या और बिलकुल ढोग है,–भगवान् के प्रतिनिधि के लिये संघर्ष का होना संभव ही नही है। ऐसी धारणा अवतारवाद के संपूर्ण विचार को ही मूर्खतापूर्ण बना देती है, तब इसका कोई औचित्य नही रहता, कोई आवश्यकता एवं कोई अर्थ नही रहता। भगवान् सर्वशक्तिमान् होने के कारण भूतल पर उतरने का कष्ट उठाये बिना भी लोगो को ऊपर उठा सकते है। अवतारवाद का कोई अर्थ तो तभी हो सकता है यदि भगवान् का मानवता के भार को अपने ऊपर लेना तथा मार्ग को खोलना विश्व-व्यवस्था का एक अंग हो।

७. ३. १९३५

(२)

तुम कहते हो कि यह मार्ग तुम्हारे लिये या तुम-जैसों के लिये अत्यंत कठिन है और केवल मुझ-जैसे या माताजी-जैसे "अवतार" ही इसपर चल सकते है। यह एक अजीब-सा

गलत धारणा है; क्योंकि इसके विपरीत, यह अत्यंत सुगम, अत्यंत सरल तथा अत्यंत सीधा मार्ग है और कोई भी आदमी इसपर चल सकता है यदि वह अपने मन तथा प्राण को शांत कर ले....। जिन लोगों में तुमसे दसवां हिस्सा सामर्थ्य है वे भी इसपर चल सकते हैं। दूसरा, जो खिंचाव-तनाव और आयास-प्रयास तथा कठोर प्रयत्न का पथ है वही कठिन होता है और उसके लिये तपस्या की महान् शक्ति की आवश्यकता होती है। जहां तक माताजी का और स्वयं मेरा संबंध है, हमें सभी मार्गों का परीक्षण करना, सभी विधियों का अनुसरण करना पड़ा है और कठिनाइयों के पहाड़ों को पार करना पड़ा है; तुम्हारी अपेक्षा या आश्रम के या बाहर के और किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक भारी बोझ उठाना, कहीं अधिक विकट परिस्थितियों और युद्धों का सामना करना, आघातों को सहना, दुर्भेद्य दलदल, मरुस्थल और जंगल को चीरकर रास्ता बनाना और शत्रुओं के दलों को जीतना पड़ा है—ऐसा काम करना पड़ा है जो, निःसंदेह, हमसे पूर्व और किसी को भी नहीं करना पड़ा। कारण, हमारे जैसे कार्य में मार्ग के नायक का काम केवल इतना ही नहीं है कि वह *भगवान् को नीचे उतारे या उनका प्रतिनिधित्व करे और उन्हें मूर्त्तिमान् करे*, वरन् यह भी है कि वह *मानवता के ऊपर उठनेवाले तत्त्व का प्रतिनिधित्व करे*, मानवजाति का भार पूरा-पूरा वहन करे और इस मार्ग की समस्त संभव बाधा, कठिनाई और विरोध को, और पराजित, कुंठित तथा केवल धीरे-धीरे विजयी होनेवाले संघर्ष को केवल लीला के भाव में ही नहीं बल्कि कठोर यथार्थता के साथ अनुभव करे। परंतु यह आवश्यक नहीं और न यह वांछनीय ही है कि यह सब कुछ दूसरों के अनुभव में भी नये सिरे से पूरा का पूरा दुहराया जाय। चूंकि हमें पूर्ण अनुभव है इसलिये हम दूसरों को अधिक सीधा और अधिक सरल मार्ग दिखा सकते हैं—यदि वे केवल इसका अवलंबन करना स्वीकार करें। बड़े भारी *मूल्य पर प्राप्त अपने अनुभव के कारण ही हम तुमसे तथा दूसरों से बलपूर्वक कह सकते हैं*, "आंतरात्मिक वृत्ति धारण करो, सरल प्रकाशमय पथ का अनुसरण करो जिसमें भगवान् तुम्हें प्रकट और गुप्त रूप से धारण किये रहते हैं। अभी चाहे वे गुप्त रूप में ही आश्रय दें पर वे यथासमय अपनेको प्रकाशित भी करेंगे,—कठिन, कंटकाकीर्ण, वक्र, विषम पथ पर मत अड़े रहो।"

५. ५. १९३२

ज्योतिर्मय पथ का निर्माण

प्राचीन योगी और जिज्ञासु जिस वस्तु के लिये सर्वप्रथम प्रार्थना करते थे वह थी शांति और जिस अवस्था को वे भगवान् के साक्षात्कार के लिये सर्वोत्तम जतलाते थे वह थी मन की अचंचलता एवं निश्चल-नीरवता—और इससे सदा ही शांति प्राप्त होती है। प्रसन्न और आलोकित हृदय आनंद के लिये उपयुक्त पात्र है, और भला कौन कहेगा कि आनंद, या जो

कुछ उसके लिये तैयार करता है, भागवत मिलन में बाधक है? जहां तक निराशा का प्रश्न है, यह निश्चय ही मार्ग का एक भीषण बोझ है। व्यक्ति को कभी कभी इसमें से गुजरना तो होता है जैसे "तीर्थयात्री की प्रगति (पिलग्रिम्स प्रोग्रेस)" की कथा के क्रिश्चियन नायक को निराशा की दलदल में से गुजरना पड़ा था। परंतु इसको बार बार दुहराना बाधा के सिवा और कुछ नही हो सकता.... मुझे खूब अच्छी तरह मालूम है कि दुःख-दर्द एवं संघर्ष और घोर निराशा स्वाभाविक हैं, यद्यपि ये मार्ग में अवश्यंभावी नही है और इनकी स्वाभाविकता का कारण यह नही कि ये सहायक है वरन् यह कि ये इस मानवीय प्रकृति के उस अंधकार द्वारा हमपर लादी जाती है, जिसमें से संघर्ष करते हुए हमें प्रकाश की ओर जाना है।.... रामकृष्ण इस बात से अनभिज्ञ नही थे कि योग का एक ज्योतिर्मय मार्ग भी है। उन्होंने शायद यहां तक कहा है कि वह अधिक शीघ्र पहुंचानेवाला तथा अधिक अच्छा मार्ग है।

यह मै इसलिये नही कह रहा हूं कि स्वयं मैंने ज्योतिर्मय मार्ग का अनुसरण किया है अथवा कठिनाई, कष्ट और संकट से पीठ फेरी है। मैंने इन चीजों का अपना पूरा हिस्सा भोगा है और माताजी ने तो अपने पूरे हिस्से से भी दस गुना अधिक भोगा है। परंतु इसका कारण यह था कि 'पथ' खोज निकालनेवालों को विजयी होने के लिये इन चीजों का सामना करना था। ऐसी कोई भी कठिनाई नहीं जो साधक पर आ सकती हो पर हमारे मार्ग में हमारे सामने न आई हो। अनेक कठिनाइयों के साथ तो उन्हें जीत सकने से पहले हमें सैकड़ों बार संघर्ष करना पड़ा है (वास्तव में, यह भी बात को कुछ घटाकरके कहना है)। बहुत सी अभी तक विरोध करती हुई विद्यमान है मानो उन्हे तब तक रहने का अधिकार है जब तक संपूर्ण पूर्णता प्राप्त न हो जाय। परंतु दूसरों के लिये उनकी अनिवार्य आवश्यकता हमने कभी स्वीकार नही की। सच पूछो तो भविष्य मे दूसरों के लिये सुगमतर मार्ग निश्चित करने के लिये ही हमने यह भार ढोया है। इसी उद्देश्य से माताजी ने एक बार भगवान् से प्रार्थना की थी कि इस पथ के लिये जो भी कठिनाइयां, विपत्तियां, दु.ख-कष्ट आवश्यक हों वे दूसरों के बजाय मुझपर ही लादे जायं। यह अभीष्ट उन्हें वर्षों के दैनिक तथा भीषण संघर्षो के परिणामस्वरूप इस हद तक प्रदान किया गया है कि जो लोग उनपर पूर्ण तथा सच्चा भरोसा रखते है वे ज्योतिर्मय मार्ग पर चलने में समर्थ होते है और जो भरोसा नही रख सकते वे भी जब भरोसा कर पाते है तब अपने मार्ग को सहसा सुगम अनुभव करते है और अगर वह पुन: कठिन हो भी जाता है तो वह केवल तभी जब अविश्वास, विद्रोह, अभिमान या अन्य प्रकार के अंधकार उन्हें घेर लेते हैं। ज्योतिर्मय पथ कोई एकदम काल्पनिक चीज नही है।

परंतु, तुम पूछोगे, जो ऐसा नही कर सकते उनका क्या होगा? हां, तो उन्ही के हित में परिमित समय के भीतर अतिमानसिक शक्ति को अवतरित करने के लिये अपने पूरे बल

से प्रयास कर रहा हूं। मैं जानता हूं कि यह अवतरित होकर रहेगी, किंतु मैं इसे निकट भविष्य में उतारना चाहता हूं और पार्थिव प्रकृति के किसी भी अंधकारमय प्रतिरोध के या इसे रोकने के लिये यत्नशील आसुरी शक्तियों के प्रचंड आक्रमणों के होते हुए भी, यह शक्ति धरती के निकट आ रही है। अतिमानस, तुम्हारी कल्पना के अनुसार, उदासीन, कठोर और पत्थर जैसी वस्तु नहीं है। वह अपने अंदर भागवत प्रेम के साथ साथ भागवत सत्य की उपस्थिति को भी लिये रहता है और जो लोग उसे स्वीकार करते हैं उनके लिये इहलोक में उसके प्रभुत्व का अर्थ है एक ऐसा सरल और निष्कंटक पथ जिसमें कोई दीवाल या बाधा न हो और जिसकी सुदूर आशा प्राचीन ऋषियों को दिखायी दी थी।

अंधकारमय पथ भी है और ऐसे बहुत लोग हैं जो, ईसाइयों की भांति, 'आध्यात्मिक दुःख' को मूल मंत्र मान लेते हैं। बहुतेरे इसे विजय का अपरिहार्य मूल्य मानते हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह ऐसा हो भी सकता है, जैसे कि प्रारंभ में कितने ही लोगों के जीवन में यह ऐसा रहा है, अथवा कोई व्यक्ति चाहे तो इसे अपनी पसंद के अनुसार ऐसा बना सकता है। परंतु तब यह मूल्य तितिक्षा, साहस या स्थिरता और लचकीलेपन के साथ चुकाना होता है। मेरा विश्वास है कि अंधकारमय शक्तियों के द्वारा हमपर लादी हुई अग्निपरीक्षाएं या उनके आक्रमण यदि इस प्रकार सहन किये जायं तो वे व्यर्थ नहीं जाते। उनपर प्राप्त की गई प्रत्येक विजय के बाद एक प्रत्यक्ष प्रगति दिखाई देती है। बहुधा ये शक्तियां हमारे अंदर की उन कठिनाइयों को, जिन्हें हमें पार करना है, दिखा देती और यह कहती प्रतीत होती हैं कि "तुम्हें यहां विजय प्राप्त करनी होगी।" फिर भी यह एक अति अंधकारमय और विकट मार्ग है; किसी भी व्यक्ति को इसका अनुसरण तब तक नहीं करना चाहिये जब तक वह विवश ही न हो जाय।

कितनों ही ने भगवत्कृपा पर विश्वास न कर तपस्या या अन्य किसी साधन पर भरोसा रखते हुए योग किया है। वास्तव में भगवत्कृपा पर विश्वास नहीं बल्कि उच्चतर सत्य या उच्चतर जीवन के लिये अंतरात्मा की मांग ज्यादा जरूरी चीज है। जहां ऐसी मांग विद्यमान हो वहां भगवत्कृपा अवश्यमेव सहायता करेगी, फिर चाहे हम उसपर विश्वास करें या न करें। यदि तुम्हें उसपर विश्वास हो तो उससे काम शीघ्र होता है और सारी बातें आसान हो जाती हैं; यदि तुम अभी विश्वास न कर सको, तो भी अंतरात्मा की अभीप्सा, चाहे कितनी भी कठिनाई और संघर्ष के साथ क्यों न हो, अपने आपको सार्थक सिद्ध करेगी।

हर्षपूर्ण त्याग

प्रसंगवश, क्या तुम यह समझते हो कि माताजी ने या मैंने या आध्यात्मिक जीवन अपनानेवाले दूसरे लोगों ने जीवन का आनंद नहीं लिया था और इसी लिये माताजी हर्षपूर्ण त्याग की बात कह सकीं? अथवा क्या तुम यह सोचते हो कि हमने अपनी प्रारंभिक अव-

स्थाएं मिश्र के विलुप्त विलासमय जीवन की लालसा में विताई और केवल वाद में ही आध्यात्मिक त्याग का आनंद अनुभव किया? निश्चय ही हमने ऐसा नहीं किया; जिस चीज को छोड़ना हमने आवश्यक समझा उसे छोड़ने के कारण हमें तथा अन्य वहुत से लोगों को भी कोई कठिनाई नहीं हुई और वाद में उसकी लालसा भी नहीं हुई। तुम्हारा नियम साधारण नियमों की भांति एक कठोर नियम है जो किसी प्रकार भी सवपर लागू नहीं होता।

१७. १०. १९३५

स्वयं-गृहीत निर्धनता के वर्ष

(विषय–साधक-साधिकाओं के सुन्दर वस्त्र पहनने आदि के विषय में किसी की आलोचना)

सिद्धि के वाद उच्चतर संकल्प की जो मांग हो वही सर्वोत्तम है–परंतु उससे पहले, अनासक्ति ही नियम है। अनुशासन तथा विकास के विना स्वातंत्र्य प्राप्त करना तो विरलों के ही भाग्य में वदा होता है। माताजी और मैं वर्षों तक जीवन की स्वेच्छापूर्वक अपनाई हुई नितांत दरिद्रता में से गुजरे थे।

१५. ११. १९३३

मानव प्रकृति का ज्ञान

(१)

मेरी समझ में मानव प्रकृति के द्वंद्वों, दुर्वलताओं तथा अज्ञान के वारे में मैं तुम्हारे जितना तो जानता ही हूं और उससे वहुत अधिक भी। यह विचार आश्रम में फैला हुआ प्रतीत होता है कि माताजी या मैं आध्यात्मिक तौर पर तो महान् हैं परंतु हम प्रत्येक व्यावहारिक वात से अनभिज्ञ हैं। यह समझना भूल है कि उच्च आध्यात्मिक स्तर पर रहने से मनुष्य जगत् या मानव प्रकृति से अनभिज्ञ या असतर्क हो जाता है। यदि मैं मानव प्रकृति के संवंध में कुछ भी नहीं जानता अथवा उसे विचार में नहीं लाता, तो, स्पष्ट ही, मैं रूपांतर के कार्य में किसी का मार्गदर्शक वनने के अयोग्य हूं, क्योंकि यदि कोई मनुष्य मानव प्रकृति का स्वरूप नहीं जानता, उसके व्यापारों को नहीं देखता, अथवा देखता भी है तो उन्हें विचार में विलकुल नहीं लाता तो वह उसका रूपांतर नहीं कर सकता। यदि मैं ऐसा सोचता हूं कि मानवी स्तर अनंत ज्योति, शक्ति, आनंद, निर्भ्रांत संकल्प-शक्ति के स्तर या स्तरों के समान है तो या तो मैं विलकुल पागल हूं या निरर्थक वकवक करनेवाला अक्षम या इतनी अतल जड़ता से युक्त मूर्ख कि वस अजायवघर में एक दर्शनीय चीज के रूप में रखने लायक।

३०. ४. १९३७

(२)

इस बात को समझने के लिये तर्क की कोई आवश्यकता नहीं—थोड़ी-सी साधारण-बुद्धि ही काफी है। यदि कोई मनुष्य, वह चाहे कोई भी क्यों न हो, यह सोचता है कि अज्ञान, सीमा तथा दुःख का घर यह जगत् नित्य और अनंत ज्योति, शक्ति एवं आनंद तथा निभ्रांति संकल्प और बल का एक लोक है, तो वह अपने को धोखा देनेवाले मूर्ख या पागल के सिवा और क्या हो सकता है? और तब उच्चतर स्तरों से उक्त ज्योति, शक्ति आदि उतारने की आवश्यकता ही कहां होगी यदि वह ज्योति इस पावन धरती पर तथा इसके नर-पशुओं के मूढ़ समूह के बीच पहले से ही सर्वत्र कूद-फांद रही है? परंतु शायद तुम 'क्ष' के मत के हो। भगवान् यही हैं, वे भला कही से उतर कैसे सकते हैं? भगवान् यहां हो सकते हैं, पर यहां उन्होने अपने प्रकाश को अज्ञानांधकार से तथा अपने आनंद को दुःख से ढक रखा है; इससे मेरे विचार में स्तर को बड़ा अंतर हो जाता है और, यदि कोई उस आवृत ज्योति आदि में प्रवेश कर भी ले तो भी उससे चेतना में तो अंतर आ जाता है किंतु इस स्तर पर कार्य करनेवाली शक्ति में बहुत ही कम अंतर पड़ता है।

३. ५. १९३७

ज्ञान पर आश्रित श्रद्धा

मैं तुम्हें याद दिला दूं कि मैं स्वयं बुद्धिवादी रहा हूं तथा संशयों से सर्वथा अनभिज्ञ नही हूं। माताजी और मैं दोनों के मन का एक पार्श्व क्रियात्मक परिणामों के बारे में किसी भी रसेल के समान, वरंच उससे भी कहीं अधिक प्रत्यक्षवादी तथा आग्रहशील रहा है। हम उन चमकीले विचारों और वचनों से कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे जिन्हें एक रोलां या कोई और व्यक्ति सत्य का सुनहला सिक्का समझता है। हमें अच्छी तरह मालूम है कि आंतरिक अनुभूति और सक्रिय, बहिर्मुख एवं कार्यसाधक शक्ति में क्या अंतर है। सो, यद्यपि हममें श्रद्धा है, (और किसने भला अपने ध्येय में या उसके पीछे रहकर कार्य करने-वाले परम सत्य में श्रद्धा रखे बिना संसार में कभी कोई बड़ा काम किया है?) तो भी हमारा आधार केवल श्रद्धा ही नही है, बल्कि हमारा बृहत् आधार वह ज्ञान है जिसका हम जीवनभर विकास तथा परीक्षण करते रहे हैं। मेरे विचार में, मैं कह सकता हूं कि जितनी सूक्ष्मता से कोई वैज्ञानिक अपने सिद्धांत या अपनी विधि को भौतिक स्तर पर परखता है उससे भी अधिक सूक्ष्मतापूर्वक मैं कितने ही वर्षो तक दिन रात अपने ज्ञान को परखता रहा हूं। इसी कारण मैं अपने चारों ओर के जगत् का स्वरूप देखकर नही घबड़ाता और न उन विरोधी शक्तियों के प्रायः सफल होनेवाले प्रकोप से विक्षुब्ध होता हूं जिनका क्रोध वैसे वैसे बढ़ता ही जाता है जैसे जैसे प्रकाश पृथ्वी तथा जड़प्रकृति के क्षेत्र के अधिकाधिक समीप आता जाता है।

यदि मैं केवल इसकी संभावना में ही नही बल्कि सुशक्यता में भी विश्वास करता हूं, यदि मैं अतिमानसिक अवतरण के संबंध मे व्यवहारतः निःसंदिग्ध हूं (मैं कोई तिथि नियत नहीं करता), तो इसका कारण यह है कि ऐसे विश्वास के लिये मेरे पास आधार हैं, यह कोई हवाई विश्वास नहीं है। मैं जानता हूं कि अतिमानसिक अवतरण अवश्यंभावी है। अपने अनुभव को दृष्टि में रखते हुए मुझे विश्वास है कि वह काल अभी हो सकता है और होना चाहिये, किसी सुदूर युग में नही . . . परंतु मुझे यदि यह पता भी चलता कि यह सुदूर काल की बात है तो भी मै अपने पथ से न डिगता और न अपने प्रयास में निरुत्साहित या शिथिल होता। पहले मै निरुत्साहित हो सकता था पर 'अब'–इतना सब रास्ता तै कर चुकने के बाद–नहीं। जब कोई सत्य के संबंध में निश्चयात्मक होता है, अथवा जब कोई अपनी खोज के लक्ष्य को एकमात्र संभव समाधान मानता है तब वह अविलंब सफलता की शर्त नहीं रखता। वह ऐसे साहसकार्य के प्रत्येक संकट को सर्वथा सार्थक समझकर उसका सामना करता हुआ प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। तथापि, तुम्हारी तरह मै भी अभी, इसी जीवन में इसकी प्राप्ति का आग्रह करता हूं, किसी और जन्म में या परलोक में नहीं।

३०. ८. १९३२

कुछ और प्रगति

मुझे भय है कि परिस्थिति के बारे में तुम्हारा जो अध्ययन है–कम से कम माताजी का और मेरा तथा कर्म के भावी फल का जहां तक संबंध है–उसका मै समर्थन नहीं कर सकता। मै केवल इस बात से सहमत हो सकता हूं कि अभी हाल ही में हमने बहुत बुरे दिन काटे है और भौतिक तथा जड़ स्तर पर प्रबल आक्रमण हुआ है। पर ये (प्रचंड आक्रमण) ऐसी चीजें है जिनके हम गत ३० वर्षो से अभ्यस्त है और ये हमें किसी प्रकार की आवश्यक प्रगति करने से कभी नहीं रोक सके। मुझे मार्ग के संबंध में कभी कोई ऐसा भ्रम नही हुआ है कि यह सुखद तथा सरल है। मुझे सदा से ही मालूम था कि कार्य केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब सभी मूल कठिनाइयां उठ खड़ी हों और उनका सामना किया जाय। अतएव, चाहे स्वयं हमारी या साधकों की या विश्वप्रकृति की कठिनाइयां कितनी भी अलंघ्य क्यों न हों, उनका उठ खड़ा होना मुझे न तो थका सकता है और न निरुत्साहित कर सकता है।

नहीं, में ऊब नही गया हूं, न मैं सब कुछ छोड़ देने को तैयार बैठा हूं। मैंने पिछले दो या तीन महीनों में आंतरिक तौर पर कुछ कदम आगे बढ़ाये है, ऐसे कदम जो लगातार वर्षो लंबे हठपूर्ण प्रतिरोध के कारण असंभव प्रतीत होते थे और यह कोई ऐसा अनुभव नहीं जो मुझे निराश होने और छोड़ देने को प्रेरित करे। यदि एक ओर अत्यधिक प्रतिरोध है तो दूसरी ओर महान् प्राप्तियां भी हुई है–सबका सब निष्फल अंधकार का ही दृश्य नही रहा है।

स्वयं तुम्हें भी संदेह के दैत्य ने ही रोक रखा है और ज्योंही तुम कोई दरवाजा खोलते हो वह उसे झट बंद कर देता है। तुम्हें बस दृढ़तापूर्वक उस राक्षस का वध करने में लग जाना चाहिये और तब तुम्हारे लिये द्वार खुल जायंगे जैसे वे उन बहुत से लोगों के लिये खुल चुके हैं जो अपनी निजी मानसिक या प्राणिक प्रकृति के कारण रुके हुए थे।
१२. १. १९३४

बढ़ता हुआ अवतरण

यह सत्य है कि उच्चतर शक्ति का अधिकाधिक शक्तिशाली अवतरण हो रहा है। बहुत से लोग अब माताजी के चारों ओर प्रकाश और रंग तथा उनके सूक्ष्म प्रकाशमय रूप देखते हैं—इसका मतलब है कि उनकी दृष्टि अतिभौतिक सद्वस्तुओं की ओर खुल रही है, यह कोई कल्पना नहीं है। जो रंग या प्रकाश तुम देखते हो वे नाना स्तरों की शक्तियां हैं और प्रत्येक रंग एक विशेष शक्ति का सूचक है।

अतिमानसिक शक्ति उतर रही है, परंतु इसने शरीर या जड़तत्त्व पर अभी अधिकार नहीं किया है—अभी इस कार्य में बहुत बाधा है। जो शक्ति जड़तत्त्व को छू चुकी है वह तो अतिमानसीकृत अधिमानस-शक्ति है और वह किसी समय भी मूल अतिमानस शक्ति में परिणत हो सकती है या उसे स्थान दे सकती है।
१४. ९. १९३४

अवतरण की लंबी प्रक्रिया

मुझे नहीं मालूम कि 'क्ष' को सूचना देनेवाला कौन था, पर निश्चय ही माताजी ने यह किसी से कभी नहीं कहा कि अतिमानस २४ नवंबर को उतरनेवाला है। तिथियां इस प्रकार निश्चित नहीं की जा सकतीं। अतिमानस का अवतरण एक लंबी प्रक्रिया है या कम से कम एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे पहले लंबी तैयारी की आवश्यकता है, और इस बीच सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि काम चल रहा है। कभी तो उसे पूरा करने के लिये जोर का दबाव पड़ता है और कभी नीचे से सिर उठानेवाली चीजें उसे रोक देती हैं और आगे प्रगति करने से पहले उन्हें ठीक करना पड़ता है। यह प्रक्रिया आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया है जिसे थोड़े काल के अंदर समेट दिया गया है। वह दूसरे प्रकार से (जिसे मनुष्य चमत्कारपूर्ण हस्तक्षेप समझते) केवल तभी संपन्न की जा सकती थी यदि मानव मन आज की अपेक्षा अधिक नमनीय और अपने अज्ञान के प्रति कम आसक्त होता! अतिमानस के अवतरण के विषय में हमारा जैसा ख्याल है, वह पहले कुछ थोड़े से लोगों में ही अभिव्यक्त होगा और फिर औरों में फैलेगा, परंतु यह संभव नहीं कि वह एक ही क्षण में सारे भूमंडल पर छा जाय। इस विषय पर अत्यधिक वाद-विवाद करना उचित नहीं कि अतिमानस क्या करेगा और उसे किस तरह करेगा, क्योंकि ये तो ऐसी चीजें हैं जिन्हें वह अपने अंदर के

भागवत सत्य के द्वारा कार्य करते हुए स्वयं निश्चित करेगा। मन को उसका रास्ता निश्चित कर देने का यत्न कदापि नहीं करना चाहिये। स्वभावतः ही, अवचेतन अविद्या और रोग से मुक्ति, इच्छानुसार आयु की प्राप्ति और शरीर के व्यापारों में परिवर्तन—ये सब अति-मानसिक परिवर्तन के अंतिम तत्त्वों में से होंगे। परंतु इन विषयों की ब्योरेवार बातें तो अतिमानसिक शक्ति पर छोड़ देनी होंगी ताकि वह अपनी प्रकृति के सत्य के अनुसार उन्हें कार्यान्वित करे।

१८. १०. १९३४

अवतरण का प्रतिरोध

जब मैंने अपने पत्रों में अतिमानस और हठीले प्रतिरोध के विषय में लिखा था तो, निश्चय ही, मैंने एक ऐसे विषय की चर्चा की थी जिसकी मैं पहले भी चर्चा कर चुका था। मेरा मतलब यह नहीं था कि प्रतिरोध अप्रत्याशित ढंग का है या इसने किसी प्रधान चीज को पलट दिया है। परंतु अवतरण, अपने स्वरूप में, कोई मनमानी और चमत्कारी वस्तु नहीं है बल्कि एक तेज विकास की प्रक्रिया है जो कुछ वर्षों में पूरी की जाती है और जो वर्तमान प्रकृति को अपने प्रकाश में ले लेती है और अपना सत्य निम्नतर स्तरों में उंडेल देती है। ऐसा सारे संसार में एक ही साथ नहीं किया जा सकता, वरन् ऐसी सभी प्रक्रिया-ओं की तरह यह पहले चुने हुए आधारों के द्वारा और फिर अधिक विस्तृत क्षेत्र में किया जाता है। यहां पर पार्थिव चेतना ने जो रूप ग्रहण किया है उसके अंदर हमें यह प्रक्रिया पहले अपने द्वारा और फिर, अपने समीप एकत्र हुए साधक-वर्ग के द्वारा पूरी करनी है। यदि कुछ साधक भी अपने आपको खोल दें तो वह इस प्रक्रिया की सफलता के लिये काफी है। दूसरी ओर यदि एक व्यापक (सबमें नहीं, पर बहुतों में) मिथ्या धारणा और प्रतिरोध हो तो वह इस कार्य को कठिन और इस प्रक्रिया को अधिक मेहनत का काम बना देगा; परंतु इसे असंभव नहीं बनायेगा। मेरे कहने का आशय यह नहीं था कि अव-तरण असंभव हो गया है वरन् यह कि यदि हम इस सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु पर पर्याप्त ध्यान न दे सके तथा हमें इससे असंबद्ध बहुत-सा काम करना पड़े और फलतः परिस्थिति प्रतिकूल हो जाए तो अवतरण में अन्यथा जो समय लगता उससे कहीं अधिक समय लग सकता है। निश्चय ही, जब अतिमानस इस पृथ्वी को इतनी पर्याप्त शक्ति के साथ स्पर्श कर लेगा कि वह धरती की चेतना में जड़ पकड़ सके तो आसुरिक माया की किसी प्रकार की सफलता या स्थायित्व की कोई संभावना नहीं रह जायगी।

शेष सब, जो मैंने मानवीय तथा दिव्य के बारे में कहा था, अतिमानसिक अवतरण से पहले के मध्यवर्ती काल से संबंध रखता था। मेरा मतलब यह था कि यदि माताजी अपने शरीर तथा भौतिक सत्ता के अंदर दिव्य व्यक्तित्वों तथा शक्तियों को प्रकट कर सकें जैसा

कि वे कुछ वर्ष पूर्व, आश्रम के इतिहास के सबसे उज्ज्वल समय में, कई मास तक निरंतर करती रही थीं, तो कार्य अत्यधिक सुगम हो जायगा और इस समय जो भयानक आक्रमण होते हैं उन सबके साथ शीघ्रता से निपट लिया जायगा तथा, सच पूछो तो, उनका घटित होना ही असंभव हो जायगा। उन दिनों जब माताजी या तो साधकों को ध्यान कराती थीं या अन्य प्रकार से दिन-रात, बिना सोये तथा अत्यंत अनियमित रूप से भोजन करते हुए, काम करती तथा ध्यान करती थीं, तो वे न अस्वस्थ होती थीं न थकती ही थीं और काम भी बिजली की गति से आगे बढ़ रहा था। उस समय जो शक्ति प्रयोग में लाई जाती थी वह अतिमानस की नहीं बल्कि अधिमानस की थी, परंतु जो कुछ किया जा रहा था उसके लिये वह काफी थी। आगे चलकर, क्योंकि साधकों के निम्नतर प्राण और देह साथ नही चल सके, माताजी को उन दिव्य व्यक्तित्वों तथा शक्तियों को, जिनके द्वारा वे कार्य कर रही थीं, पर्दे के पीछे ठेल देना पड़ा तथा स्थूल मानवीय स्तर पर उतरकर उसकी अवस्थाओं के अनुसार ही कार्य करना पड़ा और इसका अर्थ है कठि-नाई, संघर्ष, रोग, अज्ञान तथा तमस्। बहुत समय तक सब कुछ मंद, कठिन तथा लगभग निष्फल ही मालूम हो रहा था, पर अब आगे बढ़ना पुनः संभव हो रहा है। परंतु इसके लिये कि प्रगति अपनी प्रक्रिया में व्यापक या तीव्र सी हो, साधकमात्र की, केवल कुछ एक साधकों की ही नहीं, मनोवृत्ति का बदलना आवश्यक है। उन्हें बाह्य भौतिक चेतना की अवस्थाओं तथा वेदनों से कम चिपके रहकर योगी तथा साधक की वास्तविक चेतना की ओर खुलना होगा। यदि वे ऐसा करें तो उनकी अंदर की आंख खुल जायगी और यदि माताजी फिर से पहले की तरह कुछ-कुछ दिव्य व्यक्तित्वों तथा शक्तियों को बाहर प्रकट करें, तो वे भौचक्के या भयभीत नहीं होंगे। तब वे उनसे सदा अपने ही (साधकों के ही) स्तर पर रहने के लिये नहीं कहते रहेंगे बल्कि ऊपर उन्हीं की ओर तेजी से या धीरे-धीरे उठाये जाने पर प्रसन्न होंगे। उस समय कठिनाइयां दसगुनी कम हो जायंगी और अधिक विस्तृत, अधिक सुगम एवं अधिक सुरक्षित प्रगति संभव हो जायगी।

यही मेरा अभिप्राय था और मेरी समझ में, मैंने इस बात के लिये कुछ अधीरता प्रकट कर दी थी कि बहुत से लोग हमारे योग के, जो कि रूपांतर का योग है, मूल सिद्धांत से निकलनेवाले कम से कम युक्तिसंगत परिणाम को भी समझने में बड़े सुस्त हैं। वे परिणाम हैं, मानव प्रकृति में जो कुछ भी बेसुरा है उस सबको आलोक द्वारा अस्तित्वविहीन कर देना, जो समस्वरता में सहायक है उस सबको उसके दिव्य प्रतिरूप में, अधिक शुद्ध, अधिक महान्, उदात्त और सुन्दर रूप में बदल देना तथा जो बहुत सी चीजें मानव विकास में अब तक नहीं रही हैं उन्हें भी उसके अंदर जोड़ देना। मेरा मतलब यह था कि यदि साधकों की मनोवृत्ति कम अज्ञानपूर्ण हो तो अवस्थाएं इस ओर अधिक शीघ्रता से बढ़ सकती हैं, परंतु वे यदि अभी इसे प्राप्त नहीं कर सकते तो निःसंदेह हमें तब तक जैसे तैसे आगे

बढ़ना होगा जब तक अतिमानसिक अवतरण भौतिक स्तर तक नहीं आ पहुंचता।

अंत में, तुम्हें निराश होने की इस अकारण प्रवृत्ति से छुटकारा पाना होगा। मैं जिस मानसिक रचना की बात कर रहा हूं उसमें मजा लेने के कारण तुम्हारे लिये कठिनाई उत्पन्न हो गयी है; यदि तुम उसे प्रश्रय देना एकदम बंद कर दो तो कठिनाई भी दूर हो जायगी। प्रगति आरंभ में धीमी हो सकती है पर वह होगी अवश्य; आगे चलकर वह तीव्र हो जायगी और अतिमानसिक शक्ति के यहां आ जाने पर तो औरों की भांति तुम्हें भी पूर्ण वेग और निश्चय-भाव मिल जायगा।

१८. १०. १९३४

(२)

तुम कहोगे, "परंतु इस समय माताजी पीछे हट गई हैं और इसमें अतिमानस का ही दोष है, क्योंकि अतिमानस को जड़प्रकृति में उतारने के लिये ही वे पीछे हटी हैं।" अतिमानस का दोष नहीं है, यदि भौतिक तथा प्राणिक संपर्क के लिये माताजी द्वारा बनाये गये साधनों को आश्रम के वातावरण में विद्यमान अनुचित मनोभाव तथा अनुचित प्रतिक्रियाओं के द्वारा कलुषित न कर दिया जाता तो अतिमानस पहले की अवस्थाओं में भी जड़प्रकृति के अंदर खूब अच्छी तरह उतर सकता था। जो शक्ति कार्य कर रही थी वह साक्षात् अतिमानसिक शक्ति नहीं बल्कि एक बीच की तथा तैयार करनेवाली शक्ति थी जो अतिमानस से निकली हुई एक ज्योति को कुछ हलका करके अपने अंदर धारण किये हुए थी, परंतु यदि अब तक न जीते गये निम्नतर (भौतिक) प्राणमय-जड़ स्तर पर इन अनुचित शक्तियों का आक्रमण न होता तो वह शक्ति उच्चतम क्रिया का मार्ग खोलने के लिये पर्याप्त होती। इन शक्तियों का हस्तक्षेप ऐसी विरोधी संभावनाएं उत्पन्न कर रहा था जिन्हें जारी नहीं रहने दिया जा सकता था। अन्यथा माताजी पीछे न हटती; और जो स्थिति इस समय है उसका अभिप्राय भी कार्यक्षेत्र का त्याग नही है बल्कि (एक अधिक बाह्य कार्य से संबंधित आजकल के एक प्रचलित मुहावरे को उधार लेकर कहूं तो) केवल पीछे हटने की एक सामयिक चाल है, अधिक अच्छी छलांग भरने के लिये पीछे हटना है। अतएव अतिमानस इसके लिये उत्तरदायी नहीं है; इसके विपरीत, अतिमानस का अवतरण ही सब कठिनाइयों का अंत करेगा।

१४. १. १९३२

भौतिक स्तर में साधना का अवतरण

प्रश्न—जब साधना भौतिक स्तर में चलती है तब क्या सभी साधकों को भौतिक चेतना में उतरना पड़ता है, या केवल उन्हीं को जिनके अंदर अत्यधिक जड़ता तथा अपवित्रता होती है, जैसे कि मेरे अंदर है?

उत्तर—यह कहना कुछ कठिन है कि सभी को पूरी तरह से भौतिक स्तर में उतरना पड़ता है या नहीं। माताजी को और मुझे ऐसा करना पड़ा था क्योंकि अन्यथा कार्य किया ही नहीं जा सकता था। हमने इसे ऊपर से मन तथा उच्चतर प्राण के द्वारा करने का यत्न किया था, परंतु ऐसा नहीं हो सका क्योंकि साधक हमारे पीछे पीछे चलने के लिये तैयार नहीं थे—उनके निम्नतर प्राण और भौतिक सत्ता ने, जो कुछ उतर रहा था उसमें भाग लेने से इन्कार किया अथवा उसका दुरुपयोग किया और वे अतिरंजित एवं उग्र प्रति-क्रियाओं से भर गये। तब से संपूर्ण साधना ही हमारे साथ साथ भौतिक चेतना में उतर आयी है। बहुतों ने हमारा अनुसरण किया है—कई तो तुरंत, मन और प्राण की पर्याप्त तैयारी के बिना ही, कुछ प्राण और मन से चिपके रहकर तथा अभी तक तीनों के बीच ही रहते हुए, और कई पूर्ण रूप से, किंतु तैयार मन और प्राण के साथ भौतिक चेतना में उतर आये। पूर्ण रूप से भौतिक स्तर में उतर आना अत्यंत कष्टदायक अवस्था है—इसका मतलब होता है दीर्घकाल तक कठिनाइयों का कष्टदायी दबाव, क्योंकि भौतिक सत्ता साधा-रणतया तमसाच्छन्न एवं जड़ होती है और उसके अंदर प्रकाश प्रवेश नहीं कर पाता। वह अभ्यासों से बनी हुई वस्तु है, अधिकांश में वह अवचेतन तथा उसकी यांत्रिक प्रतिक्रियाओं की दास होती है। बीमारी तथा अपनी कुछ दूसरी क्रियाओं को छोड़कर वह उग्र आक्रमणों के प्रति प्राण की अपेक्षा कम खुली होती है। परंतु जब तक प्रकाश, शांति, शक्ति और आनंद ऊपर से उतरकर दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो जाते तब तक इन सब क्रियाओं को छोड़ना नीरस और शुष्क होता है। हम यह ज्यादा पसंद करते कि हम यहां का सारा कठिन काम अपने आप पूरा कर लेते और आसान आसान हालतें और गतियां पैदा हो जाने के बाद ही औरों को वहां बुलाते, परंतु यह संभव नहीं सिद्ध हुआ।

मैं नहीं समझता कि इसका अपवित्रता से कोई संबंध है। हां, इतना अवश्य है कि तुम जरा ज्यादा जल्दी नीचे उतर आये। जिस समय ऐसा हुआ, आत्मा की शांति और नीरवता तथा सिर के ऊपर आत्मा को उपलब्ध करने के लिये उच्चतर चेतना की ऊर्ध्वमुख गति स्वतः ही स्थापित होनेवाली थी। यदि यह पहले ही हो चुका होता तो कठिनाई कम हो जाती। इसका मतलब है इन चीजों को संपन्न कराने के लिये जड़ता के विरुद्ध प्रबल संघर्ष करना—परंतु तुम्हें केवल धैर्यपूर्वक लगे रहना है और ये चीजें अवश्यमेव संपन्न हो जायंगी। सारी बातें ही तुम्हारे लिये बहुत अधिक सुगम हो जायेंगी।

३१. १२. १९३४

एक नयी शक्ति

'क्ष' की मां की बीमारी दूर करने में सफल होना निश्चय ही एक बड़ी प्राप्ति होगी और यद्यपि रोग के कठिन, भयावह और अत्यंत दुःसाध्य होने के कारण सफल होना कठिन

है, फिर भी असंभव नहीं है। तुम्हारा कहना ठीक है, शक्ति पहले कार्य कर रही थी पर वह केवल उन्हीं में एकदम तेजी से और पूरी तरह कार्य करती थी जिनमें पर्याप्त श्रद्धा तथा ग्रहणशीलता होती थी–(मुख्य रूप से साधकों में) अथवा जहां कुछ दूसरी अच्छी अवस्थाएं होती थीं।

ये दृष्टांत शक्ति की एक नई सामर्थ्य तथा नई कार्यप्रणाली की ओर इंगित करते प्रतीत होते हैं। तुम्हारा यह विचार निराधार नहीं है कि यह शक्ति और जगहों पर भी फैल सकती तथा वैसा ही कार्य कर सकती है; क्योंकि, जब एक बार पृथ्वी के वातावरण में कोई ऐसी चीज उतर आती है जो वहां पहले नहीं थी, तो वह अनेक दिशाओं में अज्ञात-पूर्व तरीकों से कार्य करने लगती है। इस प्रकार, जब से हमारा योग क्रियाशील हुआ है तब से इसकी कई विशेष प्रारंभिक गतियों का ऐसे बहुत से लोगों को भी अनुभव हुआ है जो हमसे दूर थे तथा हमारे साथ संबद्ध नहीं थे और जो समझ भी नहीं पाते थे कि उनके अंदर क्या हो रहा है। इन चीजों की आशा करनी ही चाहिये क्योंकि प्रकृति अभी तक विकसित हो रही है और उसके अंदर नई ज्योतियों तथा शक्तियों को उतारना तथा सचेतन पार्थिव जीवन का अंग बनाना ही होगा।

२१. १. १९३६

भौतिक स्तर पर संघर्ष

जहां तक रोग का प्रश्न है, भौतिक स्तर पर पूर्णता प्राप्त करना योग के आदर्श का अंग अवश्य है, पर है यह अंतिम कार्य। जब तक स्थूल चेतना में, शरीर जिसका कि एक अंग है, मौलिक परिवर्तन न हो जाय तब तक मनुष्य शरीर में रोग से पूरी मुक्ति प्राप्त किये बिना भी अन्य स्तरों पर एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर सकता है। हमने अलग व्यक्तिगत रूप से अपने लिये पूर्णता की खोज नहीं की है, बल्कि सार्वभौम परिवर्तन के अंग के रूप में–दूसरों के लिये पूर्णता की संभावना पैदा करने के लिये ही यह खोज की है। यदि हम उप-लब्धि और रूपांतर की कठिनाइयों को स्वीकार करके उनका सामना न करते तथा अपने लिये उनपर विजय न प्राप्त करते तो यह कार्य किया ही न जा सकता। यह अन्य स्तरों पर पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है–पर भौतिक स्तर के अत्यंत जड़ भाग में अभी तक नहीं किया गया है। जब तक यह कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक वहां संघर्ष जारी रहेगा और, यद्यपि यौगिक क्रिया और संरक्षण की शक्ति उपस्थित हो सकती है और है भी, तथापि पूर्ण मुक्ति नहीं मिल सकती। माताजी की कठिनाइयां अपनी निजी नहीं हैं; वे दूसरों की कठिनाइयों को तथा उन कठिनाइयों को भी वहन करती है जो रूपांतर के लिये किये जानेवाले सामान्य कार्य और उसकी प्रणाली में अंतर्निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो बात बिलकुल और ही होती।

अगस्त १९३६

४

योगमार्ग में सहायक

आश्रम बनाने का कारण

(१)

शुरू शुरू मे यहां कोई आश्रम नही था, केवल कुछ लोग श्रीअरविन्द के पास रहने तथा योग-साधना करने के लिये आये थे। माताजी के जापान से आने के कुछ समय बाद ही इसने आश्रम का रूप धारण किया और इसका कारण माताजी या श्रीअरविन्द की कोई इच्छा या योजना नहीं थी, बल्कि उन साधकों की इच्छा थी जो अपना समस्त आंतरिक और बाह्य जीवन माताजी को सौंपना चाहते थे।

(२)

तथ्य ये हैं : इस बीच माताजी फ्रांस और जापान में दीर्घकाल तक रहने के पश्चात् २४ अप्रैल १९२० को पांडिचेरी लौट आईं। तब शिष्यों की संख्या कुछ अधिक तेजी से बढ़ने लगी। जब आश्रम का विकास होना आरंभ हुआ, इसके संगठन का भार माताजी पर आ पड़ा। श्रीअरविन्द ने शीघ्र ही एकांतवास ले लिया और आश्रम के संपूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक कार्य का भार माताजी के ऊपर आ गया।

(३)

प्रश्न–१९२६ में किस तारीख को माताजी ने आश्रम का सारा कार्यभार अपने ऊपर ले लिया ?

उत्तर–माताजी को ठीक तारीख बिलकुल याद नहीं है। संभवत: १५ अगस्त के कुछ दिन बाद की कोई तारीख होगी। जब मैं एकांत में चला गया तब उन्होंने पूर्ण रूप से सारा कार्य अपने हाथों में ले लिया। १६. ५. १९३६

आश्रम की सीमाएं

आश्रम की सीमाएं कौनसी हैं ? ऐसा प्रत्येक घर जिसमे आश्रम के साधक रहते हैं, आश्रम की सीमाओं के भीतर है। लोगों के बोलने का यह एक विचित्र ढंग है कि वे इस अहाते के घरों को ही आश्रम कहते हैं–इसका कोई अर्थ नही है। अथवा क्या वे यह समझते हैं कि माताजी का या मेरा प्रभाव एक अहाते के अंदर ही बंद है ? जनवरी १९३५

साधकों के साथ व्यवहार करने का नियम

माताजी और मैं सभी लोगों के साथ भगवान् के विधान के अनुसार व्यवहार करते हैं। हम लोग धनी और गरीब का तथा मानवीय कसौटियों के अनुसार कुलीन या अकुलीन समझे जानेवाले सभी लोगों का एक तरह ही स्वागत करते हैं और उन्हें समान रूप से अपना प्रेम और संरक्षण प्रदान करते हैं। हमें उनकी साधना की उन्नति का ही खास ख्याल होता है—क्योंकि वे यहां इसी के लिये आये हैं, न तो अपनी जीभ या पेट को संतुष्ट करने आये हैं और न साधारण प्राण की मांगें पेश करने या पद-प्रतिष्ठा, मान या सुख-सुविधा के लिये झगड़ा करने। उनकी वह उन्नति केवल इस बात पर निर्भर करती है कि वे श्री माताजी के प्रेम या संरक्षण का प्रत्युत्तर किस प्रकार देते हैं—माताजी जिन शक्तियों को सबपर समान रूप से बरसाती रहती हैं उन्हें वे ग्रहण करते हैं या नहीं, और माताजी की देन का सदुपयोग करते हैं या दुरुपयोग। परंतु माताजी का न तो यह इरादा है और न इसके लिये वे बंधी हैं कि बाहर से भी सबके साथ एक ही तरीके से व्यवहार करें—यह मांग करना कि उन्हें ऐसा ही करना चाहिये, असंगत और मूर्खतापूर्ण है—और अगर वे ऐसा करें तो उनका कार्य वस्तुओं के सत्य तथा भगवान् के विधान के सामने मिथ्या साबित होगा। प्रत्येक साधक के साथ उसके स्वभाव, उसकी क्षमताओं, उसकी सच्ची आवश्यकताओं के अनुसार (उसकी मांगों या वासनाओं के अनुसार नहीं) और उसके आध्यात्मिक मंगल के लिये जो कुछ सबसे उत्तम है उसी के अनुसार व्यवहार करना होगा। अब प्रश्न है कि यह किया कैसे जाय? इस विषय में हम उन सब साधकों के अज्ञान की आज्ञा को मानने से इन्कार करते हैं जो यह समझते हैं कि श्री माताजी को उनके मानदंड के अनुसार या समता या न्यायसबंधी उनके विचारों के अनुसार अथवा उनकी प्राणगत मांगों के अनुसार या वे जो कुछ धारणाएं बाहरी जगत् से अपने साथ ले आये हैं उनके अनुसार ही कार्य करना चाहिये। हम लोग अपने भीतर की ज्योति के अनुसार और उस सत्य के लिये कार्य करते हैं जिसे हम पार्थिव प्रकृति में स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

११. १२. १९३३

प्रारंभिक मांग

जिन लोगों को हम स्वीकार कर लेते हैं उनके बारे में तुम्हारा यह कहना ठीक है कि अगर उनका कोई एक भी भाग सच्चे दिल से भगवान् को चाहता हो तो हम उन्हें अवसर देते हैं—यदि हम शुरू में इससे अधिक की मांग करते, तो इस भगवन्मुखी यात्रा का आरंभ भी बहुत ही कम लोग कर पाते।

२४. ४. १९३५

साधकों के प्रति एकमात्र कर्तव्य

यह अपराध या दंड का प्रश्न नहीं है—यदि हमें लोगों को उनके अपराधों के लिये दोषी ठहराना तथा दंड देना हो और साधकों के साथ न्यायालय की भांति व्यवहार करना हो तो साधना संभव ही नहीं हो सकेगी। मेरी समझ में नहीं आता कि तुमने हमें जो उलाहना दिया है उसे कैसे उचित ठहराया जा सकता है। साधकों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है उन्हें आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर ले जाना। हम ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते कि घर के बड़े-बूढ़े की तरह घरेलू झगड़ों में दखल दें, किसी एक का पक्ष लें तथा दूसरे का विरोध करें! 'क्ष' कितनी ही बार क्यों न गिर पड़े, हमें उसका हाथ पकड़कर उसे फिर से उठाना ही होगा और एक बार पुनः भगवान् की ओर चलाना होगा। तुम्हारे साथ भी हमने सदा ऐसा ही व्यवहार किया है।

२९. ३. १९३३

दुर्धर करुणा

प्रश्न—जिस धैर्य एवं करुणा के साथ आप हमारी असद्हृदयताओं, आज्ञा-भंगों तथा शिथिलताओं को सहन करते हैं उसके बोझ से मैं दबा जा रहा हूं।

उत्तर—मानव प्रकृति अपने बीज तक में ऐसी ही है; अतएव यदि हम धैर्य न रखें तो उसके परिवर्तन की कोई आशा नहीं रहेगी। परंतु मनुष्य के अंदर 'कुछ' और भी है जो सद्हृदय है तथा परिवर्तन को संपन्न करानेवाली शक्ति हो सकता है। 'क्ष' जैसे लोगों की कठिनाई है—उस 'कुछ' तक पहुंचना (वह 'कुछ' इतना अधिक ढका हुआ है) और उसे क्रियाशील बनाना।

८. ७. १९३४

साधकों के साथ तुलना

(१)

मेरा मतलब यह नहीं था कि यहां का कोई साधक मेरा और माताजी का स्थान ले सकता है या हमारी बराबरी कर सकता है....किंतु, यदि 'क', 'ख' और 'ग' में सच्चा संकल्प हो तथा वे प्रयत्न करें तो उनके लिये बदलना, अपने वर्तमान व्यक्तित्वों या सीमाओं का परित्याग करना तथा अब की अपेक्षा हमारे अधिक निकट आ जाना निश्चय ही संभव है।

१०. ८. १९३५

(२)

यहां तक कि अधिमानस भी माताजी के तथा मेरे सिवा और सबके लिये या तो एक

अनुपलब्ध वस्तु हैं या केवल एक ऐसा प्रभाव है जो अधिकांश में आभ्यंतरिक है।
२४. ३. १९३४

साधकों के लिये कार्य करना

(१)

क्या साधकों के लिये काम करना तुम्हारी शान के खिलाफ है? यह सर्वथा अहंकारपूर्ण भाव है और साधक के लिये अनुचित है। भोजनालय, भवन-निर्माण-विभाग तथा वस्तु-भंडार, बढ़ई-घर, कारखाने तथा लुहारखाने के सभी लोग सारे समय साधकों के लिये कार्य कर रहे हैं, माताजी स्वयं सारे दिन साधकों के लिये काम करती रहती हैं; यह उत्तर लिखते हुए मैं अपना समय एक साधक के लिये काम करने में लगा रहा हूं। क्या तुम्हारी समझ में भोजनालय तथा पाकशाला के कार्यकर्ताओं के लिये ऐसा कहना उचित होगा कि "हम साधकों के लिये खाना नहीं पकायेंगे और न परोसेंगे ही; यह हमारी प्रतिष्ठा के अनुरूप नही है? हम केवल माताजी के लिये ही खाना बनाना स्वीकार करेंगे?" क्या तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे पत्रों का उत्तर देना इस आधार पर बंद कर दूं कि मैं एक साधक के लिये काम कर रहा हूं और मैं केवल माताजी को ही पत्र लिखूंगा और दूसरे किसी को नही?

'क्ष' इतने वर्षों तक रसोईघर में साधकों के लिये खाना नहीं बना रहा था तो और क्या कर रहा था? और 'य' अगर अन्नागार में साधकों के लिये काम नहीं कर रहा था तो क्या कर रहा था? ये सब विचार नितांत मूर्खतापूर्ण है। माताजी के द्वारा दिया हुआ समस्त कार्य माताजी के लिये ही है।
नवंबर १९३८

(२)

कापियां और चिट्ठियां बंद नही कर दी जायंगी—किंतु हफ्ते में एक दिन (रविवार) मुझे कम करना होगा। पत्रव्यवहार का परिमाण अत्यधिक बढ़ता जा रहा है और इस काम में मुझे सारी रात तथा दिन का भी काफी बड़ा भाग लग जाता है—यह काम उससे अलग है जो माताजी पृथक् रूप से करती हैं, उन्हें भी अपने दिन के काम के अतिरिक्त रात के अधिकांश समय में काम करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रणाम का समय दिन-दिन पीछे हटता जा रहा है, क्योंकि हम ७॥ बजे या इसके कुछ देर बाद तक भी खत्म नहीं कर पाते। फिर बहुत सा काम बकाया भी पड़ा रहता है और इकट्ठा होता जाता है तथा बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्यों को बंद कर देना पड़ा है। कुछ भार हलका करना आवश्यक है।
१९. १२. १९३३

आध्यात्मिक सफलता के दो सहायक तत्त्व

सहायता (मैं ऊपर से होनेवाले भागवत हस्तक्षेप की नहीं बल्कि अपनी तथा माताजी की सहायता की बात कह रहा हूं) उपस्थित रहेगी। तुम्हारे स्थूल मन के बावजूद भी यह कारगर हो सकती है, पर जिस स्थिर क्रियाशील संकल्प की मैं बात कह रहा हूं वह यदि इसके यंत्र के रूप में मौजूद हो तो यह अधिक असर कर सकती है। आध्यात्मिक सफलता में सदा ही दो तत्त्व होते हैं—मनुष्य का अपना स्थिर संकल्प एवं प्रयत्न और साथ ही वह शक्ति जो किसी न किसी प्रकार सहायता करती है तथा प्रयत्न का फल प्रदान करती है।
२६. १. १९३४

लिखने के द्वारा सहायता प्राप्त करना

(१)

प्रश्न—ऐसा समझा जाता है कि आप और माताजी जानते हैं कि हमारे अंदर क्या चल रहा है, कैसे और किस चीज के लिये हम अभीप्सा कर रहे हैं, कैसे हमारी प्रकृति सहायता तथा मार्गदर्शन के प्रति प्रतिक्रिया कर रही है। तब फिर हमें आप को यह सब लिखने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—तुम्हारे लिये आवश्यक है कि तुम सचेतन होओ तथा अपने आत्म-निरीक्षण को हमारे सम्मुख रखो; उसके आधार पर ही हम कार्य कर सकते हैं। यदि हम केवल अपने निरीक्षण के आधार पर ही काम करें और साधक के उस अंग में कोई भी तदनुरूप चेतना न हो तो कुछ भी परिणाम नहीं निकलेगा।
७. १. १९३६

(२)

यह सैकड़ों दृष्टांतों से प्रमाणित एक असंदिग्ध तथ्य है कि बहुतों के लिये अपनी कठिनाइयों को हमारे सामने ठीक ठीक रख देना ही निस्तार का सर्वोत्तम साधन होता है और, सदा तो नहीं पर बहुधा यह तुरंत ही, यहां तक कि तत्क्षण ही निस्तार प्रदान करता है। यह बात साधकों ने केवल यहीं नहीं बल्कि बहुत दूरी पर भी प्रायः ही अनुभव की है, और केवल भीतरी कठिनाइयों के लिये ही नहीं, बल्कि बीमारी के लिये तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के बाह्य दबाव के लिये भी। परंतु इसके लिये एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का होना आवश्यक है—या तो मन और प्राण में प्रबल श्रद्धा का होना आवश्यक है या आंतर सत्ता में ग्रहण करने और प्रत्युत्तर देने का अभ्यास। जहां यह अभ्यास स्थापित हो चुका है वहां मैंने इस विधि को लगभग अचूक रूप से सफल होते देखा है, यहां तक कि उस समय भी जब कि श्रद्धा अनिश्चित थी या मनोगत बाह्य अभिव्यक्ति धुंधली एवं अज्ञानयुक्त थी

अथवा वह अपने रूप में भ्रांत या अशुद्ध थी। अपिच, यह विधि सब से अधिक सफल तभी होती है जब लिखनेवाला स्वयं अपने कर्मों के विषय में एक साक्षी के रूप में लिखता है और उनका वर्णन ठीक ठीक और लगभग निष्पक्ष यथार्थता के साथ अपनी प्रकृति की एक घटना या शक्ति की एक ऐसी गति के रूप में करता है जो उसपर प्रभाव डालती है तथा जिससे वह छुटकारा प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत, यदि लिखते हुए उसका प्राण उस विषय के द्वारा अविकृत हो जाता है जिसके बारे में वह लिख रहा है और उसकी जगह प्राण ही कलम उठा लेता है,–संदेह, विद्रोह, विषाद, निराशा के भाव प्रकट करता है और प्रायः उन्हीं को पुष्ट करता है, तो मामला बिलकुल और ही हो जाता है। यहां भी कभी कभी भावप्रकाशन शुद्धि का काम करता है; पर साथ ही अवस्था का निरूपण आक्रमण को, कम से कम उस क्षण के लिये बल भी प्रदान कर सकता है, और उसे बढ़ाता तथा लंबा करता प्रतीत हो सकता है, शायद तत्काल के लिये उसे उसकी अपनी प्रचंडता के द्वारा समाप्त करके अंततः उससे छुटकारा प्राप्त करा सकता है, पर ऐसा वह विक्षोभ तथा उथल-पुथल के भारी मूल्य के बदले में और आवर्त दशमलव की बार बार आनेवाली गति का खतरा मोल लेकर ही कर सकता है, क्योंकि छुटकारा आक्रमण करनेवाली शक्ति के कुछ देर के लिये थक जाने के कारण प्राप्त होता है, न कि साधक की असंदिग्ध स्वीकृति तथा सहयोग के साथ भागवत शक्ति के हस्तक्षेप करने और उसके द्वारा परित्याग और पवित्रीकरण होने के कारण। एक अस्तव्यस्त संघर्ष होता रहा है और उसके साथ ही गोल-माल में हस्तक्षेप भी, पर शक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यवस्थित करने का कार्य नहीं हुआ है–और गोलमाल तथा आवर्त में सहायक शक्ति के हस्तक्षेप का अनुभव नहीं होता। तुम्हारे संकटों के समय यही हुआ करता था; तुम्हारा प्राण अत्यधिक प्रभावित हो जाता था और आक्रामक शक्ति के तर्कों को संतुष्ट और प्रकट करने लगता था,–इसके स्थान पर कि सजग मन कठिनाई का स्पष्ट रूप से निरीक्षण और प्रकाशन करता तथा वस्तुस्थिति को उच्चतर ज्योति और शक्ति की क्रिया के लिये प्रकाश में लाता, मामले को विरोधी पक्ष की ओर से उग्र रूप में स्थापित किया जाता था। बहुत से साधकों ने (यहां तक कि "उन्नत" साधकों ने भी) अपनी कठिनाइयों को इस प्रकार से प्रकट करने की आदत बना ली थी और कुछ तो अब भी वैसा ही करते हैं; वे अब भी यह नहीं समझ पाते कि असली तरीका यह नहीं है। एक समय आश्रम में यह एक प्रकार का मंत्र बन गया था कि यही करने योग्य कार्य है,–मुझे मालूम नहीं कि इसका आधार क्या था, क्योंकि यह मेरी योग-संबंधी शिक्षा का कभी अंग नहीं रहा,–किंतु अनुभव से पता लग चुका है कि यह कोई काम नहीं देता; यह मनुष्य को बार-बार आनेवाले दशमलव के संकेतों के क्षेत्र में, संघर्ष के अंतहीन चक्र में उतार देता है। यह आत्म-उद्घाटन की उस गति से सर्वथा भिन्न है जो सफल होती है (पर यहां भी वह गति आवश्यक रूप से क्षण भर में ही सफल नहीं हो जाती, पर फिर भी

प्रत्यक्ष रूप में तथा उत्तरोत्तर सफल अवश्य होती है) और जिसके बारे में वे लोग सोच रहे हैं जो प्रत्येक बात को गुरु के सामने खोलकर रखने का आग्रह करते हैं जिससे कि उन (गुरु) की सहायता अधिक प्रभावशाली रूप में उपस्थित रहे।
१७. १२. १९३२

रक्षा पर निर्भरता

तुम्हें माताजी की तथा मेरी रक्षा का आश्रय लेने के सामर्थ्य और स्वभाव का विकास करना होगा और यही कारण है कि बाह्य मन के द्वारा आलोचना तथा विचार करने या उसकी पूर्व-कल्पित धारणाओं एवं रचनाओं को पोसने की आदत दूर हो जानी चाहिये। जब जब यह आदत सिर उठाने का यत्न करे तब तब तुम्हें सदैव अपने अंदर ये शब्द दुहराने चाहियें, "श्रीअरविन्द और माताजी मुझसे अधिक अच्छा जानते हैं–उन्हें वह अनुभव और ज्ञान प्राप्त है जो मुझे प्राप्त नहीं है–निश्चय ही वे सर्वोत्तम हित के लिये और साधारण मानव ज्ञान के प्रकाश से महत्तर प्रकाश के द्वारा कार्य कर रहे होंगे।" यदि तुम इस विचार को अपने अंदर इस प्रकार जमा सको कि यह मेघाच्छन्न क्षणों में भी स्थिर बना रहे तो तुम आसुरी माया के सुझावों का सामना बहुत आसानी से कर सकोगे।

मुक्त करने के लिये दबाव

हमें खेद है कि तुमने इतना अधिक कष्ट भोगा है। माताजी ने अपना दबाव तुम्हें चोट पहुंचाने के लिये नहीं बल्कि मुक्त करने के लिये डाला था। तुम्हारे संघर्षों में तुम्हारे प्रति सदा गहरा स्नेह एवं सहानुभूति रखते हुए ही उन्होंने तुम्हें बराबर सहायता पहुंचाने का यत्न किया है। मुझे विश्वास है कि तुम शीघ्र ही अपनी मानसिक विश्रांति और शांति पुनः प्राप्त कर लोगे। मैं तुम्हें समस्त संभवनीय सहायता देने का यत्न करूंगा।
२३. १. १९३५

शक्ति के प्रति ग्रहणशीलता और वैयक्तिक संपर्क

(१)

मेरी व्यक्तिगत सेवा करनेवालों में शामिल होने के 'क्ष' के सुझाव को स्वीकार करना संभव नहीं। वे अपनी साधना में सहायता के रूप में नहीं बल्कि किन्हीं व्यावहारिक कारणों से इस काम में लिये गये थे। वास्तव में, इस विषय में भी कुछ गलत धारणा विद्यमान है। लगातार वैयक्तिक संपर्क आवश्यक रूप से शक्ति की क्रिया को नहीं ले आता। हृदय को श्री रामकृष्ण के साथ ऐसा व्यक्तिगत संपर्क तथा उनकी व्यक्तिगत सेवा का अवसर प्राप्त था, पर उसने एक अवसर को छोड़कर और कभी कुछ भी प्राप्त नहीं किया और उस अवसर पर भी गुरु ने उसके अंदर जो शक्ति और अनुभूति स्थापित की थी उसे वह धारण

नहीं कर सका। अपने आपको खो देने की जो अनुभूति 'क्ष' को प्राप्त हुई थी वह दर्शन तथा माताजी को प्रणाम करने के विशेष अवसरों पर प्राप्त हुई थी। उसके अंदर जो यह प्रतिक्रिया हुई उससे पता चलता है कि वह शक्ति को प्रत्युत्तर दे सकता है, या जैसा कि हम कहते है, उसमें ग्रहणशीलता है, और यह एक बड़ी चीज है, क्योंकि यह सबमें नहीं होती और जिनमें यह होती भी है वे सदा इसका कारण नहीं बल्कि केवल इसका परिणाम ही जानते हैं। परंतु उसे तर्क-वितर्क कम करना चाहिये और अपने आपको खुला रखने का यत्न करना चाहिये जैसे कि वह उन क्षणों में खुला था। यदि मैंने शक्ति के विषय में लिखा है-तो उसका कारण यह है कि माताजी को और मुझे, दोनों को ऐसे हजारों अनुभव हुए है जिनमें शक्ति ने कार्य किया और प्रत्येक प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये। शक्तिविषयक इस विचार के साथ किसी सिद्धांत या तर्क-वितर्क का कोई संबंध नहीं, वरन् यह तो प्रत्येक योगी के सतत अनुभव का विषय है; यह उसकी सामान्य यौगिक चेतना तथा अनवरत आध्यात्मिक कार्य का अंग है।

२८. ५. १९४५

(२)

प्रश्न–क्या यह संभव नहीं कि आपके या माताजी के साथ अधिक बाह्य सामीप्य एवं घनिष्ठता का अर्थ हो कम अभीप्सा और कम अंतर्विकास ?

उत्तर–यह व्यक्ति पर निर्भर है। कुछ लोग लाभ उठाते हैं, कुछ नहीं। इस विषय में कोई सामान्य स्थापना नहीं की जा सकती।

१८. ८. १९३३

सूक्ष्म शरीर पर शक्ति की क्रिया

अब स्वप्न के विषय में–वह स्वप्न नहीं था, बल्कि सचेतन स्वप्नावस्था किंवा स्वप्न-समाधि में आंतर सत्ता का एक अनुभव था। सत्ता की निःस्पंदता और उसकी यह अनुभूति कि चेतना खोई ही जानेवाली है, सदा ही शक्ति के उस दबाव या अवतरण के कारण उत्पन्न होती है जिसका शरीर अभ्यस्त नहीं है, पर जिसे वह प्रबल रूप में अनुभव करता है। यहां जिसपर सीधे दबाव डाला जा रहा था वह स्थूल शरीर नहीं-वरन् सूक्ष्म शरीर था जिसमें अंदर की सत्ता अधिक अंतरंग रूप से निवास करती है और जिसमें यह निद्रा या समाधि या मृत्यु के समय बाहर जाती है। परंतु इन जीवंत अनुभवों में स्थूल शरीर को ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं उसी को अनुभव हो रहा हो। निःस्पंदता उसके अंदर दबाव के कारण उत्पन्न हुई थी। सारे शरीर पर दबाव पड़ने का अर्थ होगा संपूर्ण आंतर चेतना पर दबाव, शायद किसी ऐसे हेर-फेर या परिवर्तन के लिये जो उसे ज्ञान या अनुभव

के लिये अधिक तैयार कर देगा; तीसरी या चौथी पसली प्राणिक प्रकृति से संबंध रखनेवाले प्रदेश, अर्थात् प्राण-शक्ति के स्तर को, वहां पर होनेवाले परिवर्तन के लिये किसी दबाव को सूचित करती है।

हाथ का बल, भारीपन निश्चित रूप से यह सूचित नहीं करता कि वह मेरा है—क्योंकि वह अनुभव न तो स्थूल हाथ का था न स्थूल शरीर में ही हुआ था, बल्कि वह सत्ता के सूक्ष्म स्तरों में हुआ था और वहां माताजी का स्पर्श और दबाव मेरी अपेक्षा अधिक प्रबल और भारी हो सकता है। माताजी को तिथि याद नहीं है, पर एक रात उस समय के लगभग उन्हें तीव्र रूप में उस साधिका का ख्याल आ रहा था और वे आध्यात्मिक उद्घाटन की किसी बाधा को दूर करने के लिये दबाव डाल रही थी। संभव है कि इसी चीज ने अनुभव को उत्पन्न किया हो। यदि वहां मेरी उपस्थिति विद्यमान थी तो यह उस समय की बात होगी जब मै एकाग्र होकर विभिन्न व्यक्तियों को शक्ति भेज रहा था, पर मुझे कुछ भी ठीक-ठीक याद नही है। निःसंदेह मुझे अनेक बार उसका विचार आया है और मैंने उसकी सहायता के लिये शक्ति प्रेषित की है।

शक्ति की क्रिया से भौतिक रूप में सचेतन होना हमारे लिये सदा आवश्यक नहीं, क्योंकि प्रायः यह उस समय की जाती है जब मन बाह्य पदार्थों में व्यस्त होता है या जब हम सो रहे होते हैं। माताजी की निद्रा निद्रा नहीं बल्कि एक आंतरिक चेतना होती है जिसमें उनका लोगों से संबंध होता है या वे सर्वत्र कार्य कर रही होती हैं। उस समय वे सब बातों से सचेतन होती हैं पर वे उन सबको सदा अपनी जाग्रत् चेतना या स्मृति में नहीं रखती। उनके व्यस्त जाग्रत् मन में किसी की पुकार ऐसे आती है जैसे किसी आनेवाले व्यक्ति का ख्याल आता है—उनकी अधिक मुक्त या एकाग्र अवस्था में वह ऐसे आती है जैसे संबंधित व्यक्ति का संवाद आता है; अधिक गहरी एकाग्रता में या नींद या समाधि में वे उस आदमी को अपने पास आते तथा बातचीत करते देखती है या वे स्वयं वहां जाती है। इसके अतिरिक्त, जहां कही शक्ति कार्य कर रही होती है, वहां उपस्थिति विद्यमान होती है।

२८. ९. १९३६

शक्ति को अचेतन रूप से ग्रहण करना

यह सत्य नहीं है कि तुमने हमसे कभी शक्ति नहीं प्राप्त की है: तुमने उसे बहुत अधिक प्राप्त किया है; हां, इतना कहा जा सकता है कि तुम उससे सचेतन नहीं थे, पर ऐसा तो बहुतों के साथ होता है। निश्चय ही, कोई भी साधक उस सारी शक्ति को ग्रहण या प्रयुक्त नहीं करता जिसे माताजी भेजती हैं, पर यह तो एक सामान्य तथ्य है, तुम्हारे लिये ही कोई निराली बात नहीं।

२९. ५. १९३६

शर्तो के अधीन शक्ति का कार्य

(१)

शक्ति के संबंध में मै किसी और समय लिखूंगा। मैं तुम्हें बता ही चुका हूं कि वह सदैव सफल नहीं होती, बल्कि सभी शक्तियों की भांति किन्हीं विशेष अवस्थाओं में कार्य करती है; केवल अतिमानसिक शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जो निरपेक्ष रूप से कार्य करती है, क्योंकि वह अपनी अवस्थाएं आप उत्पन्न कर लेती है। परंतु जिस शक्ति का मै प्रयोग कर रहा हूं वह एक ऐसी शक्ति है जिसे जगत् की वर्तमान अवस्थाओं के अधीन कार्य करना होगा। पर इस कारण उसके अंदर शक्तित्व कुछ कम हो ऐसी वात नही। उसके द्वारा मैंने अपनी तीन बीमारियों के सिवा बाकी सभी बीमारियों को अच्छा कर लिया है। और इन तीनों को भी, जब मे वे आयी है, मैंने रोक रखा है; मेरा इन तीनों के आने या आने की संभावना को अभी तक दूर करने में सफल न होना अन्य रोगों पर प्राप्त मेरी सफलता की बात को रद्द नही करता। जहां तक माताजी का संबंध है, वे पहले उसी शक्ति से प्रत्येक रोग को तुरंत ठीक कर लिया करती थी—अब उन्हें अपनी देह की चिता करने या अपनेको उसपर एकाग्र करने का समय नही हैं। यह ठीक है कि ठीक इस समय बीमारी का जोर है; यह उस संघर्ष का अंग है जो जड़ प्रकृति के क्षेत्र में चल रहा है। पर फिर भी आश्रम में ऐसे बहुत से लोग हैं जो माताजी पर भरोसा रखने के कारण अपनी व्याधियों से मुक्त हो जाते है। यदि सब ऐसा नही कर पाते तो उससे भला क्या सावित होता या नहीं होता है? उससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि शक्ति संपूर्ण, अद्‌भुत तथा असंभव रूप से कार्य नहीं करती, बल्कि कुछ नियत साधनों के द्वारा तथा कुछ शर्तो के अधीन कार्य करती है। मैंने सदैव यही कहा है, सो, इसमें भला ऐसी कौनसी चीज है जो नई हो या जो योग के सत्य का खंडन करती हो?

६. २. १९३५

(२)

प्रश्न—आप कहते है कि आंतर चेतना का विकास होने पर मनुष्य रोग की शक्तियों को आते हुए अनुभव कर सकता है; वह सूक्ष्म अन्नमय कोष में उसके लक्षण अनुभव कर सकता है तथा उसके प्रकट होने से पहले ही उसे नष्ट कर सकता है। तब भला आप अपनी या साधकों की बीमारी की किस प्रकार सफाई देते है, जिसे आते हुए चाहे हम न भी देख सकें, पर आप तो निश्चित रूप से देख ही सकते है?

उत्तर—बराबर ही वही कठोर मानसिक तर्क जो प्रत्येक चीज को एक चमत्कारपूर्ण अखंड सिद्धांत का रूप दे देता है! यह मेरा और माताजी का अनुभव है कि सभी रोग

शरीर में प्रवेश करने से पहले सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीर में से गुजरते हैं। यदि कोई सचेतन हो तो वह उन्हें शरीर में प्रवेश करने से रोक सकता है, मनुष्य ऐसा करने की शक्ति विकसित कर सकता है। हमने ऐसा सहस्रों बार किया है। पर उसका यह अर्थ नहीं कि हर बार हम ऐसा करेंगे ही। रोग व्यक्ति के बिना जाने भी आ सकता है, अथवा जब मनुष्य सोया हुआ हो उस समय उसकी अवचेतना के द्वारा, या जब वह असावधान न हो उस समय एकाएक दौड़कर घुस सकता है आदि आदि। मान लो कि मैं सदैव सावधान रहता हूं, सदा और नींद तक में सचेतन रहता हूं—पर तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि मैं एकदम अपने स्वभाव से ही सभी रोगों से मुक्त हो गया हूं। इसका केवल यही अर्थ है कि जब वह आने की चेष्टा करे तो उसके विरुद्ध आत्म-रक्षा करने की शक्ति मुझमें है। आत्म-रक्षा इतनी सबल हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूप से रोगरहित हो जाय जैसे अनेक योगियों के शरीर हैं। फिर भी इस "क्रियात्मक रूप से" का अर्थ "परिपूर्ण रूप से" नहीं है। परिपूर्णता तो अतिमानसिक रूपांतर साधित होने पर ही आ सकती है। *क्योंकि अतिमानस से नीचे तो वह अनेक शक्तियों में से एक शक्ति की क्रिया होती है*—अतिमानस में वह प्रकृति का धर्म बन जाती है।

२६. ३. १९३५

रोग दूर करने के लिये शक्ति की ग्रहणशीलता

(१)

मेरा मतलब है चेतना के अंदर एक प्रकार की ग्रहणशीलता—मन, प्राण, शरीर में से चाहे जिस किसी में इसकी आवश्यकता क्यों न हो। श्रीमां या मैं एक शक्ति भेजता हूं और अगर साधक में कोई उद्घाटन न हो तो शक्ति वापस आ सकती है अथवा वह दूर फेंक दी जा सकती है (बेशर्ते कि हम तीव्र शक्ति का प्रयोग न करें—जिसका प्रयोग करना उचित नहीं)—जैसा कि कोई बाधा या विरोध होने पर देखने में आता है। अगर थोड़ा-सा उद्घाटन हो तो फल आंशिक या धीमा हो सकता है; अगर पूर्ण उद्घाटन या ग्रहणशीलता हो तो फिर *परिणाम* तुरत हो सकता है। निस्संदेह, ऐसी चीजें भी होती हैं जो सब-की-सब तुरत-फुरत नहीं दूर की जा सकतीं, क्योंकि वे प्रकृति का पुराना अंश होती हैं, परंतु ग्रहणशीलता होने पर उनके साथ भी अधिक सफलता और शीघ्रता के साथ निपटारा किया जा सकता है। कुछ लोग इतने खुले होते हैं कि वे खाली लिखने से ही, उनकी पुस्तक या चिट्ठी हमारे पास पहुंचने से पहले ही, उन सबसे मुक्त हो जाते हैं।

८. ६. १९३३

(२)

यह इस बात पर निर्भर करता है कि *आंतर सत्ता कहां तक जागरित है*—*अन्यथा* मनुष्य

को किसी स्थूल अवलंबन की आवश्यकता होती ही है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो केवल तभी सहायता पाते हैं जब हम पत्र पढ लेते हैं, दूसरे लिखने के साथ ही या हमारे पास पत्र पहुंचने से पहले ही या पत्र पहुंचने के बाद पर पढ़े जाने से पहले ही सहायता पाते हैं। अन्य कई केवल मन ही मन सारी बात हमारे सामने रख देने से ही उसे पा जाते हैं। अपनी अपनी प्रकृति!

मार्च १९३५

ठीक सूचना देने की आवश्यकता

प्रश्न–व्यक्तिगत रूप से अपरिचित यदि किसी व्यक्ति के बीमार होने की सूचना आने पर श्री माताजी या आप उसपर आध्यात्मिक रूप से क्रिया करना आरंभ कर दें और उसके बाद उस व्यक्ति के परिचय के संबंध में कोई गलत सूचना दी जाय तो क्या भेजी हुई सहायता अपने लक्ष्य से चूक जाती है?

उत्तर–क्रिया करते समय जो गलत सूचना आती है वह गडबड़ी पैदा करती है जिससे कि फिर यह कहना संभव नहीं होता कि परिणाम क्या हो रहा है। निःसंदेह, यदि आरंभ में ही गलत सूचना आये तो वह और भी बुरा होता है। अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि जो सूचना दी जाय वह ठीक हो।

१०. ६. १९३५

डाक्टरों के द्वारा शक्ति का कार्य

माताजी को और मुझे ऐलोपैथी के प्रति कोई पक्षपात का भाव नहीं है। माताजी का ख्याल है कि अधिक मामलों में डाक्टर अच्छा करने की जगह बुरा ही अधिक करते हैं, क्योंकि वे अपनी दवाइयां अधिक मात्रा में और गलत तरीके से प्रयुक्त कर बीमारी का मुकाबला करने की प्रकृति की शक्ति नष्ट कर देते हैं। हम लोग अन्य किसी चीज से बहुत अधिक 'र' को होमियोपैथी के द्वारा कार्य करने में समर्थ हुए हैं–यद्यपि यह संभव है कि उन होमियोपैथिक डाक्टरों के द्वारा, जो सचेतन यंत्र नहीं थे, कार्य करनेवाली शक्ति को ऐलोपैथिक डाक्टरों के द्वारा काम करने की अपेक्षा अधिक सफलता न मिलती।

साधना और खेल-कूद

(१)

निश्चय ही, हम आश्रम में केवल खिलाड़ी ही खिलाड़ी नहीं देखना चाहते: इससे तो यह आश्रम न रहकर खेल का मैदान बन जायगा। खेल तथा शारीरिक व्यायाम मुख्यतः स्कूल के बच्चों के लिये हैं और वे भी केवल खेल ही नहीं खेलते बल्कि उन्हें अपनी पढ़ाई-लिखाई में भी ध्यान देना होता है। संयोगवश स्वास्थ्य, नियमपालन और व्यवहार में उन्होंने बहुत

अधिक उन्नति की है जो एक बहुत ही बहुमूल्य परिणाम है। दूसरे, युवक साधकों को इन खेलों में सम्मिलित होने की अनुमति दी गई है, पर आदेश नहीं, यहां तक कि परामर्श भी नहीं। पर अवश्य ही ऐसा नहीं माना जाता कि वे केवल खिलाड़ी ही बनेंगे, उन्हें कई अन्य अधिक आवश्यक कार्य भी करने है। निश्चय ही, खिलाड़ी बनना अपनी इच्छा से चुनाव करने का विषय है और इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति को इस विषय में रस एवं रुचि है या नहीं। स्वयं माताजी के इर्दगिर्द भी ऐसे बहुत से लोग हैं—उदाहरणार्थ 'क्ष'—जिन्हें बराबर खेल के मैदान में आने जाने का या खेलों में भाग लेने का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं आयगा और न माताजी के मन में ही कभी यह विचार आयगा कि वे उन्हें ऐसा करने को कहें। ठीक इसी प्रकार, इन आमोद-प्रमोदों से बचने के कारण तुमसे अप्रसन्न होने की बात भी उनके मन में कभी नहीं आयगी। अवश्य ही, कुछ लोग पूछ सकते हैं कि योगाश्रम में भला कोई खेल हो ही क्यों? आश्रम को तो ध्यान और आंतरिक अनुभवों से तथा जीवन से भाग कर ब्रह्म में लीन हो जाने से ही मतलब होना चाहिये। परंतु यह बात उन सामान्य ढंग के आश्रमों पर ही लागू होती है जिनके हम अभ्यासी बने हुए हैं। किंतु यह उस ढंग का पुराणपंथी आश्रम नहीं है। यह जीवन को योग के अंदर समाविष्ट करता है, और जब एक बार हम जीवन को स्वीकार कर लेते हैं तब हम किसी भी चीज को समाविष्ट कर सकते हैं जो जीवन के अंतिम तथा तात्कालिक उद्देश्य के लिये उपयोगी मालूम हो तथा आत्मा के कार्यों के साथ मेल खाती हो। आखिरकार, पुराणपंथी आश्रमों का जन्म तो तभी हुआ जब ब्रह्म ने संसार से सब प्रकार का संबंध-विच्छेद करना शुरू किया तथा बौद्ध धर्म की छाया समस्त देश पर छा गयी और आश्रम बिहारों या मठों में परिणत हो गये। पुराने आश्रम एकदम इस तरह के नहीं थे। उनमें जिन बालकों एवं युवकों का पालन-पोषण होता था उन्हें जीवन से संबंध रखनेवाले बहुत से विषयों की शिक्षा दी जाती थी। पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र ने एक ऋषि के आश्रम में धनुर्विद्या का अभ्यास किया और वह एक निपुण धनुर्धारी बना और कर्ण एक महान् ऋषि के शिष्य बने ताकि वह उनसे शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग करना सीख सकें। अतः ऐसा कोई समुचित कारण नहीं जिससे हमारे आश्रम जैसे आश्रम के जीवन से, जहां हम जीवन को आत्मा की बराबरी का स्थान देने की चेष्टा कर रहे हैं, खेलों का बहिष्कार कर दिया जाय। यहां तक कि टेबल-टेनिस और फुटबाल को भी कठोरतापूर्वक बहिष्कृत करने की आवश्यकता नहीं। परंतु इन सब हंसी-मजाक की बातों को एक ओर रख दें, और मेरा कहना यह है कि खेलना या न खेलना अपनी पसंद या इच्छा की बात है और खिलाड़ी बनने की परवा न करने के कारण जैसे 'क्ष' से वैसे ही तुमसे नाराज होना माताजी के लिये मूर्खतापूर्ण होगा। अतः इस आधार पर तुम्हें आशंका करने की कोई आवश्यकता नहीं; इसके कारण माताजी का तुमसे नाराज होना सर्वथा असंभव है। इसलिये यह विचार कि किसी काम के करने या

न करने के कारण वे तुमसे परे खिंच जाना चाहती थीं एक गलतफहमी थी जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं था, क्योंकि इसके लिये तुमने कोई अवसर ही नहीं दिया और उनके मन में कुछ भी अंखल नहीं था। उन्होंने स्वयं ही बतलाया है कि पिछले कुछ दिनों से उनके मनमें जो भाव था वह ठीक इसके विपरीत था और तुम्हारे लिये जो उनकी इच्छा और भावना थी वह बढ़ती हुई दयालुता की ही थी। तुमसे वे जिस एकमात्र परिवर्तन की आशा कर सकती थीं वह था अपने अंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक प्रयास तथा अंतर्विकास में अग्रसर होना और इसमें तुम चूके नहीं हो–बल्कि, इसके बिलकुल विपरीत, तुम इसमें सफल ही हुए हो। यह सोचना कि चूंकि किसी एक नमूने के अनुसार तुम परिवर्तित नहीं हुए इसलिये वे नाराज होंगी, एक जंगली विचार है; यह तो एकदम मनमानी और युक्तिहीन बात होगी।

१०. ७. १९४८

(२)

माताजी यह नहीं चाहतीं कि यदि किसी के अंदर खेलों के लिये रुचि या स्वाभाविक झुकाव न हो तो भी वह उनमें सम्मिलित हो। सम्मिलित होना या न होना, सर्वथा ऐच्छिक होना चाहिये और जो लोग सम्मिलित नहीं होते उन्हें उसके कारण माताजी उदासीनता या घृणा की दृष्टि से नहीं देखतीं। ऐसा भाव धारण करना माताजी के लिये मूर्खतापूर्ण होगा: ऐसे लोग भी हैं जो निष्ठापूर्वक उनकी सेवा करते हैं जिसकी वे अत्यधिक सराहना करती हैं और जिन्हें वे स्नेह और विश्वास की दृष्टि से देखती हैं पर जो रुचि या समय के अभाव के कारण खेल के मैदान में कभी नहीं जाते,–क्या तुम यह कल्पना कर सकते हो कि इसी कारण वे उनसे मुंह मोड़ लेंगी तथा उन्हें उदासीन भाव से देखेंगी? माताजी कभी यह इच्छा नहीं कर सकतीं कि खेल आश्रम के सदस्यों का एकमात्र या प्रधान धंधा हो जाय; यहां तक कि स्कूल के बच्चों को भी,–जिनके शारीरिक विकास के लिये ये खेल तथा विशेष व्यायाम महत्त्वपूर्ण हैं और जिनके लिये ये मूलतः शुरू हुए थे–और कई काम करने होते हैं, अपना काम-काज, अध्ययन तथा अन्य कार्य और आमोद-प्रमोद जिनमें वे इन व्यायामों के समान ही दिलचस्पी रखते हैं। इससे भी अधिक आवश्यक और चीजें हैं: योग, आध्यात्मिक विकास, भक्ति, आराधना, सेवा.....।

मेरी समझ में नहीं आता कि इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है कि मैं "खेलों के लिये समय देता हूं": इनके लिये मैं कोई समय नहीं दे रहा हूं सिवा इसके कि मैंने माताजी के अनुरोध से बुलेटिन के प्रथम अंक के लिये एक लेख लिखा है तथा एक और आगामी अंक के लिये भी। खेलों की व्यवस्था का शेष सब काम स्वयं माताजी ही कर रही हैं और स्पष्ट ही, वह उन्हें करना ही चाहिये, जब तक कि वह इतना काफी संगठित नहीं हो जाता

कि वह स्वयमेव चलता रहे और माताजी का ऊपर से उसका सामान्य निरीक्षण तथा दिन में एक वार वहां स्वयं उपस्थित होना ही पर्याप्त हो। आश्रम के अन्य समस्त कार्य की भांति इसमें भी मैं उनकी सहायता के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करता हूं, पर वैसे में खेलों के लिये कोई समय नहीं दे रहा हूं।
४. ३. १९४९

(३)

खेलों को योग के लिये या माताजी की कृपा और प्रेम का पात्र वनने के लिये अनिवार्य समझते हुए उनमें सम्मिलित होना किसी के लिये आवश्यक नहीं। योग स्वयं आप ही अपना लक्ष्य है और उसके अपने निजी साधन एवं अपनी निजी शर्तें हैं; खेल इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तु है जैसा कि स्वयं माताजी ने भी तुम्हें उस समय सूचित किया था जव उन्होंने यह कहा था कि खेल के मैदान में जो ध्यान किया जाता है वह ठीक ध्यान नहीं है और उसका प्रयोग योग के किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये नहीं वल्कि शारीरिक कार्यों की क्षमता प्राप्त करने के लिये किया जाता है।
१४. ३. १९४९

(४)

यह भी सत्य नही है कि माताजी या मैं योग से मुंह मोड़ रहे हैं तथा केवल खेलों में दिलचस्पी लेने का इरादा रखते हैं; आश्रम के मूल स्वरूप को वदलने तथा इसके स्थान पर एक क्रीड़ासंघ स्थापित करने का हमारा तनिक भी विचार नहीं है। यदि हम ऐसा करें तो वह एक अत्यंत मूर्खतापूर्ण कार्य होगा और यदि तुमसे किसी ने ऐसी कोई वात कही हो तो निश्चय ही उसका दिमाग फिरा हुआ है या वह एक अत्यंत औंधे विचार के लिये उन्मादपूर्ण उत्साह रखने के कारण एक अस्थायी संकट से ग्रस्त है। माताजी ने एक वार तुम्हें अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कहा था कि खेल के मैदान में जो ध्यान किया जाता है वह योग के लिये ध्यान या एकाग्रता नहीं है वल्कि केवल शारीरिक व्यायामों के लिये की जाने-वाली सामान्य एकाग्रता ही है। यदि वे इनके संगठन में व्यस्त हैं—और यह सच नहीं है कि वे केवल इसी कार्य में व्यस्त हैं—तो वह इसलिये कि इस कार्य को वे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर लें जिसके वाद कि यह आश्रम के अन्य कार्यों की भांति स्वयमेव चलता रहे और उन्हें इसमें न तो व्यस्त ही रहना पड़े और न विशेष रूप से संलग्न। जहां तक मेरी वात है, यह सोचना निश्चय ही मूर्खतापूर्ण है कि मैं ध्यान और योग की उपेक्षा कर रहा हूं और केवल दौड़-धूप, उछल-कूद तथा मार्चिंग में ही दिलचस्पी रखता हूं! 'वुलेटिन' में प्रकाशित मेरे दूसरे संदेश को लेकर विचित्र गलतफहमियां फैली हुई प्रतीत होती हैं। पहले संदेश में मैंने खेलों तथा उनकी उपयोगिता के वारे में लिखा था जिस प्रकार मैंने राज-.

नीति या सामाजिक विकास या अन्य किसी विषय पर लिखा है। दूसरे में मैंने खेलों का प्रश्न प्रसंगवश ही उठाया था क्योंकि लोग इस विषय में अपनी अज्ञानता प्रकट कर रहे हैं कि आश्रम को खेलों से कोई संबंध ही क्यों रखना चाहिये। मैंने समझाया था कि ऐसा क्यों किया गया है और इस अधिक व्यापक प्रश्न पर विचार किया था कि कैसे यह तथा अन्य मानव प्रवृत्तियां सत्ता के, शरीर समेत, सभी अंगों की समग्र पूर्णता की खोज का अंग बन सकती हैं और इससे भी अधिक विशेष रूप से, इस विषय का विवेचन किया था कि शरीर की पूर्णता का स्वरूप क्या होगा। मैंने स्पष्ट रूप से यह बतलाया था कि केवल योग के द्वारा ही आत्मा के सभी करणों की परम और समग्र पूर्णता प्राप्त हो सकती है तथा संपूर्ण सत्ता का उच्चतम स्तर पर ऊपर उठना, भूतल पर दिव्य जीवन बिताना और दिव्य शरीर ग्रहण करना संभव हो सकता है। मैंने यह स्पष्ट कर दिया था कि खेल आदि जैसे मानवीय तथा भौतिक साधनों से केवल एक सीमित एवं अनिश्चित मानवीय पूर्णता ही प्राप्त हो सकती है। इस सबमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो इस विचार का समर्थन करती हो कि खेल अतिमानस में कूद जाने का साधन हो सकता है या अतिमानस केवल खेल के मैदान में ही उतरेगा और कहीं नहीं और जो लोग वहां हैं केवल वे ही उसे प्राप्त करेंगे; यह तो मेरे लिये एक बुरा ही दृश्य होगा क्योंकि मुझे कोई मौका न मिलेगा !

यह सब मैं उन सब विचित्र भ्रांतियों को दूर करने की आशा से लिख रहा हूं जिनसे वातावरण खूब भरा हुआ प्रतीत होता है और जिनमें से कुछ का प्रभाव तुमपर भी शायद पड़ा होगा।

२७. ४. १९४९

(५)

तुम्हें यह देखने में समर्थ होना चाहिये कि तुम्हारा यह विचार निराधार है कि हम तुमसे खेल में सम्मिलित होने या उसे पसंद करने तथा किसी प्रकार स्वीकार करने के लिये आग्रह करते हैं। मैं स्वयं भी कभी खिलाड़ी नहीं रहा अथवा–इंगलैंड में क्रिकेट में दर्शक की सी दिलचस्पी लेने या बड़ौदा क्रिकेट क्लब का न खेलनेवाला सदस्य रहने के सिवा–किन्हीं शारीरिक खेलों या व्यायामों में भाग नहीं लिया, हां, बड़ौदे में मद्रासी पहलवानों से दंड-बैठक आदि कुछ व्यायाम सीखे थे तथा उनका अभ्यास किया करता था और वह भी अपने अस्वस्थ तो नहीं पर दुबले-पतले और कमजोर शरीर में बल-सामर्थ्य की कुछ वृद्धि करने के लिये ही, किंतु इन चीजों को और कोई महत्त्व या अर्थ कभी नहीं दिया और जब मैंने यह देखा कि ये अब और आवश्यक नहीं हैं तो इन्हें त्याग दिया। निश्चय ही, मेरी दृष्टि में व्यायामों तथा शारीरिक खेलों से अलग रहने या शारीरिक व्यायामों में भाग लेने का योग से कुछ भी संबंध नहीं। और न तो खेल कूद के प्रति तुम्हारी घृणा न दूसरों की उस-

के प्रति रुचि ही तुम्हें या उन्हें साधना के अधिक योग्य या अधिक अयोग्य बनाती है। अतः इसका कोई भी कारण नहीं कि हम तुम्हारे इसमें भाग लेने पर आग्रह करें या तुम इस कल्पना से अपने मन को व्यथित करो कि हम चाहते हैं कि तुम भाग लो ही। ऐसे विषयों में अपनी राह पकड़ने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की भांति तुम भी निश्चय ही सर्वथा स्वतंत्र हो।

२८. ४. १९४९

(६)

भगवान् की उपलब्धि ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और शेष सब चीजें वहीं तक वांछनीय है जहां तक वे इस उपलब्धि में सहायता करती या इस ओर हमें ले जाती हैं अथवा उपलब्धि हो जाने पर उसे फैलाती और प्रकट करती है। मेरे योग का संपूर्ण आशय और उद्देश्य है भगवान् को अभिव्यक्त करना या भागवत कार्य के लिये संपूर्ण जीवन को सुव्यवस्थित करना, अर्थात् पहले तो, वैयक्तिक तथा सामूहिक साधना जो उपलब्धि के लिये तथा भगवत्प्राप्त व्यक्तियों के सामूहिक जीवन के लिये आवश्यक है, दूसरे, संसार की सहायता करना जिससे यह प्रकाश की ओर बढ़े और उसमें निवास करे। परंतु उपलब्धि सबसे पहली आवश्यकता है और इसी के इर्दगिर्द बाकी सब चीजें संपन्न होती हैं, क्योंकि इसके बिना बाकी सब चीजों का कोई अर्थ नहीं रह जायगा। न तो माताजी ने और न मैंने ही कभी इस बात का स्वप्न देखा और न हम ऐसा स्वप्न देख ही सकते थे कि हम इसका स्थान किसी और चीज को दे दें या किसी और चीज के लिये इसकी उपेक्षा कर दें। वास्तव में माताजी का दिन का अधिकांश समय इसी उद्देश्य के हित साधकों को किसी न किसी प्रकार सहायता देने में लगता है। बाकी बहुत सा समय आश्रम के कार्य में लगता है जिसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न जिसे भंग ही होने दिया जा सकता है, क्योंकि वह काम भी भगवान् के लिये ही है। जहां तक व्यायामशाला, खेल के मैदान आदि का संबंध है, माताजी ने शुरू से ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इन चीजों को वे क्या स्थान देती हैं; उन्होंने कभी इतना मूर्खतापूर्ण कार्य नहीं किया है जिससे प्रधान कार्यों का स्थान इन गौण वस्तुओं को प्राप्त हो।

४. ४. १९५०

(७)

.....मुख्य विषय पर आने से पहले मैं एक और विषय को भी स्पष्ट कर दूं जो इससे असंबद्ध नहीं है: वह है 'बुलेटिन' में प्रकाशित मेरे लेख या संदेश,—जैसा कि उन्हें कहा जाता है। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्रकाशन तथा उनकी विषयसामग्री ने और विशेषकर मेरे दिव्य-शरीर-विषयक विचारों ने तुम्हारे मन में कुछ उद्वेग, द्विविधा या भ्रांति

उत्पन्न की है। इनमें से पहला लेख मैंने इस विषय को समझाने के लिये लिखा था कि आश्रम के कार्य-क्रम में खेल कैसे और क्यों सम्मिलित हो गये और मेरी समझ में मैंने आगे चलकर यह स्पष्ट किया था कि खेल साधना नहीं है, यह उस छोर की चीज है जिसे मैं वस्तुओं का निचला छोर कहता हूं, किंतु यह मनोरंजन या आमोद-प्रमोद या स्वास्थ्य-रक्षा के लिये ही नहीं वल्कि देह की महत्तर क्षमता की प्राप्ति के लिये भी प्रयोग में लाया जा सकता है, और केवल शरीर के ही नहीं वरन् नैतिकता और अनुशासन के कई-एक गुणों एवं सामर्थ्यों के विकास और मानसिक शक्तियों के प्रोत्साहन के लिये भी इसका उपयोग किया जा सकता है। परंतु मैंने इस ओर भी निर्देश किया था कि ये अन्य साधनों से भी विकसित किये जा सकते हैं और किये जाते भी हैं और फिर इस उपयोगिता की भी सीमाएं हैं। सच पूछो तो केवल साधना के द्वारा ही मनुष्य उन सीमाओं को पार कर सकता है जो निचले छोर के साधनों के लिये स्वाभाविक हैं। मैं समझता हूं इसमें गलतफहमी होने की गुंजायश नहीं थी, किंतु माताजी ने मुझे खेल से सर्वथा असंबद्ध कुछ अन्य विषयों पर भी लिखने के लिये कहा था और इस प्रकार के कुछ विषय सुझाये भी थे, जैसे, दिव्य शरीर के विकास की संभावनाएं; सुतरां मैंने इस विषय पर लिखा और अतिमानस तथा सत्य-चेतना की चर्चा करने लग पड़ा जिनका, स्पष्ट ही, खेल से अत्यंत दूर का भी संबंध न था। उद्देश्य यह था कि पत्रिका में एक ऐसी चीज को लाया जाय जो व्यायामशाला की गति-विधियों के विवरणमात्र से अधिक उच्च और रोचक हो और जो कुछ एक पाठकों और यहां तक कि अधिक व्यापक क्षेत्रों को भी अपील कर सके। दिव्य शरीर की चर्चा करते हुए मैं आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा होनेवाले उसके भावी विकास में क्या क्या हो सकता है इस विषय में कुछ बहुत दूर की कल्पनाओं में उतर पड़ा था, पर यह स्पष्ट ही है कि वे संभावनाएं कोई आसन्न या तात्कालिक वस्तु नहीं हो सकती थीं, और मैंने काफी स्पष्ट रूप में कहा था कि किसी असामान्य वस्तु के लिये यत्न न करके हमें पहली सीढ़ी से ही आरंभ करना होगा। संभवतः, वर्तमान सीमाओं पर मुझे अधिक बल देना चाहिये था, पर उन्हें मैं अब स्पष्ट कर दूं। मेरे प्रयत्नों का तात्कालिक लक्ष्य भूतल पर आध्यात्मिक जीवन की प्रतिष्ठा करना है और उसके लिये सदा सबसे पहली आवश्यकता भगवत्प्राप्ति ही होनी चाहिये। केवल तभी जीवन को अध्यात्ममय बनाया जा सकता है अथवा जिसे मैंने दिव्य जीवन कहा है उसे संभव बनाया जा सकता है। एक ऐसी चीज की रचना, जिसे दिव्य शरीर कहा जा सके, इस रूपांतर के अंग के रूप में स्वीकृत एक दूर का लक्ष्य ही हो सकती है, क्योंकि स्पष्ट ही, इन परिकल्पनाओं में जिस प्रकार के दिव्य शरीर की बात कही गयी है उसका विकास एक सुदूर विकास के परिणाम के रूप में ही दृष्टिगोचर हो सकता है और उससे किसी को डरना या घबराना नहीं चाहिये। उसे किसी सुदूर संभवनीय भविष्य की कल्पना भी समझा जा सकता है जो एक दिन सत्य सिद्ध हो सकती है।

अब मैं मुख्य विषय पर आता हूं, अर्थात् यह जो कहा जाता है कि श्री माताजी की इच्छा स्थायी रूप से खेलों पर ही ध्यान देने तथा साधना और हमारे आध्यात्मिक प्रयास से संबंध रखनेवाली अन्य चीजों से हट जाने की है, यह एक कहानी और कपोल-कल्पना है और इसमें कोई सत्य नहीं; अपने शारीरिक व्यायाम के लिये माताजी जो समय देती हैं–खेल के मैदान में शाम को साधारणतः दो या कभी कभी तीन घंटे–उसे छोड़कर उनका एकदम सुबह से लेकर सारा दिन और रात का भी अधिकांश समय उनके अन्य साधना-संबंधी कार्यों (उनकी अपनी नहीं बल्कि साधकों की साधना से संबंध रखनेवाले कार्यों) में ही बराबर से लगता आ रहा है–प्रणाम, आशीर्वाद, ध्यान, सीढ़ी के ऊपर या और कहीं साधकों से मिलना,–कभी कभी एक साथ दो घंटे तक–और उन्हें जो कहना होता है उसे सुनना, साधनाविषयक प्रश्न, उनके कार्य के परिणाम या उनके मामले, शिकायतें, विवाद, झगड़े, इस या उस कार्य के विषय में निर्णय करने तथा उसे करने के बारे में सब प्रकार के विचार-परामर्श आदि–इस सूची का कोई अंत ही नही: इसके अतिरिक्त उन्हें साधकों की चिट्ठियां, आश्रम तथा उसके अनेक विभागों के बाह्य कार्य के विषय में प्रतिवेदन (रिपोर्टें), बाहरी दुनिया के साथ के संपर्कों से संवद्ध पत्रव्यवहार तथा और सब प्रकार के विषय जिनके अंदर प्राय: भीषण कष्ट-क्लेश और कठिनाइयों की बातें तथा अत्यंत महत्त्व-पूर्ण विषयों का निर्णय भी आ जाता है,–इन सबकी ओर भी ध्यान देना होता है। निश्चय ही, इस सबका खेलों से कुछ भी संबंध नही और शाम के थोड़े से समय को छोड़कर उन्हें खेल के बारे में सोचने का भी अवकाश नहीं। इसमें इस विचार के लियें कोई आधार नहीं कि वे साधकों या साधना की उपेक्षा कर रही हैं अथवा केवल या प्रधान रूप से खेल की ओर ही अपना ध्यान देने की सोच रही है, फिर मुझपर इस कार्य में व्यस्त होने का आरोप लगाने की तो चर्चा ही क्या ? हां, पहली और दूसरी दिसंवर से पहले के कुछ दिनों में इस वर्ष माताजी को इन दो दिनों के कार्यक्रम की तैयारी के लिये बहुत अधिक समय और ध्यान देना पड़ा क्योंकि उन्होंने एक लंबे सांस्कृतिक प्रोग्राम का निश्चय किया था: पहली दिसंबर के लिये अपना एक नाटक "वैर लावनीर' (Vers l'avenir, भविष्य की ओर), नृत्य, Savitri और Prayers & Meditations ('सावित्री' और 'प्रार्थना और ध्यान') में से कुछ संदर्भों का पाठ, और साथ ही दूसरी तारीख के लिये नाना प्रकार के खेलों और व्यायामों का बड़ा उमंगपूर्ण प्रोग्राम। इन कार्यों के लिये अपेक्षाकृत बहुत अधिक समय की आवश्यकता थी पर इनसे उनके अन्य कार्यों में कदाचित् कोई बाधा नही पड़ी; हां, इस समारोह की ठीक समाप्ति पर दो-एक कार्यों में व्यतिक्रम अवश्य हुआ। निश्चय ही, यहां यह परिणाम निकालने के लिये कोई पर्याप्त आधार नहीं था कि भविष्य के लिये यह उनके कार्य का एक सामान्य अंग बन जानेवाला है अथवा यह उनके कार्य या आश्रम के जीवन में एक स्थायी परिवर्तन लानेवाला है जिसके परिणामस्वरूप आश्रम का

जीवन आध्यात्मिक जीवन से पूरी तरह अलग हो जायगा और यहां खेल के देवता की ही प्रतिष्ठा हो जायगी। जिन लोगों ने इस विचार को प्रकट किया है या यह घोषणा की है कि आगे से खेल सबके लिये अनिवार्य हो जायगा वे ऐसी कल्पनाओं में रमण कर रहे हैं जिनपर विश्वास करने के लिये कोई उचित आधार नहीं। सच तो यह है कि वह काम के भार का समय खत्म हो गया है और दूसरी दिसंबर के बाद खेल के मैदान की हलचलें अपनी सामान्य अवस्था को, या यहां तक कि उससे भी मंद अवस्था को पहुंच गई हैं और भविष्य के संबंध में तुम इस कहावत को याद कर सकते हो कि "एक बार का मतलब 'सदा के लिये' नहीं होता।"

परंतु अब भी यह निर्मूल धारणा बची हुई प्रतीत होती है कि आगे को खिलाड़ी बनना प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य होगा और इसके बिना माताजी का ध्यान आकृष्ट करने या उनकी कृपादृष्टि पाने की कोई संभावना नहीं। इसलिये यह आवश्यक है कि मैं उस वक्तव्य को पूरे बल के साथ फिर से दुहरा दूं जो मैंने बहुत समय पहले दिया था जब कुछ समय से लगातार यह दंतकथा प्रचलित हो चली थी और, मैं समझता हूं, उसके साथ यह अफवाह भी फैल गई थी कि अतिमानस खेल के मैदान में तथा उन लोगों पर ही उतरेगा जो उस समय वहां होंगे और वह और कहीं भी तथा और किसी पर भी नहीं उतरेगा—जिसका यह अर्थ होता कि कम से कम मैं तो उसे कभी नहीं प्राप्त करूंगा!! जो कुछ मैंने तब कहा था वह मुझे फिर दुहराना होगा, वह यह कि माताजी ने ऐसी कोई बाध्यता किसी पर कभी नहीं लादी और न इसे लादने का उनका कोई विचार ही है, साथ ही ऐसा करने का कोई कारण भी नहीं। यदि तुम्हें या और किसी व्यक्ति को खेल-कूद की ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं है तो वे यह नहीं चाहतीं कि वह या तुम उसमें भाग लो ही। ऐसे लोग कितने ही हैं जिन्हें उनकी परम कृपादृष्टि प्राप्त है पर जो खेल के मैदान में पैर तक नहीं रखते; उनमें कुछ उनके श्रेष्ठ तथा अत्युपयोगी कार्यकर्ता हैं, कुछ उनके अत्यंत समीपवर्ती तथा स्नेहभाजन भी हैं। अतएव, संभवतः, कोई भी व्यक्ति खेल में भाग लेने से इन्कार करने या खेल के प्रति घृणा या तीव्र अरुचि होने के कारण उनके स्नेह या कृपाकटाक्ष से वंचित नहीं हो सकता। ये चीजें अपनी अपनी मानसिक प्रकृति के सिवा और कुछ नहीं। यह विचार नितांत मूर्खतापूर्ण है कि खेल अब माताजी की दृष्टि में अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु है तथा साधना के लिये अनिवार्य है, भले ही यह विचार माताजी के इरादों को प्रकट करने का अपने को अधिकारी माननेवाले किसी व्यक्ति ने ही क्यों न पेश किया हो।

६. १२. १९४९

तीसरा भाग

श्री माताजी

१

श्री माताजी कौन हैं

श्री मां

प्रश्न–क्या आप अपनी पुस्तक "माता" में श्री मां (हमारी माताजी) का ही जिक्र नहीं करते हैं?

उत्तर–हां।

प्रश्न–क्या वह "व्यष्टिभावापन्न" भगवती माता ही नहीं हैं जिन्होंने "सत्ता के इन दो विशालतर स्वरूपों की–परात्पर और विश्वगत की–शक्ति को" मूर्तिमान् किया है?

उत्तर–हां, वही हैं।

प्रश्न–क्या वह हमारे प्रति अपने गभीर और महान् प्रेम के वश ही यहां (हमारे बीच) अंधकार और मिथ्यापन, भूल-भ्रांति और मृत्यु के अंदर अवतरित नहीं हुई हैं?

उत्तर–हां।

श्री मां का दैवी स्वरूप

प्रश्न–ऐसे बहुत से लोग हैं जिनका मत है कि श्री मां मनुष्य थीं पर अब उन्होंने भगवती माता को अपने अंदर मूर्तिमान् किया है और, उनका विश्वास है कि श्री मां की प्रार्थनाएं[1] इस मत को पुष्ट करती हैं। पर, मेरे मन की धारणा, मेरे अंतरात्मा का अनुभव

[1]श्री मां लिखित 'प्रार्थनाएं और ध्यान' नामक पुस्तक।

यह है कि वह स्वयं भगवती माता ही हैं जिन्होंने अंधकार और दुःख-कष्ट और अज्ञान का जामा पहनना इसलिये स्वीकार किया है कि वह सफलतापूर्वक हम मनुष्यों को ज्ञान, सुख और आनंद की ओर, तथा परम प्रभु की ओर ले जा सकें। मेरी यह भी धारणा है कि उनकी 'प्रार्थनाएं' हम अभीप्सु जीवों को यह दिखलाने के लिये लिखी गयी हैं कि भगवान् के सामने किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। क्या मेरी बात ठीक है?

उत्तर–हां, ठीक है। भगवान् स्वयं मार्ग पर चलकर मनुष्यों को राह दिखाने के लिये मनुष्य का रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृति को स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका 'भगवान्' होना खतम नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है, बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्य का भगवान् में बदल जाना नहीं है। श्री मां अपने आंतर स्वरूप में बचपन में भी मानवत्व से ऊपर थीं। इसलिये 'बहुत से लोगों' का मत भ्रमात्मक है। १७. ८. १९३८

श्री मां का आविर्भाव तथा अतिमानस का अवतरण

(१)

प्रश्न–क्या श्री मां के प्राकट्य तथा अतिमानस के अवतरण में कोई अंतर है?

उत्तर–श्री मां अतिमानस को नीचे लाने के लिये ही आती हैं और अतिमानस का अवतरण होने पर ही उनका यहां पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होना संभव होता है।
२३. ९. १९३५

(२)

प्रश्न–श्री मां सीधे ऊपर के अपने लोक से साधक पर कार्य नहीं करतीं, यद्यपि वह यदि ऐसा करना चाहें तो कर सकती हैं–यहां तक कि वह संसार को एक दिन में अतिमानस-भावापन्न भी बना सकती हैं; पर उस हालत में यहां बननेवाली अतिमानसिक प्रकृति ठीक वैसी होगी जैसी कि वह ऊपर है; स्वयं हमारी पृथ्वी, जो अभी अज्ञान में है, उस समय अतिमानसिक पृथ्वी में नहीं विकसित होगी जो कि एक ऐसी अभिव्यक्ति होगी जो देखने में ठीक वैसी ही नहीं होगी जैसा कि अतिमानस है।

उत्तर–यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य है। १७. ६. १९३५

श्री मां के मूर्त्त होने का उद्देश्य

(१)

प्रश्न–क्या मेरा यह सोचना ठीक है कि माताजी एक व्यक्ति के रूप में समस्त भागवत शक्तियों को मूर्तिमान करती हैं और अधिकाधिक भागवत कृपा को भौतिक स्तर पर उतार

लाती हैं ? और उनका मूर्तिमान् होना संपूर्ण भौतिक स्तर के लिये परिवर्तित और रूपांतरित होने का एक सुयोग है ?

उत्तर–हां, उनका मूर्तिमान् होना पृथ्वी की चेतना के लिये अपने अंदर अतिमानस को ग्रहण करने तथा उसे संभव बनाने के लिये पहले जो रूपांतर जरूरी है उसे प्राप्त करने का एक सुयोग है। पीछे चलकर अतिमानस के द्वारा और भी रूपांतर साधित होगा, परंतु समूची पार्थिव चेतना अतिमानसभावापन्न नहीं हो जायगी–सबसे पहले एक नयी जाति उत्पन्न होगी जो अतिमानस को प्रकट करेगी, जैसे कि मनुष्य मन को अभिव्यक्त करता है।
१३. ८. १९३३

(२)

केवल एक ही दिव्य शक्ति है जो विश्व में भी कार्य करती है और व्यक्तियों में भी और फिर जो व्यक्ति और विश्व के परे भी है। श्री मां इन सबकी प्रतिनिधि हैं, पर वह यहां शरीर में रहकर कुछ ऐसी चीज उतारने के लिये कार्य कर रही हैं जो अभी तक इस स्थूल जगत् में इस तरह अभिव्यक्त नहीं हुई है कि यहां के जीवन को रूपांतरित कर सके–अतः तुम्हें उनको इस उद्देश्य से यहां कार्य करनेवाली भागवती शक्ति समझना चाहिये। वह अपने शरीर में वही हैं, पर अपनी संपूर्ण चेतना में वह भगवान् के सभी स्वरूपों के साथ भी अपना तादात्म्य बनाये हुई हैं।

(३)

माताजी बहुत सी नहीं हैं, माताजी एक ही हैं पर उनके रूप बहुत से हैं। परात्पर रूप श्री मां का केवल एक रूप है। मैं नहीं जानता कि परात्परा मां के मूर्त्त स्वरूप का क्या अर्थ है। एक ही मां का मूर्त स्वरूप होता है–उसके द्वारा वह किस चीज को अभिव्यक्त करती हैं यह स्वयं उनपर निर्भर है।
७. ७. १९३६

(४)

प्रश्न–अपने विश्व-कार्य में श्री मां वस्तुओं के नियम के अनुसार क्यों कार्य करती हैं, और अपने मूर्त्त भौतिक शरीर में वह बराबर ही कृपाशक्ति के द्वारा क्यों कार्य करती हैं ?

उत्तर–विश्व को और विश्व के विधान को बनाये रखना विश्व-शक्ति का कार्य है। महत्तर रूपांतर आता है विश्वातीत परात्पर से और उसी परात्पर कृपाशक्ति को कर्म में ले आने के लिये यहां श्री मां का मूर्त्त स्वरूप विद्यमान है।
१३. ८. १९३३

(५)

भौतिक रूप में श्री मां के पास जाने की उपयोगिता है–यह सशरीर मन और प्राण का

उनकी सशरीर शक्ति के पास जाना है। अपने विश्व-कार्य में श्री मां वस्तुओं के नियम के अनुसार कार्य करती है–उनकी मूर्त भौतिक क्रिया निरंतर कृपा-प्राप्ति का सुयोग प्रदान करती है–वास्तव मे यही शरीर ग्रहण करने का उद्देश्य है।
१२. ८. १९३३

श्री मां के विभिन्न रूप

(१)

श्री मां के बहुत से अलग-अलग व्यक्तित्व है और उनम जो व्यक्तित्व प्रधान होता है उसी के अनुसार उनका वाह्य रूप बदल जाता है। अवश्य ही कुछ साधारण चीजें सबमें एक-सी बनी रहती है। सबसे पहला वह व्यक्तित्व है जिसे ये सब व्यक्ति-रूप अभिव्यक्त करते है पर जिसे नाम या शब्द द्वारा प्रकट नही किया जा सकता–फिर अतिमानसिक स्व-रूप भी है जो पर्दे के पीछे से वर्तमान अभिव्यक्ति के लक्ष्य के ऊपर अधिष्ठान कर रहा है।
९. ११. १९३३

(२)

श्री मा का केवल एक ही रूप नही है, बल्कि विभिन्न समयों पर उनके विभिन्न रूप होते है।

भौतिक शरीर के पीछे श्री मा के बहुत से रूप, शक्तियां और व्यक्तित्व विद्यमान रहते है।
१४. ५. १९३३

(३)

प्रश्न–दो दिन हुए, मैंने सूक्ष्म दर्शन के रूप में यह देखा कि मेरे हृदय से अभीप्सा की आग उठ रही है और ऊपर की ओर जा रही है तथा उसके साथ श्री माताजी की याद निरंतर बनी हुई है। फिर मैंने देखा कि श्री माताजी, जिस रूप मे हम उन्हे स्थूल शरीर में देखते है, आग में उतर रही है और मेरे सभी अंगों को शाति और शक्ति से भर रही है। यह दर्शन क्या सूचित करता है? मैंने श्री मां को उनके दिव्य रूप में न देख ठीक वैसा ही क्यो देखा जैसा कि हम उन्हे स्थूल शरीर मे देखते है?

उत्तर–यह सूचित करता है अभीप्सा को और केवल आंतर सत्ता मे ही नही वरन् बाहरी प्रकृति मे भी सिद्धि ले आनेवाली क्रिया को। जब यह आतरिक क्रिया अथवा दूसरे स्तर की क्रिया होती है तव मनुष्य श्री मा को उनके किसी एक रूप में देख सकता है, पर भौतिक स्तर पर सिद्धि प्राप्त करने के लिये उनका उपयुक्त रूप वही है जिसे उन्होंने यहां धारण कर रखा है।
१५. ७. १९३३

(४)

प्रश्न–श्री माताजी विभिन्न समयों पर, जैसे, प्रणाम या 'प्रॉसपेरिटी' या मुलाकात के समय, अलग-अलग रूपों में क्यों दिखायी देती हैं ? यहां तक कि कभी कभी तो उनके स्थूल अंगों में भी अंतर दिखायी देता है। उनके आकार में इस प्रकार का अंतर दिखायी देने का कारण क्या है ? क्या यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस हद तक वह बाहर की ओर मुड़ती हैं ?

उत्तर–मेरी समझ में यह बात निर्भर करती है उस व्यक्ति-स्वरूप पर जो सामने की ओर अभिव्यक्त होता है–क्योंकि उनके बहुत से व्यक्तिस्वरूप है और उनका शरीर सामने आनेवाले प्रत्येक स्वरूप का कुछ-न-कुछ अश अभिव्यक्त करने के लिये काफी नमनीय है।
४. १२. १९३३

(५)

प्रश्न–प्राय: ही जब मैं श्री माताजी को देखता हूं तब मैं अनुभव करता हूं मानो वह दिव्य आनंद की प्रतिमा हों और उनका रूप एक छोटी लड़की के जैसा दिखायी देता है। क्या मेरे अनुभव में कोई सत्य है ?

उत्तर–आनंद ही एकमात्र चीज नहीं है–ज्ञान, शक्ति, प्रेम तथा भगवान् की बहुत सी दूसरी शक्तियां भी है। सिर्फ एक विशेष अनुभव के रूप में यह ठीक हो सकता है।
३०. ४. १९३३

(६)

हां, बहुत से लोग ऐसा देखते हैं, मानों श्री माताजी अपने साधारण भौतिक आकार से अधिक लंबी हों।
२९. ९. १९३३

२

श्री मां के स्वरूप और शक्तियां

शक्तियां और व्यक्तित्व–चार शक्तियां[1]

'शक्ति' (Power) शब्द के व्यवहार की बात समझायी जा चुकी है–जो कोई चीज या जो कोई व्यक्ति विश्व-क्षेत्र में सचेतन रूप से शक्ति का प्रयोग करे और जिसे संसार की गति के ऊपर या उसकी किसी विशिष्ट क्रिया के ऊपर अधिकार हो, उसके लिये इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। परंतु जिन चार[2] की बात तुम कहते हो वे भी शक्तियां हैं, परम दिव्य चेतना और शक्ति की, भगवती माता की विभिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियां है, जिनके द्वारा वह विश्व पर शासन करती और यहां कार्य करती हैं। और फिर साथ ही वे दिव्य व्यक्ति-स्वरूप भी हैं; क्योंकि उनमें से प्रत्येक एक सत्ता है–जो परम देव के विभिन्न गुणों को तथा व्यक्तिगत चैतन्य-रूपों को अभिव्यक्त करती है। इस तरह सभी बड़े-बड़े देवतागण भगवान् के व्यक्ति-स्वरूप हैं–एक ही चेतना बहुत से व्यक्ति-रूपों में लीला करती है, एकं सत् बहुधा। मनुष्यों के भीतर भी बहुत-से व्यक्ति-रूप होते हैं, केवल एक ही रूप नहीं होता, जैसा कि पहले लोग कल्पना किया करते थे। क्योंकि सभी चेतनाएं एक साथ ही 'एक' और 'बहु' दोनों हो सकती हैं। "शक्तियां और व्यक्तिस्वरूप" एक ही सत्ता के विभिन्न रूपों को सूचित करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि शक्ति निर्व्यक्तिक ही हो और निश्चय ही वह तुम्हारे संकेत के अनुसार 'अव्यक्तम्' तो हर्गिज नहीं होती–उसके विपरीत, यह एक व्यक्त रूप है जो भागवत अभिव्यक्ति के जगतों में कार्य करता है।

श्री मां की अंश-विभूतियां

तुम्हारे पत्र में वर्णित 'मातृकाएं' अंश-विभूतियों (Emanations) के साथ मिलती-जुलती हैं। श्री मां की अंशविभूति उनकी चेतना और शक्ति का कुछ अंश है जिसे वह अपने भीतर से प्रकट करती हैं और जो, जब तक कि वह लीला के अंदर है, उनके साथ

---

[1]यह तथा इसके बाद के दो पत्र 'माता' पुस्तक में व्यवहृत कुछ शब्दों के विषय में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में लिखे गये थे।

[2]महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

घनिष्ठ रूप में जुड़ा होता है और जब उसकी लीला की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तब अपने मूल उद्गम के अंदर वापस खींच लिया जाता है, पर जो हमेशा प्रकट किया जा सकता है और लीला में लाया जा सकता है। परंतु संपर्क को बनाये रखनेवाला धागा काटा या खोला भी जा सकता है और जो चीज एक अंशविभूति के रूप में प्रकट हुई थी वह एक स्वतंत्र दिव्य सत्ता के रूप में अपने ढंग से काम कर सकती है और जगत् में अपनी निजी लीला चरितार्थ कर सकती है। सभी देवता इस तरह की अंशविभूतियां अपनी सत्ता में से उत्पन्न कर सकते हैं जो तत्त्वतः चेतना और शक्ति में उनसे मिलती-जुलती हैं यद्यपि एकदम एकसमान नहीं होतीं। एक विशेष अर्थ में स्वयं विश्व को भी परात्पर भगवान् से पैदा हुई एक अंशविभूति कह सकते हैं। साधक की चेतना में श्री मां की अंशविभूति साधारणतया वही रूप, आकार और स्वभाव ग्रहण करती है जिससे वह परिचित होता है।

एक अर्थ में श्री मां की चारों शक्तिया, अपने मूलस्रोत के कारण, उनकी अंशविभूतिया कही जा सकती हैं, ठीक जैसे कि देवताओं को 'भगवान्' की अंशविभूतियां कह सकते हैं। परंतु उनका स्वभाव-स्वरूप देवताओं की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुनिश्चित होता है। वे एक साथ ही स्वतंत्र सत्ताएं हैं जिन्हें आद्या-शक्ति ने अपनी-अपनी लीला करने की छूट दे रखी है और साथ ही, माताजी के—महाशक्ति के अंश भी हैं। श्री मा चाहें तो बराबर ही उनके द्वारा पृथक्-पृथक् सत्ताओं के रूप में प्रकट हो सकती हैं अथवा उन्हें अपने ही विभिन्न व्यक्तित्वों के रूप में एक साथ खींच सकती हैं और अपने अंदर धारण कर सकती हैं। वे चाहें तो उन्हें पीछे हटाये रखें और चाहें तो लीला करने दें। यह उनकी इच्छा है। अतिमानस-स्तर पर वे श्री मां के अंदर ही रहती हैं और स्वतंत्र रूप में कार्य नहीं करतीं बल्कि अतिमानसिक महाशक्ति के घनिष्ठ अंशों के रूप में कार्य करती हैं और एक दूसरे के साथ घना एकत्व और सामंजस्य बनाये रखती हैं।

श्री मां और देवतागण

ये चार शक्तियां श्री मां की विश्व-शक्तियां हैं जो जगत्-लीला में स्थायी रूप से रहती हैं; इनकी गणना उन महत्तर विश्व-देवताओं के अंदर होती है जिनको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि इस त्रिविध जगत् की महाशक्ति के रूप में माताजी वहां (अधिमानस-लोक में) "देवताओं से ऊपर अधिष्ठान करती हैं।" देवतागण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूलतः और तत्त्वतः भगवान् की स्थायी अंशविभूतियां हैं जिन्हें परात्परा माता ने, आद्याशक्ति ने परात्पर भगवान् के अंदर से उत्पन्न किया है; अपनी विश्वक्रियाओं में वे भगवान् की शक्तियां और व्यक्ति-स्वरूप हैं और उनमें से प्रत्येक का विश्व के अंदर अपना स्वतंत्र विश्वगत स्थान, स्वभाव और कर्म है। वे निर्व्यक्तिक–निराकार सत्ताएं नहीं हैं बल्कि वैश्व व्यक्ति हैं, यद्यपि साधारणतया वे निर्व्यक्तिक शक्तियों की क्रिया के पीछे अपने को

छिपा सकते है और छिपाते भी है। परंतु एक ओर जहां अधिमानसलोक में और इस त्रिविध जगत् मे वे स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में दिखायी देते हैं वहां दूसरी ओर वे अतिमानस लोक में 'एकमेवाद्वितीयम्' के अंदर वापस चले जाते है और वहां वे मात्र एक सुसमंजस कार्य के अंदर युक्त होकर 'एक ही 'व्यक्ति' के, दिव्य पुरुषोत्तम के बहुविध व्यक्तिस्वरूपों के रूप में विद्यमान रहते हैं।

माताजी की प्रेम और आनंद की अतिमानसिक शक्ति

प्रश्न–'चंडी' पुस्तक में अन्य शक्तियों के साथ-साथ श्री मां की चार विश्व-शक्तियों के नाम–महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती–तो वर्णित है पर 'राधा' का नाम नही दिया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जब 'चंडी' की रचना हुई थी तब ऋषियों की दृष्टि के सामने राधा-शक्ति नही प्रकाशित हुई थीं और 'चंडी' में केवल श्री मां की विश्व-शक्तियों का ही वर्णन आया है, उनकी अतिमानसिक शक्तियों का वहां उल्लेख नहीं है। अपनी पुस्तक 'दि मदर' (The Mother) में, श्री मां की चार शक्तियों का वर्णन करने के बाद, आपने कहा है कि, "मां भगवती के और भी कई महान् व्यक्तित्व है, पर उनका अवतरण कराना अधिक कठिन रहा और भूपुरुष के क्रमविकास में वे उतनी स्पष्टता के साथ सामने आये भी नही है। उनमे अवश्य ही कुछ व्यक्तित्व ऐसे है जो विज्ञानसिद्धि के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है–सबसे अधिक आवश्यक वह है जो माता के परम भागवत प्रेम से प्रवाहित होनेवाले रहस्यमय परम उल्लासमय आनंद की मूर्त्ति है, यह वह आनंद है जो विज्ञानचैतन्य के उच्चतम शिखर और जड़ प्रकृति के निम्नतम गह्वर के बीच का महान् अंतर मिटाकर दोनों को मिला सकता है, अनुपम परम दिव्य जीवन की कुंजी इसी आनंद के पल्ले है और अब भी यही आनंद अपने गुप्त धाम से विश्व की अन्य सभी महाशक्तियों के कार्य का सहारा बना हुआ है।" इस उद्धरण में जिस मूर्त्ति की बात कही गयी है क्या वह 'राधा-शक्ति' नही है जिसे प्रेममयी राधा, महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति भी कहा गया है?

उत्तर–हां; परंतु राधा-कृष्ण-लीला के प्रतीक प्राणमय जगत् से लिये गये है और इस कारण वहां जिस शक्ति का वर्णन किया गया है वह राधा-शक्ति का केवल एक आंतर प्रकाश है। यही कारण है कि उसे महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति कहा गया है। यहां (ऊपर के उद्धरण में) जिस शक्ति की बात कही गयी है वह यह आंतरिक रूप नही है बल्कि वह तो ऊपर के प्रेम और आनंद की पूर्ण शक्ति है। ७. २. १९३४

सभी स्तरों में श्री मां की शक्तियां

प्रश्न–क्या महेश्वरी संबोधि और अधिमानस स्तर की देवी है?

उत्तर–अधिमानस से लेकर भौतिक तक के सभी स्तरों में ये शक्तियां प्रकट हो सकती है।
२५. ८. १९३३

दुर्गा

दुर्गा श्री मां की संरक्षण-शक्ति हैं।
१५. ४. १९३३

श्री मां की विभूतियां

(१)

प्रश्न–ईश्वर की विभूतियों और श्री मां की विभूतियों के बीच अभिव्यक्ति के रूप या अनुभव की दृष्टि से क्या अंतर है ?

उत्तर–साधारणतया श्री मां की विभूतियां नारीरूप होंगी और उनमें से अधिकांश श्री मां के चार व्यक्तिरूपों में किसी एक के द्वारा अधिकृत होंगी। दूसरे, जिनका जिक्र तुमने किया है, (ईसा, बुद्ध, चैतन्य, नेपोलियन, सीजर आदि) ईश्वर के व्यक्ति-रूप और शक्तियां होंगे, पर सबकी तरह उनमें भी, श्री मां की शक्ति कार्य करेगी। सारी सृष्टि और रूपांतर माताजी का ही काम है। २९. १०. १९३५

(२)

प्रश्न–जब समस्त सृष्टि-कार्य उनका है तब क्या हम यह मान सकते हैं कि श्री मां के व्यक्ति-रूप ही पर्दे के पीछे से अवतार या विभूतियों के अवतरण के लिये उपयुक्त अवस्थाओं को तैयार करते हैं ?

उत्तर–अगर तुम्हारा मतलब श्री मां के दिव्य व्यक्ति-रूपों से हो तो उत्तर है "हां"। फिर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विभूति अपनी शक्ति इन चार शक्तियों से और अधिकतर उनमें से किसी एक से मुख्य रूप में लेती है, जैसे, नेपोलियन महाकाली से, राम महालक्ष्मी से, आगस्टस सीजर महासरस्वती से शक्ति पाते थे।
३१. १०. १९३५

भगवती माता

भगवती माता भगवान् की चित्-शक्ति हैं–जो समस्त वस्तुओं की जननी है।

आद्या शक्ति

आद्या शक्ति मूल शक्ति है और इसलिये श्री मां का सबसे ऊंचा रूप है। वह देखनेवाले के स्तर के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती हैं।
२२. ७. १९३३

परात्परा मां

यही है जिन्हे आद्या शक्ति का नाम दिया गया है; यह विश्वातीत परम चेतना और शक्ति है और इन्ही से सब देवता उत्पन्न हुए है, यहा तक कि अतिमानसिक ईश्वर भी–वह विज्ञानमय पुरुषोत्तम भी जिनकी शक्तियां और व्यक्ति-रूप देवतागण है–इन्हीके द्वारा अभिव्यक्ति मे आते है।

श्री मां और ईश्वर

श्रीमां भगवान् की चेतना और शक्ति है–अथवा, यह कहा जा सकता है कि, वह चिच्छक्ति-रूप मे स्वय भगवान् ही है। विश्व के स्वामी के रूप मे ईश्वर श्रीमां के अंदर से प्रकट होते है और श्रीमा उनकी बगल मे विश्व-शक्ति के रूप मे अपना स्थान ग्रहण करती है–विराट् ईश्वर भगवान् का एक रूप हैं।

गीता, तंत्र और पूर्णयोग में भगवती माता

(१)

गीता स्पष्ट रूप मे भगवती माता की बात नही कहती; वह बराबर ही पुरुषोत्तम को आत्मसमर्पण करने के लिये कहती है–वह भगवती माता का जिक्र केवल परा प्रकृति के रूप मे करती है जो जीव बनती है–'जीवभूता', अर्थात् जो भगवान् को 'बहु' के अंदर अभिव्यक्त करती है और जिसकी सहायता से परात्पर प्रभु ने इन सब जगतों की सृष्टि की है तथा वह स्वयं अवतार के रूप मे उतरते है। गीता वैदातिक परंपरा का अनुसरण करती है जो पूरी तरह से भगवान् के ईश्वर-स्वरूप पर जोर देती है और भगवती माता की बात बहुत कम करती है, क्योकि उसका उद्देश्य है जगत्-प्रकृति से पीछे हट जाना और उसके परे जाकर चरम उपलब्धि प्राप्त करना; तात्रिक परंपरा शक्ति या ईश्वरी-रूप पर अधिक जोर देती है और सबको भगवती माता पर ही निर्भर रहने को बाध्य करती है, क्योकि उसका उद्देश्य है विश्व-प्रकृति को वश में करना और उसपर शासन करना तथा उसी के द्वारा चरम उपलब्धि प्राप्त करना। यह योग इन दोनो पर जोर देता है; भगवती माता के प्रति आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, क्योकि इसके बिना इस योग का उद्देश्य ही सिद्ध नही हो सकता।

पुरुषोत्तम के संपर्क मे भगवती माता जगतों से ऊपर की परात्परा दिव्य चेतना और शक्ति, आद्या शक्ति है, वह परात्पर को अपने अंदर धारण करती हैं और अक्षर और क्षर के द्वारा भगवान् को विभिन्न जगतों मे अभिव्यक्त करती है। अक्षर के संपर्क में वह वही परा शक्ति है जो समस्त सृष्टि के पीछे अपने अंदर पुरुष को निष्क्रिय-निश्चल रूप मे धारण करती है और स्वयं भी उसके अंदर स्थिर-निश्चल रहती है। क्षर के संपर्क में वह सचल विश्व-शक्ति है जो सभी सत्ताओ और शक्तियो को प्रकट करती है।

(२)

श्रीमां के विषय में यह अनुभूति कि वही परात्पर तत्त्व है, एक तांत्रिक अनुभूति है—यह सत्य का एक पक्ष है।

जगज्जननी

ईश्वरी शक्ति, दिव्य चिच्छक्ति और जगज्जननी शाश्वत 'एक' और अभिव्यक्त 'बहु' के बीच मध्यस्था बन जाती हैं। एक ओर, जिन शक्तियों को वह 'एक' के भीतर से ले आती हैं उनके खेल के द्वारा वह विश्व के अंदर बहुविध भगवान् को प्रकट करती है और अपने प्रकट करनेवाले पदार्थ के भीतर से उस 'बहु' के अनंत रूपों को भीतर में गठित और बाहर में विकसित करती है। दूसरी ओर, उन्ही शक्तियो की पुनः-आरोहणकारी धारा के द्वारा वह सबको 'उस' की ओर वापस ले जाती है जिससे वे इसलिये उत्पन्न हुए हैं कि अंतरात्मा अपनी विकसनशील अभिव्यक्ति के अंदर अधिकाधिक या तो वहां विद्यमान भगवान् की ओर वापस जा सके अथवा यहां अपने दिव्य स्वभाव को धारण कर सके। उनके अंदर किसी निश्चेतन यंत्रस्वरूप कार्यकारिणी शक्ति का स्वभाव नही है जिसे हम प्रकृति के प्रथम बाह्य स्वरूप—प्रकृति-शक्ति के अंदर पाते हैं, यद्यपि वह एक विश्वव्यापी यंत्र की रचना करती है; और न वहां असत् का, भ्रम या अर्ध-भ्रम की जननी का वह बोध है जो मायासंबंधी हमारे पहले दृष्टिकोण के साथ लगा रहता है। अनुभव करनेवाले जीव के सामने यह तुरत प्रकट हो जाता है कि यहां एक सचेतन शक्ति है जो सत्त्व और प्रकृति में उन परात्पर भगवान् के साथ एक है जिनसे कि वह उत्पन्न हुई थी। अगर हमें ऐसा मालूम होता है कि उसने हमें अज्ञान और निश्चेतना के अंदर डुबा दिया है और डुबा दिया है एक ऐसी योजना का अनुसरण करने के लिये जिसकी हम अभी कोई व्याख्या नही दे सकते, अगर उसकी शक्तियां विश्व की इन सब अस्पष्ट शक्तियों के रूप में हमारे सामने प्रकट होती हैं, तो भी बहुत शीघ्र यह दिखायी पड़ जाता है कि वह हमारे अंदर भागवत चेतना का विकास करने के लिये कार्य कर रही है और वह ऊपर खड़ी होकर हमें अपनी निजी उच्चतर सत्ता की ओर खीच रही है, हमारे सामने अधिकाधिक भागवत ज्ञान, संकल्पशक्ति और आनंद का सारतत्त्व प्रकट कर रही है। यहां तक कि अज्ञान की क्रियाओं के अंदर भी जिज्ञासु का अंतरात्मा उसके उस सज्ञान पथप्रदर्शन के विषय में सचेतन होता है जो उसके पगों को संभालता है और उन्हें धीरे धीरे या शीघ्रता से, सीधे या बहुतेरे टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अंधकार से बाहर निकालकर एक महत्तर चेतना के प्रकाश में, मृत्यु से बाहर निकालकर अमरता में, अशुभ और दुःख-कष्ट से बाहर निकालकर उच्चतम शुभ और आनंद में ले जाता है जिसके केवल एक क्षीण रूप की ही कल्पना उसका मानव मन अभी कर सकता है। इस तरह उसकी शक्ति एक साथ ही मुक्तिदायिनी और क्रिया-

शील, सृष्टिक्षम, फलोत्पादिका होती है–केवल ऐसी ही चीजों की सृष्टि करने में समर्थ नहीं होती जैसी कि अभी हैं, बल्कि ऐसी चीजों की सृष्टि करने में भी समर्थ होती है जो होनेवाली हैं; क्योंकि अज्ञान के तत्त्व से बनी हुई साधक की निम्नतर चेतना की ऐंठी और उलझी हुई क्रियाओं को दूर कर वह उसके अंतरात्मा और प्रकृति को एक उच्चतर दिव्य प्रकृति के सत्त्व और शक्तियों के द्वारा फिर से गढ़ती और नया रूप देती है।'

श्री मां और निम्न-प्रकृति

श्री मां को निम्नतर प्रकृति और उसके शक्ति-समूह के साथ एक समझना भूल है। यहां प्रकृति केवल एक मशीन है जो विकसनशील अज्ञान की क्रिया के लिये उत्पन्न की गयी है। जिस तरह अज्ञ मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ता स्वयं भगवान् नहीं है, यद्यपि वह आती भगवान् से ही है–वैसे ही प्रकृति-रूपी यंत्र भगवती माता नहीं है। निस्संदेह इस यंत्र के अंदर और पीछे भगवती माता का कुछ अंश वर्तमान है जो क्रमविकास को सिद्ध करने के लिये इसे बनाये रखता है; पर स्वयं श्री मां अविद्या की शक्ति नहीं हैं, बल्कि भागवत चेतना, शक्ति, ज्योति है, परा प्रकृति है जिनकी ओर हम मुक्ति और दिव्य परिपूर्णता के लिये मुड़ते हैं।

अज्ञान की विश्वव्यापी शक्ति और भगवती माता

इसमें इतना-सा सत्य है कि विश्वशक्ति प्रत्येक चीज को कार्यान्वित करती है और विश्वव्यापी आत्मा (विराट् पुरुष) उसके कार्य को धारण करता है। विश्वशक्ति एक ऐसी शक्ति है जो अज्ञान की शर्त्तों के अधीन कार्य करती है–यह निम्नतर प्रकृति के रूप में दीख पड़ती है और निम्नतर प्रकृति तुमसे गलत काम कराती है। भगवान् इन सब शक्तियों का खेल तब तक होने देते हैं जब तक तुम स्वयं कोई और अच्छी चीज नहीं चाहते। पर तुम यदि साधक हो तो तुम निम्नतर प्रकृति के खेल को स्वीकार नहीं करते, उसके बदले भगवती माता की ओर मुड़ते हो, और निम्नतर प्रकृति के बदले उनसे अपने द्वारा कार्य करने के लिये कहते हो। जब तुम अपनी सत्ता के प्रत्येक भाग में पूर्ण रूप से भगवती माता की ओर और एकमात्र उन्हींकी ओर मुड़ जाते हो, केवल तभी भगवान् तुम्हारे द्वारा सभी कर्मों को करते हैं।

सगुण और निर्गुण ईश्वर और श्री मां

निर्गुण और सगुण केवल अलग-अलग रूप हैं जिन्हें भगवान् अभिव्यक्ति के अंदर ग्रहण करते हैं। श्री मां ही सगुण या निर्गुण ईश्वर को अभिव्यक्त करती हैं (सृष्टि और कुछ

''योगसमन्वय' पुस्तक से।

नहीं, केवल अभिव्यक्ति है)।
२८. ६. १९३३

शांत आत्मा, सक्रिय ब्रह्म और श्री मां

(१)

वे अनुभूतियां बिल्कुल ठीक थी–परंतु वे भागवत सत्य के केवल एक ही पक्ष को दे रही हैं, उस पक्ष को दे रही हैं जिसे मनुष्य उच्चतर मन के द्वारा प्राप्त करता है–दूसरा पक्ष भी है जिसे मनुष्य हृदय के द्वारा प्राप्त करता है। उच्चतर मन से ऊपर ये दोनों सत्य एक हो जाते हैं। अगर कोई ऊपर शांत आत्मा को प्राप्त करे तो इसमें कोई खतरा नहीं है, परंतु साथ ही उससे कोई रूपांतर भी नही होता, केवल मोक्ष, निर्वाण प्राप्त होता है। अगर कोई विश्वात्मा को–सशक्त और सक्रिय रूप में–प्राप्त करे तो वह सबको आत्मा के रूप में, सबको स्वयं अपने रूप में, उस आत्मा को भगवान् के रूप में अनुभव करता है इत्यादि। यह सब सत्य है; परंतु खतरा इस बात का है कि वहां जो यह भाव है कि "सब कुछ स्वयं मैं हूं" उसमें 'मै' को कही अहंकार अपने चंगुल में न ले ले। क्योंकि यह "मैं-पन" मेरा व्यक्तिगत आत्मा नही है, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा है और साथ ही मेरा भी है। ऐसे किसी खतरे से छुट्टी पाने का उपाय यह है कि हम बराबर इस बात को याद रखें कि यह भगवान् 'माता' भी है, व्यक्तिगत 'मैं' उन मां की संतान है जिनके साथ मैं एक हूं, फिर भी उनसे भिन्न हूं, उनका बालक, सेवक, यंत्र हूं। मैं कह चुका हूं कि तुम्हें आत्मा को विश्व-चेतना के रूप में अनुभव करना बंद नही करना चाहिये, बल्कि उसके साथ-साथ यह याद रखना चाहिये कि सब कुछ श्री मां ही हैं।

(२)

यह संभव है कि 'एकमेवाद्वितीय' में लय को प्राप्त होने की अनुभूति से आरंभ करके मनुष्य ज्ञान की ओर अग्रसर हो। पर शर्त्त यह है कि वह वही पर रुक न जाय, उसे ही उच्चतम सत्य न समझ बैठे, बल्कि उसी 'एक' को परात्परा मां–सनातन भगवान् की चिच्छक्ति के रूप में उपलब्ध करने के लिये आगे बढ़े। अगर, दूसरी ओर, तुम परात्परा मां के द्वारा आगे बढ़ो तो वह तुम्हें निश्चल-नीरव 'एक' के अंदर प्राप्त मुक्ति भी प्रदान करेंगी तथा साथ ही सक्रिय 'एकमेवाद्वितीय' की अनुभूति भी देंगी। और फिर उस सत्य को प्राप्त करना आसान हो जायगा जिसमे वे दोनों एक और अविच्छेद्य है। उसके साथ-ही-साथ, परात्पर भगवान् और उनकी अभिव्यक्ति के बीच जिस खाई को मन तैयार किये हुए है, वह भी पट जाती है और फिर उसके बाद सत्य के अंदर कोई ऐसी दरार नही रह जाती जो हर चीज को दुर्बोध बना दे।

(३)

वास्तव में भगवान् ही प्रभु हैं-आत्मा तो निष्क्रिय होता है, वह बराबर ही सब वस्तुओं को सहारा देनेवाला निश्चल-नीरव साक्षी होता है-वही स्थाणु, अचल भाव है। एक सक्रिय भाव भी है जिसके द्वारा भगवान् कार्य करते हैं-उसी के पीछे श्री मां विद्यमान हैं। तुम्हें इस बात को आंख से ओझल नहीं होने देना चाहिये कि श्री मां के द्वारा ही सब चीजें प्राप्त होती हैं।

१. ९. १९३३

चित्-शक्ति, जीवात्मा, अंतरात्मा और अहमिका

चित्-शक्ति या भागवत चेतना स्वयं श्री मां हैं-जीवात्मा उनका एक अंश है, चैत्य या अंतरात्मा उनकी एक चिनगारी है। अहमिका चैत्य या जीवात्मा का एक विकृत प्रतिबिंब है। अगर तुम्हारे कहने का मतलब यही हो तो यह ठीक है।

अंतरात्मा और भगवती माता

पृथ्वी पर के प्रत्येक अंतरात्मा के विषय में यह बात सत्य है कि वह भगवती माता का अंश है जो अज्ञान की अनुभूतियों में से गुजर रहा है जिसमें कि वह अपनी सत्ता के सत्य को प्राप्त करे और यहां एक दिव्य अभिव्यक्ति और कर्म का यंत्र बने।

प्रबंध-संपादक, श्री केशवदेव पोद्दार (३२ राम्पर्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता-२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)।
Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry
59/1/55/1220

सह

भारत माता

पचासवीं कला

श्री माताजी के आगमनदिवस, २४ अप्रैल १९५५ के उपलक्ष्य में

विशेषांक

श्रीअरविन्द—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(धारावाहिक—४)
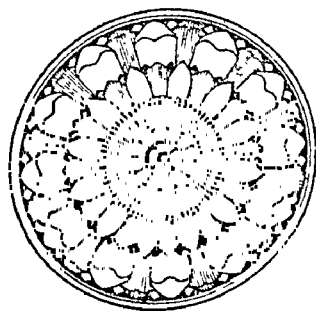
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

२९ मार्च १९५५

प्रसन्नता अंतरात्मा की संतुष्टि से प्राप्त होती है, प्राण या शरीर की संतुष्टि से नहीं। प्राण कभी संतुष्ट नहीं होता; शरीर भी जो कुछ आसानी से या बराबर पाता है उससे आकर्षित होना एकदम बंद कर देता है। एकमात्र चैत्य पुरुष ही सच्ची प्रसन्नता और आनंद ले आता है।

९. ८. १९३४

—श्रीअरविन्द

विषय-सूची

अदिति सह भारत माता, २४ अप्रैल १९५५

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

तीसरा भाग

(२१ फरवरी १९५५ के अंक से आगे)

४ अप्रैल १९५५

मनुष्य को कठिनाई की भी अपेक्षा कहीं अधिक आग्रही होना होगा—और कोई उपाय ही नहीं।

भगवान् को प्राप्त करने के अंतरात्मा के अटूट संकल्प के आगे कोई चीज नहीं टिक सकती।

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

तीसरा भाग

श्री माताजी

(२१ फरवरी १९५५ के अंक से आगे)

३

श्रीमां की ज्योतियां तथा दिव्य दर्शन

श्रीमां की ज्योतियां

सभी ज्योतियों को श्रीमां स्वयं अपने अंदर से प्रकट करती हैं।

ज्योति के अलग-अलग रूप

ज्योति एक साधारण शब्द है। ज्योति ज्ञान नहीं है, बल्कि वह रोशनी है जो ऊपर से आती है और सत्ता को सब प्रकार के अंधकार से मुक्त करती है।

पर यह ज्योति नाना प्रकार के रूप भी ग्रहण करती है; जैसे, श्रीमां की सफेद ज्योति, श्रीअरविन्द की हलकी नीली ज्योति, सत्य की सुनहली ज्योति, चैत्य ज्योति (लाल और गुलाबी) इत्यादि।

१३. १०. १९३४

श्रीमां की सफेद ज्योति

(१)

ज्योतियां श्रीमां की शक्तियां हैं और संख्या में बहुत सी हैं। सफेद ज्योति उनकी अपनी विशेष शक्ति है, मूल रूप में स्वयं भागवत चेतना की शक्ति है।

१५. ७. १९३४

(२)

सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है और यह हमेशा उनके चारों ओर बनी रहती है।

२२. ८. १९३३

(३)

हल्की नीली ज्योति मेरी है और सफेद ज्योति श्री माताजी की है (यह कभी-कभी सुनहली भी होती है)। साधारणतया लोग श्रीमां के चारों ओर सफेद या सफेद और हलकी नीली ज्योति देखते हैं।

४. ९. १९३३

(४)

सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है। जहां कही वह उतरती है या प्रवेश करती है वही वह शाति, पवित्रता, निश्चल-नीरवता ले आती है और उच्चतर शक्तियों के प्रति उद्घाटित करती है। अगर वह नाभि-केद्र के नीचे आती है तो उसका यह अर्थ होता है कि वह निम्नतर प्राण में कार्य कर रही है।

३१. ७. १९३४

(५)

हृदय मे श्वेत किरण का अनुभव होना महत्त्वपूर्ण है–क्योकि वह श्रीमां की ज्योति, सफेद ज्योति की किरण है, और उस ज्योति के द्वारा हृदय का आलोकित हो जाना इस साधना के लिये एक वहुत शक्तिशाली चीज है। वह साधिका जो अंतर्ज्ञान की वात कहती है वह इस वात का द्योतक है कि उसके अंदर आंतर चेतना वढ़ रही है–वह चेतना वढ रही है जो योग के लिये आवश्यक है।

२८. ७. १९३७

(६)

यह (श्रीमां की ज्योति) वरावर ही आंतर पुरुष के अंदर विद्यमान रहती है।

(७)

उसका अर्थ है प्राण के अंदर दिव्य चेतना की ज्योति (श्रीमां की चेतना, सफेद ज्योति)। नीला रग उच्चतर मन का है और सुनहला भागवत सत्य है। अतएव इसका मतलव है वह प्राण जिसमें उच्चतर मन और भागवत सत्य की ज्योति है और जो श्रीमां की ज्योति छिटका रहा है।

(८)

जो कुछ तुमने सूक्ष्म दर्शन के रूप में देखा था वह श्रीमां का अतिभौतिक शरीर था जो संभवतः उनकी सफेद ज्योति से बना था। वह ज्योति उस भागवत चेतना और शक्ति की ज्योति है जो विश्व के परे विद्यमान है।

३०. १. १९३५

(९)

प्रश्न—आज श्री माताजी ने जैसे ही प्रणाम-गृह में आसन ग्रहण किया वैसे ही मैंने देखा कि उनके दायें और बायें दोनों ओर सफेद ज्योति चमक रही है। क्या मेरे इसे देखने का कोई विशेष कारण था ?

उत्तर—नहीं; श्री माताजी के चारों ओर हमेशा ही सफेद ज्योति देखी जा सकती है; क्योंकि यह उन्हींकी ज्योति है और हमेशा उनके साथ रहती है।
८. ८. १९३३

(१०)

प्रश्न—आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म दृष्टि से एक पर्वतश्रेणी देखी जिससे सफेद ज्योति निकल रही थी। इसका तात्पर्य क्या है ? किस लोक का यह स्वप्न है ?

उत्तर—मानसिक लोक का। पर्वत निम्न स्तर से उच्च स्तर में आरोहण सूचित करता है। *सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है, उच्चतर स्तरों से उतरनेवाली भागवत चेतना की* ज्योति है। ७. ८. १९३३

सफेद कमल

यह (सफेद कमल) श्री माताजी का, भागवत चेतना का फूल है।
१५. ४. १९३३

श्रीमां की हीरक-ज्योति

(१)

(क) इस (हीरे की जैसी ज्योति) का अर्थ है श्रीमां की मूल शक्ति।

(ख) हीरक-ज्योति भागवत चेतना के हृदय से निकलती है और यह जहां भी जाती है वहां भागवत चेतना की ओर उद्घाटन ले आती है।

(ग) श्री माताजी के हीरक-ज्योति के साथ उतरने का अर्थ है तुम्हारे अंदर होनेवाली क्रिया को परात्परा शक्ति का अनुमोदन प्राप्त होना।

(घ) श्रीमां की हीरक-ज्योति पूर्ण पवित्रता और शक्तिसामर्थ्य की ज्योति है।

(ङ) हीरक-ज्योति भगवान् की केंद्रीय चेतना और शक्ति है।

(२)

हीरा श्रीमां की ज्योति और क्रियाशक्ति का सूचक है—हीरे की जैसी ज्योति अपने खूब घने रूप में उनकी चेतना की ज्योति है।
१३. ११. १९३६

श्रीमां के महाकाली-रूप की सुनहली ज्योति

(१)

श्रीमां की ज्योति सफेद होती है–विशेषकर हीरे जैसी सफेद। महाकाली का रूप साधारणतया सुनहला होता है, खूब उज्ज्वल और तीव्र सुनहला।
१२. १०. १९३५

(२)

सुनहली ज्योति भागवत सत्य की ज्योति है जो साधारण मन से ऊपर के उच्चतर लोकों में दिखायी देती है–यह मूलतः अतिमानसिक ज्योति है। यह मन से ऊपर दिखायी देनेवाली महाकाली की भी ज्योति है। सफेद ज्योति की तरह सुनहली ज्योति भी प्रायः ही माताजी से निकलती हुई दिखायी देती है।
१७. ९. १९३३

(३)

प्रश्न–मैंने सुना है कि काली का रंग काला है और उनके चार हाथ है। परंतु मैंने अपने अंतर्दर्शन मे उनके केवल दो ही हाथ देखे ओर उनका रंग तेज सफेद था। मैंने उन्हे ऐसा क्यों देखा?

उत्तर–प्राणमय लोक में होनवाली महाकाली की एक अभिव्यक्ति का रूप काला होता है–परंतु अधिमानस लोक मे स्वयं महाकाली सुनहली है। जिसे तुमने देखा था वह अपने ज्योतिर्मय शरीर मे महाकाली-शक्ति को लिये हुई स्वयं श्री माताजी थी, वह ठीक महाकाली का रूप नही था।
२६. ९. १९३३

(४)

यह काली, श्यामा इत्यादि साधारण रूप है जो प्राण के द्वारा दिखायी देते है; महाकाली का सच्चा रूप, जिसका मूल अधिमानस-लोक में है, काला या धूमिल–या भयानक नही है वल्कि सुनहले रंग का है और असुरो के लिये भीषण होने पर भी सौंदर्य से भरपूर है।
१०. २. १९३४

सोने और हीरे की जैसी ज्योतियों की क्रिया

सुनहली ज्योति की रेखा उच्चतर भागवत सत्य की ज्योति की रेखा है जो हृदयाकाश में चारों ओर छा रही थी। हीरक-पुज श्रीमा की ज्योति है जो उस आकाश में वरस रही

थी। अतएव यह इस बात का चिह्न है कि हृदय (चैत्य और भाव के)-केंद्र में उन शक्तियों की क्रिया हो रही है।
१७. १२. १९३६

श्रीमां के कुछ सूक्ष्म दर्शन तथा अनुभव

(१)

प्रश्न–कल शाम को जब श्री माताजी दर्शन देने के लिये नीचे उतरीं तब मैंने उनके चेहरे पर प्रातःकाल के सूर्य की तरह लाल रंग की ज्योति को चमकते हुए देखा। लाल रंग की ज्योति का क्या अर्थ है?

उत्तर–लाल रंग भौतिक वातावरण में प्रेम की अभिव्यक्ति को सूचित करता है।
५. ६. १९३३

(२)

प्रश्न–आज प्रणाम-गृह में श्री माताजी के आने से पहले ध्यान करते समय मैंने देखा कि श्री माताजी एक बहुत ऊंची जगह से उतर रही हैं, वह गुलाबी रंग की साड़ी पहने हैं और अपने बालों में 'भागवत प्रेम' नामक पुष्प लगाये हुए हैं। इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर–यह भागवत प्रेम के अवतरण को सूचित करता है।
५. ६. १९३३

(३)

प्रश्न–दो दिन हुए मैंने स्वप्न में देखा कि मैं एक कमरे में बिछौने पर लेटा हुआ हूं और वहां श्री माताजी गुलाबी रंग के एक घोड़े के साथ प्रवेश कर रही हैं। घोड़े को देखकर मैंने श्रीमां से कहा कि यह मुझे काटेगा, पर श्री माताजी ने उत्तर दिया कि नहीं, यह नहीं काटेगा। इस स्वप्न का क्या अर्थ है?

उत्तर–गुलाबी रंग चैत्य प्रेम का रंग है–घोड़ा सक्रिय शक्ति है। अतएव गुलाबी रंग के घोड़े का अर्थ यह है कि श्रीमां अपने साथ चैत्य प्रेम की सक्रिय शक्ति ला रही थीं।
३. ८. १९३३

(४)

प्रश्न–आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने देखा कि नीली ज्योति से भरपूर एक आकाश से एक सुंदर पक्की सड़क पृथ्वी पर आ रही है और श्री माताजी धीरे-धीरे उस सड़क से नीचे उतर रही हैं। श्रीमां का समूचा शरीर सफेद और सुनहली ज्योति से बना था और वह ज्योति चारों ओर फैल रही थी। जब श्री माताजी रास्ते के अंत पर आ गयीं

श्रीमां के महाकाली-रूप की सुनहली ज्योति

(१)

श्रीमां की ज्योति सफेद होती है—विशेषकर हीरे जैसी सफेद। महाकाली का रूप साधारणतया सुनहला होता है, खूब उज्ज्वल और तीव्र सुनहला।

१२. १०. १९३५

(२)

सुनहली ज्योति भागवत सत्य की ज्योति है जो साधारण मन से ऊपर के उच्चतर लोकों में दिखायी देती है—यह मूलतः अतिमानसिक ज्योति है। यह मन से ऊपर दिखायी देनेवाली महाकाली की भी ज्योति है। सफेद ज्योति की तरह सुनहली ज्योति भी प्रायः ही माताजी से निकलती हुई दिखायी देती है।

१७. ९. १९३३

(३)

प्रश्न—मैंने सुना है कि काली का रंग काला है और उनके चार हाथ हैं। परंतु मैंने अपने अंतर्दर्शन मे उनके केवल दो ही हाथ देखे और उनका रंग तेज सफेद था। मैंने उन्हें ऐसा क्यों देखा?

उत्तर—प्राणमय लोक में होनवाली महाकाली की एक अभिव्यक्ति का रूप काला होता है—परंतु अधिमानस लोक में स्वयं महाकाली सुनहली है। जिसे तुमने देखा था वह अपने ज्योतिर्मय शरीर मे महाकाली-शक्ति को लिये हुई स्वयं श्री माताजी थी, वह ठीक महाकाली का रूप नही था।

२६. ९. १९३३

(४)

यह काली, श्यामा इत्यादि साधारण रूप है जो प्राण के द्वारा दिखायी देते हैं; महाकाली का सच्चा रूप, जिसका मूल अधिमानस-लोक में है, काला या धूमिल या भयानक नही है बल्कि सुनहले रंग का है और असुरों के लिये भीषण होने पर भी सौंदर्य से भरपूर है।

१०. २. १९३४

सोने और हीरे की जैसी ज्योतियों की क्रिया

सुनहली ज्योति की रेखा उच्चतर भागवत सत्य की ज्योति की रेखा है जो हृदयाकाश में चारों ओर छा रही थी। हीरक-पुंज श्रीमां की ज्योति है जो उस आकाश में बरस रही

थी। अतएव यह इस बात का चिह्न है कि हृदय (चैत्य और भाव के)-केंद्र में उन शक्तियों की क्रिया हो रही है।
१७. १२. १९३६

श्रीमां के कुछ सूक्ष्म दर्शन तथा अनुभव

(१)

प्रश्न–कल शाम को जब श्री माताजी दर्शन देने के लिये नीचे उतरीं तब मैंने उनके चेहरे पर प्रातःकाल के सूर्य की तरह लाल रंग की ज्योति को चमकते हुए देखा। लाल रंग की ज्योति का क्या अर्थ है?

उत्तर–लाल रंग भौतिक वातावरण में प्रेम की अभिव्यक्ति को सूचित करता है।
५. ६. १९३३

(२)

प्रश्न–आज प्रणाम-गृह में श्री माताजी के आने से पहले ध्यान करते समय मैंने देखा कि श्री माताजी एक बहुत ऊंची जगह से उतर रही है, वह गुलाबी रंग की साड़ी पहने है और अपने बालों में 'भागवत प्रेम' नामक पुष्प लगाये हुए हैं। इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर–यह भागवत प्रेम के अवतरण को सूचित करता है।
५. ६. १९३३

(३)

प्रश्न–दो दिन हुए मैंने स्वप्न में देखा कि मै एक कमरे में बिछौने पर लेटा हुआ हूं और वहां श्री माताजी गुलाबी रंग के एक घोड़े के साथ प्रवेश कर रही हैं। घोड़े को देखकर मैंने श्रीमां से कहा कि यह मुझे काटेगा, पर श्री माताजी ने उत्तर दिया कि नहीं, यह नहीं काटेगा। इस स्वप्न का क्या अर्थ है?

उत्तर–गुलाबी रंग चैत्य प्रेम का रंग है–घोड़ा सक्रिय शक्ति है। अतएव गुलाबी रंग के घोड़े का अर्थ यह है कि श्रीमां अपने साथ चैत्य प्रेम की सक्रिय शक्ति ला रही थीं।
३. ८. १९३३

(४)

प्रश्न–आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने देखा कि नीली ज्योति से भरपूर एक आकाश से एक सुंदर पक्की सड़क पृथ्वी पर आ रही है और श्री माताजी धीरे-धीरे उस सड़क से नीचे उतर रही हैं। श्रीमां का समूचा शरीर सफेद और सुनहली ज्योति से बना था और वह ज्योति चारों ओर फैल रही थी। जब श्री माताजी रास्ते के अंत पर आ गयीं

और पृथ्वी पर उतर आयीं तब उनका शरीर पृथ्वी के साथ मिलजुल गया। तब मैं सहसा ध्यान से जग गया। क्या यह कोई सूक्ष्म दर्शन था? इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—हां, यह मन (साधारण मन नहीं, बल्कि उच्चतर मन) के स्तर पर प्राप्त एक सूक्ष्म दर्शन है। यह इस बात को सूचित करता है कि श्री माताजी पवित्र और दिव्य सत्य की (सफेद और सुनहली) ज्योति के साथ जड़-तत्त्व में उतर रही हैं।

५. ८. १९३३

(५)

प्रश्न—दो दिन पहले मैंने स्वप्न में देखा कि श्रीमां एक ऊंची जगह पर खड़ी हैं और उनके सामने एक स्तंभ है जिसपर एक तुलसी का पौदा लगा है। इसका क्या मतलब है?

उत्तर—मेरी समझ में इसका अर्थ यह है कि श्रीमां ने भक्ति को नीचे उतारा है और उसे रोप दिया है। ५. ६. १९३३

(६)

सांप शक्तियां हैं—प्राण-जगत् के सांप साधारणतया अशुभ शक्तियां होते हैं और लोग प्रायः इन्हीं को देखते हैं। परंतु अनुकूल या दिव्य शक्तियां भी उस रूप में प्रतिबिंबित होती हैं, जैसे, कुंडलिनी-शक्ति सांप के रूप में कल्पित की गयी है। श्री माताजी के सिर के ऊपर और चारों ओर घूमने-फिरनेवाले सांप शायद शिवमूर्त्ति का स्मरण कराते हैं और उनका अर्थ है असंख्य शक्तियां जो सब अंत में उस एक अनंत शक्ति के अंदर एकत्र कर दी गयी हैं जिससे वे निकली हैं।

२८. १०. १९३६

(७)

प्रश्न—मुझे एक स्वप्न आया था जिसमें मैंने देखा कि श्री माताजी मेरे समीप हैं। एक बार जब वह हंसीं तो मुझे ऐसा लगा मानो मैंने उनके मुंह के अंदर सभी जगतों को देखा, जैसे कि यशोदा ने कृष्ण के मुंह में देखा था। ऐसा देखने के बाद तुरंत ही मैंने अनुभव किया कि मैं इस जगत् से ऊपर उठ गया हूं और उसकी ओर एक मुक्त साक्षी की तरह देख रहा हूं। क्या यह एक सच्ची स्वप्नानुभूति थी और मैंने वास्तव में श्री माताजी को ही देखा, अथवा यह कोई दूसरे प्रकार का प्रभाव था?

उत्तर—मैं नहीं समझता कि यह कोई दूसरा प्रभाव था। यह बहुत सच्ची अनुभूति के जैसा ही प्रतीत होता है।

१९. ६. १९३५

(८)

प्रश्न--जब श्री माताजी छत पर आयी तब उनकी ओर देखते समय मैंने सहसा उनकी गोद में एक बालक देखा जो मुझे ईसा मसीह मालूम पड़ा, क्योंकि ईसा मसीह के चेहरे से वह मिलता-जुलता था। यह सूक्ष्म-दर्शन लगभग एक मिनट तक बना रहा और यह सब मैंने खुली आंखों से देखा। क्या यह सत्य हो सकता है?

उत्तर--हो सकता है--क्योंकि ईसा भगवती माता के पुत्र थे।

२५. ११. १९३३

(९)

मालूम होता है कि तुम उच्चतर अध्यात्मभावापन्न मन के किसी लोक में ऊपर उठ गये हो और साथ ही उसमे भागवत सत्य की शक्ति को लिये हुए महेश्वरी का अवतरण हुआ है। भौतिक चेतना मे इसका फल यह हुआ कि तुमने सभी वस्तुओं मे एक दिव्य चेतना और दिव्य जीवन को देखा और उच्चतर सत्य की सुनहली ज्योति से शरीर के सभी कोष प्रकाशित हो उठे।

अक्तूबर १९३३

(१०)

प्रश्न--पिछली रात स्वप्न में मैंने देखा कि श्री माताजी के शरीर से मेरे शरीर में ज्योति आ रही है और उसे रूपांतरित कर रही है। दोनो ही शरीर स्थूल शरीरों से अधिक लंबे थे और पत्थर की तरह धुंवले रंग के थे। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर--बहुत अच्छा, यह श्री माताजी की ओर भौतिक चेतना का उद्घाटन है। तुमने जिसे देखा वह संभवतः अवचेतन शरीर था--इससे धुंवले रंग का अर्थ स्पष्ट हो जाता है--पत्थर स्थूल प्रकृति को सूचित करता है।

३०. ९. १९३३

(११)

प्रश्न--हाल में मैं देख रहा हूं कि शाम को छत से नीचे उतरने के पहले श्री माताजी वहां बड़ी देर तक खड़ी रहती है। मैं अनुभव करता हूं कि उस समय वह हमें विशेष रूप से कुछ देती है, इसलिये मैं ग्रहण करने तथा वह जो कुछ देती है उसे अनुभव करने के लिये एकाग्र होता हूं। परंतु आज शाम को सहसा मैंने देखा (जब मैं उनकी ओर देखता हुआ ध्यान कर रहा था) कि उनका भौतिक शरीर विलीन हो गया,--उनके शरीर का कोई चिह्न वहां नही था, मानो वह वहां थी ही नहीं। फिर कुछ क्षणों के बाद उनकी आकृति

पुनः प्रकट हो गयी। उस समय मुझे ऐसा लगा कि वह आकाश में मिल गयी थीं और सभी वस्तुओं के साथ एकाकार हो गयी थीं। मैंने भला ऐसा क्यों देखा?

उत्तर—श्री माताजी आवाहन या अभीप्सा करती हैं और जब तक वह कार्य पूरा नहीं हो जाता तब तक वह खड़ी रहती हैं। कल कुछ समय तक वह शरीर के बोध से परे चली गयी थीं और शायद इसी बात के कारण तुमने उन्हें उस रूप में देखा।

२९. ८. १९३२

(१२)

प्रश्न—आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म रूप में देखा कि श्री माताजी गंभीर ध्यान में डूब गयी हैं। मैंने उन्हें इस रूप में क्यों देखा?

उत्तर—श्री माताजी अपनी आंतर सत्ता में बराबर ही ध्यानावस्थित चेतना में रहती हैं—इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि तुम उन्हें उस रूप में देखो।

५. ६. १९३३

(१३)

प्रश्न—आज शाम को जब श्री माताजी दर्शन देने आयीं तब मैंने एक बादल के रूप में उनके चारों ओर श्रीअरविन्द की ज्योति देखी। क्या यह सच्ची बात का ही सूक्ष्म-दर्शन था या यह केवल मन या प्राण की एक रचना थी जैसी कि स्वप्न में होती है?

उत्तर—यदि श्री माताजी की ज्योति को देखना एक गलत बात हो या मन या प्राण की एक रचना हो तो भगवान् की उपलब्धि तथा सभी आध्यात्मिक अनुभूतियों पर मानसिक या प्राणिक रचना या भूल होने का संदेह किया जा सकता है और इस तरह सारा योग ही असंभव हो जाता है।

६. ९. १९३३

श्री माताजी का ज्योतिर्मंडल

लोग श्रीमां के चारों ओर जो कुछ देखते हैं वह पहले तो उनका ज्योतिर्मंडल होता है, जैसा कि उसे आजकल की भाषा में नाम दिया गया है, और दूसरे, वे सब ज्योति की शक्तियां होती हैं जो उनके ध्यान करने के समय उनसे बाहर निकलती हैं, उदाहरणार्थ छत के ऊपर, जहां वह हमेशा ही ध्यान किया करती हैं। (प्रत्येक मनुष्य का एक ज्योतिर्मंडल होता है—पर अधिकांश लोगों में वह दुर्बल होता है और बहुत अधिक प्रकाशयुक्त नहीं होता, श्रीमां के ज्योतिर्मंडल में ज्योतियों और शक्तियों की पूरी लीला होती है)। लोग उसे साधारणतया नहीं देखते, क्योंकि वह एक सूक्ष्म-भौतिक चीज है, कोई स्थूल जड़ व्यापार नहीं है। लोग उसे केवल दो अवस्थाओं में देख सकते हैं—एक तो, अगर वे पर्याप्त रूप में सूक्ष्म दृष्टि

विकसित करें, या फिर स्वयं ज्योतिर्मंडल ही इतना सुदृढ़ होना आरंभ कर दे कि वह उसे ढक रखनेवाले स्थूल जड़-तत्त्व के कोष पर भी प्रभाव डाल सके। निश्चय ही माताजी उसे लोगों को दिखाने का कोई विचार नहीं रखतीं—अपने-आप ही, एकके बाद एक, आश्रम के करीब २० या ३० आदमियों ने शायद उसे देखा है। निस्संदेह यह इस बात का द्योतक है कि उच्चतर शक्ति (चाहे उसे अतिमानसिक कहो या न कहो) ने जड़-तत्त्व पर प्रभाव डालना आरंभ कर दिया है।

१५. ११. १९३३

श्री माताजी का सीधा अंतर्दर्शन

मैं नहीं मानता कि 'अ' को या किसी और को पहली ही दृष्टि में श्री माताजी के पूर्ण दिव्यत्व के दर्शन हुए होंगे। वह दर्शन केवल तभी हो सकता है जब कि किसी ने पहले से ही गुह्य लोकों का सूक्ष्म दर्शन प्राप्त करने की शक्ति विकसित कर रखी हो। अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस बात का स्पष्ट दर्शन या घनिष्ठ आंतरिक अनुभव या प्रत्यक्ष बोध हो कि "यही वह हैं।" मैं समझता हूं कि इन मामलों में तुम्हारा झुकाव बहुत अधिक काल्पनिक और काव्यमय होने की ओर है और आध्यात्मिक यथार्थवाद की ओर बहुत कम है। बहुत से लोगों में, जब वे साधना आरंभ करते हैं तब, गुह्य दर्शन की इस प्रकार की शक्ति सबसे पहले विकसित होती है और दूसरों में यह शक्ति स्वभावतः ही उपस्थित रहती है अथवा योग की किसी साधना के बिना ही कभी कभी आती है। परंतु जो लोग मुख्यतः बुद्धि में निवास करते हैं उनमें (कुछ लोगों को छोड़कर) यह शक्ति साधारणतया स्वभावतः ही उपस्थित नहीं होती और उनमें से बहुतों को उसे विकसित करने में बड़ी कठिनाई होती है। इस विषय में मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। इस दर्शनशक्ति के बिना चीजों को देखना तो एक प्रकार का जादू ही होगा। हम लोग यहां इस प्रकार के जादू का बहुत अधिक कारबार नहीं करते।

अगस्त १९३५

श्री माताजी के चक्र का तात्पर्य

प्रश्न—मैं प्रायः श्री माताजी के चक्र और उसके अर्थ के विषय में सोचता रहा हूं। मैंने इसे इस प्रकार समझा है :

मध्य का वृत्त—परात्पर शक्ति।

चार भीतरी दल—अतिमानस से अधिमानस तक कार्य करनेवाली चार शक्तियां।

बारह बाहरी दल—अधिमानस से संबोधि और मन तक उन चार शक्तियों का बारह शक्तियों में विभाग।

क्या आपके विचार में मैंने ठीक-ठीक अर्थ समझा है ?

उत्तर–मूलतः (साधारण मूलतत्त्व में) १२ शक्तियां वे स्पंदन हैं जो अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक हैं। ये बारह आरंभ से ही श्री माताजी के सिर के ऊपर देखी गयी हैं। इस तरह वास्तव में सूर्य से निकलनेवाली १२ किरणें हैं ७ नही। ग्रह आदि भी १२ हैं इत्यादि। शक्तियों के ब्योरे का ठीक-ठीक अर्थ करने का जहां तक संबंध है, मैं कोई ऐसी चीज नहीं देखता जो तुम्हारे बताये हुए क्रम के विरुद्ध हो। यह अर्थ अच्छी तरह लग सकता है।
१५. ४. १९३४

४

श्रीमां के प्रति उद्घाटन और समर्पण

श्री माताजी के आने के विषय में पूर्वज्ञान

(१)

मै नही जानता कि 'अ' किस स्तर पर है, परंतु उसकी पद्धति अद्वैत ज्ञान और मोक्ष की पद्धति है—अतएव उसके लिये भगवान् के आने की वात जानने की कोई आवश्यकता नही है। 'य' के गुरु भगवती माता के भक्त थे, सत्ता के शक्ति-पक्ष मे उन्हें विश्वास था, इसलिये उनके लिये यह एकदम स्वाभाविक था कि उन्हे श्री माताजी के आने की वात का पूर्वज्ञान प्राप्त हो।

२३. १. १९३६

(२)

श्री माताजी ने अपने वचपन के सूक्ष्म दर्शन मे मुझे देखा था और 'कृष्ण' समझा था—उन्होने रामकृष्ण को नही देखा।

यह आवश्यक नही था कि उनको (रामकृष्ण को) माताजी के अवतरित होने का दर्शन प्राप्त हो, क्योकि वह भविष्य की वात नही सोच रहे थे और न ज्ञानपूर्वक उसके लिये तैयारी कर रहे थे। मै नही समझता कि उन्हे श्री माताजी के किसी अवतरण का कोई ख्याल था।

११ ७ १९३५

श्रीमां के दिव्यत्व की पहचान

(१)

कुछ लोग एकदम आरभ कर देते है और दूसरो को समय लगता है।

'अ' ने पहली दृष्टि मे ही श्री माताजी को भगवती के रूप मे पहचान लिया था और उसके वाद से वरावर ही वह सन्न रहा ह; दूसरे लोगो को, जो श्री माताजी के भक्तो मे ही शामिल है, इस वात का पता लगाने या इसे स्वीकार करने मे वर्षो लग गये, पर वे सव उस स्थिति को प्राप्त हुए। कुछ लोग ऐसे भी है जिन्हे अपनी साधना के पहले पाच, छ., सात या अधिक वर्षों तक कठिनाइयो और विद्रोहो के सिवा और कुछ नही मिला, फिर भी अत मे चैत्य पुरुष जग गया। समय लगने की वात गौण है, एकमात्र आवश्यक वात

है वहां पहुंच जाना–फिर चाहे जल्दी हो या देर में, आसानी से हो या कठिनाई के साथ।

(२)

प्रश्न–ऐसा मालूम होता है कि मेरी सत्ताका जो बाहरी भाग माताजी को स्वीकार नहीं करता था वह अब उनके दिव्यत्व को पहचानने लगा है। पर जब मैं शरीर से उनके सामने जाता हूं तब मैं इसे क्यों भूल जाता हूं?

उत्तर–अपनी अत्यंत बाहरी क्रिया में भौतिक मन स्थूल वस्तुओं को केवल स्थूल रूप में ही देखता है।

१५. ८. १९३७

(३)

तुम्हारे अंदर का यह संघर्ष (श्री कृष्ण की भक्ति और माताजी के दिव्यत्व के बोध के बीच का संघर्ष) एकदम अनावश्यक है; क्योंकि ये दोनों ही चीजें एक हैं और पूर्ण रूप से एक साथ चल सकती हैं। श्री कृष्ण ही तुम्हें माताजी के पास ले आये हैं और माताजी की पूजा करके ही तुम उनको (श्री कृष्ण को) पा सकते हो। वह स्वयं इस आश्रम में हैं और यहां जो काम हो रहा है वह उन्ही का है। १९३३

(४)

प्रश्न–'क' जैसे अच्छे भक्त और तेज विद्यार्थी को भी श्री माताजी को स्वीकार करना कठिन मालूम हो रहा है। मैं नहीं समझ पाता कि श्रीमां-संबंधी सरल सत्य को वह क्यों नही देख सकता?

उत्तर–अगर श्री माताजी को स्वीकार करना उसके लिये कठिन है तो वह भला अच्छा भक्त कैसे हुआ और भक्त है तो किसका? तेज छात्र होना दूसरी बात है; हो सकता है कि कोई मेधावी छात्र तो हो पर आध्यात्मिक विषयों में एकदम अयोग्य हो। अगर कोई विष्णु या किसी अन्य देवता का भक्त हो तो वह अलग बात है–वह केवल अपनी पूजा के विषय को ही देख सकता है और इसलिये किसी अन्य वस्तु को स्वीकार करने में समर्थ नहीं होता।

१४. ११. १९३४

(५)

प्रश्न–कुछ लोग उच्चतर लोकों के क्रम में श्री माताजी की स्थिति को समझने में एकदम पथभ्रष्ट-से प्रतीत होते हैं। जब वे इन लोकों में होते हैं या उनसे कोई चीज ग्रहण करते हैं तब वे ऐसा समझना आरंभ कर देते हैं कि वे एक बड़ी ऊंचाई पर पहुंच गये हैं, और उच्चतर लोकों का माताजी के साथ कोई भी संबंध नहीं है। विशेषकर अतिमानस के

विषय में उनकी ऐसी विचित्र धारणाएं हैं मानो वह श्री माताजी से कहीं बड़ी कोई चीज हो।

उत्तर—अगर उन्हें श्री माताजी से बड़ी अनुभूति या चेतना प्राप्त है तो उन्हें यहां नहीं रहना चाहिये और बाहर जाकर उसके द्वारा जगत् की रक्षा करनी चाहिये।

साधना का केंद्रीय रहस्य

(१)

चैत्य सत्ता के श्री माताजी के प्रति खुले रहने से कार्य या साधना के लिये जो कुछ आवश्यक होता है वह सब धीरे-धीरे विकसित होता रहता है, यह एक प्रधान रहस्य है, साधना का केंद्रीय रहस्य है।

१३. २. १९३३

(२)

परंतु उपदेश के द्वारा न तो यह साधना सिखाई जाती है और न आगे चलायी जाती है। जो लोग अभीप्सा और श्रीमां का ध्यान करके अपने भीतर उनके कार्य और क्रियावली की ओर खुलने और उसे ग्रहण करने में समर्थ होते हैं केवल वे ही इस योग में सफल हो सकते हैं।

२१. ६. १९३७

(३)

इन सब बातों के विषय में मन को परेशान करना और साधारण मन के द्वारा इन्हें व्यवस्थित करने की चेष्टा करना भूल है। जब तुम्हारी चेतना तैयार होगी तब श्री माताजी पर भरोसा रखने से ही आवश्यक उद्घाटन हो जायगा। तुम्हारे वर्तमान कार्य को इस प्रकार व्यवस्थित करने में कोई हर्ज नहीं है जिसमें थोड़ा ध्यान करने के लिये समय और शक्ति बच जाय, पर केवल ध्यान के द्वारा ही आवश्यक चीज नहीं आयेगी। वह श्रद्धा और श्रीमां के प्रति खुले रहने से ही आ सकती है।

९. १०. १९३४

(४)

बस तुम्हारा काम है अभीप्सा करना, अपने-आपको श्रीमां की ओर खुला रखना, जो सब चीजें उनकी इच्छा के विरुद्ध हैं उन सबका त्याग करना तथा अपने अंदर उन्हें कार्य करने देना—साथ ही अपने सभी कर्मों को उनके लिये ही करना और इस विश्वास के साथ करना कि केवल उनकी शक्ति के द्वारा ही तुम उन्हें कर सकते हो। अगर तुम इस तरह खुले रहो तो फिर यथासमय ज्ञान और उपलब्धि तुम्हें प्राप्त हो जायेंगी।

(५)

योगसाधना करने का मतलव ही है सब प्रकार की आसक्तियों को जीतने और एकमात्र भगवान् की ओर मुड़ जाने का संकल्प करना। योग की सबसे प्रधान बात है पग-पग पर भागवत कृपा पर विश्वास रखना, निरंतर अपने विचार को भगवान् की ओर मोड़ते रहना और जब तक अपनी सत्ता उद्‌घाटित न हो जाय और आधार के अंदर कार्य करती हुई श्रीमां की शक्ति का अनुभव न हो सके तब तक अपने-आप को समर्पित करते रहना।

श्रीमां के प्रति उद्‌घाटन

(१)

खुले रहने का अर्थ है श्रीमां की ओर महज इस तरह मुड़े रहना कि उनकी शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर सके और कोई भी चीज उसके कार्य को अस्वीकार न करे अथवा बाधा न पहुंचावे। अगर मन अपने निजी विचारों में ही बंद रहे और उसे अपने अंदर ज्योति और सत्य न लाने दे, अगर प्राण अपनी वासनाओं से चिपका रहे और जिस सच्चे प्रारंभ और जिन सब सत्य प्रवृत्तियों को श्रीमां की शक्ति ले आती है उन्हें न आने दे, अगर शरीर अपनी कामनाओं, आदतों और तामसिकता से अवरुद्ध हो, और ज्योति और शक्ति को अपने अंदर घुसने और कार्य करने न दे तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति खुला नहीं है। एकदम आरंभ से ही अपनी समस्त गतिविधियों में पूर्ण रूप से उद्‌घाटित हो सकना संभव नहीं है, पर प्रत्येक भाग में एक केंद्रीय उद्‌घाटन और प्रत्येक अंग में (केवल मन में ही नहीं) एकमात्र श्रीमां की 'क्रिया' को ही होने देने की प्रबल अभीप्सा या संकल्प अवश्य होना चाहिये, तब बाकी चीजें धीरे-धीरे पूरी कर दी जायंगी।

२८-१०-१९३४

(२)

श्रीमां की ओर खुले रहने का तात्पर्य है बराबर शांत-स्थिर और प्रसन्न बने रहना तथा दृढ़ विश्वास बनाये रखना–न कि चंचल होना, दुःख करना या हताश होना, अपने अंदर उनकी शक्ति को कार्य करने देना जो तुम्हारा पथप्रदर्शन कर सके, ज्ञान, शांति और आनंद दे सके। अगर तुम अपनेको खुला न रख सको तो फिर उसके लिये निरंतर पर खूब शांति से यह अभीप्सा करो कि तुम उनकी ओर खुल सको।

खुलने का ठीक तरीका

(१)

प्रश्न–खुलने का क्या अर्थ है?

उत्तर–उसका अर्थ है श्री माताजी की उपस्थिति और उनकी शक्तियों को ग्रहण करना।
अप्रैल, १९३३

(२)

प्रश्न–इस उद्घाटन को पाने का ठीक-ठीक और पूरा तरीका क्या है?

उत्तर–अभीप्सा, स्थिरता, ग्रहण करने के लिये अपने को फैलाना, उन सब चीजों का त्याग करना जो तुम्हें भगवान् की ओर से बंद कर देने की कोशिश करती हों।
अप्रैल, १९३३

(३)

प्रश्न–यह कैसे जाना जा सकता है कि मैं श्री माताजी की ओर खुल रहा हूं, अन्य किसी शक्ति की ओर नहीं?

उत्तर–तुम्हें जाग्रत् रहना होगा और यह देखना होगा कि तुम्हारे अंदर विक्षोभ, कामना, अहंकार आदि की कोई क्रिया न हो।
अप्रैल, १९३३

(४)

प्रश्न–श्री माताजी के प्रति सच्चे उद्घाटन के चिह्न क्या-क्या हैं?

उत्तर–वह स्वयं अपने-आपको तुरत दिखा देता है–जब तुम दिव्य शांति, समता, विशालता, ज्योति, आनंद, ज्ञान, शक्ति का अनुभव करते हो, जब तुम श्री माताजी के सान्निध्य या उपस्थिति या उनकी शक्ति की क्रिया आदि के विषय में सचेतन होते हो। अगर इनमें से किसी भी चीज का अनुभव हो तो इसका अर्थ है कि उद्घाटन है–अगर अधिक चीजों का अनुभव हो तो समझना होगा कि उद्घाटन अधिक पूर्ण है।
अप्रैल, १९३३

उन्नति की शर्त

प्रश्न–यदि कोई साधक अपनी प्रकृति की बाधाओं के कारण बहुत दिनों के बाद भी अपनेको माताजी की ओर पूर्ण रूप से न खोल सके, तो क्या इसका अर्थ यह है कि वह माताजी द्वारा स्वीकृत नहीं होगा?

उत्तर–ऐसे प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। जो लोग यहां योग की साधना करते हैं वे लोग माताजी द्वारा स्वीकृत हैं–क्योंकि 'स्वीकृत' का अर्थ है "योग में गृहीत, शिष्य-रूप में स्वीकृत।" परंतु योग में उन्नति करना और योग में सिद्धि पाना इस बात पर निर्भर करता

है कि कितनी मात्रा में साधक उद्घाटित हुआ है।
२४. ६. १९३३

उद्घाटन और रूपांतर

प्रश्न—'क' कहता है कि श्री माताजी ने उससे कहा कि अगर सच्चाई पूर्ण रूप से हो तो एक दिन मे रूपांतर हो जायगा। मैं नही समझता कि यह कैसे संभव हो सकता है—परिवर्तन और रूपांतर की एक लंबी प्रक्रिया महज एक दिन के अंदर कैसे पूरी हो सकती है!

उत्तर—सच्चाई से माताजी का मतलब था एकमात्र भगवान् के प्रभाव के सिवा अन्य किसी प्रभाव की ओर न खुलना। अब. अगर समूची सत्ता—शरीर का प्रत्येक कोष तक—इस अर्थ में सच्ची हो तो भला अत्यंत तीव्र रूपांतर को कौन सी चीज रोक सकती है? अज्ञान की प्रकृति के कारण, जिसमें से कि साधारण प्रकृति तैयार हुई है, लोग ऐसे नही हो सकते, भले ही उनका आलोकित अंग चाहे जितना भी ऐसा होना क्यों न चाहे—इसी कारण एक लंबी और कष्टसाध्य क्रिया की आवश्यकता होती है।
२६. ७. १९३४

उद्घाटन की क्रमशः वृद्धि

सर्वदा आरंभ से ही उद्घाटन पूर्ण नही होता—सत्ता का एक अंग खुलता है, चेतना के दूसरे अंग तब भी बंद पड़े रहते है या केवल अधखुले होते है—तब तक अभीप्सा करते रहना चाहिये जब तक सब अंग न खुल जायं। सबसे अच्छे और अत्यंत शक्तिशाली साधकों को भी पूर्ण उद्घाटन मे समय लगता है; और ऐसा कोई भी आदमी नही है जो बिना संघर्ष के तुरत सभी चीजों का त्याग करने मे समर्थ हुआ हो। इसलिये ऐसा समझने का कोई कारण नही कि अगर तुम पुकारो तो तुम्हारी पुकार नही सुनी जायगी—माताजी मानव-प्रकृति की कठिनाइयो को जानती है और वह तुम्हे बराबर सहायता करेंगी। सदा प्रयास करते रहो, सदा पुकारते रहो और तब प्रत्येक कठिनाई के बाद कुछ न कुछ प्रगति होगी।
२०. ४. १९३५

आंतर और उच्चतर उद्घाटन

(१)

नित्य-स्मरण के द्वारा हमारी सत्ता पूर्ण उद्घाटन के लिये तैयार होती है। हृदय के खुल जाने पर श्रीमा की उपस्थिति का अनुभव होना आरंभ हो जाता है और, ऊपर की उनकी शक्ति की ओर उद्घाटित हो जाने पर उच्चतर चेतना की शक्ति नीचे शरीर में उतर आती है और वहां समूची प्रकृति को बदल देने के लिये कार्य करती है।
७. ८. १९३४

(२)

साधारणतया इस साधना में व्यवहार में आनेवाला एकमात्र मंत्र है श्रीमां का मंत्र या मेरे और माताजी के नाम का मंत्र। हृदय में और मस्तक में दोनों जगह ध्यान किया जा सकता है—दोनों का अपना अलग-अलग फल है। पहला चैत्य पुरुष को उद्घाटित करता है और भक्ति, प्रेम तथा श्री माताजी के साथ एकत्व, हृदय में उनकी उपस्थिति तथा प्रकृति के अंदर उनकी शक्ति की क्रिया को ले आता है। दूसरा आत्मोपलब्धि के लिये, जो कुछ मन से ऊपर है उसकी चेतना पाने के लिये, चेतना के शरीर से ऊपर उठने के लिये और उच्चतर चेतना को शरीर के अंदर उतारने के लिय मन को उद्घाटित करता है।
१३. १०. १९३४

(३)

इस योग की और कोई पद्धति नहीं है सिवा इसके कि चेतना को,—अच्छा हो कि हृदय में,—एकाग्र किया जाय और अपनी सत्ता को हाथ में लेने के लिये श्रीमां की उपस्थिति और शक्ति को पुकारा जाय और उनकी शक्ति की क्रिया के द्वारा चेतना को रूपांतरित किया जाय; कोई चाहे तो सिर में या भौहों के बीच में भी चित्त को एकाग्र कर सकता है, पर बहुतों के लिये इन स्थानों में उद्घाटित होना अत्यंत कठिन है। जब मन स्थिर हो जाता है, एकाग्रता दृढ़ हो जाती और अभीप्सा तीव्र हो जाती है, तब अनुभूति का आना आरंभ होता है। श्रद्धा जितनी ही अधिक होगी उतना ही शीघ्र फल भी दिखायी देने की संभावना है। बाकी चीजो के लिये साधक को केवल अपने ही प्रयास पर निर्भर नहीं करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ संस्पर्श स्थापित करने और श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करने में सफल होना चाहिये।

(४)

सीधे चैत्य केंद्र का खुलना केवल तभी आसान होता है जब अहंकेंद्रितता (अहंकार में केंद्रित रहना) बहुत अधिक कम हो जाय और उसके साथ ही श्री माताजी के प्रति खूब तीव्र भक्ति भी हो। आध्यात्मिक नम्रता, भगवान् के प्रति अधीनता और निर्भरता का बोध आवश्यक है।
१६. ७. १९३६

(५)

हां, मन को स्थिर कर देने पर ही तुम श्रीमां को पुकारने तथा उनकी ओर खुलने में समर्थ होगे। शांतिदायी प्रभाव चैत्य पुरुष का स्पर्श था—वह उन स्पर्शों में से एक स्पर्श था जो चैत्य उद्घाटन की तैयारी करते हैं—उस उद्घाटन की जो अपने साथ आंतर शांति प्रेम और आनंद का उपहार लाता है।
१७. ९. १९३४

(६)

श्रीमा की शांति तुम्हारे ऊपर विद्यमान है-अभीप्सा तथा शात-स्थिर आत्मोद्घाटन के द्वारा वह नीचे उतरती है। जब वह प्राण और शरीर के ऊपर अपना अधिकार जमा लेती है तब समता का आना आसान हो जाता है और अंत मे वह स्वाभाविक बन जाती है।
२८. ८. १९३३

श्रीमां की शक्ति की ओर उद्घाटन और अन्य शक्तियों से बचना

(१)

श्रीमा की शक्ति की ओर अपनेको खुला रखो, पर सब प्रकार की शक्तियो पर विश्वास न करो। जब तुम आगे बढते जाओगे और साथ ही सीधे रास्ते पर बने रहोगे तो, एक ऐसा समय आयेगा जब चैत्य पुरुष अधिक प्रमुखता के साथ क्रियाशील हो उठेगा और ऊपर से आनेवाली दिव्य ज्योति अधिक शुद्धता तथा प्रबलता के साथ कार्य करने लगेगी जिससे कि मानसिक कल्पनाओ तथा प्राणिक रचनाओं के सच्ची अनुभूति के साथ मिलजुल जाने की सभावना कम हो जायेगी। जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, ये न तो अतिमानसिक शक्तिया हैं न हो ही सकती हैं; यह तो तैयारी का एक कार्य है जो एक भावी योगसिद्धि के लिये सारी चीजो को तैयार कर रहा है।
१८. ९. १९३२

(२)

अपने अंदर माताजी की शक्ति को काम करने दो, पर किसी मिलावट या उसका स्थान ग्रहण करनेवाली किसी दूसरी चीज से-वह चाहे अहकार की कोई अतिरंजित क्रिया हो या दिव्य सत्य के रूप में सामने आनेवाली कोई अज्ञान की शक्ति-बचने के लिये सावधान रहो। प्रकृति के अदर से सब प्रकार के अंधकार और अचेतनता के दूर होने के लिये विशेष रूप से अभीप्सा करो।

श्रीमां के प्रति सच्चाई और विश्वासपात्रता

अगर कोई विरोधी शक्ति आये तो हमें उसे स्वीकार नही करना चाहिये और न उसके सुझावो का स्वागत ही करना चाहिये, बल्कि हमें श्रीमा की ओर मुड़ जाना चाहिये और किसी हालत में भी उनसे विमुख नही होना चाहिये। चाहे कोई अपनेको खोल सके या नही, उसे सच्चा और विश्वासपात्र जरूर बने रहना चाहिये। सच्चाई और विश्वासपात्रता ऐसे गुण नही हैं जिनके लिये मनुष्य को योग ही करना पड़े। वे बहुत सीधी-सादी चीजें हैं जिन्हे सत्य की अभीप्सा करनेवाले किसी भी पुरुष या स्त्री को प्राप्त करने मे समर्थ होना चाहिये।

सफल होने का एकमात्र पथ

(१)

तुम्हारी प्रकृति के एक बहुत ही प्रधान अंग में अहंपूर्ण व्यक्तित्व की एक मजबूत रचना है जिसने तुम्हारी आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ अहन्ता और आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षा का एक हठी तत्त्व मिला दिया है। इस रचना ने अधिक सत्य और अधिक दिव्य किसी चीज को स्थान देने के लिये कभी भी भंग होना स्वीकार नही किया है। अतएव, जब कभी श्री माताजी ने तुम्हारे ऊपर अपनी शक्ति प्रयुक्त की अथवा जब-जब तुमने स्वयं अपने ऊपर शक्ति खीची तब-तब तुम्हारे अंदर की इस रचना ने उस शक्ति को अपने ढ़ग से काम करने से रोक दिया। इसने स्वयं ही मन की भावनाओं या अहंकार की किसी मांग के अनुसार गढ़ना आरंभ कर दिया है और यह अपने 'निजी ढंग' से, अपने निजी बल, अपनी निजी साधना और अपनी निजी तपस्या से अपनी निजी सृष्टि करने की चेष्टा कर रही है। इस क्षेत्र मे कभी कोई सच्चा आत्मसमर्पण नही हुआ है, तुमने कभी भगवती माता के हाथों मे *खुले तौर पर और सहज भाव से अपने-आपको नही दिया है। लेकिन यही है अतिमानस* योग में सफलता पाने का एकमात्र रास्ता। योगी, संन्यासी या तपस्वी होना यहां का लक्ष्य नही है। यहा का लक्ष्य है रूपातर और यह रूपांतर केवल तुम्हारी अपनी शक्ति से अनंत-गुनी वड़ी एक शक्ति के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। यह केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब तुम सचमुच भगवती माता के हाथों में एक बच्चे के समान बन जाओ।

(२)

यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक भावनाओं या किसी प्राणिक वासना के प्रति आसक्ति होने के कारण चैत्य-नवजन्म को अस्वीकार किया जाय, श्रीमां का सद्य-उत्पन्न बच्चा बनने से इन्कार किया जाय, तो फिर साधना में असफलता ही प्राप्त होगी।

(३)

प्रश्न–अपनी साधना में, कभी-कभी हम शांति, शक्ति, आनंद इत्यादि के विशाल अवतरण अनुभव करते हैं, जिन्हे हमारा तुच्छ मानव अहंकार हड़प जाता है और हमारे अंदर यह भाव भर देता है कि हम माताजी के चुने हुए अतिमानवों के दल के होंगे। क्या यह भूल नही है ?

उत्तर–अतिमानव बनने की इच्छा करना भूल है। यह इच्छा महज अहंकार को फुलाती है। हम अतिमानसिक रूपांतर सिद्ध करने के लिये भगवान् के सामने अभीप्सा कर सकते है, परंतु उसे भी तब तक नही करना चाहिये जब तक माताजी की शांति, शक्ति, ज्योति और पवित्रता के अवतरण के द्वारा हमारी सत्ता चैत्य और अध्यात्म-भावापन्न न हो जाय।

२२.२.१९३६

(४)

प्रश्न–अतिमानसिक अवतरण के लिये हमें कौन से मनोभाव या पद्धति का ग्रहण करना चाहिये ?

उत्तर–मनोभाव या पद्धति का जहां तक प्रश्न है–इस विषय में तुम्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं। श्री माताजी के प्रति पूर्ण श्रद्धा, उद्घाटन और आत्मदान का होना ही इसकी आवश्यक शर्त है।
२३. ९. १९३५

श्रीमां की कृपा ग्रहण करना

(१)

प्रश्न–क्या माताजी की कृपा केवल साधारण होती है ?

उत्तर–साधारण और विशेष दोनों प्रकार की होती ह।
८. २. १९३४

(२)

प्रश्न–जो कुछ वह सावारण रूप मे देती है उसे कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?

उत्तर–तुम्हे सिर्फ अपने-आपको खोले रखना होगा और फिर जो कुछ तुम्हारे लिये आवश्यक होगा और उस समय तुम ग्रहण कर सकोगे वह अपने-आप आयेगा।
१०. २. १९३४

(३)

प्रश्न–क्या 'पुरुष' ही समस्त सत्ता में होनेवाले माताजी की करुणा के कार्य को अनुमति देता है ?

उत्तर–हां।
अप्रैल, १९३३

(४)

प्रश्न–अगर 'पुरुष' अनुमति न दे तो क्या इसका मतलव यह है कि अन्य सत्ताएं भी साधक को माताजी की कृपा ग्रहण करने के योग्य वनाने के लिये सामने नही आ सकती ?

उत्तर–नहीं। पुरुष प्रायः ही पीछे रुक जाता है और अन्य सत्ताओं को अपने स्थान में अनुमति देने या त्याग देने का मौका देता है।
अप्रैल, १९३३

(५)

प्रश्न—जब माताजी की कृपा नीचे साधक के ऊपर उतरती है तो क्या वह 'पुरुष' की अनुमति से ही आती है?

उत्तर—'अनुमति से' कहने का तुम्हारा तात्पर्य क्या है? माताजी की कृपा माताजी की इच्छा से नीचे उतरती है। 'पुरुष' कृपा को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

अप्रैल, १९३३

श्रीमां को आत्मसमर्पण करने की आवश्यकता

(१)

अगर तुम आत्मसमर्पण न करो तो फिर माताजी की ओर खुले रहने का कोई विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। आत्मदान या समर्पण की मांग उन लोगों से की जाती है जो इस योग का अभ्यास करते हैं, क्योंकि सत्ता की ओर से वढ़ता हुआ समर्पण हुए विना कहीं भी लक्ष्य के समीप पहुंचना एकदम असंभव है। उनकी ओर खुले रहने का अर्थ है अपने अंदर कार्य करने के लिये उनकी शक्ति का आवाहन करना, और अगर तुम उस शक्ति के प्रति समर्पण नहीं करते तो इसका तात्पर्य हो जाता है अपने अंदर उस शक्ति को एकदम कार्य न करने देना अथवा केवल इस शर्त्त पर कार्य करने देना कि वह उसी तरह कार्य करे जिस तरह कि तुम चाहते हो, अपने निजी तरीके से, जो कि दिव्य सत्य का तरीका है, कार्य न करे। इस तरह का सुझाव साधारणतया किसी विरोधी शक्ति के यहां से आता है अथवा मन या प्राण के किसी अहंकारपूर्ण अंश से आता है जो भागवत कृपा या शक्ति को चाहता तो है पर केवल इसलिये कि वह किसी अपने निजी उद्देश्य के लिये उसका उपयोग करे और यह अंश भागवत उद्देश्य के लिये जीवन यापन करने के लिये इच्छुक नहीं होता,—जो कुछ वह ले सके वह सब भगवान् से ले लेने के लिये तो वह उत्सुक होता है, पर स्वयं अपने-आपको भगवान् के हाथों में दे देने के लिये नहीं। अंतरात्मा, हमारा सच्चा स्वरूप, इसके विपरीत, भगवान् की ओर मुड़ता है और आत्मसमर्पण करने के लिये केवल इच्छुक ही नहीं होता वल्कि उत्सुक होता है और उससे उसे प्रसन्नता होती है।

इस योग में साधक से प्रत्येक मानसिक आदर्शवादी संस्कृति से परे चले जाने की आशा की जाती है। भावनाएं और आदर्श मन से संबंध रखते हैं और वे केवल अर्द्ध-सत्य हैं; मन भी, वहुत वार, एक आदर्श वना लेने से ही संतुष्ट रहता है, आदर्शवादिता के सुख में डूवा रहता है, और जीवन ज्यों-का-त्यों, अरूपांतरित अवस्था में पड़ा रहता है अथवा केवल थोड़ा सा और वह भी ऊपर से देखने में ही परिवर्तित होता है। अध्यात्म का साधक उपलब्धि की चेष्टा से विरत होकर केवल आदर्श वनाने में ही नहीं लग जाता; आदर्श वनाना नहीं, वल्कि दिव्य सत्य को उपलव्ध करना ही उसका लक्ष्य होता है, चाहे जीवन से परे जाकर

या जीवन में ही रहते हुए और इस अवस्था में यह आवश्यक है कि मन और प्राण को रूपांतरित किया जाय और यह रूपांतर भागवती शक्ति, श्रीमां के कार्य के प्रति आत्म-समर्पण किये विना नहीं हो सकता।

निर्वैयक्तिक की खोज करना उन लोगों का पथ है जो जीवन से अलग होना चाहते हैं, पर साधारणतया वे चेष्टा करते हैं अपने निजी प्रयास के बल पर, वे किसी श्रेष्ठतर शक्ति की ओर अपने-आपको खोलकर या आत्मसमर्पण के पथ से नहीं चलते; क्योंकि, निराकार ऐसी चीज नहीं है जो पथ दिखाती या सहायता करती हो, वल्कि वह ऐसी चीज़ है जो प्राप्त की जाती है और वह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रकृति के पथ और क्षमता के अनुसार उसे प्राप्त करने के लिये छोड़ देती है। दूसरी ओर, श्रीमां की ओर अपने को खोलकर और उन्हें आत्मसमर्पण करके मनुष्य निराकार को भी प्राप्त कर सकता है और सत्य के दूसरे सभी रूपों को भी।

अवश्य ही आत्मसमर्पण क्रमोन्नतिशील होना चाहिये। कोई भी आदमी आरंभ से ही पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, इसलिये यह विलकुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य अपने भीतर की ओर ताकता है तो उसका अभाव ही पाता है। पर यह कोई कारण नहीं कि आत्मसमर्पण का सिद्धांत ही न स्वीकार किया जाय और धीर-स्थिर रूप से एक-एक स्तर, एक-एक क्षेत्र में, क्रमशः प्रकृति के सभी अंगों में उसे प्रयुक्त करते हुए, उसे जीवन में न उतारा जाय।

(२)

तो यह आत्मसमर्पण का संकल्प है। पर आत्मसमर्पण श्रीमां के प्रति ही होना चाहिये—शक्ति के प्रति भी नहीं, स्वयं श्रीमां के प्रति।

४. १०. १९३६

(३)

यदि चैत्य पुरुष प्रकट हो तो वह तुमसे अपने प्रति नहीं, वल्कि माताजी के प्रति आत्म-समर्पण करने को कहेगा।

(४)

सवसे उत्तम उपाय है चैत्य पुरुष में निवास करना, क्योंकि वह सदा ही माताजी के प्रति समर्पित रहता है और दूसरों (अन्य भागों) को भी ठीक रास्ते से ले जा सकता है। संयम करने के लिये किसी स्थान में एकाग्र होने की आवश्यकता होती है—कोई तो मन के अंदर या मन के ऊपर एकाग्र होते हैं; दूसरे हृदय में एकाग्रता लाते हैं और हृदय के द्वारा चैत्य केंद्र में।

११. ६. १९३३

आवश्यक प्रयास

साधक से जो प्रयास करने की मांग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। अगर ये तीनों चीजें की जायं तो फिर बाकी चीजे श्रीमां की कृपा से और तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति की क्रिया के कारण अपने-आप ही आयेंगी। परंतु इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मसमर्पण और उसका प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाई के समय विश्वास, भरोसा और धैर्य। यह कोई नियम नही है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते है जब कि अभीप्सा भी हो। बल्कि उसके विपरीत, जब कि तामसिकता के दबाव के कारण अभीप्सा नही होती तब भी विश्वास, भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते है। यदि अभीप्सा के प्रसुप्त रहने पर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दे तब उसका मतलब यह होगा कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयास पर ही निर्भर करता है—उसका अर्थ होगा—"ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी है, इसलिये अब मेरे लिये कोई आशा नही। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिये भला माताजी भी क्या कर सकती है?" पर, इसके विपरीत, साधक का भाव यह होना चाहिये, "कोई बात नही, मेरी अभीप्सा फिर से वापस आयेगी। इस बीच, मै जानता हूं कि जब मै श्रीमा को अनुभव नही करता तब भी वह मेरे साथ है; वह मुझे अंधकारमय घड़ियों से भी पार करेंगी।" यही पूर्णतः यथार्थ भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाये रखना चाहिये। जिनमें यह भाव होता है अवसाद उनका कुछ भी नही कर सकता; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्त्तव्यविमूढ होकर वापस लौट जाना पड़ता है। यह चीज तामसिक आत्मसमर्पण नही है। तामसिक समर्पण तो उसे कहते है जब मनुष्य कहता है कि "मै कुछ भी नही करूंगा; श्रीमां सब कुछ कर दे। अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण भी आवश्यक नही है। माताजी ही मेरे अंदर यह सब कर दे।" इन दोनों भावों में बहुत बड़ा अंतर है। एक भाव तो है उस पीछे हटनेवाले का जो कुछ भी नही करना चाहता और दूसरा है उस साधक का जो अपनी शक्ति भर प्रयास करता है, पर जब वह कुछ समय के लिये अकर्मण्यता में जा गिरता है और चीजें विपरीत हो जाती है तब भी वह सब चीजों के पीछे विद्यमान श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति में अपना विश्वास बराबर बनाये रखता है और उस विश्वास के द्वारा विरोधी शक्ति को चकमे में डाल देता है और साधना की क्रिया को फिर वापस ले आता है। २६. १०. १९३६

सच्चा और पूर्ण समर्पण

(१)

अगर तुम अपनी साधना में प्रगति करना चाहते हो तो यह आवश्यक है कि जिस नति और समर्पण की बात तुम करते हो उसे सरल, सच्चा और पूर्ण बनाओ। यह तब तक नही किया जा सकता जब तक कि तुम अपनी वासनाओ को अपनी आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ

मिलाते हो। यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि तुम परिवार, संतान या अन्य किसी चीज या मनुष्य के प्रति अपनी प्राणगत आसक्ति का पोषण करते हो। अगर तुम्हें यह योग करना है तो तुम्हें बस एक ही कामना और अभीप्सा, आध्यात्मिक सत्य को ग्रहण करने और उसे अपने सभी विचारों, अनुभवों, क्रियाओं और प्रकृति के अंदर अभिव्यक्त करने की कामना और अभीप्सा रखनी चाहिये। तुम्हें किसी के साथ किसी प्रकार का संबंध बनाने के लिये लालायित नहीं होना चाहिये। दूसरों के साथ साधक के संबंध उसके भीतर से, जब वह सत्य चेतना प्राप्त कर लेता है और ज्योति में निवास करता है तब, उत्पन्न होने चाहियें। वे संबंध उसके भीतर भगवती माता की शक्ति और इच्छा के द्वारा, दिव्य जीवन और दिव्य कर्म के लिये आवश्यक अतिमानसिक सत्य के अनुसार, निश्चित होंगे; वे कभी उसके मन और उसकी प्राणगत वासनाओं के द्वारा निश्चित नहीं होने चाहियें। इस बात को तुम्हें अवश्य याद रखना होगा। तुम्हारा चैत्य पुरुष श्रीमां के हाथों में अपने-आपको दे देने की और सत्य के अंदर निवास करने और वर्द्धित होने की क्षमता रखता है; पर तुम्हारा निम्नतर प्राण-पुरुष आसक्तियों और संस्कारों से तथा कामना की अपवित्र गति-विधि से बराबर भरा रहा है और तुम्हारा बाहरी भौतिक मन अपने अज्ञानपूर्ण विचारों और आदतों को झाड़ फेंकने तथा सत्य की ओर खुल जाने में असमर्थ रहा है। यही कारण था कि तुम उन्नति करने में असमर्थ रहे, क्योंकि तुम बराबर ही एक ऐसी चीज और ऐसी गतियों को बनाये रखते थे कि जिन्हें रखने नहीं दिया जा सकता था; कारण दिव्य जीवन में जो कुछ स्थापित करने की आवश्यकता होती है ठीक उसके विपरीत ये सब चीजें थीं। एकमात्र श्रीमां ही तुम्हें इन सब चीजों से मुक्त कर सकती हैं, अगर तुम सचमुच ऐसा चाहो, केवल अपनी चैत्य सत्ता में ही नहीं, बल्कि अपने भौतिक मन और अपनी समस्त प्राणिक प्रकृति में भी। इस चाह का लक्षण यह होगा कि तुम अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, आसक्तियों या कामनाओं को अब और पोसे नहीं रखोगे या उनपर जोर नहीं दोगे, और चाहे दूरी जितनी हो और तुम चाहे जो कुछ भी हो, तुम अपने-आपको खुला हुआ और श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति को अपने साथ और अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करोगे और संतुष्ट, धीर-स्थिर, विश्वास से भरपूर बने रहोगे, अन्य किसी चीज का अभाव नहीं अनुभव करोगे और बराबर ही श्रीमां की इच्छा की प्रतीक्षा करोगे।

(२)

सब कुछ अपने हृदय में विराजमान श्रीमां के सामने रख दो जिसमें उनकी ज्योति अच्छे से अच्छे परिणाम लाने के लिये क्रिया कर सके। २१.४.३५

(३)

संसार का जीवन अपने स्वभाव में अशांति का क्षेत्र है—ठीक रास्ते से उस जीवन को

पार करने के लिये जीवन और कर्म भगवान् को समर्पित करने चाहियें और अंतरस्थ भगवान्-की शांति पाने की प्रार्थना करनी चाहिये। जब मन स्थिर हो जाता है तब मनुष्य अनुभव कर सकता है कि भगवती माता जीवन को सहारा दे रही है और वह उनके हाथों में प्रत्येक चीज को छोड़ सकता है।

१६. ४. १९३३

माताजी की गोद में

प्रश्न—मुझे ठीक तरह से ध्यान करने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है। जब कि मैं ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर पाता तब क्या मेरे लिये सबसे उत्तम यह न होगा कि मैं यह कल्पना करूं कि मैं चिरदिन माताजी की गोद में ही पड़ा हूं?

उत्तर—यही सबसे उत्तम प्रकार का ध्यान है।

१२. ८. १९३५

५

श्रीमां की शक्ति की क्रिया

श्रीमां की शक्ति

(१)

श्री माताजी की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता।

(२)

सब कुछ श्रीमां की शक्ति की क्रिया के द्वारा, जिसे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और समर्पण की सहायता प्राप्त हो, सिद्ध करना होगा।

३०.१०.१९३४

प्रकृति की शक्ति और श्रीमां की शक्ति

जब मैं श्रीमां की शक्ति की बात कहता हूं तब मैं प्रकृति की शक्ति की बात नहीं कहता जिसके भीतर अज्ञान की चीजें होती हैं, बल्कि भगवान् की उच्चतर शक्ति की बात कहता हूं जो प्रकृति का रूपांतर करने के लिये ऊपर से अवतरित होती है।

नहीं, माताजी का कोई इरादा नहीं था। तुम स्वयं ही उनके पास आने के कारण अपनी भूल के विषय में सचेतन हो गये।

श्रीमां की उच्चतर शक्ति का अवतरण और उसकी क्रिया

एक ऐसी शक्ति है जो नयी चेतना के विकास के साथ आती है और तुरत उसके साथ-साथ बढ़ती है तथा उसके घटित होने और परिपूर्ण बनने में सहायता करती है। यह योगशक्ति है। यह हमारी आंतर सत्ता के सभी केंद्रों (चक्रों) में कुंडलित होकर सोयी पड़ी है और सबसे नीचे के तल में जो रूप है उसे तंत्रों में कुंडलिनी शक्ति कहा गया है। परंतु यह हमारे ऊपर, हमारे सिर के ऊपर दिव्य शक्ति के रूप में भी विद्यमान है—वहां यह कुंडलित, निवर्तित, प्रसुप्त नहीं है, बल्कि जाग्रत्, चेतन, शक्तिपूर्ण, प्रसारित और विशाल है; यह वहां अभिव्यक्त होने के लिये प्रतीक्षा कर रही है और इसी शक्ति की ओर—श्रीमां की शक्ति की ओर—हमें अपने-आपको खोलना होगा। यह शक्ति मन के अंदर एक दिव्य मानस-शक्ति या एक विराट् मानस-शक्ति के रूप में प्रकट होती है और यह ऐसे प्रत्येक कार्य को कर सकती है जिसे व्यक्तिगत मन नहीं कर सकता; यह उस समय यौगिक

मानस-शक्ति बन जाती है। जब यह उसी तरह प्राण या शरीर में प्रकट होती और कार्य करती है तब यह वहां एक यौगिक प्राण-शक्ति या यौगिक शरीर-शक्ति के रूप में दिखायी देती है। यह बाहर और ऊपर की ओर फूटकर तथा नीचे की ओर से विशालता में फैलकर इन सभी रूपों में जागृत हो सकती है अथवा यह अवतरित हो सकती है और वहां वस्तुओं के लिये एक सुनिश्चित शक्ति बन सकती है; यह नीचे की ओर शरीर में बरस सकती है, वहां कार्य करके, अपना राज्य स्थापित करके, ऊपर से विशालता के अंदर प्रसारित होकर हमारे अंदर के सबसे नीचे के भागों को हमारे ऊपर के उच्चतम भागों के साथ जोड़ सकती है, व्यक्ति को एक विराट् विश्वभाव में या निरपेक्षता और परात्परता में ले जाकर मुक्त कर सकती है।

(२)

निश्चय ही, एक अर्थ में उच्चतर शक्तियों का अवतरण श्रीमां का ही निजी अवतरण है—क्योंकि वास्तव में वही उन सबमें नीचे आती हैं।

(३)

जब शांति स्थापित हो जाती है तब यह उच्चतर या भागवत शक्ति ऊपर से उतर सकती है और हमारे अंदर कार्य कर सकती है। साधारणतया यह पहले सिर में उतरती है और आंतर मन के चक्रों को मुक्त करती है, फिर हृदय-केंद्र में आती है और चैत्य तथा भावमय पुरुष को पूर्ण रूप से मुक्त करती है, फिर नाभि-चक्र में और दूसरे प्राण-चक्रों में आकर आंतर प्राण को मुक्त करती है, उसके बाद मूलाधार और उसके नीचे उतरकर आंतर भौतिक सत्ता को मुक्त करती है। यह एक साथ ही पूर्णता और मुक्ति के लिये कार्य करती है; यह समस्त प्रकृति के एक-एक अंग को लेती है और उनपर कार्य करती है, जो कुछ त्याग करने लायक हो उसे त्याग देती है, जो कुछ उन्नत करने लायक हो उसे उन्नत करती है और जो कुछ उत्पन्न करना हो उसे उत्पन्न करती है। यह एकीभूत करती, सुसमंजस बनाती और प्रकृति में एक नया छंद स्थापित करती है। यह ऊंची और ऊंची से ऊंची शक्ति को तथा उच्चतर प्रकृति के स्तरों को, यदि वह साधना का लक्ष्य हो तो, तब तक नीचे उतार सकती है जब तक अतिमानसिक शक्ति और जीवन को उतार लाना संभव न हो जाय। इन सब बातों में हृदय-केंद्र में अवस्थित चैत्य पुरुष के कार्य के द्वारा तैयारी होती, सहायता मिलती और कार्य अग्रसर होता है; चैत्य पुरुष जितना ही अधिक खुला हो, सामने और सक्रिय हो, शक्ति की क्रिया उतनी ही अधिक क्षिप्र, सुरक्षित और सहज हो सकती है। हृदय में जितना ही अधिक प्रेम, भक्ति और समर्पण का भाव बढ़ता है, साधना का विकास उतना ही तेज और पूर्ण बन जाता है। क्योंकि अवतरण और रूपांतर के साथ साथ भगवान् के संग संबंध और एकत्व भी बढ़ता ही रहता है।

यही है साधना का मूल सिद्धांत। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यहां पर सबसे प्रधान दो बातें है, हृदय और मन के पीछे और ऊपर जो कुछ है उस सबकी ओर हृदय-केंद्र और मानस-केंद्रों का खुलना। कारण, हृदय चैत्य पुरुष की ओर खुलता है और मानस-केंद्र उच्चतर चेतना की ओर खुलते है तथा चैत्य पुरुष और उच्चतर चेतना के बीच का चक्र ही सिद्धि का प्रधान साधन है। पहला उद्‌घाटन हृदय में ध्यान करने से, अपने अंदर अभिव्यक्त होने के लिये तथा चैत्य पुरुष के द्वारा समस्त प्रकृति को अधिगत करने और उसका पथप्रदर्शन करने के लिये भगवान् का आवाहन करने से होता है। साधना के इस अंग के प्रधान सहायक है अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण–साथ ही उन सब चीजों का त्याग भी करना जरूरी है जो हमारी अभीप्सित वस्तु के मार्ग में बाधक हों। दूसरा उद्‌घाटन होता है सिर में (पीछे चलकर सिर के ऊपर) चेतना को केंद्रित करने से तथा सत्ता के अंदर दिव्य शांति, शक्ति, ज्योति, ज्ञान और आनंद के अवतरण के लिये–पहले शांति के लिये अथवा शांति और शक्ति एक साथ दोनों के लिये–अभीप्सा करने, पुकारने और स्थायी संकल्प बनाये रखने से। अवश्य ही कुछ लोग पहले प्रकाश प्राप्त करते है या पहले आनंद अथवा ज्ञान का सहसा नीचे की ओर प्रवाह। कुछ लोगों में पहले एक ऐसा उद्‌घाटन होता है जो उनके सामने ऊपर की एक विशाल अनंत नीरवता, शक्ति, ज्योति या आनंद को प्रकट करता है और उसके बाद या तो वे उसमें आरोहण करते है या ये चीजें निम्नतर प्रकृति में अवतरित होना आरंभ करती है। दूसरे लोगों में या तो अवतरण पहले सिर में, फिर नीचे हृदय-स्थान तक, फिर नाभि और उसके नीचे तक और समस्त शरीर भर में होता है, अथवा शांति, प्रकाश, विशालता या शक्ति का अन्य कोई अवर्णनीय उद्‌घाटन–उद्‌घाटन के किसी बोध के बिना ही,–अथवा विश्व-चेतना की ओर ऊर्ध्वमुखी उद्‌घाटन या एकाएक विस्तारित हो जानेवाले मन के भीतर ज्ञान का विस्फोट होता हैं। जो कुछ भी आवे उसका स्वागत करना चाहिये–क्योंकि सबके लिये कोई एक ही अखंड नियम नही है–परंतु पहले यदि शांति न आयी हो तो खूब सावधानी रखनी चाहिये कि कही हम आह्लाद से फूल न उठें या अपनी समतोलता ही न खो बैठें। जो हो, सबसे प्रधान क्रिया वह है जब कि भागवती शक्ति, माताजी की शक्ति नीचे आती है और अधिकार स्थापित करती है, क्योंकि तभी चेतना का संगठन आरंभ होता है और योग की विशालतर नींव पड़ती है।

(४)

जो कुछ तुम नीचे की ओर बहते हुए अनुभव करते हो वह अवश्य ही श्रीमां की ऊर्ध्व-शक्ति होगी। यह साधारणतया सिर के ऊपर से प्रवाहित होती है और सबसे पहले मानस केंद्रों (सिर और गर्दन) में कार्य करती है और उसके बाद छाती और हृदय में उतरती है

और फिर समस्त शरीर की क्रिया के भीतर चली जाती है।

निश्चय ही इसी क्रिया का प्रभाव तुम अपने सिर के ऊपर से कंधों तक अनुभव करते होगे। ऊपर से जो शक्ति उतरती है वह वह शक्ति है जो चेतना को एक उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता की चेतना में रूपांतरित करने के लिये कार्य करती है। उससे पहले श्रीमां की शक्ति चैत्य, मनोमय, प्राणमय और स्वयं अन्नमय स्तर में चेतना का पोषण, पवित्रीकरण और चैत्य रूपांतर करने के लिये कार्य करती है।

(५)

सिर के चारों ओर श्रीमां की शक्ति का स्पंदन अनुभव करना मानसिक भावना अथवा मानसिक सिद्धि से भी अधिक कुछ है, वह एक अनुभूति है। यह स्पंदन, निस्संदेह, श्रीमां की शक्ति का कार्य है जिसका अनुभव पहले सिर के ऊपर या उसके चारों ओर होता है, फिर बाद में सिर के भीतर होता है। दबाव का अर्थ यह है कि मन और उसके चक्रों को खोलने के लिये वह कार्य कर रही है जिसमें वह उनमें प्रवेश कर सके। मानस-चक्र सिर में है, एक तो उसके ऊपरी सिरे पर और उससे ऊपर है, दूसरा दोनों आंखों के बीच में और तीसरा गले में है। यही कारण है कि तुम स्पंदन को सिर के चारों ओर और कभी-कभी गर्दन तक अनुभव करते हो, पर उससे नीचे नहीं। साधारणतः यह ऐसा ही होता है, क्योंकि केवल मन को घेर लेने और उसमें प्रवेश करने के बाद ही वह नीचे की ओर भावावेग और प्राण के क्षेत्रों (हृदय, नाभि आदि) में जाती है—यद्यपि कभी-कभी वह शरीर में प्रवेश करने से पहले बहुत अधिक चारों ओर से घेरे हुए होती है।
२४. ३. १९३७

(६)

तुम्हारी अनुभूतियों का अर्थ यह है—

(१) ऊपर से भगवती माता की शक्ति तुम्हारे ऊपर अवतरित हो रही है और अपने सिर के ऊपर तुम जो दबाव अनुभव करते हो और जिन क्रियाओं के विषय में तुम सचेतन हुए हो, वे सब उन्हीं की है।

अपने-आपको पूर्ण रूप से उनके हाथों में दे दो, पूरा भरोसा रखो, जो कुछ घटित हो उसे सावधानी के साथ और ठीक-ठीक देखो और उसे यहां लिख भेजो। विशेष रूप से उपदेश देने की कोई आवश्यकता नही, क्योंकि जो कुछ तुम्हारे लिये आवश्यक है वह किया जा रहा है।

(२) पहला दबाव तुम्हारे मन पर था। मन के केंद्र है—(अ) सिर और उसके ऊपर, (ब) आंखों के बीच ललाट का चक्र, (स) गले का और प्राणगत-मनोमय (भावावेग का) और इंद्रियबोधात्मक मानस-चक्र छाती से लेकर नीचे की ओर है। यही पीछेवाली चीज

है जो कि प्रथम प्राण है जिसके विषय में तुम सचेतन हुए हो। शक्ति का कार्य था तुम्हारे इन दो भागों को विस्तारित करना और ऊपर उठाकर उन्हें तुम्हारे सिर के ऊपर की उच्चतर चेतना के निम्नतम केंद्र की ओर ले जाना, जिसमें इसके बाद वे दोनों ही वहां से सचेतन रूप में परिचालित हो सकें और ये दोनों ही एक ऐसी विशाल विश्वव्यापी चेतना में संचरण करें जो शरीर से सीमित न हो।

(३) दूसरा प्राण, चंचल प्राण, जिसके विषय में तुम सचेतन हुए, वह है प्राणमय पुरुष, कामना-वासना और प्राणिक गतियोंवाला पुरुष। दिव्य शक्ति का कार्य चंचल गतियों को शांत करने के लिये और मन की तरह उसे चेतना में विशाल बनाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। जिस विशाल शरीर का तुम्हें अनुभव हुआ वह प्राणमय शरीर था, स्थूल शरीर नहीं।

(४) तुम्हारी साधना का आधार निश्चल-नीरवता और स्थिरता होना चाहिये।

तुम्हें स्वयं अपने अंदर और अपने चारों ओर विद्यमान जगत् के प्रति अपने मनोभाव में भी अत्यंत अचंचल और स्थिर बने रहना चाहिये और सर्वदा अधिकाधिक अचंचल और स्थिर बनते जाना चाहिये। अगर तुम ऐसा कर सको तो तुम्हारी साधना धीरे-धीरे प्रगति कर सकती है और कम-से-कम क्लेश और उपद्रव के साथ अपने-आपको विस्तारित कर सकती है।

जो दिव्य शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है उसपर भरोसा रखते हुए चुपचाप आगे बढ़ते जाओ।

(७)

सिर के ऊपर का यह बोझ या दबाव सदा इस बात का चिह्न होता है कि माताजी की शक्ति का संबंध तुम्हारे साथ है और वह तुम्हारी सत्ता को घेरने, आधार में प्रवेश करने तथा उसमें फैल जाने के लिये ऊपर से दबाव डाल रही है;–साधारणतया यह चक्रों के भीतर से होकर क्रमशः नीचे की ओर जाती है। कभी तो यह पहले शांति के रूप में आती है, कभी शक्ति के रूप में, कभी माताजी की चेतना और उनकी उपस्थिति के रूप में और कभी आनंद के रूप में।

पहले जब तुमने इसे खो दिया था तब या तो तुम्हारे अपने अंदर प्राणगत अपूर्णता के ऊपर उठ आने या बाहर से कोई आक्रमण होने के कारण ही वैसा हुआ होगा। दबाव के सदा ही बने रहने की आवश्यकता नहीं है; पर यदि गति स्वाभाविक रूप से चलती रहे तो प्रायः वह दबाव बार-बार आता है अथवा तब तक उसका आना जारी रहता है जब तक आधार खुल नहीं जाता और फिर उच्चतर चेतना के नीचे उतरने में कोई बाधा नही रह जाती।

१८. ९. १९३३

(८)

यह ऊपर से मेरुदंड के द्वारा माताजी की शक्ति का अवतरण है; यह एक जानी हुई क्रिया है। अवतरण दो या तीन प्रकार के होते हैं। एक है मेरुदंड पर अवलंबित चक्रों के आधार को इस प्रकार स्पर्श करना। दूसरा है सिर के भीतर से होकर शरीर में तब तक एक-एक स्तर उतरते जाना जब तक कि समूचा शरीर न भर जाय और चेतना के सभी चक्र न खुल जायं। तीसरा है वह अवतरण जो बाहर से आधार को घेर लेता है।
१. २. १९३४

(९)

माताजी ने जो कुछ किया वह था आग जला देना—अगर तुमने उसका अनुभव नही किया तो इसका कारण अवश्य ही यह होगा कि बाहरी आवरण ने अभी उसे बाहरी चेतना तक नहीं आने दिया होगा। परंतु आंतर सत्ता में किसी चीज ने उसे अवश्य रखा होगा और अधिक खुले रूप में अपनेको खोल रखा होगा—इसी बात को नींद के समय की तुम्हारी अनुभूति सूचित करती है, क्योंकि वह स्पष्ट ही आंतर सत्ता में होनेवाली श्रीमां की एक क्रिया थी। मेरुदंड में धारा का अवतरण सर्वदा माताजी की शक्ति का अवतरण होता है जो चक्रों को खोलने के लिये उनके अंदर कार्य करती है, और धारा में जो एक प्रबल शक्ति का तुमने अनुभव किया वह स्पष्ट ही इस बात का सबूत है कि वहां एक विशालतर उद्घाटन हुआ है। तुम्हें बस लगे रहना है और अग्नि तथा शक्ति दोनों का प्रभाव ऊपरी चेतना में प्रकट होगा—कारण बराबर ही आंतर सत्ता में पर्दे के पीछे तैयारी का कार्य तब तक होता रहता है जब तक पर्दा पतला होते-होते दूर नहीं हो जाता और फिर बाहरी चेतना के सहयोग के साथ समस्त क्रिया की जा सकती है।
२२. ४. १९३७

(१०)

कुछ चीज तुम्हारे अंदर बढ़ रही है, पर यह एकदम भीतर है—फिर भी यदि दृढ आग्रह बना रहे तो यह बाहर आने के लिये बाध्य होगी। उदाहरण के लिये धाराओं के साथ इस सफेद चमचमाती हुई ज्योति को लें; यह इस बात का निश्चित चिह्न है कि शक्ति (माताजी की) आधार में प्रवेश कर रही है और कार्य कर रही है, परंतु यह नींद में तुम्हारे पास आयी—अर्थात् आंतर सत्ता में, अभी पर्दे के पीछे ही आयी। जिस क्षण यह बाहर आयेगी, यह सूखापन जाता रहेगा।
५. २. १९३७

माताजी की चेतना में अहंकार का लोप

यह बहुत अच्छा है. अवचेतना और इर्दगिर्द की चेतना के विषय में तुम्हारा कहना ठीक

है; क्योंकि प्रभाव वहीं पर पड़ना चाहिये जिसमें कि चेतना ऊपर की ओर जाय और खुली शांति, ज्योति और आनंद में अपने-आपको दूर-दूर तक फैला दे तथा नीचे अवचेतना तक में उन्हें उच्चतर चेतना के साथ जोड़ दे। इसी अवस्था में माताजी की चेतना में जाने पर अहंकार का लोप होना संभव होता है।

२५. ९. १९३५

श्रीमां की विश्वगत चेतना के साथ एकत्व

प्रत्येक व्यक्ति में मन, प्राण और शरीर की चेतना साधारणतया अपने-आपमें बंद रहती है; वह संकीर्ण होती है, विशाल नहीं होती, अपने-आपको ही प्रत्येक चीज के केंद्र के रूप में देखती है, अपनी निजी धारणाओं के अनुसार ही चीजों का मूल्यांकन करती है—वह वास्तव में किसी चीज को उसके सच्चे स्वरूप में नहीं जानती। पर, योगसाधना के द्वारा जब मनुष्य सच्ची चेतना की ओर उद्घाटित होना आरंभ करता है तब यह बाधा भंग होना आरंभ कर देती है। मनुष्य अनुभव करता है कि उसका मन विस्तारित हो रहा है, यहां तक कि अंत में भौतिक चेतना भी अधिकाधिक विस्तारित होने लगती है और उसके फल-स्वरूप अंत में तुम सभी वस्तुओं को अपने अंदर, सभी वस्तुओं के साथ अपनेको एक अनुभव करने लगते हो। उस समय तुम माताजी की विश्वगत चेतना के साथ एक हो जाते हो। यही कारण है कि तुम अपने मन को विशाल होते हुए अनुभव कर रहे हो। परंतु मानव-मन के ऊपर और भी बहुत कुछ है और यही वह चीज है जिसे तुम अपने सिर के ऊपर एक जगत् के समान अनुभव करते हो। ये सभी हमारे योग की साधारण अनुभूतियां हैं। यह महज आरंभ है। परंतु इस चीज के विकसित होते रहने के लिये यह आवश्यक है कि तुम अधिकाधिक अचंचल होओ, जो कुछ आवे उसे अत्यंत उत्सुक और उत्तेजित हुए बिना धारण करने में अधिकाधिक सक्षम होओ। पहली आवश्यक चीजें हैं शांति और स्थिरता और उनके साथ-साथ विशालता—जो कोई प्रेम या आनंद आवे, जो कोई शक्ति, जो कोई ज्ञान आवे, शांति के अंदर तुम उसे धारण कर सकते हो।

विश्वव्यापी और रूपांतरकारी शक्ति

प्रश्न—जितना ही अधिक हम व्यक्तिगत रूप से अपनेको माताजी की ज्योति और शक्ति की ओर खोलते हैं उतनी ही अधिक उनकी शक्ति विश्व के अंदर स्थापित होती है—क्या यह सच है?

उत्तर—रूपांतर करनेवाली शक्ति स्थापित होती है—विश्वगत शक्ति तो वहां सदा ही विद्यमान रहती है।

१३. ८. १९३३

माताजी की शक्ति और गुण

प्रश्न—जब कोई अनुभव करता है कि उसके द्वारा माताजी की शक्ति कार्य कर रही है, उसकी अपनी शक्ति नहीं, तब क्या केवल माताजी की शक्ति ही उसके कार्यों में क्रियाशील होती है और (प्रकृति के) गुण चुपचाप पड़े रहते हैं?

उत्तर—नहीं, गुण विद्यमान होते हैं और सुषुप्त नहीं होते—क्योंकि वे मध्यवर्त्ती होते हैं (अर्थात् वे मध्य में रहनेवाली चीजें हैं)। यदि शक्ति और आंतर चेतना बहुत प्रबल हों तो रजस् की प्रवृत्ति होती है कि तपस् के किसी निम्नतर रूप की तरह बन जाये और तमस् की प्रवृत्ति होती है कि अधिकांश में एक प्रकार के जड़ शम की तरह बन जाये। इसी ढंग से रूपांतर आरंभ होता है, पर साधारणतया इसकी प्रक्रिया बड़ी धीमी होती है।

२९. १. १९३६

जड़तत्त्व में माताजी की शक्ति

(१)

प्रश्न—यह कब कहा जा सकता है कि जड़तत्त्व भगवान् के लिये तैयार हो गया है?

उत्तर—अगर जड़-चेतना खुल जाय, माताजी की शक्ति को अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करे और उसका प्रत्युत्तर दे तो यह कहा जा सकता है कि वह तैयार है।

११. ६. १९३३

(२)

यह (माताजी की चेतना) शरीर के सभी अणुओं में रह सकती है, क्योंकि सब कुछ गुप्त रूप से सचेतन है।

५. १०. १९३३

सक्रिय मन की बाधा

अगर मन सक्रिय होता है तो माताजी जो कुछ ले आती हैं उसके विषय में सचेतन होना अधिक कठिन होता है। वह विचारों को नहीं लातीं, बल्कि उच्चतर ज्योति, शक्ति इत्यादि को लाती हैं।

२२. ३. १९३४

माताजी की शक्ति को आत्मसात् करना

(१)

माताजी की शक्ति को जब कोई ग्रहण करता है तब उसके लिये सबसे उत्तम तरीका

यह है कि वह तब तक शांत-स्थिर बना रहे जब तक वह शक्ति उसके अंदर आत्मसात् न हो जाय। उसके बाद वह ठीक रहती है, बाहरी क्रिया या मिलने-जुलने से खो नहीं जाती।

(२)

अगर ध्यान समतोलता, शांति, एकाग्रता की अवस्था या दबाव या प्रभाव भी ले आता है तो वह कर्म में भी जारी रह सकता है, बशर्त्ते कि चेतना को शिथिल करके या छितरा-कर साधक उसे दूर न फेंक दे। यही कारण था कि माताजी चाहती थीं कि लोग प्रणाम या ध्यान के समय न केवल एकाग्र रहें बल्कि निश्चल-नीरव बने रहें और बाद में अपने अंदर ग्रहण करें या अपना अंश बना लें और ठीक इसीलिये कि माताजी उनके अंदर जो कुछ दें उसका असर बना रहे और उसके द्वारा मनोभाव में परिवर्तन आये, उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि ऐसी चीजों से बचा जाय जो व्यक्ति को ढीला-ढाला, अस्तव्यस्त या छिन्न-भिन्न कर देती हैं। पर मुझे भय है, अधिकतर साधकों ने न तो कभी समझा है और न इस तरह की किसी चीज का अभ्यास ही किया है–वे उनके उपदेशों को न तो पकड़ पाये और न समझ ही सके।

(३)

उन्नति करने के एक स्थिर और सुदृढ़ संकल्प को अपने अंदर जम जाने दो; जो कुछ श्री माताजी तुम्हारे अंदर डालती हैं उसे चुपचाप, लगातार और संपूर्ण रूप में अपनाने का अभ्यास डालो। यही उन्नति करने का पक्का रास्ता है।

मार्च, १९२८

माताजी की शक्तियों को खींचना

जब कोई खुला हो, अत्यंत उत्सुक हो और शक्ति, अनुभूति आदि को चुपचाप उतरने देने के बदले उन्हें नीचे खींच लाने की चेष्टा करे तो उसी को हम 'खींचना' कहते हैं। बहुत-से लोग माताजी की शक्तियों को खींचते हैं–जो कुछ वे आसानी से हजम कर सकते हैं उससे कहीं अधिक ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं और क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं।

अप्रैल, १९३५

माताजी की शक्ति के प्रति चैत्य उद्घाटन

आवश्यकता इस बात की है कि खोज से लाभ उठाया जाय और बाधा-विघ्न से छुटकारा पाया जाय। माताजी ने केवल बाधा को ही सूचित नहीं किया था; उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप में तुम्हें यह भी दिखा दिया था कि उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और उस समय तुमने उनकी बात समझी थी, यद्यपि अब (मुझे अपनी चिट्ठी लिखने के

समय) वह ज्योति, जिसे तुमने देखा था, तुम्हारे अपने प्राण को अधिकाधिक उदासीनता के कड़ुए आमोद-प्रमोद में संलग्न रखने के कारण ढक गयी सी प्रतीत होती है। यह बिलकुल स्वाभाविक ही था, क्योंकि उदासी का फल हमेशा यही होता है। यही कारण है कि मैं दुःख-शोक के उपदेश के प्रति तथा दुःख-शोक को (अभिमान, विद्रोह, विरह आदि की तरह) अपना एक प्रधान तत्त्व बनानेवाली किसी साधना के प्रति आपत्ति करता हूं। क्योंकि, दुःख-शोक, जैसा कि स्पिनोजा का कहना है, किसी महत्तर पूर्णता का मार्ग, सिद्धि का पथ नहीं है; वह हो नहीं सकता, क्योंकि वह मन को विभ्रांत, दुर्बल और विक्षिप्त करता है, प्राण-शक्तियों को अवसन्न बनाता है और आत्मा को अंधकार से ढक देता है। प्रसन्नता, प्राणिक नमनीयता और आनंद से लौटकर शोक, आत्म-अविश्वास, अवसन्नता और दुर्बलता में जा गिरना एक बड़ी चेतना से छोटी चेतना में पीछे हट आना है,—इन अवस्थाओं का अभ्यास यह सूचित करता है कि प्राण का कोई अंश अधिक छोटी, धूमिल, अंधकारपूर्ण और दुःखपूर्ण क्रिया से चिपका हुआ है जिसमें से बाहर निकल आना ही योग का लक्ष्य है।

इसलिये यह कहना एकदम गलत है कि जिस गलत चाबी से तुम परियों का महल खोलने की चेष्टा कर रहे थे उसे तो माताजी ने ले लिया और तुम्हारे पास कोई दूसरी चाबी नही रहने दी। क्योंकि उन्होंने तुम्हें सच्ची चाबी केवल दिखा ही नहीं दी वरन् वह तुम्हें दे भी दी। उन्होंने तुम्हें प्रसन्नता का अस्पष्ट सा उपदेश ही नहीं दिया था, बल्कि उन्होने ठीक तरह के ध्यान में अनुभूत अवस्था का ठीक-ठीक वर्णन भी किया था—आंतरिक विश्राम की अवस्था का, न कि थकावट की अवस्था का, शांत उद्घाटन की अवस्था का, न कि उत्सुक या जी-तोड़ खींच-तान की अवस्था का, एक ऐसी अवस्था का जिसमें भागवती शक्ति की क्रिया के लिये उसके हाथों में अपने-आप को सुसमंजस भाव से दे दिया जाय और फिर उसमें यह बोध बना रहे कि दिव्य शक्ति कार्य कर रही है, उसपर स्थिर विश्वास हो और बिना किसी चंचल हस्तक्षेप के उसे कार्य करने दिया जाय। और उन्होंने तुमसे पूछा आया तुमने कभी उस अवस्था का अनुभव नहीं किया, और तुमने कहा था कि तुम्हें इसका अनुभव है और उसे तुम खूब अच्छी तरह जानते हो। वह अवस्था है चैत्य उद्घाटन की और, यदि वह उद्घाटन तुम्हें प्राप्त हुआ था तो, तुम जानते ही हो कि चैत्य उद्घाटन क्या चीज है; निस्संदेह, और भी बहुत कुछ है जो बाद में आता है, पर यही मौलिक स्थिति है जिसमें यह अत्यंत आसानी से आता है। तुम्हें माताजी ने जो चाबी दी उसे तुम्हें अपनी चेतना में बनाये रखना और उसका उपयोग करना चाहिये था—पीछे हटकर उदासी और पुरानी चीज के लिये रोने-धोने के भाव को अपने अंदर बढ़ने नही देना चाहिये था। इस अवस्था में, जिसे तुम समुचित या चैत्य भाव कहते हो, पुकार, प्रार्थना, अभीप्सा रह सकती है; तीव्रता, एकाग्रता अपने-आप आयेंगी, कठिन प्रयास करने या प्रकृति पर तीव्र दबाव डालने से नही। अनुचित क्रियाओं का त्याग, दोषों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करना केवल इसके

साथ मेल ही नहीं खाता, बल्कि इसके लिये सहायक भी है, फिर यह भाव त्याग करने और दोष स्वीकार करने की वृत्ति को सहज, स्वाभाविक, एकदम पूर्ण और सच्चा तथा फलप्रद बना देता है। यही उन सब लोगों का अनुभव है जिन्होंने इस भाव को ग्रहण करना स्वीकार किया है।

प्रसंगवशात् मैं यह भी कह दूं कि चेतना और ग्रहणशीलता एक ही चीज नहीं हैं; कोई आदमी ग्रहणशील हो सकता है, फिर भी हो सकता है कि बाहरी रूप में वह इस विषय में अनजान हो कि किस तरह ये सब चीजें हो रही हैं और क्या किया जा रहा है। दिव्य शक्ति, जैसा कि मैं बार-बार लिख चुका हूं, पर्दे के पीछे कार्य करती है। उसके परिणाम पीछे की ओर जमा हुए रहते हैं और बाद में प्रकट होते हैं, बहुधा धीरे-धीरे, थोड़े-थोड़े, जब तक कि इतना अधिक दबाव न हो जाय कि किसी तरह वे फूट पड़ें और बाहरी प्रकृति पर अधिकार जमा लें। मानसिक और प्राणिक श्रम और खींच-तान तथा सहज चैत्य उद्घाटन में भेद है और यह कोई एकदम पहला ही अवसर नहीं है जब हमने इस भेद की बात कही हो। श्री माताजी और मैंने अनगिनत बार इसके विषय में लिखा और कहा है और हमने खींच-तान[1] और श्रम को मना किया है तथा चैत्य उद्घाटन के भाव का समर्थन किया है। यह वास्तव में सही या गलत चाबी का प्रश्न नहीं है, बल्कि ताले में चाबी को सही या गलत तरीके से लगाने का प्रश्न है। या तो, किसी कठिनाई के कारण, तुम चाबी को जोर से इधर-उधर घुमाकर ताले को जबर्दस्ती खोलने की कोशिश करते हो या विश्वासपूर्वक और शांति के साथ चाबी को ठीक तरीके से घुमाते हो और दरवाजा खुल जाता है।
५.५.१९३२

विवेक की आवश्यकता

तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरित होने की चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध विवेक और बचाव की सब तरह की बाधा खड़ी करने की बात" को छोड़ देने का विचार करना खतरनाक है। क्या तुमने सोचा है कि जो कुछ अवतरित हो रहा है वह यदि दिव्य सत्य के साथ मेल खानेवाली कोई चीज न हो, संभवतः विरोधी भी हो तो फिर उसका मतलब क्या होगा? कोई विरोधी शक्ति साधक के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये इससे अच्छी अवस्था की मांग नहीं करेगी। वास्तव में एकमात्र श्री माताजी की शक्ति और दिव्य सत्य को ही बिना बाधा के आने देना चाहिये और उस अवस्था में भी हमें विवेक-विचार की शक्ति को अवश्य बनाये रखना चाहिये जिसमें कोई भी मिथ्या चीज यदि श्रीमां की शक्ति और

---

[1] शक्ति को दृढ़तापूर्वक खींचना संभव है और यह ठीक वह चीज नहीं है जिसे मैं 'खींच-तान' कहता हूं—शक्ति को खींचना आम बात है और सहायक क्रिया है।

दिव्य सत्य का रूप बनाकर आवे तो उसे हम पहचान जायं और त्याग की शक्ति को भी बनाये रखना चाहिये जो सब प्रकार की मिलावट को वाहर निकाल फेंके।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यता में विश्वास रखो, भूल-भ्रांति से पीछे हटो और चैत्य पुरुष को श्रीमां की ज्योति और शक्ति के सीधे पथप्रदर्शन की ओर और भी अधिक खोलो। अगर केंद्रीय संकल्प सच्चा हो तो प्रत्येक भूल की पहचान सत्यतर क्रिया और उच्चतर प्रगति की ओर जाने के लिये एक-एक मंजिल साबित हो सकती है।

अवतरण के खतरों से बचने का उपाय

(१)

ऊपर से होनेवाले अवतरण तथा उसे क्रियान्वित करने की इस प्रक्रिया में सबसे प्रधान बात है स्वयं अपने ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर न करना, बल्कि गुरु के पथप्रदर्शन पर निर्भर करना और जो कुछ घटित हो उसपर विचार करने, मत देने और निर्णय करने के लिये उन्हें बतलाना। क्योंकि प्रायः ही ऐसा होता है कि अवतरण के कारण निम्नतर प्रकृति की शक्तियां जागृत और उत्तेजित हो जाती हैं और उसके साथ मिल जाना तथा उसे अपने लिये उपयोगी बनाना चाहती हैं। प्रायः ही ऐसा होता है कि स्वभावतः अदिव्य कोई शक्ति या कई शक्तियां परमेश्वर या भागवती माता के रूप में सामने प्रकट होती हैं और हमारी सत्ता से सेवा और समर्पण की मांग करती हैं। अगर इन्हें स्वीकार किया जाय तो इसका अत्यंत सर्वनाशी परिणाम होगा। अवश्य ही, यदि साधक केवल भागवत क्रिया की अवस्था तक ऊपर उठा हुआ हो और उसी पथप्रदर्शन के प्रति उसने आत्मदान और समर्पण किया हो तो सब कार्य आसानी से चल सकता है। साधक का यह आरोहण तथा समस्त अहंकारपूर्ण शक्तियों या अहंकार को अच्छी लगनेवाली शक्तियों का त्याग पूरी साधना के भीतर हमारी रक्षा करता है। परंतु प्रकृति के रास्ते जालों से भरे पड़े हैं, अहंकार के छद्म-वेश असंख्य हैं, अंधकार की शक्तियों की माया—राक्षसी माया—असाधारण चातुरी से भरी है; हमारी बुद्धि अयोग्य पथप्रदर्शक है और प्रायः ही विश्वासघात करती है; प्राणगत कामना सदा हमारे साथ रहकर हमें किसी आकर्षक पुकार का अनुसरण करने का लोभ देती रहती है। यही कारण है कि इस योग में हम बराबर ही समर्पण पर इतना अधिक जोर देते हैं। अगर हृदय-केंद्र पूरा खुला हो और चैत्य पुरुष का प्रभुत्व बराबर बना रहे तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं; सब सुरक्षित ही होता है। परंतु निम्नतर चीजों के ऊपर उठ आने से चैत्य पुरुष किसी भी क्षण ढका जा सकता है। सिर्फ थोड़े से लोग ही इन खतरों से मुक्त होते हैं और निश्चित रूप से वे ही लोग ऐसे होते हैं जिनके लिये समर्पण करना आसान होता है। जो व्यक्ति तादात्म्य के द्वारा स्वयं भगवान् हो गया है या भग-वान् का प्रतिनिधित्व करता है, उसका पथप्रदर्शन इस कठिन प्रयास के लिये अत्यंत आव-श्यक और अनिवार्य है।

(२)

अपने और श्रीमां की शक्ति के बीच किसी चीज और किसी व्यक्ति को न आने दो। वास्तव में तुम्हारे उस शक्ति को आने देने और उसे बनाये रखने तथा सच्ची अंतःप्रेरणा का प्रत्युत्तर देने पर ही सफलता निर्भर करती है, मन की बनायी हुई किसी धारणा पर नहीं। यहां तक कि वे धारणाएं और योजनाएं भी, जो अन्य प्रसंगों में उपयोगी हो सकती थीं, असफल हो जायंगी अगर उनके पीछे सच्चा भाव और सच्ची शक्ति तथा प्रभाव न हों।

(३)

अगर तुम अपने विश्वास को फिर से पाना चाहते हो और उसे बनाये रखना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले अपने मन को शांत-स्थिर करना चाहिये और उसे माताजी की शक्ति की ओर खोल देना और उसका आज्ञाकारी बना देना चाहिये। अगर तुम्हारा मन उत्तेजित रहता हो और प्रत्येक प्रभाव और आवेग की मर्जी पर चलता हो तो तुम परस्पर-संघर्षकारी और परस्पर-विरुद्ध शक्तियों का ही एक क्षेत्र बने रहोगे और उन्नति नहीं कर सकोगे। तुम फिर श्रीमां के ज्ञान के स्थान में अपने निजी अज्ञान की बातें सुनना आरंभ कर दोगे और स्वभावतः ही तुम्हारा विश्वास उठ जायगा और तुम अनुचित स्थिति और अनुचित मनोभाव के शिकार बन जाओगे।

४ मार्च, १९२८

परिवर्तन के लिये श्रीमां की शक्ति की सहायता

(१)

यह मान लेना होगा कि तुममें इस परिवर्तन की क्षमता है, क्योंकि तुम यहां माताजी के सान्निध्य और संरक्षण में हो। श्रीमां की शक्ति का दबाव और उसकी सहायता बराबर ही मौजूद है। तुम्हारी प्रगति की तीव्रता निर्भर करती है उसकी ओर अपने-आपको खोल रखने पर और अन्य शक्तियों के समस्त सुझावों और आक्रमणों का शांति के साथ, धीर-स्थिर भाव से और लगातार त्याग करते रहने पर। विशेषकर प्राणमय सत्ता की स्नायविक उत्तेजना का त्याग करना ही होगा; स्नायु-सत्ता और शरीर में एक शांत और स्थिर शक्ति का होना ही एकमात्र सुदृढ़ आधार है। यह तुम्हारे ग्रहण करने के लिये मौजूद है अगर तुम इसकी ओर सदा खुले रहो।

२७. ८. १९३२

(२)

किसी कठिनाई के कारण बेचैन या निरुत्साहित मत होओ, बल्कि चुपचाप और सरल

भाव से अपनेको माताजी की शक्ति की ओर खोल रखो और उसे अपने अंदर परिवर्तन ले आने दो।

(३)

माताजी की शक्ति केवल ऊपर, सत्ता के शिखर पर ही नहीं है। वह तुम्हारे साथ और तुम्हारे पास भी है, जिस समय तुम्हारी प्रकृति उसे कार्य करने देगी उस समय कार्य करने के लिये वह तैयार बैठी है। यहां के प्रत्येक आदमी के साथ वह इसी प्रकार विद्यमान है।
१५. ११. १९३६

(४)

माताजी की शक्ति प्रत्येक कार्य कर सकती है, पर हमें अपनी सत्ता और प्रकृति के विषय में और जो कुछ उसके नीचे है उसके विषय में अधिकाधिक सचेतन होना चाहिये।

यह कोई मानसिक निर्णय का प्रश्न नहीं है—इन मामलों में वह बहुत थोड़ा ही उपयोगी होता है—, बल्कि यह प्रश्न है चेतना का, बोध करने और देखने का।

सत्ता के निम्नतर स्तरों में अतिमानस सुसंगठित नहीं हुआ है जिस तरह कि अन्य चीजें हुई हैं। उसका केवल एक प्रच्छन्न प्रभाव ही पड़ता है। अन्यथा अतिमानसिक सिद्धि प्राप्त करना आसान होता।
२२. ५. १९३४

(५)

तुम्हें अनन्य रूप से किसी दूसरी चीज पर निर्भर नहीं करना चाहिये, चाहे वह कितनी ही सहायता पहुंचानेवाली क्यों न मालूम हो, बल्कि प्रधानतः, प्रथमतः और मूलतः माताजी की शक्ति पर निर्भर करना चाहिये। सूर्य और ज्योति सहायक हो सकते हैं और होंगे ही यदि वे सच्चे सूर्य और सच्ची ज्योति हों, पर वे श्रीमां की शक्ति का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते।

(६)

जिस दृढ़ता को तुमने प्राप्त किया है वह कोई व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि वह तुम्हारे माताजी के साथ संस्पर्श बनाये रखने पर निर्भर करती है। कारण, उनकी ही शक्ति उसके पीछे और तुम जो कुछ उन्नति कर सकते हो उस सबके पीछे विद्यमान है। उसी शक्ति पर निर्भर करना, उसी की ओर अधिक पूर्णता के साथ अपनेको खोल रखना और आध्यात्मिक उन्नति को महज अपने लिये ही नहीं पर भगवान् के लिये पाने का प्रयास करना सीखो, तब तुम अधिक आसानी से अग्रसर होगे।

(७)

वे दो कारणों से उन्नति करने में असमर्थ हैं:

(१) वे निराशा, उदासी और निर्बलता के भ्रम के अधीन हो जाते हैं; (२) वे केवल अपने ही बल पर प्रयास करते हैं और न इस बात की परवा करते हैं या इसे जानते हैं कि किस प्रकार माताजी की शक्ति की क्रिया का आवाहन किया जाता है।

१०. ६. १९३६

माताजी की शक्ति का विरोध

तुम्हारी बीमारियां इस बात का चिह्न हैं कि तुम्हारी भौतिक चेतना भागवत शक्ति की क्रिया का विरोध करती है।

अगर तुम साधना में उन्नति नहीं कर पाते तो इसका कारण यह है कि तुम विभक्त हो और बिना कुछ बचाये अपने आपको नहीं दे देते। तुम प्रत्येक चीज माताजीको समर्पित करने की बात कहते हो परंतु तुमने वह एक चीज भी नहीं दी है जिसे माताजी ने तुमसे मांगा था और जिसे देने का वचन तुमने कई बार दिया था। यदि भागवत शक्ति की क्रिया का आवाहन करने के बाद तुम अन्य प्रभावों को रहने दो तो भला तुम बाधा-विघ्न और कठिनाइयों से छुटकारा पाने की आशा कैसे कर सकते हो?

२०. ११. १९२८

माताजी का दबाव डालना

मैं केवल तुम्हारी बात कह रहा था—मेरा कहने का मतलब यह नहीं था कि माताजी कभी दबाव डालती ही नहीं। परंतु दबाव भी बहुत प्रकार का हो सकता है। जब दिव्य शक्ति मन, प्राण या शरीर में प्रवेश करती है तब उसका एक दबाव पड़ता है—यह दबाव होता है अधिक तेज चलाने, निर्माण करने या रूप लेने या तोड़ने के लिये, तथा और भी बहुत सी चीजों के लिये। तुम्हारे अंदर अगर कोई दबाव है तो वह है सहायता करने या अवलंब देने या आक्रमण को दूर करने के लिये, परंतु मुझे ऐसा नहीं लगता कि उसे ठीक-ठीक दबाव कहा जा सकता है।

माताजी की महाकाली-शक्ति का कार्य

(१)

प्रश्न—"माता" पुस्तक के पृष्ठ ५० पर माताजी की महाकाली-शक्ति के बारे में कहा गया है कि "उनकी भुजाएं मारने और तारने को आगे बढ़ी रहती हैं।" यहां पर "मारने" का तात्पर्य क्या है?

उत्तर—यह संसार में होनेवाली उनकी साधारण क्रिया को प्रकट करता है। वह असुरों पर प्रहार करती हैं, वह ऐसी प्रत्येक चीज पर प्रहार करती है जिससे पिंड छुड़ाना है या जिसे नष्ट करना है, साधना की बाधाओं आदि पर भी प्रहार करती हैं। मैं कह सकता हूं कि माताजी कभी महाकाली-शक्ति या महाकाली का दवाव तुमपर प्रयुक्त नहीं करतीं।
५. ६. १९३६

(२)

प्रश्न—माताजी के महाकाली-रूप के विषय में 'माता' पुस्तक में कहा गया है, "जब उन्हें अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ कहीं भी दखल देने का अवसर मिलता है तब वे सब बाधाएं जो साधक को पंगु बना देती हैं एक क्षण में निःसार पदार्थों के समान नष्ट हो जाती हैं और वे सब शत्रु भी मृतप्राय हो जाते हैं जो साधक पर आक्रमण किया करते हैं।" महाकाली-शक्ति के इस हस्तक्षेप का अनुभव किस रूप में होता है?

उत्तर—यह मानो किसी क्षिप्र, आकस्मिक, सुनिश्चित और अनिवार्य वस्तु के रूप में अनुभूत होता है। जब यह हस्तक्षेप करता है तब इसके पीछे एक प्रकार की भागवत या अतिमानसिक स्वीकृति होती है और यह एक अंतिम आज्ञा के जैसा होता है जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं चलती। जो कुछ किया जा चुका है वह न तो उलटा जा सकता है न मिटाया जा सकता है। विरोधी शक्तियां कोशिश कर सकती हैं, यहां तक कि छू सकती या चढ़ाई कर सकती हैं, पर वे घवड़ाकर लौट जाती हैं और, ज्योंही वे पीछे हटती हैं, पुराना मैदान जैसे का तैसा सुरक्षित दिखाई पड़ता है—आक्रमण के समय भी यह अनुभव रहता है। वे कठिनाइयां भी जो इससे पहले प्रवल थीं, इस निर्णय के छू देने से अपनी शक्ति खो वैठती हैं, उनकी संभावना नष्ट हो जाती है अथवा दुर्वल छाया-सी रह जाती हैं जो केवल टिमटिमाने और बुझ जाने के लिये ही आती है। मैंने ऊपर 'अवसर मिलने' की वात कही है, क्योंकि महाकाली की यह चरम क्रिया अपेक्षाकृत बहुत कम होती है, अन्य शक्तियों की क्रिया या महाकाली की आंशिक क्रिया ही अधिक होती है।
२४. ८. १९३३

साधना की वर्तमान क्रिया

प्रश्न—क्या यह ठीक है कि यहां पर हमारी साधना में माताजी का महासरस्वती-रूप ही अधिक कार्य करता है?

उत्तर—वर्तमान समय में, क्योंकि साधना भौतिक चेतना में नीचे उतर आयी है—अथवा यों कहें कि यह महेश्वरी-महासरस्वती शक्तियों का एक मिला-जुला रूप है।
२५. ८. १९३३

प्रारंभिक चेतना में माताजी का कार्य

जो अनुभूतियां तुम्हें हुई हैं वे सिद्धि के लिये अच्छा प्रारंभ हैं। उन्हें एक गभीरतर स्थिति की ज्योति के रूप में विकसित होना होगा जिसमें पहुंचने पर तुम्हारे अंदर एक उच्चतर चेतना का अवतरण होगा। अपनी जिस वर्तमान चेतना में तुम इन चीजों को अनुभव कर रहे हो वह अभी केवल प्रारंभिक स्थिति की एक चीज है–जिसमें श्रीमां तुम्हारी चेतना की स्थिति और तुम्हारे कर्मों के अनुसार अपनी विश्वशक्ति के द्वारा तुम्हारे अंदर कार्य कर रही हैं और उस क्रिया में सफलता और विफलता दोनों आ सकती है–मनुष्य को सफलता का प्रयास करते हुए दोनों के प्रति सम-चित्त बने रहना चाहिये। इस प्रारंभिक चेतना के अंदर भी निश्चित पथप्रदर्शन मिल सकता है अगर तुम एकमात्र श्रीमां की ही ओर पूर्ण रूप से मुड़े रहो और इस तरह मुड़े रहो कि तुम उनके सीधे पथप्रदर्शन को अनुभव कर सको, उसका अनुसरण कर सको और तुम्हारे ऊपर कार्य करने के लिये उस समय दूसरा कोई प्रभाव या शक्ति हस्तक्षेप न करे। पर इस अवस्था को प्राप्त करना या बनाये रखना आसान नहीं है–इसके लिये आवश्यकता होती है महान् अनन्यता और निरंतर एकचित्त आत्मदान की। जब उच्चतर चेतना अवतरित होगी तब अधिक घनिष्ठ एकत्व, भागवत उपस्थिति की अधिक गभीर चेतना और अधिक ज्योतिर्मय संबोधि का आना संभव होगा।
१७. ११. १९३४

दूर से माताजी की शक्ति ग्रहण करना

(१)

तुम्हारा दूसरा मित्र जो कुछ पूछता है उसके बारे में यह कहना है कि यदि वह अपने हृदय में माताजी के प्रति पूजा का भाव बनाये रखे और जोर से पुकारता रहे तो जहां वह है वहीं, यहां आये बिना भी, उसके लिये ग्रहण करना बिलकुल संभव है। २५. ८. १९३५

(२)

प्रश्न–मेरे मित्र 'अ' के विषय में आपने कहा था कि वह माताजी की शक्ति ग्रहण कर रहा है। मैं थोड़ा भ्रम में पड़ गया हूं क्योंकि मैं समझ ही नहीं पाता कि किस माताजी की बात आपने लिखी है। क्या वह हम लोगों की माताजी हैं या कोई दूसरी जिन्हें लोग विश्वजननी कहते हैं? मैं इस कारण भ्रम में पड़ गया हूं कि वह माताजी का आवाहन नहीं करता और फिर भी माताजी की शक्ति को पाता है!

उत्तर–संभवतः मैंने जो लिखा था वह था: भागवत शक्ति के "संस्पर्श में", जो माताजी की शक्ति है। क्या तुमने, फोटो और उसके पत्र के द्वारा, उसके साथ हमारा संबंध नहीं स्थापित कर दिया है? क्या वह इस दिशा में नहीं मुड़ा है? क्या उसने 'ब' के साथ

मुलाकात नहीं की है और उससे-संस्पर्श के तीसरे माध्यम से-वह प्रभावित नहीं हुआ है? अगर उसमें श्रद्धा हो और यौगिक झुकाव हो तो संस्पर्श स्थापित करने में उसे सहायता करने के लिये यह बिलकुल पर्याप्त है।
१९३६

(३)

मै नहीं जानता आया माताजी स्वीकृत अर्थ में शक्ति भेज रही है या नहीं; मैंने उनसे पूछा नहीं है। पर जो हो, जिस आदमी में श्रद्धा और सच्चाई हो, ज़िसका चैत्य पुरुष जगना आरंभ हो गया हो और जो अपनेको खोले रखता हो, वह शक्ति ग्रहण कर सकता है-चाहे वह जाने या नही कि वह ग्रहण करता है। अगर 'अ' कल्पना भी करता हो कि वह ग्रहण कर रहा है तो इससे सच्चे रूप मे ग्रहण करने का रास्ता खुल सकता है,-अगर वह इसे अनुभव करता हो तो उसके अनुभव पर संदेह ही क्यों किया जाय? वह निश्चय ही परिवर्तित होने के लिये खूब अधिक चेष्टा कर रहा है और यही पहली आवश्यकता है; अगर कोई इसके लिये प्रयत्न करे तो यह सर्वदा, कम या अधिक समय में, सिद्ध किया जा सकता है।
२८. ६. १९४३

(४)

तुम्हारे लिये यह विलकुल संभव है कि तुम घर पर और अपने काम के बीच रहकर साधना करते रहो-बहुत से लोग ऐसा करते हैं। आरंभ में बस आवश्यकता यह है कि जितना अधिक संभव हो उतना माताजी को स्मरण करो, प्रत्येक दिन कुछ समय हृदय में उनका ध्यान करो, अगर संभव हो तो भगवती माता के रूप में उनका चिंतन करो, अपने भीतर उनको अनुभव करने की अभीप्सा करो, अपने कर्मों को उन्हें समर्पित करो और यह प्रार्थना करो कि वह भीतर से तुम्हें पथ दिखायें और तुम्हें संभाले रखें। यह आरंभिक अवस्था है और बहुधा इसमें बहुत समय लग जाता है, पर कोई यदि सच्चाई और लगन के साथ इस अवस्था में से गुजरता है तो मनोवृत्ति कुछ-कुछ बदलना आरंभ कर देती है और साधक में एक नयी चेतना खुल जाती है जो अंतर में श्रीमां की उपस्थिति के बारे में, प्रकृति में और जीवन में होनेवाली उनकी क्रिया के बारे में अथवा सिद्धि का दरवाजा खोल देनेवाली किसी अन्य आध्यात्मिक अनुभूति के बारे में अधिकाधिक सचेतन होना आरंभ करती है।

(५)

माताजी को स्मरण करो और, यद्यपि शरीर से तुम उनसे बहुत दूर हो, उनको अपने साथ अनुभव करने का प्रयास करो और तुम्हारी आंतर सत्ता जिस चीज को उनकी इच्छा

बतलावे उसी के अनुसार कार्य करो। तब तुम अच्छी तरह उनकी और मेरी उपस्थिति का अनुभव कर सकोगे और एक संरक्षण के रूप में अपने चारों ओर हमारे वातावरण को लिये रहोगे तथा स्थिरता और ज्योति का एक राज्य सर्वत्र तुम्हारे साथ बना रहेगा।
१२. १२. १९३६

माताजी के चित्र से शक्ति ग्रहण करना

प्रश्न—जब मैं माताजी के चित्र के सामने ध्यान करने बैठता हूं या उनके चरणों का चित्र खींचता हूं तब मैं शक्ति ग्रहण करता हूं। क्या यह केवल काल्पनिक अनुभव है?

उत्तर—नहीं, यह सिर्फ काल्पनिक नहीं है। उनके पास ध्यान करने से तुम उनके द्वारा माताजी के साथ संस्पर्श स्थापित करने में समर्थ हुए हो और उनकी शक्ति तथा उपस्थिति का कुछ अंश वहां मौजूद है।
१४. ७. १९३४

नीरोग करनेवाली शक्ति का कार्य और माताजी

(१)

प्रश्न—नीरोग करनेवाली शक्ति के कार्य के विषय में 'अ' के साथ मेरी गरमागरम लेकिन मित्रतापूर्ण बहस हो गयी थी। उसका मत था कि अब चूंकि उसे यहां उतार लाया गया है, संसार के अन्य भागों में भी उसके क्रिया करने की संभावना है और कोई भी राम, श्याम और यदु आध्यात्मिक दृष्टि से अनुन्नत होने पर भी इसका व्यवहार कर सकता है। क्या यह सच है?

उत्तर—वह क्रिया कर सकती है पर प्रत्येक 'र', 'श' और 'य' के द्वारा नहीं,—कम से कम आरंभ में तो नहीं।
३. २. १९३६

(२)

प्रश्न—मैंने प्रतिवाद किया कि नीरोग करनेवाली शक्ति केवल माताजी के द्वारा कार्य करेगी और दूसरे इसका उपयोग करने में तभी समर्थ होंगे जब कि वे किसी रूप में उनके प्रति खुले होंगे या ज्ञानपूर्वक उनके साथ संबंध बनाये होंगे और उनके साथ भौतिक संपर्क रखते होंगे। इन शर्तों को पूरा किये बिना कोई उसका व्यवहार नहीं कर सकता। आपका क्या कहना है?

उत्तर—निश्चय ही आरंभ में यही होगा, अगर वह सच्ची शक्ति हो, पर जब वह एक बार पृथ्वी-चेतना में जमकर बैठ जायेगी तब रोग दूर करने में अतिभौतिक शक्ति का

अधिक व्यापक व्यवहार करना संभव हो सकेगा।

और यह भी हमेशा जरूरी नहीं है कि जिस 'संबंध' की बात तुम कहते हो वह सचेतन ही हो। उदाहरणार्थ, विना जाने ही कुए (Coué) का संबंध माताजी के साथ था। किसी भी आदमी के 'कूए' को जानने से वहुत पहले ही उन्होंने उसके कुछ शक्ति प्राप्त करने और उसके कार्य के प्रारंभ होने की बात मुझसे कही थी (अवश्य ही वह उसका नाम नही जानती थीं, पर उन्होंने उसका और उसके कार्य का वर्णन ऐसे ढंग से दिया था कि वह स्पष्ट ही उसके साथ मिलता-जुलता था)।

३. २. १९३६

६

श्री माताजी की उपस्थिति

निरंतर उपस्थिति

हमेशा इस तरह रहो मानो तुम परात्पर प्रभु और भगवती माता की आंखों के एकदम नीचे हो। कोई ऐसा काम मत करो, कुछ भी ऐसा सोचने और अनुभव करने की चेष्टा मत करो जो भागवत उपस्थिति के लिये अनुपयुक्त हो।

सर्वत्र माताजी की व्यक्तिगत उपस्थिति

प्रश्न–आपने लिखा है :"हमेशा इस तरह आचरण करो मानो माताजी तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वास्तव में वह हमेशा उपस्थित रहती हैं।" आपने मुझे समझाया था कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वह भौतिक रूप में सर्वत्र उपस्थित रहती हैं, क्योंकि यह संभव नहीं है। परंतु मैंने जब इस विषय में माताजी से पूछा तो उन्होंने कहा कि वह सब स्थानों पर व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहती हैं। भला इन विरोधी वक्तव्यों में सामंजस्य कैसे बैठाया जाय ?

उत्तर–अगर 'भौतिक रूप से' का मतलब तुम 'शरीर से'–उनके दृश्य ठोस जड़ शरीर से–समझते हो तो यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता। जब तुमने माताजी से वह प्रश्न पूछा था तब उन्होंने तुम्हारा यह मतलब नहीं समझा था–उन्होंने कहा कि वह सर्वत्र उपस्थित रह सकती हैं, और निश्चय ही उनका मतलब अपनी चेतना में उपस्थित रहने से था। एक चेतना ही–शरीर नहीं–हमारे भीतर 'पुरुष', 'व्यक्ति' है, शरीर तो केवल चेतना के कार्य के लिये एक आधार और यंत्र है। अपनी चेतना में माताजी व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रह सकती हैं। विश्वगत रूप की उपस्थिति, निस्संदेह, हमेशा रहती है और विश्वगत तथा व्यक्तिगत एक ही सत्ता के दो स्वरूप हैं।

२५. ८. १९३६

माताजी का लोगों के विचारों और कार्यों को जानना

(१)

प्रश्न–आपने कहा है, "हमेशा इस प्रकार व्यवहार करो मानो श्रीमां तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वह, सचमुच, हमेशा उपस्थित रहती हैं।" क्या इसका अर्थ यह है

कि श्री माताजी हमारे सभी मामूली विचारों को सदा ही जानती हैं अथवा जब वह एकाग्र होती हैं केवल तभी जानती हैं?

उत्तर–यह कहा गया है कि माताजी हमेशा उपस्थित रहती हैं और तुम्हारी ओर ताक रही हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि अपने भौतिक मन में वह हमेशा तुम्हारी ही बात सोचती रहती हैं और तुम्हारे विचारों को देखती रहती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सर्वत्र हैं और अपने विश्वव्यापी ज्ञान के द्वारा सर्वत्र कार्य करती हैं।
१२. ८. १९३३

(२)

प्रश्न–किस अर्थ में माताजी सर्वत्र है–क्या भौतिक स्तर पर होनेवाली सभी घटनाओं को वह जानती हैं?

उत्तर–इस बात तक को कि आज लायड जार्ज ने क्या जलपान किया अथवा रूजवेल्ट ने नौकरों के विषय में अपनी धर्मपत्नी से क्या कहा? भला क्यों माताजी को भौतिक स्तर पर होनेवाली सभी घटनाओं को मनुष्य के ढंग से "जानना" ही चाहिये? शरीर धारण करने पर उनका कार्य होता है विश्वशक्तियों की क्रियाओं को जानना और अपने कार्य के लिये उनका उपयोग करना; बाकी चीजों के संबंध में, जिन चीजों को जानने की उन्हें जरूरत होती है उन्हें वह जानती हैं–कभी तो अपनी आंतरिक सत्ता के द्वारा और कभी अपने भौतिक मन के द्वारा। अपने विश्वव्यापी आत्मा के अंदर उन्हें समस्त ज्ञान प्राप्त है, पर वह केवल उसी को आगे ले आती हैं जिसे आगे ले आने की आवश्यकता होती है जिस-में कि कार्य किया जा सके।
१३. ८. १९३३

(३)

प्रश्न–किसी आदमी का कहना है कि माताजी हमारी सभी भौतिक क्रियाओं को देखती हैं। यह भला कैसे होता है? क्या हमारे सभी भौतिक कार्य उनके मन पर प्रतिबिंबित होते हैं और छायाचित्र की तरह वह उन्हें देखती हैं अथवा जब हम लोग उन्हें करते हैं तब उसी समय वे उनकी चेतना में भी घटित होते हैं? पर क्या यह बात उन्हें बहुत घबड़ा देनेवाली और कष्ट देनेवाली नहीं होगी? और यह क्या अत्यंत स्थूल प्रकार की कोई "टेलीपैथी" नहीं होगी?

उत्तर–इसका कुछ मूल्य नहीं है। लोग जो कुछ करते हैं उसे माताजी देख सकती हैं; उनके छायाचित्र माताजी सूक्ष्म स्थिति में, जो नींद या ध्यान से मिलती-जुलती है, ग्रहण करती हैं अथवा साधारण स्थिति में उनके छायाचित्र या सूचनाएं प्राप्त करती हैं; परंतु

इस तरह अपने-आप जो कुछ आता है उसका बहुत सा अंश अनावश्यक ही होता है और प्रत्येक चीज को हमेशा ग्रहण करते रहना असह्य दुःख देनेवाला ही होगा, क्योंकि वह लाखों तुच्छ चीजों में चेतना को लगाये रखेगा; अतएव वैसा नहीं होता। अधिक महत्त्व की बात है उनकी आंतरिक अवस्था को जानना और मुख्यतः यही उनके पास आती है।
२९. ६. १९३७

(४)

'अ' के विषय में जो कुछ तुमने लिखा है वह ठीक है...। वह यह नहीं समझती कि दूसरे उपायों से माताजी इन सब बातों को जानती है और कोई भी खबर जो उन्हें मिलती है वह केवल उनकी पहले से जानी हुई बात में ही विशेष भौतिक यथार्थता जोड़ देती है।

जब वह माताजी के विरुद्ध ऐसे-ऐसे विचार रखती है तब वह भला कैसे खुल सकती है? ये विचार अनिवार्य रूप में उसे माताजी के प्रभाव की ओर से बंद कर ही देंगे।

माताजी ने उसे लिखा है कि 'य' ने कुछ नही कहा था और उन्होंने बिना कोई खबर पाये स्वयं 'अ' की आंतर सत्ता से ही उसके विषय में सारी बातें जान ली थी; उसकी आंतर सत्ता निरंतर उनके पास आती है और उनसे कहती है अथवा जो कुछ उसकी प्रकृति में है उसे उन्हें दिखा देती है।

इसके अतिरिक्त माताजी सूक्ष्म दर्शन के अंदर चीजों को देखती है और प्रणाम या अन्य समयों पर साधकों के विचारों को ग्रहण करती हैं...। परंतु माताजी इन अतिभौतिक सूचनाओं के आधार पर कभी कार्य नहीं करतीं, तब तक नही करती जब कि कोई भौतिक प्रमाण नही मिल जाता, जैसे कि इस प्रसंग में स्वयं पत्र से मिला। कारण, कोई भी आदमी उनके कार्य को नहीं समझेगा—भौतिक मन में रहनेवाले साधक उनके कार्य को निराधार बतलायेंगे, और जिनपर इसका असर पड़ेगा वे अपने गुप्त विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को जोरों से अस्वीकार करेंगे, जैसा कि पहले बहुत से लोगों ने किया है। यह सब मैं खानगी तौर से तुम्हें बता रहा हूं जिसमें तुम यह समझ सको कि 'अ' के नाम लिखे माताजी के पत्रों का सच्चा आधार क्या है।
१०. ९. १९३६

अंतर में श्री माताजी की उपस्थिति

(१)

उसे अपने भीतर जाना होगा और अंतर में भगवती माता की और हृदय के पीछे चैत्य पुरुष की उपस्थिति को ढूंढ निकालना होगा और फिर वही से ज्ञान आयेगा और आंतरिक बाधाओं को विलीन कर देने की समस्त शक्ति आयेगी।

(२)

माताजी की सतत उपस्थिति अभ्यास के द्वारा आती है; साधना में सफलता पाने के लिये भागवत कृपा अत्यंत आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज है जो कृपाशक्ति के अवतरण के लिये तैयारी करती है।

तुम्हें भीतर की ओर जाना सीखना होगा, केवल वाहरी चीजों में ही रहना बंद करना होगा, मन को स्थिर करना होगा और अपने अंदर होनेवाली माताजी की क्रिया के विषय में सचेतन होने की अभीप्सा करनी होगी।

सामने माताजी की उपस्थिति

प्रश्न--शाम के ध्यान मे हृदय से समर्पण की तीव्र क्रिया हो रही थी। तुरत मुझे अपने सामने माताजी की उपस्थिति का वोध हुआ और पैरों के नीचे से, पैरों से, मूलाधार-चक्र से अभीप्सा उठने लगी; हृदय से, समस्त सत्ता से एक स्वेच्छाकृत और प्रेमपूर्ण समर्पण का भाव मानो संसिद्ध होने के लिये निकल रहा था। मै समझता हूं कि चैत्य पुरुष सामने आ गया था। पर मैंने मालाजी की उपस्थिति को अपने सामने क्यों अनुभव किया, अपने भीतर क्यों नही ?

उत्तर--उस समय तुम्हे चैत्य-पुरुषोचित अवस्था प्राप्त हुई थी और उसका मतलव है कि चैत्य पुरुष का प्रभाव सामने आ रहा है। जव पूर्ण चैत्य उद्‌घाटन हो जाता है तभी उपस्थिति अंदर आती है। उपस्थिति के सामने होने का यह अर्थ है कि वह तुम्हारे साथ है, पर अभी भीतर प्रवेश करना उसके लिये बाकी है।

१३. ७. १९३७

हृदय की धड़कन में उपस्थिति का अनुभव

पर मैं कोई कारण नही देखता कि क्यो मै उस अनुभव को भावुकता कहूं और यह समझूं कि हृदय की धड़कनों आदि में माताजी की उपस्थिति का तुम्हारा वोध झूठा था। तुम्हारे चैत्य पुरुष ने ही तुम्हें यह सुझाव दिया था और उसका प्रत्युत्तर यह सूचित करता है कि चेतना तैयार थी। माताजी ने अनुभव किया था कि कुछ तुम्हारे अंदर घटित हो रहा है और यह अनुभव किया कि यह किसी उपलब्धि का आरंभ है--वह उसे प्रोत्साहित कर रही थीं; उन्होने उसे निरुत्साहित नही किया। अगर वह कोई गलत या प्राणिक क्रिया होती तो उन्होंने उस तरह अनुभव न किया होता।

१३. ८. १९३४

दिन के समय उपस्थिति का अनुभव

अगर तुम दिन के अधिकतर भाग में माताजी की उपस्थिति को अनुभव करते हो तो

इसका अर्थ यह है कि वास्तव में तुम्हारा चैत्य पुरुष क्रियाशील हो रहा है और वही इस तरह अनुभव कर रहा है। क्योंकि चैत्य पुरुष की क्रिया के विना यह संभव नहीं होता। अतएव तुम्हारा चैत्य पुरुष मौजूद है और वह विलकुल दूर नहीं है।
१४. ३. १९३५

नींद में उपस्थिति का अनुभव

यह (नींद में माताजी की उपस्थिति का अनुभव) स्वभावतः जागृत अवस्था में उपस्थिति के बोध के वाद आता है, पर इसमें थोड़ा समय लगता है।
११. १. १९३५

काम में उपस्थिति का अनुभव

अधिकांश लोगों के लिये काम के साथ साथ माताजी की उपस्थिति को अनुभव करना आसान नहीं है--वे अनुभव करते हैं मानों वे काम कर रहे हों, मन काम में व्यस्त होता जाता है और समुचित निष्क्रियता या स्थिरता नहीं रख पाता।

माताजी को पत्र लिखना और उनकी उपस्थिति का अनुभव करना

माताजी की उपस्थिति या निकटता का अनुभव करना इस वात पर निर्भर नहीं करता कि तुम उन्हें पत्र लिखते हो या नहीं। वहुतसे लोग, जो वार-वार लिखते हैं, उसे अनुभव नहीं करते, कुछ लोग, जो प्रायः नहीं लिखते, उन्हें सर्वदा समीप अनुभव करते है।
११. ६. १९३६

माताजी की उपस्थिति और एकत्व का बोध

यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि सबसे पहले मनुष्य को उपस्थिति का अनुभव प्राप्त करना चाहिये और फिर उसके वाद ही वह यह अनुभव कर सकता है कि वह माताजी का है। वल्कि अधिकतर यह होता है कि इस (उनका होने के) अनुभव के वढ़ने से ही वह उपस्थिति आती है। क्योंकि यह अनुभव आता है चैत्य चेतना से और उस चैत्य चेतना के वढ़ जाने से ही अंत में सतत उपस्थिति का वना रहना संभव होता है। यह अनुभव चैत्य पुरुष से आता है और आंतर सत्ता का जहां तक संवंध है यह सत्य है--इसका अभी तक संपूर्ण सत्ता में सिद्ध न हो पाना इसे 'कल्पना' नहीं वना देता--वल्कि इसके विपरीत, जितना ही अधिक यह वढ़ता है उतनी ही अधिक समस्त सत्ता के इस सत्य को चरितार्थ करने की संभावना भी वढ़ जाती है। आंतर भाव वाहरी चेतना के ऊपर अपना अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है और उसे इस तरह फिर से गढ़ता है कि वह वहां भी एक सत्य वन जाय। यही है यौगिक रूपांतर के अंदर कर्म का अटल सिद्धांत--जो कुछ सत्य भीतर है वह वाहर आ जाता है, मन, हृदय तथा संकल्पशक्ति पर

अपना अधिकार जमा लेता है और उनके द्वारा वाह्य अंगों के अज्ञान के ऊपर विजयी होता तथा वहां भी आंतर सत्य को प्रकट करता है।

१६. ९. १९३६

माताजी की उपस्थिति का आच्छादित हो जाना

(१)

माताजी की उपस्थिति हमेशा रहती ही है; पर तुम यदि स्वयं अपने ही ढंग से— अपनी निजी भावना, वस्तुओं के विषय में अपनी निजी धारणा, वस्तुओं के प्रति अपनी निजी इच्छा और मांग के अनुसार कार्य करने का निश्चय करो तो यह विलकुल संभव है कि उनकी उपस्थिति आच्छादित हो जाय; वास्तव में स्वयं वह तुम्हारे पास से अलग नहीं हट जातीं, वल्कि तुम्हीं उनके पास से पीछे चले आते हो। पर तुम्हारा मन और प्राण इसे स्वीकार करना नहीं चाहते, क्योंकि अपनी ही गतियों का समर्थन करना बराबर ही उनका अपना पेशा रहा है। अगर चैत्य पुरुष को उसका पूर्ण अधिकार दे दिया गया होता तो ऐसा न होता; उसने आच्छादन को अनुभव किया होता, वल्कि उसने तुरत यह कहा होता, 'अवश्य मेरे अंदर ही कोई भूल रही होगी, मेरे अंदर कुहासा उत्पन्न हो गया है', और उसने कारण को खोजा और पा लिया होता।

२५. ३. १९३२

(२)

जिस उपस्थिति के चले जाने के कारण तुम्हें दुःख हुआ है वह तभी अनुभूत हो सकती है जव कि आंतर सत्ता समर्पित रहना जारी रखे और बाहरी प्रकृति को आंतर आत्मा के साथ समस्वर वनाये रखा जाय अथवा कम से कम उसके स्पर्श के अधीन रखा जाय।

परंतु तुम यदि ऐसे कार्य करो जिन्हें तुम्हारी आंतर सत्ता पसंद न करे तो अंत में यह अवस्था धीमी हो जायगी और प्रत्येक वार उपस्थिति को अनुभव करने की संभावना कम होती जायगी। अगर माताजी की कृपा को वनाये रखना है और उसे फलोत्पादक होना है तो तुम्हें शुद्धि के लिये एक सवल संकल्प रखना चाहिये और एक ऐसी अभीप्सा रखनी चाहिये जो न कभी ढीली पड़े और न वंद हो।

७

श्री माताजी के साथ सच्चा संबंध

माताजी तथा साधकों के बीच का संबंध

माताजी तथा उन्हें स्वीकार करनेवाले लोगों के बीच जो संबंध है वह है चैत्य और आध्यात्मिक मातृत्व का संबंध। सांसारिक मां का उसके बच्चे के साथ जो संबंध होता है उससे बहुत अधिक महान् यह संबंध है। मानव-मातृत्व जो कुछ दे सकता है वह सब यह संबंध देता है, परंतु देता है बहुत ही ऊंचे तरीके से और उसके अंदर उससे अनंतगुना अधिक और भी चीजें होती हैं। अतएव यह, महत्तर और पूर्णतर होने के कारण, संपूर्ण भौतिक संबंध का क्षेत्र अपना सकता है और अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों ही जीवनों में उसका स्थान ले सकता है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं जो साधारण समझ और सीधी-सरल बुद्धि रखनेवाले किसी भी मनुष्य को घबड़ा दे। स्थूल सांसारिक तथ्य महत्तर और आध्यात्मिक सत्य के मार्ग में जरा भी रोड़ा नही अटका सकते अथवा उसे सत्य होने से नहीं रोक सकते। 'अ' का यह कहना बिलकुल ठीक है कि यह उसकी सच्ची मां है; क्योंकि इन्होंने उसे आंतर जीवन में नया जन्म दिया है और यह दिव्यतर जीवन के लिये उसे नये सिरे से गढ़ रही हैं।

आध्यात्मिक मातृत्व की भावना इस आश्रम का ही आविष्कार नही है; यह एक शाश्वत सत्य है जो प्राचीन युगों से ही यूरोप और एशिया दोनों जगह स्वीकृत होता आ रहा है। और सांसारिक संबंध तथा चैत्य और आध्यात्मिक संबंध के बीच जो मैंने विभेद किया है वह भी कोई नया आविष्कार नही है; यह एक ऐसी भावना है जिसे सर्वत्र लोग जानते हैं और समझते हैं तथा सब लोग पूर्ण स्पष्ट और सरल अनुभव करते हैं।

२३. १०. १९२९

माताजी के साथ विशेष संबंध

(१)

निश्चय ही यह ठीक है कि भगवान् में कोई पसंदगी या नापसंदगी नही है और वह सब के प्रति सम होते हैं, पर यह बात प्रत्येक के साथ एक विशिष्ट संबंध रखने से नही रोकती। फिर यह संबंध अधिक या कम तादात्म्य या एकत्व पर नहीं निर्भर करता। शुद्धतर आत्मा अधिक आसानी से भगवान् के पास पहुंचता है। अधिक विकसित स्वभाव के पास अधिक

रास्ते होते हैं जिनके द्वारा वह उनसे मिलता है। तादात्म्य एक प्रकार का आध्यात्मिक एकत्व उत्पन्न करता है। परंतु और दूसरे व्यक्तिगत संबंध भी हैं जो दूसरे कारणों से उत्पन्न होते हैं। सभी संबंधों के एक कारण से ही निश्चित होने की बात अत्यंत जटिल है।

हां, जिन योगियों की उन्नति माताजी के व्यक्तिगत हस्तक्षेप के ऊपर नहीं निर्भर करती उन्हें उनके साथ कोई व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने की आवश्यकता नहीं—उनके लिये केवल एक दूर का आध्यात्मिक संस्पर्श ही पर्याप्त है। कोई कोई विशेष संबंध भी बनाये रख सकते हैं, पर अपनी साधना के किसी विशिष्ट रूप के कारण ही वे ऐसा करते हैं। दूसरी ओर, कोई साधक साधना में कोई प्रगति न करने पर भी श्री माताजी के साथ व्यक्तिगत संबंध बनाये रख सकता है। इस विषय में सभी प्रकार की संभावनाएं विद्यमान हैं।

जो लोग यहां आये हुए हैं और जिनका चैत्य पुरुष एक संबंध स्थापित करने योग्य पर्याप्त रूप में विकसित हो चुका है उन सभी लोगों के साथ माताजी का एक ऐसा संबंध है। दूसरे लोगों के लिये इस बात की एक संभावना ही अधिक है, यह जीवन में सिद्ध नहीं हुई है।

मोटे तौर पर कहें तो अभिव्यक्त सत्ता के तीन अंग हैं जो यहां पर कार्य करते हैं— (१) क्रमविकास में आया हुआ चैत्य पुरुष जो अपने साथ पूर्वजीवनों का प्राचीन अनुभव और पुराने व्यक्ति-स्वरूपों का कुछ अंश ले आता है, उतना ही अंश ले आता है जो वर्तमान जीवन के लिये उपयोगी बनाया जा सके; (२) वर्तमान रूप जो इस जन्म के कारण मिला है और जो बहुत सी जटिल चीजों के मिलने से बना है; (३) भावी सत्ता, जिसका, हमारे अपने लिये, अर्थ होता है वर्तमान अभिव्यक्ति के ऊपर की उच्चतर चेतना की महान् धाराएं जिनके साथ युक्त होने पर रूपांतर अधिक संभव होता है और जिस कार्य का प्रयास किया जा रहा है वह पूरा हो सकता है।

चैत्य पुरुष ही वह चीज है जो पूर्वजीवनों या व्यक्ति-स्वरूपों के द्वारा, उस चीज के द्वारा जो उनके अंदर आवश्यक और अभी तक क्रियाशील है और जिसे उसने रखा है, संस्पर्श स्थापित करती है।

परंतु, इसके अलावा, कुछ ऐसे चैत्य पुरुष यहां आये हैं जो ऊर्ध्व चेतना की महत्तर धाराओं के साथ युक्त होने के लिये तैयार हैं, बहुधा उच्चतर लोकों की सत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिये जो महान् कार्य यहां किया जानेवाला है उसमें माताजी के साथ घनिष्ठ रूप में योग देने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इन सभी लोगों का माताजी के साथ विशेष संबंध है जो उनके पुराने संबंध के अतिरिक्त है।

वर्तमान रूप का जहां तक संबंध है, उसमें स्पष्ट ही ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो, माताजी के साथ सहयोग न देने या उनसे न मिलने के कारण, अपनेको उनसे अपरिचित अनुभव करें। ऐसा ही तत्त्व यह अनुभव कर सकता है कि वह रास्ते में खड़ा है; परंतु यह एक

बाहरी रचना है और कम से कम अपने वर्तमान स्वरूप में यह न तो पुराने विकास से संबंध रखता है और न भावी विकास से। इसे या तो नष्ट हो जाना होगा या रूपांतरित।
१०. ६. १९३५

(२)

यदि साधक माताजी के प्रति कृतघ्न बन जाय तो इसका मतलब है कि वह साधना या माताजी को नहीं चाहता था, बल्कि अपनी कामनाओं और अपने अहंकार की तुष्टि चाहता था। यह योग नहीं है।

माताजी किसी के साथ "घंटों" मुलाकात नहीं करतीं–यदि कोई घंटों उनके पास रहे तो वह बहुत थक जायंगी।

माताजी 'अ' के साथ औरों की अपेक्षा अधिक मुलाकात इसलिये नहीं करती थीं कि वह औरों की अपेक्षा उसे अधिक प्यार करती थीं; बल्कि इसलिये कि वह उसके द्वारा कार्य के लिये कुछ ऐसी चीज करा लेने की कोशिश करती थी जो हो जाने पर सबके लिये एक महान् विजय होती। परंतु ठीक इसी कारण कि उसने इसे गलत रूप में लिया और इसे एक व्यक्तिगत भौतिक संबंध और अपनी अहंकारपूर्ण कामना की तृप्ति के रूप में पकड़ने के लिये व्यग्र हो उठा, वह असफल हुआ और उसे चला जाना पड़ा। तुम्हारा "अंग" भी वही इंद्रियाश्रित अहंकार की मूर्खतापूर्ण और अज्ञानमय मांग पेश करता है और यदि माताजी इतनी मूर्ख हों कि उसे संतुष्ट करें तो इसका परिणाम 'अ' के जैसा ही होगा।

माताजी ने इसलिये शरीर ग्रहण किया कि स्थूल ढंग का एक कार्य करना है (उसमें स्थूल जगत् का परिवर्तन भी शामिल है); वह लोगों के साथ "स्थूल संबंध" स्थापित करने के लिये नहीं आयी है। कुछ लोग कार्य में हिस्सा बंटाने के लिये उनके साथ आये है; कुछ लोगों को उन्होंने बुलाया है, दूसरे लोग ज्योति की खोज करने आये हैं। प्रत्येक के साथ उनका एक व्यक्तिगत संबंध है अथवा व्यक्तिगत संबंध होने की संभावना है, परंतु प्रत्येक संबंध अपने-अपने ढंग का अलग है और कोई भी यह नहीं कह सकता कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान रूप से एक ही बात करनी चाहिये। कोई भी आदमी अपने अधिकार के रूप में यह दावा नही कर सकता कि उन्हें शरीर से उसके निकट रहना होगा क्योंकि वह शरीर से दूसरों के निकट है। कुछ लोगों ने उनके साथ व्यक्तिगत संबंध बना रखा है, फिर भी वह उनसे बहुत कम मुलाकात करती है–कुछ लोगों का व्यक्तिगत संबंध कम घनिष्ठ है और फिर भी किसी न किसी कारणवश वह उनके साथ अधिक बार और अधिक देर तक मुलाकात कर सकती है। इस प्रसंग में स्थूल मन के मूर्खतापूर्ण गणित-जैसे नियमों का व्यवहार करना निरर्थक है। तुम्हारा स्थूल मन यह नहीं समझ सकता कि माताजी क्या करती हैं; उसके मूल्य, मानदंड और भावनाएं माताजी की नहीं हैं। और उन्हें क्या करना

चाहिये इसकी माप-जोख अपने व्यक्तिगत प्राण की मांग या कामना के द्वारा करना तो और भी अधिक बुरा है। वही रास्ता आध्यात्मिक सर्वनाश का है। माताजी प्रत्येक प्रसंग में उस प्रसंग के अनुकूल विभिन्न कारणों के अनुसार कार्य करती है।

माताजी के साथ आंतरिक एकत्व और बाहरी संबंध

आध्यात्मिक एकत्व भीतर से आरंभ होना चाहिये और फिर वहां से बाहर की ओर फैलना चाहिये; वह किसी भी बाहरी चीज पर अवलंबित नही हो सकता—क्योंकि, अगर इस तरह अवलंबित हो तो, वह एकत्व आध्यात्मिक या सच्चा नहीं हो सकता। यही सबसे बड़ी भूल है जो यहां बहुत से आदमी करते हैं; वे माताजी के साथ बाहरी प्राणगत या भौतिक संबध पर ही सारा जोर डाल देते है; प्राणगत आदान-प्रदान या भौतिक संपर्क के लिये आग्रह करते हैं और जब वे उसे संतोपप्रद मात्रा में नही पाते तब वे सब प्रकार के गोलमाल, विद्रोह, शंका-संदेह और अवसाद में जा गिरते है। यह एकदम गलत दृष्टि है और इसने बहुत अधिक बाधा और उपद्रव ही खड़ा किया है। मन, प्राण और शरीर एकत्व में भाग ले सकते हैं और भाग लेना ही उनके लिये अभिप्रेत है, पर उसके लिये उन्हें चैत्य पुरुष की अधीनता स्वीकार करनी होगी, स्वयं चैत्य-भावापन्न हो जाना होगा; एकत्व को मूलतः चैत्य और आध्यात्मिक एकत्व होना होगा और मन, प्राण और शरीर तक में फैल जाना होगा। शरीर तक को इस योग्य हो जाना होगा कि वह सूक्ष्म रूप से माताजी का सान्निध्य, उनकी ठोस उपस्थिति अनुभव कर सके—केवल तभी एकत्व वास्तव में स्थापित हो सकता और पूर्ण बन सकता है एवं केवल तभी कोई भौतिक सामीप्य या संस्पर्श अपना सच्चा मूल्य प्राप्त कर सकता और अपने आध्यात्मिक उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। जब तक ऐसा नही होता तब तक कोई भी भौतिक संस्पर्श बस उतना ही मूल्य रखता है जितना कि वह आंतरिक साधना मे सहायता पहुंचाता है; परंतु कितना-सा दिया ज़ा सकता है और कौन-सी चीज सहायक या बाधक होगी—इसका विचार एकमात्र माताजी ही कर सकती है, साधक इस विषय में निर्णायक नही बन सकता—वह तो अपनी कामनाओं और निम्नतर प्राणमय अहंकार के द्वारा पथभ्रष्ट हो जायगा जैसा कि वास्तव में बहुत से लोग हो चुके है। जब प्राणगत मांग मौजूद होती है, प्राण दावा करता है, विद्रोह करता है और बाहरी संपर्क या सामीप्य की कामना को इन सब चीजों का कारण या एक अवसर बना देता है तो ये सब चीजें आंतरिक एकत्व के विकसित होने में बड़ी रुकावट डालती हैं, उसमें बिलकुल ही सहायक नही होतीं। अपने अज्ञानवश साधक बराबर ही यह कल्पना करते हैं कि जब श्री माताजी एक व्यक्ति के साथ दूसरे की अपेक्षा अधिक मुलाकात करती हैं, तब इस का कारण यह है कि वह उसे अधिक पसंद करती हैं और उस व्यक्ति को अधिक प्रेम तथा सहायता दे रही हैं। यह एकदम भूल है। शारीरिक सामीप्य और संस्पर्श वास्तव में साधक

के लिये एक कठोर अग्निपरीक्षा हो सकता है; वह प्राणगत मांग, दावा, ईर्ष्या आदि को बहुत ऊंचे शिखर तक ऊपर उठा सकता है; फिर, दूसरी ओर, हो सकता है कि उसके कारण साधक बाहरी संबंध से ही संतुष्ट हो जाय और आंतरिक एकत्व के लिये कोई सच्चा प्रयास न करे; अथवा वह, साधारण और परिचित होने के कारण, एक यांत्रिक चीज बन जाय और किसी भी आंतरिक उद्देश्य के लिये एकदम बेकार हो जाय—ये सब चीजें केवल संभव ही नहीं हैं बल्कि बहुत लोगों में घटित भी हुई हैं। श्री माताजी यह जानती हैं और इसलिये इस विषय में उनकी व्यवस्था का कारण लोग जो कुछ समझते हैं उससे एकदम भिन्न होता है।

एकमात्र सुरक्षित बात है सबसे पहले और पूर्ण रूप से आंतर एकत्व पर ध्यान जमाना, उसी को प्राप्त करने योग्य एकमात्र चीज बना लेना और बाहरी किसी भी चीज के लिये सभी तरह की मांगों और दावों को अलग छोड़ देना, जो कुछ मां दें बस उसी से संतुष्ट रहना और एकदम उन्हीं के ज्ञान और देख-रेख पर निर्भर करना। यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जानी चाहिये कि जो कामना, विद्रोह, शंका-संदेह, अवसाद, भीषण संघर्ष आदि उत्पन्न करती हैं वह कभी आध्यात्मिक क्रिया का सच्चा अंग नहीं हो सकती। अगर तुम्हारा मन कहे कि यह उचित है, तब निश्चय ही तुम्हें मन के सुझावों पर अविश्वास करना चाहिये। बस उसी एक आवश्यक चीज पर पूर्ण रूप से ध्यान एकाग्र करो, और, उन सभी संभावनाओं और शक्तियों को, अगर वे आवें तो, अलग रख दो जो उस चीज में गड़बड़ी उत्पन्न करना चाहें अथवा तुम्हें विपथगामी बनावें। इन सब चीजों के लिये जो प्राण की स्वीकृति होती है उसे जीतना होगा, पर उसके लिये सबसे पहली बात है सब प्रकार की मानसिक स्वीकृति देना अस्वीकार कर देना; क्योंकि मानसिक अनुमोदन उन्हें इतनी अधिक शक्ति प्रदान करता है जितनी उन्हें अन्य किसी प्रकार नहीं प्राप्त होती। मन और गभीरतर भावमय सत्ता में समुचित भाव जमाओ—जब विपरीत शक्तियां उठ खड़ी हों तब उसीसे चिपके रहो और उसी दृढ़ चैत्य भाव के द्वारा उन्हें दूर भगा दो।
१४. ३. १९३७

माताजी के बच्चे

वे ही माताजी के सबसे नजदीकी बच्चे हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनकी आंतर सत्ता में उनके निकट हैं, उनकी इच्छा के साथ 'एक' हो गये हैं—वे लोग नहीं जो शरीर से उनके सबसे अधिक निकट हैं।

बाहरी और भीतरी मां

यह ठीक है कि माताजी अनेक रूपोंवाली है, परंतु बाहरी और भीतरी मां के बीच, बहुत कठोर विभेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह केवल 'एक' ही नही हैं, वरन् शरीर-

रूपी मां अपने अंदर अन्य सभी रूपों को धारण करती हैं और उन्हींके अंदर आंतर और बाह्य सत्ता के बीच संबंध स्थापित होता है। परंतु बाहरी माताजी को सचमुच में जानने के लिये हमें यह जानना होगा कि उनके भीतर क्या है और केवल बाहरी आकार की ही ओर नहीं देखना होगा। ऐसा करना केवल तभी संभव होता है जब मनुष्य अपनी आंतर सत्ता के द्वारा उनके साथ मिलता है और उनकी चेतना में वर्द्धित होता है—जो लोग केवल बाहरी संबंध ही स्थापित करना चाहते हैं वे ऐसा नहीं कर सकते।
१०. ८. १९३६

माताजी के साथ आंतरिक संबंध

(१)

आंतरिक (अंतरात्मा के) संबंध का तात्पर्य यह है कि मनुष्य माताजी की उपस्थिति का अनुभव करे, सर्वदा उनकी ओर मुड़ा रहे, यह जाने कि उनकी शक्ति ही उसे चला रही है, पथ दिखा रही है और सहायता कर रही है, उनके प्रति प्रेम से भरपूर रहे और चाहे वह शरीर से उनके पास हो या न हो, बराबर ही उनका महान् सामीप्य अनुभव करे। यह संबंध मन, प्राण और आंतर शरीर को तबतक ऊपर उठाता जाता है जबतक कि मनुष्य अपने मन को माताजी के मन के समीप, अपने प्राण को उनके प्राण के साथ सुस-मंजस और अपनी शारीरिक चेतना तक को उनसे भरा-पूरा अनुभव नहीं करता। ये सभी आंतरिक एकत्व से, केवल आत्मा और आंतर स्वरूप के अंदर के नहीं प्रत्युत प्रकृति के अंदर के एकत्व से संबंध रखनेवाली बातें हैं।

मुझे याद नहीं आता कि मैंने क्या लिखा था, परंतु यह एक घनिष्ठ आंतर संबंध है और बाहरी संबंध से एकदम भिन्न है। बाहरी संबंध तो केवल इस बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य किस प्रकार उनके साथ बाहरी भौतिक स्तर में मिलता है। यह बिलकुल संभव और सच्ची बात है कि यदि कोई उनको शरीर से केवल प्रणाम और ध्यान के समय तथा वर्ष में केवल एक बार, संभवतः जन्मदिन के अवसर पर ही देखे तो भी यह घनिष्ठ आंतर संबंध पाया जा सकता है।

(२)

संपर्क तो बराबर ही रहता है, आत्मा में और चैत्य पुरुष में; परंतु मन, प्राण और शरीर में यदि बाधाएं हों तो फिर वह संपर्क प्रकट नहीं हो सकता, अथवा, यदि प्रकट हो भी तो, उसमें ऐसी चीजें मिली होती हैं जो उसे अपूर्ण और अनुपयुक्त बना देती हैं। सच्चा संपर्क तो चैत्य और आध्यात्मिक ही है; अन्य अंगों का संबंध इसी चैत्य और आध्या-त्मिक संबंध के आधार पर बनाये रखना चाहिये और तभी यह स्थायी हो सकता है।

(३)

भगवान् के साथ का संबंध, माताजी के साथ का संबंध होना चाहिये प्रेम, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, निर्भरता और आत्मसमर्पण का संबंध; साधारण प्रकार का कोई भी दूसरा प्राण-गत संबंध ऐसी प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करता है जो साधना के विरुद्ध होती ह—जैसे, कामना-वासना, अहंकारपूर्ण अभिमान, मांग, विद्रोह और अज्ञानमयी राजसिक प्रकृति का सारा विक्षोभ जिससे दूर हटना ही साधना का लक्ष्य है।
२६. ४. १९३३

(क्रमशः)

इक्यावनवीं कला

श्रीअरविंद के जन्म-दिवस, १५ अगस्त १९५५ के उपलक्ष्य में

विशेषांक

श्रीअरविन्द–अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(धारावाहिक–५)
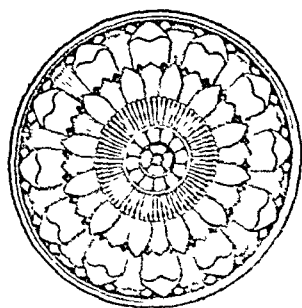
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

इस अंक के साथ 'Sri Aurobindo on Himself and on the Mother' का अनुवाद समाप्त होता है। पाठकों को जहां कहीं त्रुटियां दिखाई दें वहां हमारा ध्यान खींचने की कृपा अवश्य करें।

श्रीअरविन्द की किसी चीज का पूरा पूरा अनुवाद करना असंभव है। जो पाठक अंग्रेजी जानते हैं वे मूल पुस्तक अवश्य पढ़ें।

अगले अंक से श्रीअरविन्द के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ Foundations of Indian Culture का अनुवाद छपना शुरू होगा।

—संपादक
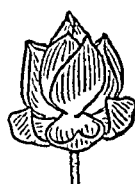
विषय-सूची

अदिति सह भारत माता, १५ अगस्त १९५५

श्रीअरविन्द—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

तीसरा भाग

(२४ अप्रैल १९५५ के अंक से आगे)

श्रीमाताजी

श्री माताजी

७

माताजी के साथ सच्चा संबंध

(अप्रैल १९५५ के अंक से आगे)

सतत चैत्य सामीप्य

(१)

प्रश्न—मैं अपने-आपको माताजी के बहुत नजदीक अनुभव करता हूं मानो हमारे बीच कोई पार्थक्य ही न हो। लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है जब कि उनके और मेरे बीच इतनी बड़ी खाई है—वह तो हैं अतिमानसिक स्तर पर और मैं हूं मानसिक स्तर पर?

उत्तर—परंतु माताजी केवल अतिमानसिक स्तर पर ही नहीं हैं बल्कि सभी स्तरों पर हैं। और विशेषकर चैत्य भाग (आंतर हृदय) में वह प्रत्येक व्यक्ति के समीप हैं, इसलिये जब चैत्य भाग खुलता है तब स्वभावतः ही सामीप्य का अनुभव होता है।

११. १२. १९३३

(२)

जो चीज आवश्यक है वह है तुम्हारे चैत्य पुरुष का आगे आना और मेरे तथा माताजी के प्रत्यक्ष, यथार्थ तथा सतत आंतर संस्पर्श के प्रति तुम्हें खोल देना। अब तक तुम्हारे अंतरात्मा ने मन के द्वारा और उसके आदर्शों तथा पसंदगियों के द्वारा अपना ज्ञान और उसके उच्चतर सुखों और अभीप्साओं के द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त किया है; परंतु भौतिक कठिनाइयों को जीतने तथा जड़तत्त्व को आलोकित करने और रूपांतरित करने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तव में स्वयं तुम्हारे अंतरात्मा को, तुम्हारे चैत्य पुरुष को सामने आना होगा, संपूर्ण रूप से जाग्रत होना होगा और सुस्पष्ट परिदर्शन में आना होगा। चैत्य पुरुष को यौक्तिक आदर्शों के समर्थन की या बाहरी नियमों और रूप-

यताओं की कोई आवश्यकता न होगी। केवल यही वह चीज है जो तुम्हें भगवान् की सीधी अनुभूति दे सकती है, सतत सान्निध्य, आंतर अवलंब और साहाय्य दे सकती है। उस समय तुम माताजी को दूर नहीं अनुभव करोगे और न सिद्धि के विषय में फिर कोई संदेह ही करोगे; क्योंकि मन ही विचार करता है और प्राण लालायित होता है, पर अंतरात्मा भगवान् को अनुभव करता और जानता है।

(३)

यहां पर जो कुछ तुमने लिखा है वह चैत्य पुरुष और माताजी के साथ उसके संबंध का ठीक ठीक वर्णन है। यही सच्चा संबंध है। अगर इस योग में तुम सफल होना चाहते हो तो तुम्हें चैत्य संबंध को अवश्य ही अपनाना चाहिये और अहंकारपूर्ण प्राणिक क्रिया का त्याग करना चाहिये। चैत्य पुरुष का सामने आना और वहां बने रहना ही योग की निर्णायक क्रिया है। जब तुम पिछली बार श्री माताजी से मिले तब यही हुआ था, तुम्हारा चैत्य पुरुष सामने आ गया था। परंतु तुम्हें उसे सामने ही बनाये रखना होगा। किंतु तुम यदि प्राणगत अहंकार की बात और उसकी चिल्लाहटों को सुनोगे तो तुम यह करने में समर्थ नहीं होगे। श्रद्धा-विश्वास, आत्मसमर्पण और शुद्ध आत्मदान का आनंद—चैत्यपुरुषोचित भाव—ही वह चीज है जिसकी सहायता से मनुष्य सत्य में वर्द्धित और भगवान् के साथ युक्त होता है।

२९. २. १९३३

(४)

प्रश्न— जब मैं ठीक ठीक एकाग्र नहीं हो सका तब मैंने ऊपर से पवित्रता का आवाहन किया। तुरत सारी सत्ता शांति और पवित्रता से भर गयी और बिना किसी कठिनाई के मैंने हृदय में माताजी की उपस्थिति का अनुभव किया। हृदय से, नीचे से, सच पूछा जाय तो सत्ता के प्रत्येक अंग से तीव्र अभीप्सा उठने लगी। हृदय माताजी के प्रति पूजा के भाव से भर गया था; भक्ति, सच्चे समर्पण तथा माताजी के साथ एकत्व की प्राप्ति से मिलनेवाली महान् निश्चितता का भाव वर्तमान था। पवित्रता के लिये भी तीव्र अभीप्सा उठ रही थी। क्या यह चैत्य उद्घाटन था?

उत्तर—हां, निःसंदेह यह चैत्य उद्घाटन था और जिस बात पर अधिक जोर था वह था उच्चतर पवित्रता के लिये उद्घाटन और वह बहुत आवश्यक है। वह चैत्य उद्घाटन तथा माताजी के साथ आंतर संपर्क प्राप्त करने के लिये एक अत्यंत आवश्यक चीज है।

१४. ७. १९३७

(५)

जो पुकारता है वह है तुम्हारा अपना ही चैत्य पुरुष जिसका स्थान है हृत्केंद्र के पीछे गभीर तल में। बहुतसे आदमी समय समय पर वहां से माताजी के लिये उठती हुई पुकार अनुभव करते हैं। यह पुकार नींद में अथवा अर्द्ध-जाग्रत् अवस्था में अधिक आसानी से उठती है, क्योंकि उस समय ऊपरी मन सक्रिय नहीं होता और इस कारण भीतर आंतर सत्ता में जो कुछ होता है वह प्रकट हो सकता है।
२९. १०. १९३४

साधना का सच्चा आधार

(१)

हां, यही सच्चा आधार है। पूर्ण समता के अंदर माताजी के साथ संपूर्ण रूप से युक्त हो जाना—जिसमें उच्चतर चेतना जीवन में उतर सके और प्रकृति के अत्यंत बाहरी भागों में भी लायी जा सके।
२२. ५. १९३४

(२)

जितना ही अधिक माताजी के साथ एकत्व बढ़ता जाय साधना के लिये वह उतना ही अच्छा है।
२. १०. १९३३

(३)

हां, यह बहुत उत्साहित करनेवाली प्रगति है। अगर तुम विशालता और स्थिरता को पहले की तरह बनाये रखो और साथ ही हृदय में माताजी के लिये प्रेम भी बनाये रखो तो सब सुरक्षित रहेगा—क्योंकि इसका अर्थ होगा योग का द्विविध आधार—अपनी शांति, स्वतंत्रता और आत्मप्रसाद के साथ ऊपर से उच्चतर चेतना का अवतरण तथा चैत्य पुरुष का उद्घाटन जो समस्त प्रयास या समस्त स्वाभाविक क्रिया को सच्चे लक्ष्य की ओर मोड़े रखता है।
१०. १०. १९३४

आश्रम में तथा बाहर चैत्य संपर्क

(१)

निश्चय ही यह बिलकुल ठीक है कि दूर से भी चैत्य संपर्क बना रह सकता है और

भगवान् देश से सीमित नहीं है, बल्कि सर्वत्र विद्यमान है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आदमी आश्रम में ही रहे अथवा शरीर से श्रीमां के समीप रहे और तभी वह आध्यात्मिक जीवन यापन कर सकता है या योग का अभ्यास कर सकता है, आरंभिक अवस्थाओं में तो यह बिलकुल ही आवश्यक नहीं है। परंतु यह सत्य का केवल एक पक्ष है; इसके अलावा एक दूसरा पक्ष भी है, अन्यथा यह युक्तिसंगत सिद्धांत निकल आयेगा कि माताजी के यहां रहने की, अथवा आश्रम के होने की, या किसी भी आदमी के यहां आने की बिलकुल ही कोई आवश्यकता नहीं है।

चैत्य पुरुष सबके अंदर होता है, पर वह बहुत थोड़े लोगों में अच्छी तरह विकसित हुआ होता है, अपनी चेतना में अच्छी तरह गठित और सामने प्रमुख स्थान में होता है; अधिकांश लोगों में यह ढका हुआ होता है, प्रायः कुछ भी करने में असमर्थ होता है या केवल एक प्रभाव भर डालता है, इतना पर्याप्त सचेत या सबल नहीं होता कि आध्यात्मिक जीवन को सहारा दे सके।

इसी कारण यह आवश्यक है कि जो लोग इस सत्य की ओर आकर्षित हुए हैं वे यहां आकर रहें जिसमें कि वे स्पर्श प्राप्त कर सकें और उस स्पर्श से चैत्य पुरुष का जागरण हो या उसकी तैयारी हो—यही उन लोगों के लिये फलप्रद चैत्य संपर्क स्थापित करने का प्रारंभ है।

फिर इस कारण भी यह आवश्यक है कि बहुतों के लिये यहां रहना जरूरी है—अगर वे तैयार हों—जिसमें कि सीधे प्रभाव के नीचे या समीप में रहकर वे अपने चैत्य पुरुष की चेतना को विकसित करें या गठित करें अथवा उसे सामने ले आवें। जब स्पर्श दे दिया जाता है और साधक का उतना विकास साधित हो जाता है जितना उस समय उसके लिये संभव होता है, तब वह बाहरी जगत् में वापस लौट जाता है और संरक्षण तथा पथ-प्रदर्शन के अधीन दूर रहकर भी संपर्क बनाये रखने एवं अपना आध्यात्मिक जीवन जारी रखने में समर्थ होता है। परंतु बाहरी जगत् के प्रभाव चैत्य संपर्क और चैत्य विकास के अनुकूल नहीं है, और यदि साधक पूरी तरह सावधान या एकाग्र न हो तो, कुछ समय बाद चैत्य संपर्क सहज ही टूट सकता या ढक जा सकता है और विरोधी क्रियाओं या प्रभावों के कारण चैत्य विकास धीमा हो सकता, रुक सकता और यहां तक कि न्यून भी हो सकता है। अतएव यह बात आवश्यक है और प्रायः आवश्यक अनुभूत होती है कि केंद्रीय प्रभाव के स्थान में वापस आया जाय जिसमें कि संपर्क को दृढ़ बनाया जाय या फिर से प्राप्त किया जाय अथवा विकास को पुनः जारी किया जाय या नया अग्रगामी वेग प्रदान किया जाय। समय-समय पर ऐसे-सामीप्य के लिये उठनेवाली अभीप्सा कोई प्राणगत कामना नहीं होती; यह केवल तभी प्राणगत कामना बन जाती है जब यह अहंकारपूर्वक हठ करती या किसी प्राणिक उद्देश्य के साथ मिल जाती है, उस समय नहीं जब कि यह चैत्य पुरुष

की शांत और गभीर अभीप्सा होती है तथा इसमें कोई चिल्लाहट या चंचल बनानेवाला आग्रह नहीं होता।

यह बात तो है उन लोगों के लिये जिन्हें बुलाया नहीं गया है या जिन्हें आश्रम में केंद्रीय दिव्य शक्ति और उपस्थिति के सीधे दबाव के नीचे रहने के लिये अभी तक बुलाया नहीं गया है। जिन लोगों को इस प्रकार रहना ही चाहिये, वे वे लोग हैं जो एकदम आरंभ से ही बुलाये गये हैं या जो तैयार हो गये हैं या जिन्हें किसी न किसी कारणवश उस कार्य या सृष्टि का एक अंग बनने का अवसर दिया गया है जो यहां योग द्वारा तैयार की जा रही है। उन लोगों के लिये यहां के वातावरण में, सामीप्य में रहना अत्यंत आवश्यक है; उनके यहां से चले जाने का अर्थ होगा उस सुयोग का त्याग करना जो उन्हें दिया गया है, अपनी आध्यात्मिक भवितव्यता की ओर पीठ फेर देना। उन लोगों की कठिनाइयां बहुधा देखने में उन लोगों के संघर्ष से कहीं अधिक होती है जो बाहर रहते है, क्योंकि उनसे बड़ी चीज की मांग की जाती है और उनपर दबाव भी बड़ा होता है; परंतु उसी तरह उनको बड़ा सा सुयोग भी प्राप्त है तथा विकास के लिये उनपर अधिक शक्ति तथा प्रभाव डाला जाता है एवं वह चीज भी दी जाती है जो वे अध्यात्मतः बन सकते हैं और अवश्य बनेंगे यदि वे अपने चुनाव और पुकार के प्रति सच्चे हों।

७. १०. १९३१

(२)

प्रश्न—क्या माताजी के भौतिक सामीप्य का कोई विशेष फल होता है?

उत्तर—भौतिक स्तर पर साधना की परिपूर्णता के लिये यह अनिवार्य है। भौतिक और बाह्य सत्ता का रूपांतर उसके बिना नहीं हो सकता।

१८. ८. १९३३

(३)

प्रश्न—क्या बहुत अधिक दूरी पर भी—जैसे, बंबई या कलकत्ते में भी—करीब-करीब उसी रूप में माताजी का संपर्क और उनकी सहायता ग्रहण करना संभव है जैसे यहां आश्रम में संभव है?

उत्तर—सर्वत्र ही मनुष्य ग्रहण कर सकता है और अगर उसमें प्रबल आध्यात्मिक चेतना हो तो वह बहुत प्रगति भी कर सकता है। परंतु अनुभव इस विचार का समर्थन नहीं करता कि दोनों में कोई भेद नहीं है या दोनों करीब-करीब एक जैसे ही हैं।

१८. ८. १९३३

माताजी का भौतिक सामीप्य और साधना में उन्नति

(१)

यह समझना भूल है कि जो लोग शरीर से माताजी के पास जाते हैं वे उन लोगों की अपेक्षा, जो प्रणाम या ध्यान के सिवा अन्य समय उनसे मुलाकात नहीं करते, पूर्णता के अपने लक्ष्य के कहीं अधिक निकट हैं। सब निर्भर करता है आंतर सत्ता पर और इस बात पर कि वह सत्ता किस प्रकार उनसे मिलती, उनकी शक्ति को ग्रहण करती और उससे लाभ उठाती है। निस्संदेह, यदि लोग अपने चैत्य पुरुष को प्रमुख स्थान में रखकर उनसे मिलें, और केवल बाहरी चेतना में ही न मिलें, तो बात दूसरी ही होगी, पर—।
२९. ७. १९३६

(२)

प्रश्न—बहुत से लोग ऐसा विश्वास करते है कि जिन लोगों को माताजी बार-बार मिलने के लिये मौका देती हैं और प्रायः ही चीजें भेजती है वे उनके बहुत समीप हैं तथा तेजी से उन्नति कर रहे हैं; परंतु जिन लोगों से वह अक्सर नहीं मिलतीं या जिनके पास चीजें नहीं भेजतीं, उन्हें अपनी साधना करने का केवल एक मौका ही दिया गया है। क्या यह विश्वास ठीक है?

उत्तर—यह सब निरर्थक बात है। जिन लोगों को माताजी बहुत कम या कभी नहीं बुलातीं और जिन्हें कुछ नहीं भेजतीं उन लोगों में भी कुछ लोग अत्यंत ऊंचे साधक हैं। वे लोग इसकी आशा भी नहीं करते—वे निरंतर माताजी को अपने साथ अनुभव करते और संतुष्ट रहते हैं तथा और कोई चीज नहीं मांगते।
२७. ७. १९३३

(३)

प्रश्न—आपने कहा है कि जो लोग आश्रम से बाहर साधना करते हैं वे लोग इसे पूरी तरह नहीं कर सकते, क्योंकि आश्रम में माताजी के भौतिक सामीप्य में रहना ही रूपांतर की संभावना उत्पन्न कर सकता है। इस बात को थोड़ा और आगे खींच ले जाने पर स्वभावतः ही यह सिद्धांत निकलता है कि आश्रम में भी जो लोग शरीर से माताजी के अधिक निकट निवास करते हैं और उनसे अधिक बार मिलते है वे भीतरी दल के लोग हैं, बाहरी रूप में भी अधिक घनिष्ठ हैं, और इसलिये रूपांतर के अधिक निकट हैं। यह ठीक है न?

उत्तर—आश्रम में रहना एक बात है और माताजी के साथ एक छोटी सी चौहद्दी के अंदर रहना दूसरी बात। तुम्हारा प्रतिपाद्य विषय बहुतेरे मानसिक तर्कों की तरह जीवन

के वास्तविक तथ्यों के द्वारा खंडित होता है। उस आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि माताजी के साथ एक ही मकान में रहनेवाला 'अ' बाहर रहनेवाले 'ब' की अपेक्षा पूर्णता के अधिक निकट तथा 'स' या 'द' की अपेक्षा और भी अधिक निकट है। 'ई' प्रणाम के समय तथा अपने जन्मदिन को छोड़कर माताजी के साथ कभी मुलाकात नहीं करती, इसलिये वह निश्चय ही एकदम पिछड़ी हुई साधिका होगी और 'फ' माताजी से रोज पांच, दस, पंद्रह या बीस मिनट तक बातें करता है इसलिये वह 'ई' से बहुत आगे बढ़ा हुआ होगा, पूर्णता की ओर काफी आगे होगा। परंतु ये बातें ठीक ऐसी नहीं हैं। इसलिये यह तर्क किसी बात में नहीं ठहरता। साधना में उन्नति करना या उच्च योग्यता का होना माताजी के निकट होने या अधिक बार उनसे मुलाकात करने पर नहीं निर्भर करता।
३०. ७. १९३६

(४)

प्रश्न–जो लोग बहुधा माताजी के पास जाते हैं वे बड़े ही सौभाग्यशाली होंगे। क्या यह ठीक है?

उत्तर–अगर किसी के अंदर कामना या मांग हो तो वह सब प्रकार के दावे, क्रोध, ईर्ष्या, निराशा, विद्रोह आदि को ले आती है जो साधना को नष्ट कर देते हैं और उसमें कोई सहायता नहीं पहुंचाते। कुछ दूसरों के लिये माताजी का सामीप्य एक मिली-जुली चीज बन जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व माताजी खुले तौर पर लोगों को अपना भौतिक संपर्क प्रदान करती थीं। अगर साधकों में समुचित प्रतिक्रिया हुई होती तो क्या तुम समझते हो कि वह पीछे हट जातीं और उसे घटाकर कम से कम कर देतीं? निःसंदेह, अगर मनुष्य यह जानें कि किस भाव में उनसे चीजें ग्रहण करनी चाहियें तो भौतिक स्पर्श एक बहुत बड़ी चीज है–परंतु उसके लिये निरंतर शरीर से निकट रहना आवश्यक नहीं है। बल्कि उससे बहुत जोर से दबाव पड़ता है और उसे कितने आदमी सह सकते या उसका प्रत्युत्तर दे सकते हैं?
मई, १९३५

(५)

बस, एक ही प्रधान बात है भीतरी मनोभाव को बनाये रखना तथा सभी बाहरी परिस्थितियों से स्वतंत्र रूप में माताजी के साथ भीतरी संबंध स्थापित करना। यही वह चीज है जो सभी आवश्यक चीजों को ले आती है। जो लोग योग में अत्यंत गहराई तक पहुंचे हुए हैं वे वे लोग नहीं हैं जो भौतिक रूप में माताजी से सबसे अधिक मिलते-जुलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो निरंतर उनके सान्निध्य या एकत्व में निवास करते हैं पर जो

प्रणाम या शाम के ध्यान के अतिरिक्त साल में केवल एक वार ही उनके पास जाते हैं।
१३. ११. १९३४

(६)

वर्तमान अवस्था में शरीर से माताजी के पास आने की अपेक्षा उनकी ओर अपनेको खोल-कर अधिक लाभ उठाने की आवश्यकता है। कुछ लोग तो, जो यह आग्रह करते है कि माताजी उन्हें बुलावें, आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हटते हैं—क्योंकि वे इसका आग्रह करते हैं और इस तरह वे प्राणिक मांग का एक आधार स्थापित करते हैं जो माताजी के साथ के संबंधों के लिये एक वालू की भीत का काम करता है।

(७)

नहीं। यह संपूर्ण रूप से निर्भर करता है व्यक्ति की अवस्था और उसके मनोभाव के ऊपर। विशेषकर, अगर वे माताजी को देखने का अथवा जव वह यह चाहें कि वे चले जायं तव रहने का हठ करें या उनका मनोभाव खराव हो और वे उसे माताजी पर फेंकें तो माताजी से मिलना उनके लिये बहुत हानिकारक होगा। माताजी उन्हें जो कुछ देती हैं उसी से उनमें से प्रत्येक व्यक्ति को संतुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि एकमात्र वही यह समझती है कि वे क्या ग्रहण कर सकते हैं और क्या नहीं। इस प्रकार की मानसिक रचनाएं और प्राणिक मांगें बरावर ही मिथ्या होती हैं। ३. ४. १९३४

(८)

यहां पर जरा गोलमाल है। माताजी की कृपा एक चीज है, परिवर्त्तन के लिये पुकार दूसरी, और उनके सामीप्य का दवाव तो और भी भिन्न चीज है। जो लोग शरीर से उनके निकट हैं वे किसी विशेष कृपा या प्रेम के कारण नहीं, वल्कि अपने काम की आवश्यकता के कारण निकट हैं—इसी वात को यहां प्रत्येक व्यक्ति समझने या विश्वास करने से इनकार करता है, पर यही यथार्थ वात है कि सामीप्य अपने-आप एक दवाव के रूप में काम करता है, दूसरी किसी चीज के लिये न भी हो तो, इसलिये कि वे अपनी चेतना को माताजी की चेतना के अनुकूल वनावें और इसका अर्थ है परिवर्तन; परंतु ऐसा करना उनके लिये कठिन होता है, क्योंकि उन दोनों चेतनाओं के बीच का अंतर, विशेषकर भौतिक स्तर पर, वहुत वड़ा है और वे काम के लिये इस भौतिक स्तर पर ही उनसे मिलते है।
२७. ४. १९४४

(९)

प्रश्न—क्या यह सच नहीं है कि जो लोग शरीर से माताजी के अत्यंत समीप हैं उन्हें यह

सुयोग इसी कारण दिया गया है कि वे उनकी ओर खुले हुए हैं, उनके संकल्प के साथ 'एक' बने हुए हैं और अपनी आंतर सत्ता में उनके समीप हैं? क्या यह भी ठीक बात नहीं है कि शरीर से माताजी के पास रहने से विशेष लाभ प्राप्त होते हैं?

उत्तर–माताजी के "संकल्प के साथ एक" होना या पूर्ण रूप से खुल जाना इतना आसान नहीं है। शरीर से नजदीक रहने से आगे बढ़ने के लिये, पूर्ण होने के लिये निरंतर दबाव पड़ता रहता है जिसका प्रत्युत्तर देने में आज तक कोई समर्थ नहीं हुआ है। इस विषय में लोगों ने मानसिक विचार बना लिये हैं और वे सही नहीं हैं।

'अ' की मांग थी कि उसे भीतर रहने दिया जाय या सब समय (माताजी के कमरे में) उसे आने-जाने की स्वतंत्रता दी जाय (जो किसी भी आदमी को, न तो 'ब' को, न 'स' को, न और ही किसी को दी गयी है) और जो लोग वहां आते-जाते हैं उनके साथ उसे बराबरी का या उनसे ऊंचा स्थान दिया जाय। ऐसी मांग यह सूचित करती है कि जिन कारणों से (इसमें किसी पर विशेष कृपा या प्रेम करने की कोई बात नहीं है) इस बात की आज्ञा दी जाती है उनके और साथ ही वस्तुओं की उपयुक्तता के विषय में भी उसमें पूरी नासमझी है। अगर उसे इसकी आज्ञा दे दी गयी होती तो वह उसे थोड़े दिनों तक भी सहन न कर पाती। 'ब' और 'स' की बात भिन्न है–उनको वहां विशेष काम करना होता है और उसी कारण उनका माताजी के पास आना या उनसे बार-बार मुलाकात करना आवश्यक होता है। साधना की दृष्टि से बड़े होने के साथ इसका बिलकुल ही कोई संबंध नहीं है, जिसकी ओर स्वयं तुमने भी 'द' आदि के उदाहरण देकर संकेत किया है।

७. ३. १९३५

(१०)

मेरा मतलब यह नहीं था कि शरीर से समीप रहना महत्त्वपूर्ण है बल्कि यह था कि इसे आसानी से नहीं सहन किया जा सकता। प्रणाम के समय स्पर्श प्राप्त करना और शरीर से समीप रहना दोनों का अर्थ एक नहीं है। शरीर से समीप रहने का मेरा मतलब था माताजी के साथ रहना या उनके साथ बार-बार भौतिक संपर्क में आना....। समीपता को सहन करने का जहां तक संबंध है, अधिकांश लोग यथासंभव दबाव की ओर से अपने को बंद करके ही साधारणतया उसे सहन करते हैं;–जब वे वैसा नहीं कर पाते तब वे उससे घबड़ा जाते हैं। इस विषय की सारी बात बस यही है।

५. ८. १९३५

(११)

मेरा ख्याल है कि ये सब मानसिक रचनाएं हैं। तुम अपने मन में यह गढ़ रहे हो कि

'क' को क्या अनुभव करना चाहिये। परंतु सच पूछा जाय तो न तो 'क' की न और किसी की कठिनाइयां माताजी के पास आने या उनके साथ एक, दो या तीन घंटे तक बैठे रहने से दूर होती हैं। बहुत लोगों ने ऐसा किया है और जैसे वे आये वैसे ही दुःखी, निराश और विद्रोही बनकर चले गये। जो लोग माताजी से भेंट किया करते हैं उनमें से कुछ लोगों के सामने उतनी ही बुरी और उतनी ही अधिक कठिनाइयां हैं जितनी तुम्हारे सामने। यह भी सच नहीं है कि जिन लोगों ने माताजी के साथ अधिक बातचीत (-मकानों, मरम्मतों, नौकरों आदि के विषय में) की है उन्होंने माताजी को अधिक अच्छा समझा है। आरंभ के दिनों में कुछ लोग दूसरे ढंग से माताजी के साथ बहुत अधिक मुलाकात किया करते थे, वे उनके साथ सब प्रकार के विषयों पर बातें किया करते थे–पर उन लोगों ने भी वास्तव में माताजी को नहीं समझा था। मैं फिर कहता हूं कि यह सब मन की सृष्टि और गढ़ी-गढ़ाई कल्पना है तथा यथार्थ बातों के साथ इसका कोई मेल नहीं। जब कोई भीतर से माताजी की ओर खुला होता है केवल तभी उनके 'संपर्क' से, भौतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक या आंतर संपर्क से लाभ उठाता है, और फिर उनके विषय का महज एक विचार ही किसी भी गलत चीज को सुधार सकता है। उस समय भौतिक संपर्क भी सहायता कर सकता है, पर वह अनिवार्य नहीं है। रही उनको समझने की बात, सो कोई उन्हें केवल आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश करने पर ही समझ सकता है, अथवा यदि मन में न समझे तो कम से कम एक बढ़ते हुए एकत्व के द्वारा यह अनुभव कर सकता है कि वह क्या हैं और उसके अनुरूप कार्य कर सकता है।

४. ८. १९३५

(१२)

इस अर्थहीन भ्रांत विश्वास को वापस बुलाना या इसे आंतरिक शांति को भंग करने देना एक बड़ी मूर्खता है,–क्योंकि दूसरी कोई बात वास्तविक और व्यावहारिक सत्य से उतनी अधिक दूर नहीं हो सकती जितनी यह मान्यता कि जो लोग शरीर से माताजी के निकट रहते हैं या बार-बार उनके पास जाते हैं वे दूसरों की अपेक्षा अधिक सुखी या अधिक संतुष्ट हैं–यह जरा भी सत्य नहीं है। अगर तुम केवल इस भ्रम से छुटकारा पा जाओ तो कोई भी चीज दिव्य शांति की वृद्धि को रोक नहीं सकती और न उस आंतरिक सामीप्य में ही बाधा पहुंचा सकती है जो इस आश्रम में लोगों को दिव्य प्रसन्नता देनेवाली एकमात्र वस्तु है। प्रसन्नता अंतरात्मा की संतुष्टि से प्राप्त होती है, प्राण की या शरीर की संतुष्टि से नहीं। प्राण कभी संतुष्ट नहीं होता; शरीर भी जो कुछ आसानी से या बराबर पाता है उससे आकर्षित होना शीघ्र ही बंद कर देता है। एकमात्र चैत्य पुरुष ही सच्ची प्रसन्नता और आनंद ले आता है।

८. ९. १९३४

भीतरी और बाहरी संपर्क

(१)

माताजी के साथ अपने भीतरी संपर्क को बढ़ने दो—यदि वह न हो तो बाहरी संपर्क अत्यधिक बढ़ जाने पर सहज ही विकृत होकर दैनिक कार्यक्रम बन जाता है।

(२)

मेरा मतलब है आंतरिक संपर्क जिसमें या तो मनुष्य अपनेको उनके साथ एक या उनके संपर्क में अनुभव करता है या उनकी उपस्थिति के विषय में सचेतन होता है अथवा कम से कम सदा उनकी ओर मुड़ा होता है। १६. ३. १९३५

(३)

प्रश्न—आज मुझे ऊपर माताजी के कमरे में जाने की बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी जिसमें कि मैं उनके समीप और घनिष्ठ संपर्क में पहुंच सकूं।

उत्तर—परंतु माताजी के निकट आना 'भीतरी' कमरों में होना चाहिये, बाहरी कमरों में नहीं। क्योंकि भीतरी कमरों में मनुष्य सर्वदा प्रवेश कर सकता है और वहां स्थायी रूप से रहने की व्यवस्था भी कर सकता है। ८. ३. १९३५

माताजी का प्रेम

(१)

तुम माताजी के बच्चे हो और अपने बच्चों के लिये माताजी का प्रेम असीम है तथा वह उनके स्वभाव के दोषों को धैर्य के साथ सहन करती है। माताजी का सच्चा बच्चा होने की चेष्टा करो; वह तुम्हारे भीतर ही है, पर तुम्हारा बाहरी मन छोटी-छोटी निरर्थक बातों में लगा रहता है और बहुधा उनके विषय में बहुत अधिक हो-हल्ला मचाया करता है। तुम्हें केवल स्वप्न में ही माताजी को नहीं देखना चाहिये बल्कि सब समय उन्हें अपने साथ और अपने भीतर देखना और अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम अपनेको संयत करना और परिवर्तित करना अधिक आसान पाओगे—क्योंकि वहां मौजूद होनेके कारण माताजी ही तुम्हारे लिये यह कर देने में समर्थ होंगी।

(२)

श्रीमाताजी के विषय में यह भाव कि केवल काम करने के बदले में ही लोगों को उनका प्रेम प्राप्त होता है अथवा उन्हीं लोगों को प्राप्त होता है जो साधना अच्छी तरह करते हैं,

यह प्राणगत-भौतिक मन का अर्थहीन साधारण विचार है और इसका कोई मूल्य नहीं।
१७. १. १९३७

(३)

निश्चय ही तुम्हारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि तुम इसलिये 'अच्छा' बनो कि माताजी तुम्हें अपना प्रेम दे सकें। उनका प्रेम बरावर ही है और उस प्रेम के सामने मानव-प्रकृति की अपूर्णताओं का कोई मूल्य नहीं। एकमात्र आवश्यक बात यह है कि तुम वहां पर बरावर उसके विषय में सचेतन बने रहो। उसके लिये यह जरूरी है कि चैत्य पुरुष सामने आ जाय–क्योंकि चैत्य पुरुष ही जानता है, जब कि मन, प्राण और शरीर केवल ऊपरी रूपों को देखते और उनकी गलत व्याख्या करते हैं।
२४. ६. १९३६

(४)

स्पष्ट ही है कि लोग यदि माताजी से साधारण ढंग का प्रेम पाने की आशा करें तो वे अवश्य निराश होंगे–वह प्रेम जो प्राण और उसके ख्यालों पर आधारित होता है। यह तो ठीक वही प्रेम है जिसे योग में अतिक्रम करना अथवा अन्य किसी चीज में रूपांतरित करना होता है। १४. ३. १९३६

(५)

यह सब बिलकुल ठीक है। (माताजी के) मानवीय या चैत्य प्रेम को भी बहुत से लोग अनुभव करने या समझने में असमर्थ होते हैं; क्योंकि वह ठीक साधारण मानवीय ढंग का नहीं होता। ५. ५. १९३५

(६)

परंतु तुम उनसे "मानव" माता के रूप में क्यों मिलना चाहते हो? अगर तुम भगवती माता को मानव-शरीर में देख सको तो वह पर्याप्त होगा और वह कहीं अधिक लाभदायी मनोभाव होगा। जो लोग मानव माता के रूप में उनके पास आते हैं वे प्राय: अपनी कल्पना के कारण संकट में पड़ जाते हैं और उनके निकट आने में सब तरह की भूलें करते हैं।
२. ५. १९३४

माताजी के लिये सच्चा प्रेम

(१)

जो प्रेम भगवान् की ओर मुड़ा होता है, उसे कभी वह सामान्य प्राणगत भाव नहीं होना

चाहिये जिसे साधारणतया लोग प्रेम के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं है, वल्कि वह तो केवल एक प्राणगत वासना है, आत्मसात् करने की सहजवृत्ति है, अधिकार करने और एकाधिकार जमाने की प्रेरणा है। केवल यही नहीं कि यह दिव्य प्रेम नहीं है वल्कि इसे कम से कम मात्रा में भी योग के साथ नहीं मिलने देना चाहिये। भगवान् के लिये जो सच्चा प्रेम है वह है आत्मदान, उसमें कोई माग नहीं होती, वह नति और समर्पण के भाव से भरपूर होता है। वह कोई दावा नही करता, कोई शर्त्त नही लादता, कोई मोल-तोल नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोध के कारण किसी प्रकार का आक्रमण नही करता—क्योंकि ये सव चीजे उसकी वनावट में नही होती। वदले में स्वयं भगवती माता भी अपने-आपको देती हैं, पर देती हैं खुले तौर पर—और यह प्रकट होता है एक आतर आत्मदान के रूप में—उनकी उपस्थिति तुम्हारे मन में, तुम्हारे प्राण में, तुम्हारी भौतिक चेतना में विद्यमान रहती है, उनकी शक्ति दिव्य प्रकृति के अदर तुम्हारा पुनः-सृजन करती है, तुम्हारी सत्ता की सभी गतिविधियों को अपने हाथ मे लेती और उन्हे पूर्णता और सिद्धि की ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें घेर लेता है और अपनी गोदी में उठाकर तुम्हें भगवान् की ओर ले जाता है। इसी वात को अपने समस्त अंगों में—एकदम स्थूल अंग तक में अनुभव करने और प्राप्त करने की अभीप्सा तुम्हें करनी चाहिये और इस विषय में न तो समय की कोई सीमा है और न परिपूर्णता की। अगर कोई वास्तव में इस वात की अभीप्सा करे और इसे पा ले तो फिर किसी दूसरी मांग अथवा किसी दूसरी अतृप्त कामना के लिये कोई स्थान नही रह जाना चाहिये। और अगर कोई सचमुच अभीप्सा करे तो फिर वह, जैसे-जैसे उसकी पवित्रीकरण की क्रिया आगे वढ़ती है और उसकी प्रकृति मे आवश्यक परिवर्तन आता जाता है वैसे-वैसे, उसे निश्चित रूप से पाता ही है।

समस्त स्वार्थपूर्ण मांगों और कामनाओं से अपने प्रेम को शुद्ध रखो; तुम देखोगे कि उसके प्रत्युत्तर मे तुम इतना अधिक प्रेम पा रहे हो जितना कि तुम सहन और आत्मसात् कर सकते हो।

(२)

'क' संभवतः दो भूलें कर रहा है—पहली, वह यह आशा करता है कि माताजी अपने प्रेम को वाह्य रूपों में प्रकट करेंगी; दूसरी, फल की कोई मांग न कर अपने-आपको खोल रखने और समर्पित कर देने की ओर मन लगाने के वदले वह उन्नति की प्रतीक्षा कर रहा है। ये ही दो भूलें हैं जिन्हें साधक वरावर करते रहते हैं। अगर कोई अपने-आपको खोले, अगर कोई आत्मसमर्पण करे तो फिर जैसे ही प्रकृति तैयार होगी वैसे ही उन्नति भी अपने-आप होगी; परंतु उन्नति के लिये व्यक्तिगत रूप से मन एकाग्र करने से कठिनाइयां, वाधा-विरोध और निराशा ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उस समय मन समुचित दृष्टि से चीजों को

नहीं देखता। 'क' के ऊपर माताजी की विशेष कृपा है और प्रत्येक दिन प्रणाम के समय वह उसे एक ऐसी शक्ति देने की चेष्टा करती है जो उसे सहारा दे। उसे अपने मन और प्राण में खूब शांत-स्थिर बने रहना सीखना चाहिये और अपने-आपको उत्सर्ग कर देना चाहिये जिसमें वह सचेतन हो सके तथा साथ ही ग्रहण कर सके। मानव-प्रेम से भिन्न, भागवत प्रेम गभीर, विशाल और नीरव होता है; उसे पहचानने और उसका प्रत्युत्तर देने के लिये साधक को भी अचचंल और उदार-विशाल होना चाहिये। उसे बस समर्पित हो जाना ही अपना पूर्ण उद्देश्य बना लेना चाहिये जिसमें कि वह एक पात्र और यंत्र बन जाय और अपने-आपको आवश्यक चीजों से भरने के लिये भागवत ज्ञान और प्रेम के ऊपर छोड़ दे। उसके मन में इस बात को भी जमकर बैठ जाने दो कि उसे इस बात का आग्रह नहीं करना चाहिये कि एक निश्चित समय के भीतर उसे उन्नति करनी ही होगी, विकास करना ही होगा, अनुभूतियां पानी ही होंगी–जितना भी समय इसमें लगे, उसे प्रतीक्षा करने के लिये तैयार रहना चाहिये और प्रयास में लगे रहना चाहिये तथा अपने समस्त जीवन को ही केवल एक चीज अर्थात् भगवान् को ही पाने की अभीप्सा और उद्घाटन में परिवर्तित कर देना चाहिये। अपने-आपको दे देना ही साधना का रहस्य है, कोई चीज मांगना और प्राप्त करना नही। जितना ही अधिक कोई अपने-आपको देता है उतना ही अधिक उसमें ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है। परंतु इसके लिये सब प्रकार की अधीरता और विद्रोह अवश्य दूर हो जाना चाहिये; ऐसे सभी सुझावों का त्याग करना चाहिये कि हम कुछ पा नहीं रहे हैं, हमें सहायता नहीं मिल रही है, प्रेम नहीं मिल रहा है, हमें चले जाना चाहिये, जीवन या आध्यात्मिक प्रयास को ही छोड़ देना चाहिये।

१. ९. १९३६

चैत्य, मानसिक और प्राणिक भक्ति

(१)

प्रश्न–माताजी के प्रति चैत्य भक्ति, मानसिक भक्ति और प्राणिक भक्ति में क्या अंतर है ?

उत्तर–चैत्य भक्ति प्रेम और आत्मदान से बनी होती है और उसमें कोई मांग नहीं होती; प्राणिक भक्ति माताजी द्वारा अधिकृत होने और उनकी सेवा करने के संकल्प से तथा मानसिक भक्ति श्रद्धा और माताजी जो कुछ है, जो कुछ कहती और करती हैं उस सबको बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लेने के भाव से गठित होती है। अवश्य ही ये सब बाहरी चिह्न हैं–अपने आंतर स्वरूप में ये तीनों स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं पर इनके भेद को शब्दों में नहीं रखा जा सकता।

२८. ४. १९३३

(२)

प्रश्न—क्या इस योग में मानसिक और प्राणिक भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है?

उत्तर—कौन कहता है कि नही है? सभी प्रकार की भक्ति के लिये स्थान है बशर्त्ते कि वह सच्ची भक्ति हो। २८.४.१९३३

माताजी के लिये चैत्य भाव

(१)

प्रश्न—वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी को केवल देखने से ही संतोष और आनंद मिलता है?

उत्तर—वह चैत्य भाव है।

(२)

प्रश्न—वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी को केवल याद करने में ही संतोष और आनंद मिलता है?

उत्तर—चैत्य।

(३)

प्रश्न—वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी के विरुद्ध कुछ सुनने पर हृदय में चोट पहुंचती है?

उत्तर—चैत्य।

(४)

प्रश्न—वह किस प्रकार का भाव है जिसमें मनुष्य अपने हृदय में माताजी की उपस्थिति के निकट अपने को अनुभव करता है जब कि वह शरीर से बहुत दूर होती हैं।

उत्तर—चैत्य।

(५)

प्रश्न—मैं यह कैसे पता लगाऊं कि मैं पूरे चैत्य प्रेम की अवस्था में हूं?

उत्तर—अहंकार के अभाव, विशुद्ध भक्ति, भगवान् के प्रति नति और आत्मसमर्पण के द्वारा।
९.५.१९३३

सच्चा प्रेम और स्वार्थपरता

प्रश्न–हम सभी माताजी का प्रेम चाहते हैं, पर मुझे संदेह है कि हममें से कितने लोग सचमुच माताजी से प्रेम करते हैं। हममे से अधिकांश लोग अपनी निजी पसंदगी और ना-पसंदगी, सुख और दु.ख, संतोष और निराशा में ही निवास करते हैं पर मुश्किल से कोई आदमी वास्तव मे माताजी को प्यार करता है।

उत्तर–इसका यह मतलब नही है कि उनमें प्रेम नही है, पर वह प्रेम स्वार्थपरता, मांग और प्राणिक क्रियाओ से मिलाजुला और ढका हुआ है। कम-से-कम अधिकाश लोगों की यही अवस्था है। नि.संदेह, कुछ लोग ऐसे है जिनमे एकदम प्रेम नही है अथवा जो कुछ वे पाते हैं केवल उसी के लिये 'प्रेम'–अगर उसे यह नाम दिया जाय–करते हैं; एक या दो ऐसे है जो सचमुच मे प्रेम करते है, परंतु बहुत से लोगो मे चैत्य स्फुलिंग घने धुंएं में छिपा हुआ है। उस धुंएं से छुटकारा पाना ही होगा जिसमे कि स्फुलिंग को अग्निशिखा के रूप मे बढ़ने का अवसर प्राप्त हो।

९. ११. १९३४

श्रद्धा और प्रेम

प्रश्न–क्या यह सच नही है कि जिन लोगों को माताजी मे श्रद्धा-विश्वास है उनमें उनके लिये प्रेम भी है? क्या श्रद्धा-विश्वास और प्रेम साथ-साथ नही रहते?

उत्तर–सर्वदा नही। ऐसे बहुत से लोग है जिन्हें प्रेम के बिना भी कुछ श्रद्धा-विश्वास होता है, यद्यपि उनमे एक प्रकार की मानसिक भक्ति हो सकती है, और बहुतेरे ऐसे होते हैं जिनमे कुछ प्रेम तो होता है पर श्रद्धा-विश्वास नही होता। परंतु यदि सच्चा चैत्य प्रेम हो तो श्रद्धा-विश्वास भी उसके साथ रहता है, और यदि पूर्ण श्रद्धा-विश्वास हो तो फिर चैत्य प्रेम शीघ्र जाग्रत् हो जाता है। तुम्हारा कहना तभी ठीक है यदि वह अंतरात्मा का विश्वास हो, अंतरात्मा का प्रेम हो–परंतु कुछ लोगो मे केवल प्राणिक भाव ही होता है और जब वह निराश होता है तब वह विद्रोह और क्रोध ले आता है और वे चले जाते हैं।

८. ५. १९३३

चैत्य और प्राणिक प्रेम

(१)

प्रेम और भक्ति चैत्य पुरुष के उद्घाटन पर निर्भर करती है और उनके लिये कामनाओं का नाश आवश्यक है। बहुत से लोग जो माताजी के प्रति चैत्य प्रेम के बदले प्राणगत प्रेम प्रदर्शित करते हैं उससे अन्य चीजों की अपेक्षा गोलमाल की ही सृष्टि अधिक होती है, क्यों-

कि उस प्रेम के साथ कामना जुड़ी होती है।
८. ९. १९३६

(२)

प्राणगत प्रेम रखने में कोई हानि नही है बशर्ते कि वह सब प्रकार की अ-सरलता (उदाहरणार्थ, आत्मश्लाघा इत्यादि) से और सब प्रकार की मांग से खाली हो। माताजी को देखने में प्रसन्नता का अनुभव करना बिलकुल ठीक है, पर अपने अधिकार के रूप में उसकी मांग करना, जब न मिले तो दुःखी होना या विद्रोह करना या अभिमान करना, जो लोग उसे पायें उनसे ईर्ष्या करना–यह सब माग कहलाता है और एक प्रकार की अपवित्रता उत्पन्न करता है जो प्रसन्नता और प्रेम दोनों को नष्ट कर देती है। १३. ९. १९३४

(३)

अगर माताजी के विरुद्ध तुम्हें मान (नाराजी) न हुआ हो तो वह भी निश्चय ही बहुत अच्छा है। मान, क्षोभ आदि जीवन के चिह्न हो सकते है पर प्राणगत जीवन के चिह्न हैं, आंतरिक जीवन के नही। उन्हें अवश्य शांत हो जाना चाहिये और आंतरिक जीवन को स्थान देना चाहिय। आरंभ में परिणामस्वरूप एक उदासीनता-भरी शांति आ सकती है, परंतु अधिक यथार्थ नयी चेतना को पाने के लिये मनुष्य को अक्सर ऐसी अवस्था मे से गुजरना होता है।
२. १. १९३७

(४)

इस अशांत प्राणगत क्रिया में संलग्न रहने से कोई लाभ नहीं। इस चीज के द्वारा तुम श्रीमां के साथ एकत्व नहीं प्राप्त कर सकते। तुम्हें शांति के साथ अभीप्सा करनी चाहिये–खाना, सोना और अपना काम करना चाहिये। शांति ही वह एकमात्र वस्तु है जिसे इस समय तुम्हें मांगना चाहिये–एकमात्र शांति और स्थिरता के आधार पर ही सच्ची उन्नति और सिद्धि आ सकती है। तुम्हारी खोज में अथवा माताजी के प्रति होनेवाली तुम्हारी अभीप्सा में किसी प्रकार की कोई प्राणगत उत्तेजना नही होनी चाहिये।
२०. १०. १९३३

प्राण का मोलतोल और सच्चा आत्मदान

(१)

जो कुछ तुम्हें अनुभव हुआ है वह निम्न प्राण का अपनी मांगों और वासनाओं के साथ

फिर से जग जाना या तुम्हारे ऊपर पुनः लौट आना है। उसका सुझाव यह है कि "मैं योग कर रहा हूं, पर कर रहा हूं किसी लाभ के लिये। मैंने प्राणगत वासना और तृप्ति का जीवन छोड़ दिया है पर इसीलिये कि मुझे माताजी के साथ घनिष्ठता प्राप्त हो–संसार के द्वारा तृप्ति पाने के वदले में भगवान् के द्वारा तृप्ति पाऊं और अपनी कामनाओं को चरितार्थ करूं। अगर मुझे माताजी के साथ घनिष्ठता न प्राप्त हो और तुरत न प्राप्त हो और जैसे मैं चाहता हूं वैसे न प्राप्त हो तो फिर मैं पुरानी चीजों को ही क्यों छोड़ूं?" और इसके स्वाभाविक फल के रूप में पुरानी चीजें फिर आरंभ हो जाती हैं–"अ' और 'व' तथा 'ब' और 'अ' एवं 'स' की भूलें आदि।" इस निम्न प्राण की मशीन को तुम्हें अवश्य देखना चाहिये और इसकी क्रिया को त्यागना चाहिये। वास्तव में आत्मदान के पूर्ण चैत्य संबंध द्वारा ही भगवान् के साथ एकता और घनिष्ठता वनायी रखी जा सकती है–दूसरा जो है वह प्राणगत अहंकार की क्रिया का अंग है और वह केवल चेतना का पतन ही करा सकता और गोलमाल की सृष्टि कर सकता है।

२०. ६. १९३३

(२)

तुम्हें केवल अपने-आपसे और भगवान् से मतलब है। भगवान् के साथ के तुम्हारे संवंध में तुम्हारा मतलव यह नही है कि भगवान् तुम्हारी व्यक्तिगत कामनाओ को तुष्ट करे वल्कि यह है कि वह तुम्हें इन चीजों से वाहर खीचकर तुम्हारी उन्च्तम आध्यात्मिक संभावनाओं तक ऊपर उठा ले जायं जिसमें कि तुम अपने अंतर मे माताजी के साथ युक्त हो सको और उसके फलस्वरूप अपनी वाहरी सत्ता में भी युक्त हो सको। तुम्हारी प्राणगत वासनाओं को तृप्त करके ऐसा नही किया जा सकता–उनको तृप्त करने से तो वे और भी वढ़ेंगी और तुम्हें साधारण प्रकृति के अज्ञान तथा चंचल विश्रृंखला के हाथों में सौंप देंगी। ऐसा तो केवल तुम्हारे आंतरिक विश्वास और आत्मसमर्पण के द्वारा तथा भीतर से काम करनेवाली और तुम्हारी प्राण-प्रकृति को वदलनेवाली माताजी की शांति और शक्ति के दवाव के द्वारा ही किया जा सकता है। इसी वात को जव तुम भूल जाते हो तव तुम गलत रास्ते पर चले जाते हो और दुःख पाते हो; जव तुम इसे याद रखते हो तव तुम आगे वढते हो और कठिनाइयां धीरे-धीरे कम होने लगती हैं।

१३. ९. १९३३

(३)

अगर यह प्राण का वही अंश हो जो पहले ठीक दिशा में था और अव माताजी के विरुद्ध चला गया है तव इसका कारण विलकुल स्पष्ट है। इसने पहले जो साथ दिया

उसका कारण यह था कि इसने समझा था कि सहयोग देने पर माताजी इसकी कामनाओं को संतुष्ट कर देंगी; पर यह देखकर कि इसकी कामनाएं चरितार्थ नहीं हो रही है, यह उनके विरुद्ध चला गया है। साधारण मनुष्य और साधारण जीवन में प्रायः प्राणिक क्रिया ऐसी ही होती है और योग में इसका कोई भी यथार्थ स्थान नहीं है। साधकों के ठीक इसी मनोभाव को योग में ले आने और बराबर बनाये रखने के कारण अंत में यह आवश्यक हो गया कि श्री माताजी एकांत में चली जायं जैसा कि उन्होंने अब किया है। वास्तव में तुम्हें करना यह चाहिये कि तुम इन निम्नतर भागों को यह समझा दो कि उनका अस्तित्व स्वयं उनके लिये नहीं है बल्कि भगवान् के लिये है और बिना किसी मांग या हिचकिचाहट या छल-कपट के, उन्हें सहयोग देने के लिये है। इस समय साधना का यही समूचा प्रश्न है। क्योंकि जब ऐसा किया जायगा केवल तभी भौतिक चेतना परिवर्तित हो सकेगी और अवतरण के योग्य बन सकेगी। अन्यथा सत्ता के किसी-न-किसी भाग में सर्वदा ही इस प्रकार का उतार-चढ़ाव होता रहेगा—कम-से-कम, विलंब, गोलमाल और उथलपुथल बनी रहेगी। यही सत्य-चेतना में जम जाने और साधना का एक सीधा मार्ग पाने का एकमात्र सच्चा आधार है।

१४. १२. १९३१

(४)

'अ' की प्रकृति राजसिक है जिसके लिये ऐसे नियम बहुत खतरनाक होंगे; क्योंकि इस तरह उसे अपनी सभी कामनाओं, राजसिक मांगों, क्रोध, ईर्ष्या, अनेक प्रकार के दुःख-कष्टों को माताजी के ऊपर फेंकने के लिये समर्थन प्राप्त होगा। उसे आवश्यकता इस बात की है कि वह स्थिर, शांत, शुद्ध और समर्पित होने के लिये अपनी आत्मशुद्धि पर जोर दे; कारण, जब वह शुद्ध हो जायगा केवल तभी वह माताजी की उपस्थिति के पूरे-पूरे दबाव को ग्रहण करने में समर्थ होगा। माताजी और साधकों के बीच का संबंध सबके लिये एक जैसा नहीं हो सकता, उसे अलग-अलग प्रकृतियों के लिये अलग-अलग होना ही होगा।

माताजी के साथ घनिष्ठता प्राप्त करने में भय के कारण बाधा

(१)

समस्त भय को निकाल फेंकना चाहिये। भय की यह क्रिया प्राण के अभी अपरिवर्त्तित उस भाग से संबंध रखती है जो पुराने विचारों, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं का प्रत्युत्तर देता है। इसका एकमात्र प्रभाव है माताजी के मनोभाव या उनके शब्दों या उनकी दृष्टि या उनकी मुखाकृति के अंदर निहित उद्देश्य की तुमसे गलत व्याख्या कराना। अगर माताजी गंभीर हो जाती हैं या व्यंगपूर्ण हंसी हंसती हैं तो इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि

वह नाराज हैं या उन्होंने अपना प्रेम हटा लिया है; वल्कि, इसके विपरीत, जिन लोगों के साथ उनकी अत्यंत आंतरिक घनिष्ठता है उन्हीं लोगों के साथ वह ऐसा भाव ग्रहण करने में—यहां तक कि उनकी कठोर भर्त्सना करने में भी—अत्यंत स्वतंत्रता अनुभव करती हैं। वे लोग उनके भाव को समझते हैं और वे न तो घवड़ाते हैं न डरते हैं,—वे वस अपनी दृष्टि भीतर की ओर मोड़ लेते हैं और यह देखते हैं कि आखिर वह कौनसी चीज है जिसपर वह दवाव डाल रही हैं। उस दवाव को वे एक विशेष सुविधा तथा उनकी कृपा का एक चिह्न मानते हैं। भय इस पूर्ण घनिष्ठता और विश्वास के मार्ग में वाधा पहुंचाता है और केवल गलतफहमी ही उत्पन्न करता है; तुम्हें इसे एकदम निकाल फेंकना चाहिये।

२२. ५. १९३२

(२)

क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि माताजी तुमसे जरा भी नाराज या असंतुष्ट नहीं हुई हैं। तुम वरावर उनके प्रेम के विषय में निश्चिंत रह सकते हो।

२९. ९. १९३३

(३)

दूसरों की वातों को महत्त्व देना वरावर ही भूल है—माताजी के प्रति सच्ची भक्ति और समुचित मनोभाव वनाये रखना ही पर्याप्त है। तुम्हें इस तरह की आशंका करने की विलकुल आवश्यकता नहीं है।

२८. ४. १९३३

माताजी की ओर खुले रहने के तीन नियम

भौतिक मन के प्रभाव से अधिक खतरनाक चीज और कोई नहीं है। भौतिक मन वरावर वाहरी रूपों को देखकर ही अपने निर्णयों पर पहुंचने का प्रयास करता है और उनके निन्यानवे प्रति सैकड़ा मिथ्या होने की ही संभावना होती है। साधक को वाहरी रूपों के आधार पर किये गये जल्दवाजी के निर्णयों पर अविश्वास करना सीखना चाहिये—क्या यही सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की पहली शर्त्त नहीं है?—और भीतर से चीजों को देखना और जानना सीखना चाहिये।

तुम पूछ रहे हो कि इन सव क्रियाओं को कैसे वंद किया जाय? आरंभ में वस इन तीन नियमों का पालन करो:

(१) सर्वदा माताजी के संरक्षण और प्रेम पर भरोसा रखो—उन्हीं पर विश्वास करो और प्रत्येक सुझाव पर, प्रत्येक वाहरी रूप पर जो उनका विरोध करता हुआ मालूम हो, अविश्वास करो।

(२) ऐसे प्रत्येक भाव, प्रत्येक प्रवेग का तुरंत त्याग कर दो जो तुम्हें माताजी से—उनके साथ के तुम्हारे सच्चे संबंध से, आंतरिक सामीप्य से, उनके प्रति तुम्हारे सरल और सीधे-सादे विश्वास से—अलग हटाता है।

(३) बाहरी लक्षणों पर अत्यधिक बल मत दो—उनको देखने-विचारने से तुम सहज ही गलत रास्ते पर चले जा सकते हो। श्रीमां की ओर अपनेको खोले रखो और अपने हृदय से—आंतर हृदय से, ऊपरी प्राणगत वासना के द्वारा नहीं, बल्कि सच्चे भावावेगवाले हृदय के द्वारा—उन्हें अनुभव करो, वहीं उन्हें प्राप्त करना, अपने अंदर सर्वदा उनके सान्निध्य में रहना और जो कुछ तुम्हें देने के लिये वह निरंतर कार्य कर रही हैं उसे ग्रहण करना तुम्हारे लिये अधिक संभव है।

सन् १९३१

मातृशक्ति को संपूर्ण आत्मदान

इस योग का संपूर्ण सिद्धांत ही है और किसी व्यक्ति और वस्तु के नहीं, बल्कि एकमात्र भगवान् के हाथों में अपने-आपको पूर्ण रूप से दे देना और भागवत मातृ-शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त कर अतिमानसिक भगवान् की समस्त परात्पर ज्योति, शक्ति, विशालता, शांति, पवित्रता, सत्य-चेतना और आनंद को अपने अंदर उतार लाना। अतएव इस योग में दूसरों के साथ प्राणगत संबंध रखने या प्राणिक आदान-प्रदान करने के लिये कोई स्थान नहीं रह सकता; कोई भी ऐसा संबंध या आदान-प्रदान तुरत ही जीव को निम्नतर चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृति के साथ बांध देता है, भगवान् के साथ सच्चा और पूर्ण एकत्व प्राप्त करने से रोकता है और अतिमानसिक सत्य-चेतना में आरोहण करने तथा अतिमानसिक ईश्वरी शक्ति के अवतरित होने दोनों को ही रोकता है।

८

श्री माताजी और आश्रम का कार्य

साधकों में माताजी की साधना

(१)

स्वभावतः ही, माताजी प्रत्येक साधक के अंदर साधना करती हैं—लेकिन यह साधक के उत्साह और ग्रहणशीलता से सीमित होती है।

४. १. १९३५

(२)

जिन चीजों को नीचे उतारना है उन्हें उतारने के विषय में माताजी के अपने निजी अनुभव हैं—परंतु जो कुछ साधक अनुभव करते हैं उसे भी उन्होंने बहुत पहले अनुभव किया था। पहले भगवान् जगत् के लिये साधना करते हैं और फिर दूसरों में साधना करते हैं।
१२. ९. १९३४

(३)

मैंने कहा है कि पहले भगवान् जगत् के लिये साधना करते हैं और फिर जो कुछ नीचे उतारा गया है उसे वह दूसरों को देते हैं। उपलब्धियों और अनुभूतियों के बिना कोई साधना नहीं हो सकती। 'प्रार्थनाएं'[1] माताजी की अनुभूतियों के रेकर्ड (Record—अभिलेख) हैं।

४. १. १९३५

माताजी का सत्य का प्रस्ताव

माताजी तुम्हारे लिये यह निश्चय नहीं कर सकतीं कि तुम्हें निर्विकल्प समाधि के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये या इस योग को स्वीकार करना चाहिये; वह तो केवल सत्य का प्रस्ताव तुम्हारे सामने रख सकती हैं और अगर तुम उसे स्वीकार करो तो वह उसकी ओर तुम्हें ले जा सकती हैं।
८. ९. १९३३

---

[1]माताजी लिखित 'प्रार्थना और ध्यान' नामक पुस्तक।

माताजी और ज्ञानयोग

भला माताजी ज्ञानयोग को नापसंद क्यों करें ? आत्मा का और विश्वपुरुष का साक्षात्कार (जिसके बिना आत्मा का साक्षात्कार अधूरा रह जाता है) हमारे योग का आवश्यक अंग है; यह अन्य योगों का अंत है, पर यह वास्तव में हमारे योग का आरंभ है, अर्थात् यह वह स्थान है जहां से उसकी अपनी विशिष्ट अनुभूति आरंभ हो सकती है।
२६. ३. १९३६

आश्रम में भर्ती होने का निर्णय

तुम्हारे मन में इन लोगों को या दूसरों को यहां ले आने की कोई इच्छा या बेचैनी नहीं होनी चाहिये। इन बातों का निर्णय एक ओर तो उनकी पुकार और योग्यता के द्वारा तथा दूसरी ओर माताजी की इच्छा से होना चाहिये। २८. ६. १९३६

उम्मेदवारी का काल

हां, अत्यंत निश्चित रूप में कुछ लिखना ठीक नहीं है। विशेषकर आजकल की ऐसी परिस्थितियों में माताजी लोगों को उम्मेदवार के रूप में स्वीकार करती हैं, वह उन्हें तत्काल कोई बड़ी आशाएं नहीं बंधातीं, बल्कि यह देखने के लिये प्रतीक्षा करती हैं कि वे किस प्रकार खुलते हैं। अगर वह अपनी अभीप्सा को (अपने जीवन में) सच्चा सिद्ध करे तो सब कुछ ठीक ही होगा। २६. २. १९४३

भीतर से चुनाव

यदि तुम स्वयं अपने मन और प्राण में चले जाने के लिये उत्सुक हो तो माताजी के लिये यह संभव नहीं है कि वह तुम्हें रहने के लिये कहें। स्वयं तुम्हारे अंदर से ही यह स्पष्ट संकल्प आना चाहिये कि इस ओर रहना है या उस ओर।
२४. २. १९३२

माताजी का स्वीकार करना

(१)

प्रश्न–जब कोई आदमी माताजी के संरक्षण में योग करना आरंभ करता है तब क्या वह पूर्ण रूप से उनके द्वारा ग्रहण नहीं कर लिया जाता ?

उत्तर–जब तक वह तैयार न हो जाय तब तक नहीं। सबसे पहले उसे माताजी को स्वीकार करना होता है और फिर अधिकाधिक अपना अहंभाव छोड़ना होता है। यहां ऐसे

साधक भी हैं जो पग-पग पर विद्रोह करते हैं, माताजी का विरोध करते हैं, उनकी इच्छा का खंडन करते हैं और उनके निर्णयों की टीका-टिप्पणी करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में भला वह उन लोगों को पूर्ण रूप से कैसे ग्रहण कर सकती हैं?
२१. ६. १९३३

(२)

मैंने आध्यात्मिक जीवन और आज्ञाकारिता का साधारण नियम लिखा था। तुम्हें यह नियम जानना चाहिये तथा इस अवस्था में उसके विशेष उपयोग को भी जानना चाहिये। इसके अतिरिक्त, यहां पर बहुत से लोग यह कहकर ही संतुष्ट हो जाते हैं कि "श्री माताजी भगवती हैं", पर वे उनकी आज्ञाओं का अनुसरण नहीं करते—दूसरे वास्तव में उन्हें भगवती के रूप में स्वीकार नहीं करते—वे उनसे ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वह एक साधारण गुरु हों। मैं कह चुका हूं कि योग में आज्ञाकारिता का अर्थ क्या है, उससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

माताजी के यहां से साधकों के चले जाने के कारण

(१)

तुमने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। जब कोई साधक चला जाता है तब यह कहना कि भगवान् हार गये एक मूर्खतापूर्ण बात है। अगर साधक अपनी निम्नतर प्रकृति को अपने ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दे तो यह उसकी हार है, भगवान् की नहीं। साधक इसलिये यहां नहीं आता कि भगवान् को उसकी आवश्यकता है, बल्कि इस कारण आता है कि उसको भगवान् की आवश्यकता है। अगर वह आध्यात्मिक जीवन की शर्त्तों को पूरा करे और माताजी के पथप्रदर्शन के प्रति अपने-आपको दे दे तो फिर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, पर वह यदि अपनी शर्त्तों को रखना चाहे और भगवान् पर अपने निजी विचारों तथा अपनी निजी कामनाओं को लादना चाहे तो फिर सब प्रकार की कठिनाइयां ही आयेंगी। ठीक यही बात 'अ' और 'ब' तथा कई अन्य लोगों के विषय में हुई। चूंकि भगवान् उनके सामने नहीं झुकते इसलिये वे चले जाते हैं; परंतु यह भला भगवान् की हार कैसे हुई?
२७. ५. १९३७

(२)

प्रश्न—यह क्या बात है कि जो लोग एक स्पष्ट अभीप्सा और पुकार लेकर माताजी के पास आते हैं वे कुछ समय के बाद उनके पास से चले जाते हैं? कौन सी चीज उन्हें यहां से ले जाती है?

उत्तर–विरोधी शक्तियों के सुझावों के कारण, अहंकार, स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा, कामवासना, दंभ, लोभ या विरोधी शक्तियों द्वारा उठाये गये किसी अन्य प्राणिक आवेग के कारण उन्हें जाना पड़ता है।

(३)

प्रश्न–क्या प्राणमय शक्तियां इतनी प्रवल होती हैं कि किसी व्यक्ति में स्पष्ट अभीप्सा और भागवत पुकार के होने पर भी वे उसे माताजी से दूर खींच ले जा सकती हैं?

उत्तर–प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक क्षण भगवान् की पुकार को अपनी सम्मति देने या न देने के लिये, निम्नतर प्रकृति या अपने अंतरात्मा का अनुसरण करने के लिये स्वतंत्र है।

(४)

प्रश्न–क्या उनके पथ से चले जाने का अर्थ यह नहीं है कि वे अपने ज्ञान द्वारा यह निर्णय करने में असमर्थ थे कि भगवान् के लिये उनकी पुकार सच्ची थी या नहीं?

उत्तर–निर्णय करने की ये सब बातें बेमतलव हैं। तुम या तो पुकार को अनुभव करते हो या अनुभव नहीं करते और यदि तुम पुकार को अनुभव करते हो तो तुम कोई हिसाब-किताव किये विना या खतरों को गिने विना या यह पूछे विना कि तुम योग्य हो या नहीं, उसका अनुसरण करते हो।

(५)

प्रश्न–जव लोग साधना छोड़ देने की प्रवृत्ति को वहुत जोर से अनुभव करते हैं और माताजी के यहां से चले जाते हैं तब उनके लिये इस प्रवृत्ति का प्रतिकार करने और माताजी के प्रति लगे रहने का सवसे उत्तम तरीका क्या है?

उत्तर–यह समझना कि शैतान उन्हें भुलावे में डाल रहा है और उसकी वात न सुनना।

(६)

प्रश्न–जो साधक आश्रम में वहुत दिनों तक रह चुके हैं वे क्या आश्रम छोड़ देने के वाद माताजी की कृपा को भूल सकते हैं?

उत्तर–कुछ लोग भूले हुए-से मालूम होते हैं।

(७)

प्रश्न–क्या माताजी के अधीन साधना करने के लिये उनके वापस आने की कोई संभावना है?

उत्तर–यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है।
६. ९. १९३३

(८)

जब एक बार चैत्य पुरुष पूरा जाग्रत् हो जाता है तब साधक के लिये यह संभव नहीं कि वह विद्रोह करे और चला जाय; यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने अंतरात्मा को माताजी के पास छोड़ जाता है और उसकी केवल बाहरी सत्ता ही कुछ दिन अन्यत्र रहती है। परंतु यह अत्यंत दुःखदायी अवस्था है; या तो मनुष्य को वापस आना पड़ता है या जीवन यापन करना दूभर हो जाता है।
२०. ११. १९३५

माताजी की उपस्थिति के कारण आध्यात्मिक संभावना

(१)

निश्चय ही बहुत थोड़े से लोग यह अनुभव करते हुए मालूम होते हैं कि उन्हें यहां किस बात की संभावना दी गयी है–जिस चैत्य और आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये यह अभिप्रेत है उसके लिये इसका व्यवहार करने के बदले सब चीजें ही प्राण के मायाजाल या शरीर की तामसिकता के एक सुयोग में बदल दी गयी हैं।
७. ३. १९३६

(२)

मैं किसी खास चीज की बात नहीं कह रहा था–बल्कि मैं उस सारी आध्यात्मिक संभावना की बात कह रहा था जो कि यहां माताजी की उपस्थिति के कारण मौजूद है। बहुत थोड़े से लोग ही यह समझते हैं कि इसका अर्थ क्या है और जिन्हें इसकी थोड़ी सी धारणा है वे भी बहुत थोड़ा सा ही लाभ उठाते हैं और अपनी निम्नतर प्रकृति को अपनी प्रगति-में रोड़ा अटकाने का अवसर देते हैं।
९. ३. १९३६

आश्रम के भौतिक जीवन के दो आधार

यहां के भौतिक जीवन के लिये बस दो ही आधार संभव हैं। एक यह कि प्रत्येक मनुष्य एक आश्रम का सदस्य है जो आश्रम आत्मदान और समर्पण के सिद्धांत पर स्थापित है। यहां प्रत्येक मनुष्य भगवान् का है और जो कुछ उसके पास है वह सब भगवान् का है; यहां हम जो कुछ देते हैं वह अपना नहीं है बल्कि वह पहले से ही भगवान् का है। यहां मूल्य या बदले का कोई प्रश्न नहीं, कोई मोल-तोल नहीं, किसी मांग और कामना के लिये

स्थान नहीं। माताजी ही एकमात्र अधिकारिणी हैं और वह अपने प्राप्त साधनों तथा अपने यंत्रों की क्षमताओं के अनुसार जितने उत्तम रूप में करना संभव है उतने उत्तम रूप में सारी चीजों की व्यवस्था करती हैं। वह साधकों के मानसिक मानदंडों या प्राणिक वासनाओं और मांगों के अनुसार काम करने के लिये बिलकुल बंधी हुई नहीं हैं; वह उनके साथ व्यवहार करते समय प्रजातंत्रात्मक समानता का उपयोग करने के लिये बाध्य नहीं हैं। वह प्रत्येक मनुष्य के विषय में यह देखती हैं कि उसकी सच्ची आवश्यकता क्या है और उसकी आध्यात्मिक प्रगति के लिये सबसे उत्तम क्या है और उसके अनुसार उसके साथ व्यवहार करने के लिये वह स्वतंत्र हैं। कोई भी आदमी उनके कार्यों पर विचार नहीं कर सकता अथवा उनपर अपना निजी नियम और मानदंड नहीं लाद सकता; केवल वही नियम बना सकती हैं और अगर उचित समझें तो फिर उन नियमों का उल्लंघन भी कर सकती हैं, पर कोई भी आदमी यह मांग नहीं पेश कर सकता कि उन्हें ऐसा ही करना होगा। व्यक्तिगत मांगों और कामनाओं को उनपर नहीं लादा जा सकता। अगर किसी आदमी को अपनी सच्ची आवश्यकता की बात कहनी हो अथवा उसे कोई ऐसी सूचना देनी हो जो उसके अपने प्राप्त क्षेत्र के भीतर पड़ती हो तो वह कह सकता है; परंतु यदि माताजी स्वीकृति न दें तो उसे संतुष्ट रहना चाहिये और उस बात को वहीं छोड़ देना चाहिये। यही वह आध्यात्मिक अनुशासन है जिसका केंद्र वह व्यक्ति होता है जो भागवत सत्य का प्रतिनिधित्व करता है या उसका मूर्त रूप होता है। या तो माताजी वही व्यक्ति हैं और इस प्रसंग की ये सब बातें स्पष्ट रूप से साधारण समझ की बातें हैं; अथवा माताजी वह नहीं हैं और उस हालत में किसी को यहां रहने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक आदमी अपने निजी रास्ते पर जा सकता है और फिर न तो आश्रम ही रह जाता है और न योग ही।
११. ४. १९३०

माताजी के कार्य का तरीका और अपव्यय

अपव्यय के विषय में कुछ कहना मैं आवश्यक नहीं समझता; बस तुम्हें इतना ही विश्वास दिलाना चाहता हूं कि लोगों को केवल काम में लगाये रखने के लिये ही अनुपयोगी और अनावश्यक कार्य हाथ में लेना माताजी के कर्मसंबंधी सिद्धांत का कोई अंग नहीं है। माताजी को मालूम नहीं कि तुमने किस नल की बात लिखी थी और उसके विषय में पूछताछ करने के लिये न तो उनके पास समय था और न इच्छा ही थी। यह बिलकुल ठीक है कि जबतक साधक सिद्ध योगी नहीं बन जाते, कम-से-कम तब तक आत्मसंयम रखना ही धर्म है; उन्हें किसी भी दिशा में अति करने की आदत से और लापरवाही, लोभ या व्यक्तिगत मनमौज की पूर्ति से दूर रहना सीखना ही होगा—उन्हें जो चीजें दी जाती हैं वे एक साधक के लिये प्रचुर हैं और अन्य स्थानों में जो चीजें मिलती हैं उनसे बहुत अधिक हैं—जब लोग

ऐसी चीजें करते हैं तो माताजी उन्हें रोकने के लिये प्रत्येक मुहूर्त्त हस्तक्षेप नहीं करतीं; एक नियम बना दिया गया है, अपव्यय न करने के लिये उन्हें चेतावनी दे दी गयी है, एक चौहद्दी बना दी गयी है, बाकी चीजों के लिये उनसे यह आशा की जाती है कि वे स्वयं सीखेंगे और अपनी निजी चेतना और संकल्प के द्वारा अपनी कमजोरियों से बाहर निकलेंगे और इस काम में उन्हें सहायता देने के लिये माताजी की आंतर शक्ति विद्यमान है। कार्य का संगठन करने में पहले-पहल भीषण अपव्यय हुआ था, क्योंकि कार्यकर्त्ता और साधक माताजी की इच्छा का प्रायः एकदम कोई ख्याल नहीं करते थे और अपनी ही मनमौज का अनुसरण करते थे; पर वह पुनस्संगठन के द्वारा बहुत कुछ बंद हो गया। पर कुछ हद तक अभी अपव्यय जारी है और इसका बने रहना प्रायः तब तक अनिवार्य है जब तक कि साधक और कार्यकर्त्ता अपने संकल्प और चेतना में अपूर्ण हैं, श्रीमां की बतायी हुई बातों को सच्चे रूप में और पूरे ब्योरे के साथ क्रिया में नही लाते या अपनेको श्री माताजी से भी अधिक बुद्धिमान समझते हैं और अपने ही "स्वतंत्र" विचारों को अनुचित स्थान देते हैं। ऐसा होने पर भी माताजी हमेशा आग्रह नही करती, वह प्रतीक्षा करती और देखती हैं, साधकों के व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा बाहरी कार्यो में अधिक हस्तक्षेप करती हैं, पर फिर भी उनके लिये ऐसे अवसर छोड़ती हैं कि वे अपनी चेतना, अपनी अनुभूति और निजी भूलों के द्वारा प्राप्त शिक्षा की सहायता से बढ़ें। माताजी प्रायः बाहरी दबाव के बदले आंतरिक दबाव का प्रयोग करना अधिक पसंद करती हैं। इन सब मामलों में उन्हें अपने निजी निर्णय और दृष्टि का ही उपयोग करना होता है और किसी दूसरे आदमी के स्वीकृति देने या सेंसर करने से कोई लाभ नही—क्योंकि वह एक ऐसे दृष्टिकेंद्र से कार्य करती हैं जो दूसरों की दृष्टि से भिन्न है। लोगों के पास कोई श्रेष्ठतर ज्योति नही है जिससे वे माताजी की बातों को माप-तौल सकें या उन्हे पथ दिखा सकें।

चाहे कर्म में हो या योग में, माताजी मन के द्वारा कार्य नहीं करती, अथवा चेतना के उस स्तर से नही करती जहां से ये समालोचनाएं उठती हैं, बल्कि वह एकदम दूसरी ही दृष्टि और चेतना से काम करती हैं। अतः यह बिलकुल बेकार है, और माताजी की जो स्थिति है उसके साथ एकदम बेमेल है कि साधारण मन और चेतना को ही जज और अदालत स्वीकार किया जाय, उनके सामने माताजी को उपस्थित होकर अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये कहा जाय, ऐसी पद्धति अपने-आपमें असंगत और युक्तिविरुद्ध है और वह किसी परिणाम पर नही पहुंचाती; वह तो केवल एक ऐसे मिथ्या वातावरण की सृष्टि ही कर सकती या उसे बनाये रख सकती है जो एकदम साधना की उन्नति के लिये प्रतिकूल हो। इसी कारण, जब ऐसे संदेह उठाये जाते हैं तो मैं उनका कोई उत्तर ही नही देता अथवा इस तरह से उत्तर देता हूं कि ऐसे अभियोग को फिर से दुहराने का साहस न हो। अगर लोग यह समझना चाहते हैं कि माताजी क्यों कोई काम करती हैं तो उन्हें उसी

आंतर चेतना में प्रवेश करना चाहिये जहां से माताजी देखती और कार्य करती हैं। और माताजी क्या हैं, यह भी या तो श्रद्धा की आंखों से या किसी गभीर दृष्टि से ही देखा जा सकता है। यह भी कारण है जिससे कि हम ऐसे लोगों को यहां रखते हैं जिन्होंने अभी तक आवश्यक श्रद्धा या दृष्टि नहीं प्राप्त की है; हम लोग उन्हें भीतर से उसे प्राप्त करने के लिये छोड़ देते हैं और अगर उनमें साधना करने की सच्ची इच्छा हो तो वे उसे प्राप्त कर लेंगे।

२६. १२. १९३६

माताजी और आश्रम का अनुशासन

(१)

'अ' के कथनानुसार उसने कहा कि अनुशासन का अभाव ही भारत का सबसे बड़ा दोष है; न तो व्यक्ति और न व्यक्तियों के समुदाय ही अनुशासन मानते हैं। तो भला वह इतने से कारण से क्यों रो पड़ा कि उसे अपना हैंड-बैग उस स्थान पर नही रखने दिया गया जो स्थान उसके लिये अभिप्रेत नहीं था? मैं स्वंयं उसके साथ इस बात पर सहमत नहीं हूं कि आश्रम में पूर्ण अनुशासन का पालन होता है; बल्कि, इसके विपरीत, यहां उसका बहुत अधिक अभाव है, बहुत अनियमितता, लड़ाई-झगड़ा और हठधर्मिता है। यहां अगर कुछ संगठन और सुव्यवस्था है तो उसे इन सब बातों के होते हुए भी माताजी स्थापित करने और बनाये रखने में समर्थ हुई हैं। वह संगठन और सुव्यवस्था सभी सामूहिक कार्यों के लिये आवश्यक है; बाहर के जिन लोगों ने आश्रम देखा है उन सब लोगों ने इस बात की प्रशंसा की है और इसके लिये आश्चर्य प्रकट किया है; यही कारण है कि बहुत से लोगों के द्वेषपूर्ण आक्रमण के होते हुए भी, जिनकी चलती तो आश्रम कभी का खतम हो चुका होता, आश्रम जीवित है। माताजी अच्छी तरह जानती थीं कि वह क्या कर रही हैं और जो काम उन्हें करना है उसके लिये क्या आवश्यक है।

अपने-आपमें अनुशासन विशेष रूप से पाश्चात्य वस्तु नहीं है; जापान, चीन और भारत जैसे पूर्वीय देशों में एक समय में यह सर्वनियामक था और ऐसे ढंग से कठोर नियमों पर आधारित था जिसे पाश्चात्य लोग सहन नहीं करेंगे। सामाजिक रूप में हम चाहे जो भी आपत्तियां इस विषय में क्यों न उठावें, यह यथार्थ तथ्य है कि इसने युग युग में और समस्त परिवर्तनों के अंदर हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज की रक्षा की है। राजनीतिक क्षेत्र में, इसके विपरीत, अनुशासनहीनता, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद और कलह था; यह भी एक कारण है जिससे भारत का पतन हुआ और वह दासता का शिकार हुआ। संगठन और व्यवस्था लाने की चेष्टा तो की गयी पर वह स्थायी होने में असफल रही। आध्यात्मिक जीवन के अंदर भी भारत ने केवल ऐसे स्वतंत्र परिव्राजक संन्यासियों को ही नहीं उत्पन्न किया जो

अपने-आप अपना कानून थे, बल्कि नियम-कानूनों और व्यवस्थापक समितियों से युक्त संन्यासियों के संघ बनाने की प्रेरणा का भी अनुभव किया और कठोर अनुशासन रखनेवाले मठों की स्थापना भी हुई। जब कि ऐसी चीजों के बिना कोई भी काम सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता–यहां तक कि व्यक्तिगत कार्यकर्त्ता को भी, जैसे कलाकार को, अपने कार्य में दक्ष बनने के लिये एक कठोर अनुशासन के भीतर से गुजरना होता है–तब भला, माताजी ने जिस अत्यंत कठिन कार्य को अपने हाथ में लिया है उसके लिये यदि वह अनुशासन पर जोर देती हों तो, उन्हें दोष क्यों दिया जाय?

पता नहीं तुम किस आधार पर बिना विधि-विधान या अनुशासन के ही सुव्यवस्था और संगठन की आशा करते हो। तुम मानो यह कहते हो कि लोगों को पूर्ण स्वाधीनता दे देनी चाहिये और केवल उतना ही अनुशासन होना चाहिये जितना वे स्वयं अपने ऊपर लादना पसंद करें; यह बात उस समय पर्याप्त होती जब यहां पर एकमात्र करने की चीज यही होती कि प्रत्येक व्यक्ति कोई आंतर उपलब्धि प्राप्त कर ले, जीवन का कोई प्रश्न न होता, या, यहां पर कोई सामूहिक जीवन और कार्य न होता और अगर होता भी तो उसका कोई महत्त्व न होता; पर यहां बात ऐसी नहीं है। हमने एक ऐसा कार्य अपने हाथ में लिया है जिसमें जीवन, कर्म और भौतिक जगत् शामिल हैं। जो कुछ मैं करने का प्रयत्न कर रहा हूं उसमें आध्यात्मिक उपलब्धि सबसे पहले आवश्यक है, लेकिन वह जीवन में, मनुष्यों में और इस संसार में भी बाह्य उपलब्धि प्राप्त किये बिना पूर्ण नही हो सकती। अंतर में आध्यात्मिक चेतना हो पर साथ ही बाहर आध्यात्मिक जीवन भी हो। आश्रम अपनी वर्तमान अवस्था में उस आदर्श रूप को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिये उसके सभी सदस्यों को साधारण अहंकारपूर्ण मन तथा मुख्यतः राजसिक प्राण-प्रकृति में रहने की जगह आध्यात्मिक चेतना में निवास करना होगा, पर, फिर भी आश्रम हमारे प्रयास का पहला रूप है, यह एक क्षेत्र है जिसमें प्रारंभिक तैयारी का कार्य करना होगा। माताजी को यह आश्रम चलाना है और इसके लिये इस समस्त व्यवस्था और संगठन की भी आवश्यकता है तथा यह विधि-विधान और अनुशासन के बिना नही हो सकता। फिर अहंकार, मानसिक रुचियों और राजसिक प्राण-प्रकृति को पार करने के लिये भी, अथवा कम से कम उस कार्य में सहायक के रूप में, अनुशासन की आवश्यकता है। यदि इन चीजों को जीत लिया जाय तो बाहरी नियम आदि की आवश्यकता कम होगी; उनके स्थान पर स्वाभाविक मेल-मिलाप, एकत्व, सामंजस्य और समुचित कर्म आ जायंगे। परंतु जब तक वर्तमान अवस्था विद्यमान है तब तक लोग जिस अनुशासन को अपने ऊपर लादना पसंद करेंगे या नहीं करेंगे उसके अतिरिक्त बाकी समस्त अनुशासन को त्याग देने या न मानने से उसका फल असफलता और अमंगल ही होगा।...उस सिद्धांत के अनुसार तो इस कार्य का भी सत्यानाश हो गया होता, बस लड़ाई-झगड़े के सिवा और कुछ न होता, प्रत्येक कार्यकर्त्ता अपनी ही निजी भावना और

इच्छा को प्रस्थापित करता और निरंतर संघर्ष रहता; वर्तमान अवस्था में भी यह सब प्रचुर मात्रा में है और केवल माताजी के प्रभाव, उनके दिये हुए ढांचे तथा विरोधी तत्त्वों से एक साथ काम लेने के उनके कौशल के कारण ही सारा कार्य चल रहा है।

मुझे नही लगता कि माताजी कठोरता के साथ नियम पालन कराती हैं। बल्कि इसके विरुद्ध मैंने देखा है कि उन्होंने नियमभंग, आज्ञा-लंघन, आत्मख्यापन और विद्रोह के उस विशाल स्तूप का सामना, जिसने उन्हें घेर रखा है, कितनी सतत मृदुलता, सहनशील धैर्य और दयालुता के साथ किया है; यहां तक कि अपने सामने किये गये विद्रोह और अपने आपको अत्यंत बुरी निंदाओं से आक्रांत करनेवाले उग्र पत्रों को सहा है। कोई कठोर अनुशासक इन सब चीजों के साथ इस तरह व्यवहार न करता।

मैं नही जानता कि दर्शकों के साथ क्या बुरा व्यवहार किया गया है, सिवा इसके कि नियम मानने का आग्रह किया गया जिसपर तुम आपत्ति कर रहे हो। परंतु यह कोई सार्वजनीन आपत्ति नही हो सकती, अन्यथा दर्शकों की संख्या निरंतर बढ़ती न जाती और न इतने अधिक लोग दुबारा आना ही चाहते या यहां तक कि प्रत्येक बार ही आना चाहते या इतने अधिक लोग, यदि माताजी उन्हें अनुमति दें तो, यहां रहना ही चाहते। पर जो हो, वे लोग यहां किसी सामाजिक आवश्यकता के कारण नहीं आते बल्कि उन लोगों के दर्शनों के लिये आते हैं, जिन्हें वे आध्यात्मिक दृष्टि से महान् मानते हैं अथवा, सर्वदा आने-जानेवालों के प्रसंग में कहा जाय तो, आश्रम-जीवन में भाग लेने तथा आध्यात्मिक लाभ उठाने के लिये आते हैं, और इन दोनों ही उद्देश्यों के लिये उनसे यह आशा की जायगी कि उनपर जो शर्तें लगायी जायं उन्हें वे इच्छापूर्वक स्वीकार करें और थोड़ी-बहुत असुविधा का ख्याल न करें।

अब गोलकुंड और उसके नियमों की बात लें—वे नियम दूसरी जगह नहीं लगाये जाते—उन्हें लगाने का कुछ कारण है और वे निरर्थक नहीं हैं। गोलकुंड में माताजी ने रेमों, सामेर और दूसरों के द्वारा अपनी निजी भावना को कार्यान्वित किया है। सबसे पहले, माताजी का विश्वास है कि सौंदर्य आध्यात्मिकता और दिव्य जीवन का एक अंग है; दूसरे, वह मानती हैं कि भौतिक वस्तुओं में भी भागवत चेतना है और वह चेतना उतना ही उन्हें सहारा देती है जितना वह सजीव वस्तुओं को देती है; और तीसरे, उन भौतिक वस्तुओं का भी अपना व्यक्तित्व है और उनसे समुचित रूप में व्यवहार करना चाहिये, समुचित ढंग से उनका उपयोग करना चाहिये, न तो उनका दुरुपयोग होना चाहिये न उनके साथ अनुचित ढंग का व्यवहार होना चाहिये, न तो उन्हें आघात पहुंचाना चाहिये और न उनकी उपेक्षा करनी चाहिये जिसमें कि वे जल्द नष्ट हो जायं और अपना पूरा सौंदर्य या मूल्य खो बैठें; वह उनके अंदर की चेतना को अनुभव करती हैं और उनके साथ इतनी अधिक सहानुभूति रखती हैं कि जो चीज दूसरे हाथों में थोड़े दिनों में ही खराब हो सकती

यां नष्ट हो सकती है वह उनके साथ वर्षों या दशकों तक वनी रहती है। इसी वात को आधार वनाकर उन्होंने गोलकुंड की योजना वनायी थी। सर्वप्रथम, उन्होंने उच्च प्रकार की स्थापत्य-कला का सौंदर्य चाहा था और इसमें वह सफल हुई–वास्तुकारों तथा गृह-निर्माणकला का ज्ञान रखनेवाले लोगों ने वड़े उत्साह के साथ इसकी प्रशंसा की है और इसे एक अद्भुत कृति माना है। एक ने तो इसके विषय में यह कहा कि इस प्रकार के जितने भी भवन उसने देखे उनमें यह सवसे सुंदर है और इसकी वरावरी का भवन न तो समूचे यूरोप में है न अमेरिका में; और एक महान् गुरु के शिष्य एक फ्रेंच वास्तुकार ने कहा कि इस भवन में वह भावना अत्यंत उत्कृष्ट रूप में कार्यान्वित हुई है जिसे उसके गुरु कार्यान्वित करने की चेष्टा करते रहे पर संपन्न करने में असफल रहे। पर इसके साथ माताजी ने यह भी चाहा था कि इस भवन की सभी चीजें, कमरे, सजावट की चीजें, सामान आदि सभी अपने-आपमें कलापूर्ण हों और सव मिलकर एक सुसमंजस संपूर्ण आकार ग्रहण करें। यह कार्य भी वड़ी सावधानी के साथ किया गया। इसके अलावा प्रत्येक चीज इस प्रकार निश्चित की गयी कि उसका अपना उपयोग हो, प्रत्येक चीज के लिये एक स्थान हो, और चीजों को मिलाजुला न दिया जाय, या अस्तव्यस्त न कर दिया जाय या उनका गलत उपयोग न किया जाय। परंतु इन सव वातों को वनाये रखने और उन्हें व्यवहार में लाने की जरूरत थी; क्योंकि वहां रहनेवालों के लिये थोड़े समय में ही पूर्ण अस्तव्यस्तता उत्पन्न करना, दुरुपयोग करना और प्रत्येक चीज को अव्यवस्थित और नष्ट कर देना अधिक आसान था। यही कारण था कि नियम वनाये गये और उनका और कोई उद्देश्य नहीं था। माताजी को आशा थी कि यदि उपयुक्त मनुष्य वहां रखे जायं या कुछ दूसरों को साधारण लोगों की अपेक्षा कम जल्दवाजी करने की शिक्षा दी जाय तो उनकी भावना की रक्षा की जा सकती है और समस्त परिश्रम और व्यय को नष्ट होने से वचाया जा सकता है।

परंतु दुर्भाग्यवश स्थान की कठिनाई उत्पन्न हुई और हमें उन लोगों को गोलकुंड में रखने के लिये वाध्य होना पड़ा जिन्हें दूसरी जगह नहीं रखा जा सकता था और इस तरह सावधानी से चुनाव नहीं किया जा सका। इसलिये प्रायः ही कुछ टूटने-फूटने लगा और दुरुपयोग होने लगा और दर्शन के वाद माताजी को चीजों की मरम्मत कराने तथा जो कुछ वहां संपन्न किया गया है उसे फिर से ठीक करने में दो-तीन सौ रुपया खर्च करना पड़ता था। 'अ' ने मकान को देखने और जहां तक संभव हो चीजों को ठीक वनाये रखने की जिम्मेदारी ले रखी है। यही कारण है कि हैंड-वैग के मामले में—वह मामला मेज के लिये भी उतना ही दुःखदायी था जितना कि डाक्टर के लिये, क्योंकि हैंड-वैग से मेज पर खुरचन आ गयी और वह खराव हो गयी—उसने हस्तक्षेप किया और वैग तथा हजामत की चीजों को उनके लिये निश्चित किये गये स्थानों में रखने की चेष्टा की।

अगर डाक्टर के स्थान पर मैं होता तो मैं उसकी सावधानता और सहायता के लिये उसके प्रति कृतज्ञ होता, डाक्टर की तरह उन बातों के लिये नाराज न होता जो उनकी दृष्टि में तो तुच्छ थीं, यद्यपि उसके लिये उसकी जिम्मेदारी के कारण महत्त्वपूर्ण थीं। जो हो, नियमों की यही यथार्थ व्याख्या है और वे मुझे निरर्थक विधि-विधान और अनुशासन नहीं प्रतीत होते।

अंत में, आर्थिक व्यवस्था की बात पर आवें। इस आश्रम को, इसके सदस्यों की निरंतर बढ़नेवाली संख्या के साथ, चलाना, आय-व्यय का लेखा बराबर बनाये रखना और कभी कभी आय की कमी और उसके परिणामों को रोकना माताजी के और मेरे लिये एक दुःसाध्य और कष्टकर कार्य हो रहा है और विशेषकर इस युद्ध के दिनों में जब कि सब चीजो का खर्च एक अद्भुत और कल्पनातीत ऊंचाई तक पहुंच गया है, हमारे ऊपर क्या बीती है उसे केवल वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें ऐसी बातों का अभ्यास हो अथवा जिनपर ऐसी ही जिम्मेदारियां रही हों। यदि दिव्य शक्ति की क्रिया न हुई होती तो बिना किसी निश्चित आमदनी के इतने महान् कार्य को चलाना संभव न होता। दानशीलता के कार्य हमारे कार्य का अंग नहीं है, अन्य बहुतेरे लोग हैं जो ऐसे कार्यों की देखरेख कर सकते हैं। हमें तो सब कुछ उसी कार्य में खर्च करना होगा जिसे हमने अपने हाथ में लिया है और हमें जो कुछ मिलता है वह हमारी आवश्यकता के अनुपात में कुछ भी नहीं है। *हम लोग ऐसा कोई काम हाथ में नहीं ले सकते जो साधारण तरीकों* से धन ले आये। हमारे लिये जो उपाय संभव है उन्हीका हमें उपयोग करना होगा। यह कोई साधारण नियम नहीं है कि आध्यात्मिक मनुष्यों को परोपकार के कार्य करने ही चाहियें अथवा उनके पास जो कोई दर्शक आवें उन्हें वे रहने का स्थान और भोजन दें, उनका स्वागत करें और उनकी सुरक्षा का ख्याल रखें। अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका कारण यही है कि यह हमारे कार्य का अंग बन गया है। माताजी दर्शकों से रहने और खाने का खर्च लेती हैं, क्योंकि उन्हें खर्च की व्यवस्था करनी है और वे हवा में से रुपया नहीं बना सकती; वह वास्तव में जितना व्यय करती हैं उससे कम ही लेती है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वह यह न पसंद करें कि लोग उनसे अनुचित लाभ उठावें और उन लोगों को अनुमति दें जो झूठे बहाने बनाकर भोजन-गृह में भोजन करने की चेष्टा करते हैं। आरंभ में ये लोग थोड़े ही क्यों न हों, यदि उन्हें खुली छूट मिल जाय तो, वे थोड़ेसे लोग शीघ्र ही एक सेना में परिणत हो जायेंगे। अब लोगों को आज्ञा लिये बिना खुले तौर पर दर्शनों के लिये आने देने की जो बात है वह तो मुझे जल्द ही एक दिखावे की और कौतूहल की चीज, बहुधा निंदात्मक या विरोधी कौतूहल की चीज बना देगी और तब मैं ही सबसे पहले चिल्ला उठूंगा—"बंद करो।"

मैंने अपने दृष्टिकोण को समझाने की चेष्टा की है और कुछ हद तक समझाया भी

है। भले ही कोई इसे स्वीकार करे या न करे, पर यह है एक दृष्टिकोण और मैं समझता हूं कि यह युक्तिसंगत भी है। मैं केवल वाहरी दृष्टि से ही लिख रहा हूं और उन सव वातों की चर्चा नहीं करता जो पीछे विद्यमान हैं अथवा यौगिक दृष्टि से संवंधित हैं, उस यौगिक चेतना की दृष्टि से संवंधित हैं जिससे हम कार्य करते हैं; उसे व्यक्त करना अधिक कठिन होगा। यह महज बौद्धिक संतुष्टि के लिये ही है और यहां तर्क के लिये वरावर ही गुंजायश है।
२५. २. १९४५

(२)

यह विलकुल ठीक है कि भौतिक वस्तुओं में चेतना है जो अनुभव करती है, सतर्कता का प्रत्युत्तर देती है और असावधानी के साथ छूने तथा कठोरतापूर्वक व्यवहार करने से क्षुण्ण होती है। इसे जानना और अनुभव करना तथा उनके विषय में सावधान होना सीखना चेतना की एक महान् प्रगति है। वरावर ही माताजी ने भौतिक वस्तुओं के विषय में ऐसा अनुभव किया है और इसके अनुसार व्यवहार किया है। चीजें दूसरों की अपेक्षा माताजी के साथ बहुत अधिक दिनों तक और अच्छी अवस्था में रहती हैं तथा अपना पूरा लाभ देती हैं।
१६. ४. १९३६

(३)

जो लोग "खर्च नहीं दे सकते" उनके आश्रम में आने या विना खर्च रहने के विषय में माताजी ने कभी आपत्ति नहीं की है; वह केवल उन्हीं दर्शकों से खर्च पाने की आशा रखती है जो खर्च दे सकते हैं। उन्होंने निश्चय ही उन धनी दर्शकों के कार्य पर (एक अवसर पर) वड़े जोरों से आपत्ति की थी जो यहां आये, वाजार में चीजें आदि खरीदने में खुले दिल रुपया खर्च किया पर आश्रम को कुछ भी दिये विना या माताजी को मामूली भेंट तक दिये विना चले गये—वस इतना ही।
२१. १०. १९४३

विभागीय अध्यक्ष की आवश्यकता

(१)

माताजी के लिये भौतिक रूप में यह संभव नहीं है कि वह प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपने आप सीधा कार्य दे और उसपर सीधी निगरानी रख सकें, जिसमें भौतिक रूप में और साथ ही आंतरिक रूप में वह (कार्यकर्त्ता) अपना कार्य उन्हें अर्पित कर सके। प्रत्येक

विभाग के लिये एक अध्यक्ष होना ही चाहिये जो सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में माताजी की सलाह ले और प्रत्येक चीज की रिपोर्ट उन्हें देता रहे; परंतु छोटी छोटी बातों में उनका निर्णय जानने के लिये बराबर उनके पास आने की उसे कोई जरूरत नही—यह संभव भी नहीं है। 'अ' गृहनिर्माण-विभाग में अध्यक्ष के पद पर है क्योंकि वह एक सुयोग्य इंजिनियर है। यह बाहरी व्यवस्था की एक आवश्यकता है जो यहां या अन्य जगहों में भी अनिवार्य है और यदि काम करना है तो इसे स्वीकार करना ही होगा। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि लोगों को 'अ' या किसी दूसरे अध्यक्ष को अपने से बड़ा व्यक्ति मानना चाहियें अथवा उसके अहंकार के प्रति समर्पण करना चाहिये। जहां तक संभव हो साधक को अपने निजी अहंभाव से मुक्त होना चाहिये और चाहे जिन अवस्थाओं में कार्य क्यों न किया जाय, अपने कार्य को माताजी की पूजा समझना ही चाहिये।
२०. ८. १९३६

(२)

आश्रम की व्यवस्था के प्रत्येक ब्योरे को स्वयं अपने आप देखना माताजी के लिये एकदम असंभव है; आजकल भी जो अवस्था है, उसमें उनके पास खाली समय बिलकुल नही है। यह बात जानी हुई है कि तुम.....पा सकते हो, पर किसी व्यवस्था के कार्यान्वित होने के लिये तुम्हें उन लोगों पर जोर डालना चाहिये जिन्हें उसकी जिम्मेदारी दी गयी है। २०. ७. १९३३

(३)

स्वयं माताजी ने ही अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये (विभागों के) अध्यक्षों का चुनाव किया था जिसमें समस्त कार्य का संगठन हो सके; काम की सभी धाराएं, समस्त ब्योरा उन्हीके द्वारा निश्चित किया गया था और अध्यक्षों को उनकी पद्धतियों का निरीक्षण करने की शिक्षा दी गयी थी। इस सबके बाद ही वह पीछे हटी और सारी चीज को अपने निश्चित किये हुए रास्ते से चलते रहने के लिये उन्होने छोड़ दिया; पर वह बराबर ही एक सतर्क दृष्टि बनाये रखती है। अध्यक्ष लोग उनकी नीति और आदेशों को कार्यान्वित कर रहे हैं और प्रत्येक चीज की रिपोर्ट उन्हें देते है तथा जब वह उचित समझती हैं तब जो कुछ वे करते हैं उसमें प्राय: ही परिवर्तन करती है। अध्यक्षों का कार्य पूर्ण नही है, क्योंकि वे स्वयं भी अभीतक पूर्ण नहीं है और कार्यकर्त्ताओं तथा साधकों का अहंकार उनके मार्ग में रोड़ा भी अटकाता है। तबतक कुछ भी पूर्ण नही हो सकता जबतक साधक और कार्यकर्त्ता यह नहीं अनुभव करने लगते कि वे अपने अहंकार के लिये, अपने प्राण की आत्मतुष्टि के लिये तथा शरीर की मांगों के लिये यहां नही है बल्कि एक उच्च और

उत्तर—मुझसे पूछा गया था आया हमारे द्वारा किया हुआ ऐसा प्रत्येक कार्य, जिसके लिये माताजी की आज्ञा हो, 'कर्तव्यं कर्म' है या नहीं। लोग विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर अनगिनत चीजों के लिये आज्ञा मांगते हैं—इसका मतलब यह नहीं है कि माताजी इन सभी चीजों के लिये स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञा देती हैं। जो कार्य स्वयं माताजी का दिया हुआ है वह उनका कार्य है—यह कहने की कोई आवश्यकता नही कि जो कोई कार्य सच्चाई के साथ माताजी की भेंट के रूप में किया गया है वह भी उनका कार्य है। परंतु 'कर्म' के अंदर सभी प्रकार की क्रियाएं आ जाती हैं, केवल कार्य ही नहीं।
३१. ७. १९३७

माताजी की स्वीकृति और सफलता की संभावनाएं

स्वीकृति या आज्ञा! लोगों के दिमाग में यह घुस जाता है कि उन्हें गाना-बजाना चाहिये क्योंकि यह एक फैशन है अथवा उन्हें यह बहुत अधिक पसंद है। और शायद माताजी भी इसकी अनुमति दे दें और वे कहें "बहुत अच्छा, कोशिश करो।" इसका यह मतलब नहीं है कि संगीतज्ञ—अथवा प्रसंग के अनुसार कवि या चित्रकार—होना उनके भाग्य में लिखा है अथवा उनकी नियति है। संभवतः जो लोग प्रयत्न करते हैं उनमें एक खिल उठे और दूसरे झड़ जायं। 'अ' चित्रकारी आरंभ करता है और आरंभ में केवल काल्पनिक उत्साह दिखाता है, कुछ समय बाद वह अद्भुत कार्य कर दिखाता है। 'ब' चतुरतापूर्ण सुगम चीजें करता है; एक दिन वह गहराई में उतरने लगता है और एक घड़े जाते हुए भावी चित्रकार की रूपरेखा दिखायी देने लगती है; दूसरे—खैर, वे प्रगति नहीं करते। परंतु वे कोशिश कर सकते हैं—कम-से-कम वे चित्र-कला के विषय में कुछ बातें तो सीख ही जायेंगे।
मई, १९३५

भूलों के प्रति माताजी का मनोभाव

प्रश्न—कल माताजी ने जो कुछ कहा उससे ऐसा प्रतीत होता है कि काम में होनेवाली अपनी भूलों को हमें कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये और दूसरों की भूलों की ओर न तो ध्यान देना चाहिये न उन्हें सुधारना चाहिये। फिर, चूंकि भौतिक जगत् कई जगतों में से केवल एक जगत् है, संपूर्ण अभिव्यक्ति का केवल एक छोटा सा भाग है, इसलिये क्या हमें भौतिक चीजों, भौतिक कार्य तथा उसके ब्योरों को बहुत ही कम महत्त्व नहीं देना चाहिये ?

उत्तर—माताजी का यह कहना था कि कार्य में होनेवाली भूलों को वह पूरी तरह जानती हैं, परंतु उन सब चीजों की ओर, बाहरी बुद्धि से नहीं बल्कि एक आंतरिक दृष्टि से देखते हुए उनके अंदर एक विशिष्ट 'शक्ति' को उन्हें कार्यान्वित करना है और इसलिये वह प्रायः

ही अपूर्णताओं और भूलों की उपेक्षा करना आवश्यक समझती हैं। पर इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि साधक-कार्यकर्त्ता जहां जिम्मेदार हो वहां वह इस बात की परवा ही न करे कि उसके कार्य में भूलें हैं या नहीं। अगर दूसरे साधक भूलें करें तो उसके लिये वे जिम्मेदार हैं, हम उन्हें देख सकते और स्वयं वैसी भूलों से बच सकते हैं, मगर एक साधक दूसरे की भूलों को तब तक नहीं सुधार सकता जब तक वह उसकी जिम्मेदारी न हो– प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने-आपको, अपने दोषों और भूलों को सुधारना चाहिये।

हम यहां इस भौतिक जगत् में हैं, दूसरे जगतों में नहीं है, सिर्फ उनके साथ हमारा एक आंतरिक संबंध है। हमारा जीवन और कार्य भी यहीं है, इसलिये भौतिक जगत् और चीजों की उपेक्षा करने से काम नहीं चल सकता, यद्यपि हमें आसक्ति और वासना के द्वारा उनसे चिपकना और बंधना नहीं चाहिये। हमें दूसरे जगतों (लोकों) की प्रकृति और शक्तियों का, जहां तक इस जगत् के साथ वे लोक संबंधित हैं, ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हम यहां के कार्य में सहायता करने और उसे ऊंचा उठाने में उनका उपयोग भी कर सकते हैं। फिर भी कार्य का क्षेत्र यहीं है, कहीं और नहीं।

२१. ८. १९३६

बाहरी संगठन और भीतरी सामंजस्य

(१)

भूलें उनके कारण आती हैं जो कार्य के अंदर अपने अहंकार, अपने व्यक्तिगत भाव (पसंदगी और नापसंदगी), अपनी प्रतिष्ठा अथवा अपनी सुविधा के बोध, गर्व, अधिकार करने की भावना आदि को ले आते हैं। ठीक पथ है यह अनुभव करना कि कर्म श्रीमां का है–केवल तुम्हारा नहीं, बल्कि दूसरों का काम भी–और उसे ऐसे भाव के साथ संपन्न करना कि वहां एक साधारण सामंजस्य बना रहे। सामंजस्य केवल बाहरी संगठन के द्वारा ही नहीं लाया जा सकता, यद्यपि क्रमशः पूर्ण बननेवाले एक बाहरी संगठन की भी आवश्यकता है; भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।

(२)

प्रश्न–आपने लिखा है, "सामंजस्य केवल बाहरी संगठन के द्वारा ही नहीं लाया जा सकता, ... भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।" वह भीतरी सामंजस्य क्या है ?

उत्तर–माताजी के अंदर एकत्व।

२१. ४. १९३३

करे या यदि उसे अनुचित समझे तो न करे।

(६) 'अ' को कम-से-कम एक कार्य सीधे माताजी ने दिया है–वह है रसोईघर के बर्तन धोना। वह उसे माताजी के निर्देशों के अनुसार और खूब सावधानी तथा पूर्णता के साथ करे; उसके लिये यह दिखलाने का यह एक सुअवसर होगा कि वह क्या कर सकता है और बाकी चीजें उसके बाद देखी जायंगी।

(७) वह 'ग' और 'ब' से भोजन या उपहार आदि स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है; यदि उसे यह पसंद नही है तो वह इन चीजों को क्यों लेता है? वह अस्वीकार करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। उसका यहां रहना तथा अन्य सभी बातें 'ब' पर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि एकमात्र माताजी पर निर्भर करती हैं–अतएव उसे डरने का कोई कारण नहीं।

(८) अंत में, उसे अपने प्राण को अशांति तथा कामनाओं से खाली कर देना चाहिये–क्योंकि उसमें, प्रत्येक मनुष्य की तरह ही, वही उदासी का मूल कारण है और, यदि वह कहीं अन्यत्र और किन्हीं अन्य परिस्थितियों में होता तो भी उदासी अवश्य आती क्योंकि मूल कारण तब भी वहां होता। यहां पर यदि वह संपूर्ण रूप से माताजी की ओर मुड़ जाय, उनकी ओर खुले और उन्हीं की ओर मुड़े हुए कार्य करे और रहे तो वह छुटकारा और प्रसन्नता पा लेगा और ज्योति और शांति में वर्द्धित होगा तथा अपनी समस्त सत्ता में भगवान् का बच्चा बन जायगा।

१९. ३. १९३२

आश्रम का कार्य और माताजी का कार्य

अगर यह माताजी का कार्य नहीं है तो और किसका है? जो कुछ तुम करते हो उस सबको तुम्हें माताजी के कार्य के रूप में ही करना चाहिये। आश्रम में होनेवाले सभी कार्य माताजी के हैं।

वे सभी कार्य, ध्यान, "वार्त्तालाप"[१] का पढ़ना, अंगरेजी सीखना इत्यादि अच्छे हैं। तुम उनमें से किसी कार्य को उसे माताजी को उत्सर्ग करके कर सकते हो।

ध्यान का अर्थ है अपने-आपको माताजी की ओर खोलना, अपनी अभीप्सा के ऊपर एकाग्र होना तथा क्रिया करने और अपनेको रूपांतरित करने के लिये अपने अंदर माताजी की शक्ति का आह्वान करना।

१८. ९. १९३२

---

[१]Conversations with the Mother, जिसका हिन्दी अनुवाद 'मातृवाणी', प्रथम भाग है।–अनुवादक

(३)

माताजी की विजय मूलतः प्रत्येक साधक की अपने ऊपर विजय है। केवल उसी समय कार्य का कोई वाहरी रूप सामंजस्यपूर्ण परिपूर्णता तक पहुंच सकता है।
१२. ११. १९३७

सवसे अधिक आवश्यक चीज

इस साधना के लिये सवसे अधिक आवश्यक चीज है शांति, स्थिरता, विशेषकर प्राण के अंदर—एक ऐसी शांति जो परिस्थितियों या पारिपार्श्विक अवस्थाओं के ऊपर निर्भर नहीं करती वल्कि एक उच्चतर चेतना के साथ,—जो कि भगवान् की, श्रीमां की चेतना है—आंतर संस्पर्श वनाये रखने पर निर्भर करती है। जिन लोगों में वह नहीं है अथवा जो उसे पाने की अभीप्सा नहीं करते, वे यहां आ सकते हैं और आश्रम में दस या वीस वर्षों तक रह सकते हैं और फिर भी वे सदा की भांति वेचैनी और संघर्षों से भरे रह सकते हैं,—जो लोग अपने मन और प्राण को श्रीमां की शक्ति और शांति की ओर खोलते हैं वे अत्यंत कठिन और दुःखदायी कार्य तथा अत्यंत वुरी परिस्थितियों में भी उसे प्राप्त करते हैं। अक्तूवर १९३३

साधारण संग-साथ और नयी चेतना के अंदर एकता

आश्रम के सदस्यों के वीच साधारण कोटि का मानवीय संग-साथ हो, इस वात पर माताजी ने जोर नहीं डाला है (यद्यपि सद्भाव, परस्पर सम्मान और शिष्टता वरावर ही रहनी चाहिये), क्योंकि वह हमारा उद्देश्य नहीं है; हमारा उद्देश्य है एक नयी चेतना में एकत्व प्राप्त करना, और उसके लिये सबसे पहली चीज यह है कि प्रत्येक व्यक्ति उस नयी चेतना में पहुंचने तथा उसमें एकता अनुभव करने के लिये साधना करे।
३१. १०. १९३५

पूर्ण एकांतवास के लिये माताजी की अस्वीकृति

माताजी पूर्ण एकांतवास की भावना को एकदम मंजूर नहीं करतीं। इससे संयम नहीं प्राप्त होता; केवल संयम का भ्रम होता है, क्योंकि कुछ समय के लिये ही असुविधा उत्पन्न करनेवाले कारण दूर होते हैं। वाहरी वस्तुओं के संस्पर्श में रहते हुए जो संयम स्थापित किया जाता है केवल वही सच्चा होता है। तुम्हें एक सुदृढ़ संकल्प और अभ्यास के द्वारा अंदर से उसी संयम को स्थापित करना चाहिये। अत्यधिक मिलने-जुलने और अत्यधिक वातचीत से वचना चाहिये, पर पूर्ण एकांतवास आवश्यक चीज नहीं है। इससे अव तक किसी भी आदमी को अपेक्षित फल नही प्राप्त हुआ है।
२७. ११. १९३६

श्रीमां के लिये जीवन की शक्तियों को जीतना

इस योग का उद्देश्य जीवन की शक्तियों का त्याग करना नहीं है, बल्कि एक आंतरिक रूपांतर ले आना और जीवनसंबंधी अपने मनोभाव और शक्तियों के व्यवहार में परिवर्तन ले आना ही इसका उद्देश्य है। ये शक्तियां अभी अहंकारपूर्ण भाव में और भगवद्विरोधी उद्देश्यों के लिये व्यवहृत होती हैं; इनका व्यवहार भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण के भाव के साथ और भागवत कार्य के उद्देश्य से करना होगा। श्रीमां के लिये इन्हें फिर से जीतने का तात्पर्य यही है।

व्यापार तथा आध्यात्मिक लाभ

अगर तुम माताजी को रुपया दो तो वह कार्य 'व्यापारिक' नहीं बन सकता; व्यापार में व्यक्तिगत लाभ की भावना होती है, और यहां तुम्हारा लाभ केवल आध्यात्मिक है।
२. ४. १९४४

माताजी और सौंदर्य की अभिव्यक्ति

(१)

प्रश्न—श्रीमाताजी बहुमूल्य और सुन्दर कपड़े क्यों पहनती है?

उत्तर—क्या तुम्हारी धारणा यह है कि पृथ्वी पर दरिद्रता और कुरूपता के द्वारा ही भगवान् का प्रतिनिधित्व होना चाहिये?

सौदर्य भी ठीक उतने ही अंश में भगवान् का एक प्रकाश है जितने अंश में ज्ञान, शक्ति या आनंद। भला कोई यह प्रश्न भी करता है कि श्री माताजी ज्ञान या शक्ति के द्वारा क्यों भागवत चेतना को अभिव्यक्त करना चाहती है, अज्ञान और दुर्बलता के द्वारा क्यों नहीं करती? यह प्रश्न उनके कलापूर्ण ओर सुन्दर कपडे पहनने के विरुद्ध उठाये हुए प्राणपुरुष के प्रश्न से अधिक मूर्खतापूर्ण या अर्थहीन न होगा।
२७. २. १९३३

(२)

प्रश्न—चाहे माताजी सुंदर साड़ियां पहनें या मामूली, चाहे महल में रहें या जंगल में, इससे क्या उनकी चेतना में कोई अंतर पड़ता है? भला आंतरिक सद्वस्तु में ये बाहरी चीजें क्या जोड़ सकती हैं? संभवतः उसे घटाने का ही कारण बनती होंगी।

उत्तर—बाहरी चीजें आंतर सद्वस्तु के अंदर की ही किसी चीज की अभिव्यक्ति होती हैं। सुंदर साड़ी या महल वस्तुओं में विद्यमान सौंदर्य-तत्त्व की अभिव्यक्तिया है और यही उनका

प्रधान मूल्य है। भागवत चेतना इन सब चीजों से बंधी हुई नहीं है और न उसमें कोई आसक्ति है; परंतु, यदि वस्तुओं में विद्यमान सौंदर्य भी उसके अभीप्सित कर्म का अंग हो तो वह इन सब चीजों से विरत होने के लिये भी बाध्य नहीं है। जब आश्रम अभी बना नहीं था तब माताजी पैवंद लगी हुई सूती साड़ियां पहनती थीं। जब उन्होंने काम का भार लिया तब यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी आदतों को बदलें और इसीलिये उन्होंने ऐसा किया। २२. १०. १९३५

समुचित अभिव्यक्ति के लिये श्रीमां की स्वीकृति

तुम यह क्यों समझते हो कि माताजी अभिव्यक्ति के लिये स्वीकृति नहीं देतीं–बशर्ते कि वह समुचित चीज की समुचित अभिव्यक्ति हो;–अथवा यह क्यों मान लेते हो कि निश्चल-नीरवता और सच्ची अभिव्यक्ति परस्पर-विरोधी चीजें हैं? सच पूछा जाय तो सबसे *सच्ची अभिव्यक्ति अखंड आंतर निश्चल-नीरवता में से ही आती है। आध्यात्मिक* निश्चल-नीरवता महज शून्यता–खालीपन ही नहीं है; और न उसे पाने के लिये समस्त क्रियाकलाप से दूर हटना ही अनिवार्य है।

माताजी द्वारा भारतीय संगीत का मूल्यांकन

तुम्हारे इस विचार से अधिक विचित्र भला और कौन सी बात हो सकती है कि माताजी केवल यूरोपियन संगीत पसंद करती हैं और भारतीय संगीत को न तो पसंद करती हैं न उसे कोई मूल्य देती हैं–वह या तो उसे पसंद करने का महज दिखावा करती हैं या उसे योंही होने देती हैं जिसमें लोग निरुत्साहित न हों! याद रखो कि माताजी ही हैं जिन्होंने बराबर तुम्हारे संगीत की प्रशंसा की है और उसका समर्थन किया है और तुम्हारे पीछे अपनी शक्ति प्रयुक्त की है जिसमें कि तुम्हारा संगीत आध्यात्मिक परिपूर्णता और सौंदर्य की ओर विकसित हो। मैंने केवल तुम्हारे काव्य में और उसकी बारीकियों में सबसे अधिक तुम्हें सहायता दी; माताजी केवल साधारण शक्ति के द्वारा ही उसमें सहायता दे सकीं क्योंकि वह मूल कविताओं को नहीं पढ़ सकती थीं (यद्यपि अनुवाद में उन्हें वे बहुत सुंदर लगीं), पर संगीत में बात ठीक इसके विपरीत हुई है। निश्चय ही तुम यह नहीं कह सकते कि इन सब बातों को तुमने अनुभव नहीं किया। और 'अ' के विकास की बात? वह भी भारतीय संगीत था, यूरोपियन नहीं। और फिर मैं जब तुम्हारे संगीत की प्रशंसा तुम्हें लिखता हूं तब क्या तुम यह समझते हो कि मैं केवल अपनी ही राय प्रकट करता हूं? अधिकांश समय हम दोनों के भावों को प्रकट करने के लिये मैं केवल उन्हीं के शब्दों का व्यवहार करता हूं।

२०. १२. १९३२

साधकों के साथ व्यवहार करने के माताजी के अलग-अलग तरीके

(१)

तुमने अपने गाने की बात लिखी है। तुम अच्छी तरह जानते हो कि हम लोग उसे मंजूर करते हैं, और मैंने बराबर जोर दिया है कि तुम्हारे लिये उसकी और साथ ही तुम्हारी कविता की भी आवश्यकता है। परंतु माताजी ने 'अ' के गाने की एकदम मनाही कर दी है। अतएव तुम देखते हो कि संगीत के विषय में कुछ लोगों के लिये तो वह उदासीन है या उसे निरुत्साहित भी करती हैं, दूसरों के लिये, जैसे 'ब', 'स' तथा अन्य लोगों को उसकी अनुमति देती हैं। कुछ दिनों तक उन्होंने सामूहिक वाद्यों (concerts) को प्रोत्साहित किया, फिर पीछे उन्होने उन्हें बंद कर दिया। तुमने 'स' के लिये की गयी मनाही और सामूहिक वाद्यों को बंद कर देने से यह सिद्धांत निकाला है कि माताजी को संगीत पसंद नहीं है अथवा भारतीय संगीत पसंद नही है अथवा उनके विचार में संगीत साधना के लिये बुरा है, तथा उसी ढंग की अन्यान्य नाना प्रकार की अद्भुत मानसिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। माताजी ने 'अ' को इस कारण मना किया कि जहां संगीत तुम्हारे लिये अच्छा था वहां वह 'अ' के लिये आध्यात्मिक विष था—ज्योंही उसने संगीत तथा श्रोताओं का विचार करना शुरू किया त्योंही उसकी प्रकृति का सब प्रकार का भद्दापन और अनाध्यात्मिकता (अध्यात्मविरोधी भाव) ऊपर उठ आयी। तुम देख सकते हो कि वह अब उसके द्वारा क्या कर रहा है। फिर, वही बात, यद्यपि थोड़े परिवर्तन के साथ, सामूहिक वाद्यों की है। उन्होंने उन्हें इस कारण बंद कर दिया कि उन्होंने देखा कि विरोधी शक्तियां वातावरण में आ रही हैं, जिनका स्वयं संगीत से कोई संबंध नहीं है; इसमें उनका उद्देश्य मानसिक नहीं था। ऐसे ही कारणों से वह 'द' की तरह के बड़े सार्वजनिक प्रदर्शनों से अलग हो गयीं। दूसरी ओर, उन्होंने टाउन हाल में चित्रों की प्रदर्शनी का समर्थन किया और स्वयं उसकी योजना बनायी। अतएव तुम देखोगे कि यहां कोई मानसिक नियम नहीं है, बल्कि प्रत्येक प्रसंग में पथप्रदर्शन आध्यात्मिक कारणों से निर्धारित होता है जो कठोर नही हैं। इसमें दूसरा कोई विचार नहीं, कोई नियम नहीं; संगीत, चित्रकला, कविता और दूसरी बहुत सी प्रवृत्तियां, जो मन और प्राण की हैं, आध्यात्मिक विकास या कार्य के अंग के रूप में और आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये व्यवहृत हो सकती हैं: "यह उस मनोभव पर निर्भर करता है जिसके साथ ये चीजें की जाती हैं।"

यह बात स्थापित हो जाने पर, ये चीजें व्यक्ति के मनोभाव, उसकी प्रकृति, उसकी प्रकृति की आवश्यकताओं, अवस्थाओं और परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।

(२)

यह माताजी का कार्य है। केवल वही कह सकती है कि लोगों के साथ व्यवहार करने का कोन सा तरीका ठीक है। यदि उन्हे मनुष्यों के दोषों के अनुसार उनके साथ व्यवहार करना पड़े तो आश्रम में मुश्किल से आधा दर्जन लोग रह जायेंगे।
२६. ३. १९३४

(३)

माताजी दिव्य सत्य के अनुसार और प्रत्येक स्वभाव की और प्रकृति के प्रत्येक स्तर की आवश्यकता के अनुसार साधना करती है। यह कोई सुनिश्चित पद्धति नहीं है।
१३. ९. १९३३

(४)

वस, अपनी निजी उन्नति की ही वात सोचो और उस विषय में माताजी तुम्हे जो पथ दिखाती है उसी का अनुसरण करो। दूसरो को भी वस वैसा ही करने दो; श्रीमा उनकी आवश्यकता ओर उनकी प्रकृति के अनुसार उन्हें पथ दिखाने और सहायता करने के लिये मौजूद है। अगर दूसरों के साथ लिया हुआ मार्ग तुम्हारे साथ लिये हुए मार्ग से भिन्न या उलटा प्रतीत हो तो इससे कुछ भी नही आता-जाता। उनके लिये वही ठीक पथ है जैसे कि यह तुम्हारे लिये ठीक है।
२५. १०. १९३२

(५)

माताजी वहुत अधिक तेज और चुभते हुए शव्दो में उन्ही लोगों को कुछ कहती या लिखती है जिन्हें वह तेजी से योगमार्ग मे आगे वढ़ाना चाहती है, क्योकि वे इसके योग्य होते है, और वे दवाव ओर स्पष्टता के कारण न तो नाराज होते है न दु.खी, वल्कि प्रसन्न होते है, क्योकि वे अनुभव से यह जानते है कि इससे उन्हे अपनी वाधाओ को देखने और उनमे परिवर्तन ले आने मे सहायता मिलती है। यदि तुम तेजी से उन्नति करना चाहो तो तुम्हे अभिमान, दु.ख, आहत भाव, आत्मस्थापन के लिये तर्क की खोज, मुक्त करने के लिये दिये गये स्पर्श के विरुद्ध चिल्लाहट आदि की इस प्राणगत प्रतिक्रिया से छुटकारा पाना होगा—कारण, जब तक ये सव चीजें तुम्हारे अदर है तव तक ाण-प्रकृति द्वारा पैदा की हुई बाधाओ के ऊपर स्पप्ट और दृढ रूप मे कार्य करना हमारे लिये कठिन है।

तुम्हारे और 'अ' के वीच के भेद के विपय में: माताजी ने जो तुम्हे चेतावनी दी थी कि अत्यधिक वातचीत करना, अनाप-शनाप वातें और गप्पें हाकना, सामाजिक बातों

अपने-आपको बिखेर देना अच्छा नहीं, वह चेतावनी पूरा मानें रखती थी और अब भी ठीक है; जब तुम इन सब चीजों में संलग्न होते हो तब तुम अपने-आपको एक बहुत तुच्छ और अज्ञानपूर्ण चेतना में फेंक देते हो जिसमें तुम्हारे प्राणगत दोष खुले रूप में कार्य करते हैं और इस कारण अपनी आंतर चेतना में तुमने जो कुछ विकसित किया है उसमें से तुम्हारे बाहर निकल आने की संभावना हो जाती है। इसी कारण हमने कहा था कि 'अ' के यहां जाने पर तुमने यदि इन चीजों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया अनुभव की थी तो वह तुम्हारे अंदर—तुम्हारी प्राणिक और स्नायविक सत्ता में चैत्य वेदनशीलता के आने का चिह्न थी, और हमारा मतलब था कि वह सब अच्छे के लिये था। परंतु दूसरों के साथ व्यवहार करते समय, इन चीजों से अलग होने के समय तुम्हें किसी श्रेष्ठता की भावना को अपने अंदर नहीं घुसने देना चाहिये, न अपने व्यवहार या भाव के द्वारा उनके ऊपर अस्वीकृति या दोषारोपण का भाव लादना चाहिये और न बदलने के लिये उनपर दबाव ही डालना चाहिये। इन चीजों से जो तुम पीछे हटते हो यह तुम्हारी अपनी व्यक्तिगत आंतरिक आवश्यकता के लिये है, बस इतना ही। उनका जहां तक प्रश्न है, इन विषयों में वे जो कुछ, सही या गलत, करते हैं वह या तो उनका अपना मामला है, या हमारा। हम उस समय उनके लिये जो आवश्यक और संभव समझते हैं उसी के अनुसार उनके साथ व्यवहार करेंगे, और इस उद्देश्य के लिये हम केवल विभिन्न लोगों के साथ विभिन्न रूपों में ही व्यवहार नहीं करते, न सिर्फ यह कि एक को वह काम करने देते हैं जिसे दूसरों के लिये मना किया करते हैं, बल्कि उसी मनुष्य के साथ विभिन्न समयों पर विभिन्न रूपों में भी व्यवहार कर सकते हैं, आज वह चीज करने देंगे या उसके लिये उत्साहित भी करेंगे जिसके लिये कल मनाही कर देंगे....। मानव प्राणी और प्रकृति के साथ ऐसे मानसिक नियमों के द्वारा व्यवहार नहीं किया जा सकता जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये एकसमान लागू हों। अगर ऐसा होता तो फिर गुरु की अवश्यकता ही न होती, प्रत्येक आदमी सैंडो (Sandow) के व्यायाम के नियमों की तरह अपने सामने यौगिक नियमों का अपना चार्ट (chart) रख लेता और जब तक पूर्ण सिद्ध नहीं हो जाता तब तक उनका अनुसरण करता रहता।

२५. १०. १९३२

महाकाली की पद्धति का माताजी द्वारा व्यवहार

(१)

ये सभी चीजें निर्भर करती हैं व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितियों के ऊपर। तुमने जिस पद्धति की बात लिखी है उसका अर्थात् महाकाली की पद्धति का उपयोग माताजी करती हैं—

(१) उन लोगों के लिये जिनमें उन्नति करने की महान् उत्सुकता होती है और जिनके प्राण तक में, कहीं-न-कहीं मूलगत सच्चाई होती है;

(२) उन लोगों के लिये जिनके साथ वह घनिष्ठतापूर्वक मिलती है और जो, वह जानती है कि, उनकी कठोरता से असंतुष्ट नही होंगे या उसका गलत अर्थ नहीं समझेंगे अथवा यह नही मान बैठेंगे कि माताजी ने उनकी ओर से अपनी दयालुता या कृपा हटा ली है, बल्कि उसे सच्ची कृपा और अपनी साधना के लिये एक सहायता स्वीकार करेंगे।

फिर दूसरे लोग है जो इस पद्धति को बर्दाश्त नहीं कर सकते—अगर उसे जारी रखा जाय तो वे गलतफहमी के अंदर हजारों मील दूर भाग जायेंगे, विद्रोह करेंगे और निराश हो जायेंगे। माताजी लोगों के लिये बस यही चाहती हैं कि उन्हें अपने अंतरात्मा के लिये पूरा-पूरा सुयोग प्राप्त हो, फिर पद्धति चाहे छोटी और तेज हो या लंबी और टेढ़ी-मेढ़ी। प्रत्येक मनुष्य के साथ उन्हें उसके स्वभाव के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

९. ५. १९३३

(२)

यदि तुम माताजी की डांट-डपट से डरते हो तो तुम उन्नति कैसे करोगे? जो लोग शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं वे महाकाली की मार तक का स्वागत करते है, क्योंकि वह उन्हें अधिक तेजी के साथ योगमार्ग पर धकेल ले जाती है।

श्रीमां की कार्यविधि

तुमने यह मांग पेश की है कि माताजी को प्रत्येक चीज के विषय में योजना बनाकर तुम्हारे लिये एक कार्यक्रम निश्चित कर देना चाहिये जिसका तुम अवश्यमेव पालन करो; पर उस मांग को पूरा करने में कठिनाई यह है कि अधिकांश विषयों में श्रीमां का कार्य करने का तरीका इसके एकदम विरुद्ध है। अत्यंत भौतिक विषयों में तुम्हें एक कार्यक्रम बनाना होता है जिसमें समय का ठीक-ठीक उपयोग किया जा सके, नही तो सब कुछ गोल-माल और अनिश्चयता का एक सागर बन जाता है। भौतिक वस्तुओं की व्यवस्था के लिये भी बंधे-बंधाये नियम बनाने पड़ते हैं जब तक कि लोग इतनी काफी मात्रा में विकसित न हो जायं कि बिना नियम के ही वे ठीक-ठीक ढंग से उनके साथ व्यवहार कर सकें। परंतु जिन सब चीजों के विषय में तुमने लिखा है वे एकदम भिन्न हैं; उनका संबंध तुम्हारे अपने आंतर विकास से, तुम्हारी निजी साधना से है। सच पूछा जाय तो बाहरी चीजों के विषय में भी श्री माताजी अपने मन के द्वारा कोई योजना नहीं बनाती और जो कुछ करना है उसका कोई मानसिक नक्शा और नियम नहीं बनाती; वह बस यह देखती हैं कि प्रत्येक मनुष्य के लिये क्या करना उचित है और फिर प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव के अनुसार उसे व्यवस्थित और विकसित करती हैं। और आंतरिक विकास और साधना के विषय में तो यह और भी अधिक असंभव है कि पूरे-पूरे ब्योरे के साथ एक

सुनिश्चित योजना तैयार कर ली जाय ओर यह कहा जाय कि "सर्वदा तुम यहा, वहां, इस ढंग से पैर रखना अथवा यही लकीर है और दूसरी कोई नही।" तव तो चीजे इतनी अधिक वंध जायंगी और कठोर हो जायंगी कि कुछ भी करना सभव नही होगा; कोई भी सच्ची और उपयोगी क्रिया नही हो सकेगी।

अगर श्रीमां ने तुमसे यह कहा था कि तुम उन्हे प्रत्येक वात वतलाते रहना तो यह इसलिये नही कहा था कि वह प्रत्येक व्योरे के साथ तुम्हें निर्देश देती रहेगी और तुम्हे उसे मानकर चलना होगा। यह तो इसलिये कहा गया था कि, इससे एक पूर्ण घनिष्ठता उत्पन्न हो सकेगी जिसमें तुम उनकी ओर संपूर्ण रूप से उद्घाटित होगे ओर इस तरह वह तुम्हारे अदर अधिकाधिक और लगातार तथा प्रत्येक मोके पर भागवत शक्ति ढाल सकेंगी जो तुम्हारे अदर ज्योति वढ़ायेगी, तुम्हारे कार्य को पूर्ण वनायेगी, तुम्हारी प्रकृति को मुक्त और विकसित करेगी। वस यही वात महत्त्वपूर्ण है; अन्य सव चीजे गौण हैं; केवल उतने ही अंश में महत्त्वपूर्ण हैं जितने अंश में वे इस वात में सहायता करती अथवा वाधा डालती हैं। इसके अतिरिक्त, यह वात उन्हें इस विषय में सहायता करेगी कि जहां कही आवश्यकता हो वहां वह आवश्यक निर्देश, आवश्यक सहायता या चेतावनी दे सकें, अवश्य ही वरावर शब्दों के द्वारा नही, वल्कि अधिकांश में मौन हस्तक्षेप ओर दवाव के द्वारा। यही उन लोगों के साथ उनका कार्य करने का तरीका है जो उनकी ओर खुले हुए हैं; यह कोई जरूरी नही है कि प्रत्येक मुहूर्त्त ओर प्रत्येक व्योरे में साफ-साफ हुक्म दिया जाय। विशेषकर, अगर चैत्य चेतना उद्घाटित हो और साधक पूरी तरह उसमें निवास करता हो तो वह तुरत सूचनाएं पकड़ लेती, चीजों को स्पष्ट रूप में देखती ओर सहायता, हस्तक्षेप, आवश्यक निर्देश या चेतावनी को ग्रहण करती हैं। वास्तव में यही वहुत अधिक मात्रा में उस समय हो रहा था जव कि, तुम्हारी चैत्य चेतना खूव सक्रिय थी, परंतु तुम्हारे प्राण का एक भाग ऐसा था जिसमें तुम खुले हुए नही थे और जो वार-वार ऊपर उठ आता था, और वस इसी ने गोलमाल ओर उपद्रव उत्पन्न किया है।

प्रत्येक चीज आंतरिक अवस्था पर निर्भर करती है, और वाहरी क्रिया आतरिक अवस्था को प्रकट या पुष्ट करने ओर उसे सक्रिय और फलदायी वनाने के लिये केवल एक साधन और सहायता के रूप में ही उपयोगी होती है। अगर तुम कोई चीज ऊर्ध्वतम चैत्य चेतना से अथवा ठीक-ठीक आंतरिक स्पर्श वनाये रखकर करो या कहो तो वह फलोत्पादक होगी; अगर तुम उसी चीज को अपने मन से या प्राण से या किसी अनुचित या मिश्रित वातावरण में करो या कहो तो वह विलकुल वेकार हो सकती है। किसी उचित कार्य को प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक मुहूर्त्त में उचित ढंग से करने के लिये मनुष्य को यथार्थ चेतना में रहना होगा—उसे कोई ऐसे कठोर मानसिक नियम का अनुसरण करके नही कर सकता जो किसी परिस्थिति में तो ठीक निकले और दूसरी परिस्थिति में एकदम वेकार सावित हो। एक

साधारण सिद्धांत निश्चित किया जा सकता है अगर वह सत्य के साथ मेल खाता हो, पर उसके व्यवहार का निर्णय तो आंतर चेतना के द्वारा पग-पग पर यह देखते हुए ही करना होगा कि क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये। अगर चैत्य पुरुष सबसे ऊपर हो, अगर पूरी सत्ता संपूर्ण रूप से श्रीमां की ओर मुड़ी हो और चैत्य पुरुष का अनुसरण करती हो तो फिर अधिकाधिक मात्रा में ऐसा किया जा सकता है।

अतएव सब कुछ साधना में अनुसरण करने योग्य किसी मानसिक नियम पर निर्भर नहीं करता, बल्कि चैत्य चेतना को फिर से प्राप्त करने और उसकी ज्योति को इस प्राणमय भाग पर डालने और उस भाग को पूर्णतः श्रीमां की ओर मोड़ देने पर आश्रित है। बात यह नही है कि 'अ' के पास तुम्हारे बहुत अधिक जाने का प्रश्न कोई महत्त्व नही रखता–वह काफी महत्त्वपूर्ण है–पर संपर्क सीमित करना केवल तभी उपयोगी है जब कि पुरानी गतिविधियों की इस दासता से दूर हटने में तुम अपने इस प्राण-भाग को सहायता देने का उसे एक साधन बनाओ। यह एक ही बात सर्वत्र लागू होती है।

जिस प्रकार की बाहरी आज्ञाकारिता पर तुम जोर देते हो और प्रत्येक ब्योरे में एक निर्देश चाहते हो–वह सब आत्मसमर्पण का मूल स्वरूप नही है, यद्यपि आज्ञाकारिता आत्मसमर्पण का स्वाभाविक फल और बाहरी शरीर है। आत्मसमर्पण भीतर से होता है और उसके लिये मन, प्राण और शरीर को, सबको माताजी की ओर खोल देना और उन्हीं को दे देना होता है ताकि वह उन्हें अपनी निजी वस्तु के रूप में ग्रहण करें और उन्हे उनके उस सच्चे स्वरूप मे फिर से गढ़ सकें जो कि भगवान् का एक अंश है; बाकी सब चीजें इसके परिणामस्वरूप आती हैं। उस समय प्रत्येक ब्योरे में उनसे कोई बाहरी संदेश या आज्ञा मागने की आवश्यकता न होगी, सारी सत्ता ही उनकी इच्छा के अनुसार अनुभव करेगी और कार्य करेगी; उनकी अनुमति उस समय बस उस आतर एकत्व के ऊपर, उनकी इच्छा की ग्रहणशीलता और आज्ञाकारिता के ऊपर मुहर-छाप के रूप में ही मांगी जायगी।

११. ६. १९३२

सत्य के प्रति माताजी का भाव

(१)

माताजी ने सुना कि 'अ' ने कमरे के अंदर तुम्हारे काम करने के विषय में आपत्ति की थी, परंतु उन्होने उसे यह कहकर टाल दिया कि उसका कोई महत्त्व नही हो सकता। उस आपत्ति का माताजी के निर्णय के साथ कोई संबंध नही; वह निर्णय तो उससे एकदम स्वतंत्र अन्य कारणों से किया गया था।

झूठ झूठ ही है उसे चाहे जो भी बोले। अन्य लोग जो कुछ समझते या कहते है उसे यदि तुम मूल्य देने लगो और माताजी की किसी क्रिया के बारे मे उन लोगों के बताये हुए उद्देश्य

को तो सच मानो और अपने उद्देश्य के विषय में कही हुई माताजी की बात को असत्य मानो और किसी दूसरे की बात को, जो सच को जान ही नहीं सकता, पक्का और सच्चा समझो और उसके आधार पर माताजी पर स्पष्टवादिता के अभाव का दोषारोपण करो तो क्या उससे उत्पन्न कठिनाई के लिये हम दोषी हैं? यह प्रश्न वक्तव्यों या साधकों की व्याख्याओं, या अपने मन की जल्दबाजी-भरी मान्यताओं या अनुमानों, या आवश्यक सूचना प्राप्त किये बिना अपने प्राण-पुरुष के वेदनों पर विश्वास रखने की अपेक्षा कहीं अधिक माताजी पर विश्वास रखने का है। यदि तुम इस स्वभाव से छुट्टी पा जाते तो सारी बातें बहुत अधिक आसान हो जातीं।

१५. ५. १९३६

(२)

प्रश्न—मैंने यह समझकर माताजी के निर्णय का अर्थ किया था कि वह एक उच्चतर उद्देश्य को सामने रखकर कार्य करती हैं जो मुझे बताये हुए उनके उद्देश्य से भिन्न है। मैंने समझा था कि यह उनका काम करने का अतिमानवोचित तरीका है, मैंने उसे असत्य नहीं माना था। भला आपका सूत्र "झूठ झूठ ही है" सबपर कैसे लागू हो सकता है? यह तो केवल उन्हीं लोगों पर लागू हो सकता है जो कि नैतिक या सामाजिक विधि-विधानों से बंधे हुए हैं अथवा यदि उद्देश्य ही खराब हो तो, केवल सिद्धांततः बंधे हुए हैं। अगर उच्चतर उद्देश्य किसी चीज को छिपाने या शब्दों द्वारा अशुद्ध रूप में व्यक्त करने की मांग करे तो मैं उसे शायद ही झूठ कह सकूं। मेरा ख्याल है कि कृष्ण ने सर्वदा ठीक-ठीक सत्य बातें नहीं कहीं और उनकी कहानियां सुननेवाले सभी लोगों में उनकी अध-झूठी बातें प्रायः ही समझदारी की हंसी पैदा करती हैं।

उत्तर—यदि माताजी कोई काम एक कारण से करें और उससे एकदम भिन्न कारण से, जो सचमुच उनका कारण नहीं था, उसे किया हुआ बतलावें तो मैं यह नहीं समझ पाता कि यह बात मिथ्यापन के अतिरिक्त और दूसरी चीज कैसे हो सकती है। कोई अतिमान-बोचित उद्देश्य मिथ्यापन का मिथ्यापन होना दूर नहीं कर सकता। और फिर, तुम यदि सचमुच यह विश्वास करो कि भगवान् जो बात सत्य नहीं है उसे, उसके झूठ हुए बिना, कह सकते हैं और ऐसा करना भगवत्ता का एक अंग है, तो फिर जब तुम यह समझते हो कि माताजी ने ऐसा किया है तब भला तुम नाराज क्यों हो जाते हो, जिसे तुम अपने प्रति किया गया उनका अन्याय और कपटपूर्ण व्यवहार समझते हो उसके लिये तुम दुःखी और क्रुद्ध क्यों होते हो और यह रोना क्यों रोते हो कि उन्हें साफ-साफ कहना चाहिये था आदि-आदि? उसके बदले बल्कि तुम्हें यह समझना चाहिये था कि वह अतिमानवोचित उद्देश्यों से ऐसा कर रही हैं और जो कुछ वह करें उसे प्रसन्नता से स्वीकार करना चाहिये

था। कम-से-कम ऐसी अवस्था में यही न्यायसंगत बात मालूम होती है।

तुमने स्पष्ट ही इस बात को अपना आधार बनाया है कि भागवत चेतना अच्छाई और बुराई से ऊपर है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि वह तटस्थ रहकर बुरा और भला किया करती है। इसका बस यही अर्थ हो सकता है कि वह एक ज्योति के द्वारा कार्य करती है और वह ज्योति मानवचेतना के उस स्तर के परे होती है जो इन चीजों के विषय में मानवीय मानदंड निश्चित करता है। मनुष्य जिस बाहरी अच्छाई का अनुसरण करता है उससे कहीं महान् अच्छाई के लिये और उसके द्वारा वह कार्य करती है। फिर मनुष्य जिस सत्य की कल्पना करते हैं उससे कहीं अधिक महान् सत्य के अनुसार वह कार्य करती है। यही कारण है कि मनुष्य का मन भागवत कर्म और उसके उद्देश्यों को नहीं समझ सकता—उसे सबसे पहले एक उच्चतर चेतना में ऊपर उठना चाहिये और भगवान् के साथ आध्यात्मिक संपर्क या एकत्व प्राप्त करना चाहिये। परंतु इस बात को यदि कोई स्वीकार करे तो फिर वह अपने मानवीय मन द्वारा और अपने मानवीय दृष्टिकोण से भागवत कार्य का विचार नहीं कर सकता। ये दोनों बातें एकदम असंगत होंगी।

परंतु यह किसी ऐसी व्याख्या के अधीन नहीं आता। झूठे उद्देश्य का दोषारोपण करना किसी महत्तर सत्य और चेतना का कार्य नहीं हो सकता। मौन रहना और अपने उद्देश्य को प्रकट न करना एक बात है—यह कहना कि मैंने उस उद्देश्य से काम नहीं किया जब कि वास्तव में मैंने वैसा ही किया, मौन नहीं है, वह मिथ्यापन है। यह विषय नैतिक दृष्टि से नहीं वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। माताजी सत्य का पूरा ख्याल रखती हैं और उन्होंने बराबर ही यह कहा है कि असत्य-भाषण और मिथ्याचार सिद्धि के मार्ग में भीषण बाधा उत्पन्न करते हैं। फिर भला वह स्वयं ऐसा कैसे कर सकती हैं?

कृष्ण की कही कोई असत्य या अर्द्ध-सत्य बात मुझे याद नहीं, इसलिये उस विषय पर मैं कुछ नहीं कह सकता। परंतु महाभारत या भागवत के अनुसार उन्होंने ऐसा किया भी हो तो हम लोग न तो उस लेख से और न उस आदर्श से ही बंधे हुए हैं। मैं समझता हूं राम और बुद्ध ने कोई झूठ बात नहीं कही।

१७. ५. १९३६

(३)

यदि इस बंधन से तुमने अपनेको मुक्त कर लिया है तो यह अच्छा ही है। सत्य के प्रति प्रेम होना दिव्य गुण है, परंतु इस तरह का सत्य बहुत मिलावटी माल होता है और उसके साथ कठोरता या भीषण क्रोध लगा होता है। सत्य उच्चारित शब्द के साथ अंधभाव से दृढ़ बने रहने पर आग्रह नहीं करता—उदाहरणार्थ, एक आदमी को यह धारणा हो जाती है कि दूसरे आदमी ने उसके प्रति घोर अपराध किया है और वह दूसरे से कहता है

कि वह उसे मार डालेगा और पीछे जब वह जान लेता है कि दूसरा निर्दोष है और उसने कोई अपराध नही किया तो भी वह अपने वचन को कार्यान्वित करता है। यदि कहे हुए शब्द पर अक्षरशः दृढ़ बने रहने का, सिद्धांत के रूप में ठीक-ठीक ग्रहण किया जाय तो उसका यही मतलब होगा। परंतु सत्य, इसके विपरीत, यह मांग करता है कि मनुष्य केवल वस्तुओं में विद्यमान सत्य के तत्त्व से ही चिपका रहे, और, ऊपर के उदाहरण में, सत्य के तत्त्व की माग यह होगी कि उसे अपना प्रण तोड़ देना चाहिये, उसे पूरा नही करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य ऐसी किसी चीज की प्रतिज्ञा करे जो प्रेम और करुणा के तत्त्व के विरुद्ध हो, या भगवान् के प्रति आज्ञाकारिता ओर समर्पण के भाव के विरुद्ध हो तो उस प्रतिज्ञा का पालन करना सत्य नही है–क्योकि वह तो मिथ्यापन का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा होगी–और भला सत्य को मिथ्यापन का भक्त कैसे बनाया जा सकता है? वह तो दिव्य नही बल्कि आसुरिक सत्यवादिता होगी।

माताजी का जहां तक प्रश्न है, उनके अंदर एक बार बनायी हुई व्यवस्था के प्रति इस प्रकार की अंधी आसक्ति नही पायी जाती। उदाहरणार्थ, यदि उन्होने किसी से कहा, दूसरी बार यदि तुम किसी भी रूप में काम-वासना के शिकार हुए तो तुम्हे आश्रम छोड़कर चले जाना पडेगा, और यदि वह आदमी शिकार हो गया पर उसने पश्चात्ताप किया तो हो सकता है कि वह भी नर्म हो जायं ओर अपनी धमकी के अनुसार कार्य करने का आग्रह न करें। लोगों से मिलने की जो बाते है वे कोई प्रतिज्ञाएं, शर्तनामे या निश्चित कार्यक्रम नही है,–वे केवल व्यवस्थाएं है और बदली जा सकती है। यदि उन्होने आधे घंटे के लिये व्यवस्था की है तो वह उसे तीन-चौथाई घंटा भी दे सकती है–अथवा उसे घटाकर बीस मिनट का भी कर सकती है। समय की गति में एक प्रकार की नमनीयता की आवश्यकता है और जीवन का अभ्यास उसका अपनी गति में कठोर होना नही सहन कर सकता, अन्यथा जीवन या तो महज एक यंत्र मे परिणत हो जायगा या टुकड़े टुकड़े हो जायगा। परंतु इस प्रसंग में कोई इरादा नही था; वह विशुद्ध आकस्मिक घटना थी; किसी प्रमादवश तुम्हारा नाम सवेरे की लिस्ट में नही लिखा गया और लिस्ट के आदमी जब खतम हो गये तो माताजी दरवाजे पर चली आयी। वह फिर वापस नही जा सकी, क्योकि बहुत अधिक देर हो चुकी थी और वह बड़ा लंबा तथा थकानेवाला प्रातःकाल था जो विरोधी शक्तियो के साथ निरंतर संघर्ष करने में बीता था और उन्हें भीतर आना था, जो कुछ अभी करना बाकी था उसे करना था तथा मेरे पास आकर जो कुछ हुआ था उसकी रिपोर्ट मुझे देनी थी।

परंतु तुम्हारे लिये अज्ञात किसी कारणवश उन्होने जान-बूझकर भी वैसा किया हो तो भी तुम्हारी प्रतिक्रिया समुचित नही थी। क्योकि अपने योग के लिये तुमने जो आधार ग्रहण किया है वह है दिव्य इच्छा का अनुसरण करना, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। ये

चीजें–ऊपर से आकस्मिक मालूम होने पर भी–तभी घटती हैं जब वे पहले से ही निर्धारित होती हैं ओर वे प्राण-सत्ता के किसी भाग के लिये, जिसे इस दु:खदायी प्रक्रिया के द्वारा परिवर्तन स्वीकार करना होता है, एक अग्निपरीक्षा के रूप में आती हैं।
२८. ९. १९३३

मन के द्वारा माताजी के कार्यों का विचार करने की निरर्थकता

(१)

स्पष्ट ही है। न तो प्रकृति न भवितव्यता और न भगवान् ही मानसिक तरीके से या मन के नियम या उसके मानदंडों के अनुसार काम करते हैं–यही कारण है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक को भी प्रकृति, नियति, भगवान् की पद्धति सबमें एक रहस्य-सा प्रतीत होता है। माताजी मन के द्वारा कार्य नहीं करतीं, अतएव मन के द्वारा उनके कार्य का विचार करना निरर्थक है। ५. ५. १९३६

(२)

श्री माताजी अपने शिष्यों के साथ इन सब मानसिक समस्याओं पर बहस नहीं करतीं। बुद्धि के साथ इन सब बातों का मेल बैठाने की चेष्टा करना बिलकुल व्यर्थ है। क्योंकि, यहां दो बातें हैं, एक तो है अज्ञान जिससे संघर्ष और असामंजस्य उत्पन्न होते हैं और दूसरी है गुप्त ज्योति, एकता, आनंद और सामंजस्य। बुद्धि अज्ञान की चीज है। केवल एक अधिक अच्छी चेतना में प्रवेश करने पर ही कोई ज्योति, आनंद और एकत्व में निवास कर सकता है और बाहरी असामंजस्य और संघर्ष से अछूता रह सकता है। अतएव चेतना का वह परिवर्तन ही एकमात्र चीज है जो मूल्य रखती है, बुद्धि के साथ मेल बैठाने से कुछ भी अंतर नहीं पड़ेगा।

माताजी के शब्दों को गलत रूप में पेश करना

केवल 'अ' ही नहीं, बल्कि बहुतेरे या अधिकांश लोग ऐसे हैं जो इस तरह (माताजी द्वारा कही हुई) बातों को बदल देते हैं–यह मानव-प्रकृति की प्रायः विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। बेईमानी के कारण वह या अन्य लोग ऐसा नहीं करते–बल्कि इसलिये करते हैं कि जब वे सुनते हैं तब उनका मन शांत नहीं होता, बल्कि सक्रिय होता है और उनके मन का विचार उनकी सुनी हुई बात के साथ मिल जाता है और वह उसे दूसरा ही मोड़ या आकार या रंग दे देता है। बहुत बार प्राण भी हस्तक्षेप करता है और अपनी कामना या सुविधा के अनुसार उसे अतिरंजित करता या नये रूप में ढाल देता है। ऐसा बहुत अधिक अंश में सचेतन की अपेक्षा अचेतन रूप में ही होता है।

श्री माताजी और आश्रम का कार्य

वर्तमान प्रसंग में, माताजी ने बिलकुल साधारण रूप में ही बात की थी, न तो 'य' के विषय में कुछ कहा था न 'ज' के विषय में घटित बात के विषय में। उनके कहने का मतलब यह था कि जो कुछ याद रहना चाहिये वह याद नहीं रहता, क्योंकि कोई प्रबल तात्कालिक कामना स्मृति-शक्ति को तब तक पीछे ढकेल रखती है जब तक कि वह पूरी नहीं हो जाती, और, स्मृति यदि आये तो, वह केवल उसके बाद ही आती है। स्पष्ट ही 'अ' ने अपने विचारों को जोड़ दिया, विशेषकर उसने 'य' के कार्य के ऊपर उसे प्रयुक्त किया और सोचा कि माताजी ने यह कहा है कि वैसा जान-बूझकर किया गया था—उसी को 'य' ने याद रखा और फिर अपनी कामना को पूरी करने के लिये वह सत्यसंबंधी अपने सचेतन बोध के विरुद्ध चली गयी। माताजी ने वह बात नहीं कही थी और न उनके साधारण कथन का वह अर्थ ही था। ३०. ३. १९३३

"सब कुछ माताजी से आने" के सिद्धांत के खतरे

तुमने जो कुछ लिखा है वह अपने-आपमें निरपवाद रूप में सच है—आरंभ में साधकों के सामने यह प्रस्ताव रखा भी गया था—किंतु निश्चित रूप से यहीं, प्रकृति के अंदर पूर्ण सच्चाई होने में ही कठिनाई भी है। थोड़े-से लोग इस अवस्था तक ऊपर उठने मे समर्थ हुए हैं और कुछ लोगों ने केवल सुदूर निकटता (यदि यह वर्णन स्वीकार किया जा सके) प्राप्त की है। अपूर्ण सच्चाई के अलावा भी एक कठिनाई यह है कि अहंभाव और कामना के द्वारा मस्तिष्क आच्छादित हो जाता है तथा यह कल्पना करने लगता है कि वह ठीक वही चीज कर रहा है जब कि वह कोई दूसरी ही चीज करता होता है। यही कारण है कि मैंने "सब कुछ माताजी के यहां से आने" के सिद्धांत के खतरे की बात कही थी। ऐसे लोग हैं जिन्हों-ने इस बात को इस प्रकार लिया है कि जो कुछ अहंकार या प्राण से आता है वह सब माताजी के यहां से आता है, उन्हीं की अंतःप्रेरणा होता है या उन्हीं का दिया हुआ होता है। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वतंत्र रूप में उसी पुरानी लीक पर चलने के लिये इसे एक बहाने के रूप में ग्रहण किया है और जो यह कहते हैं कि जब माताजी चाहेंगी तब सारी बातें बदल जायंगी! कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने इसी आधार पर अपने अंदर एक आंतरिक माताजी का निर्माण कर लिया, उसके आदेशों तथा अहंकार ओर कामना के बढावे को यहां पर विद्यमान माताजी के विरोधी आदेशों के मुकाबले रखा तथा यह समझने लगे कि ये बाहरी माताजी आखिरकार नयी हैं, सच्ची चीज तो वह भीतरी मा ही हैं अथवा यह मानने लगे कि माताजी आंतरिक आदेशों का विरोध करके हमारी अग्निपरीक्षा ले रही हैं और यह देख रही है कि हम क्या करते हैं। सत्य तो सत्य ही रहता है, परंतु मन और प्रकृति की विकृत करनेवाली इस शक्ति को भी दृष्टि में रखना चाहिये।
१७. १०. १९३६

माताजी का काम और समय

(१)

बात यह नहीं है कि तुम्हारी फ्रेंच भूलों से भरी होने के कारण माताजी उसे शुद्ध नहीं करतीं, बल्कि इस कारण नहीं करतीं कि मैं, जहां तक संभव हो, उन्हें अपने ऊपर अधिक कार्य नहीं लेने देता। अब भी रात को पूरा विश्राम लेने के लिये उनके पास समय नहीं है और प्रायः सारी रात उन्हे कापियों, रिपोर्टों और चिट्ठियों को लेकर, जो ढेर-की-ढेर उनके पास आया करती हैं, काम करना पड़ता है। फिर भी वह उन्हें सवेरे समय पर खतम नही कर पातीं। अगर उन सभी लोगों की, जिन्होंने अभी-अभी फ्रेंच में लिखना आरंभ किया है तथा अन्यान्य लोगों की भी, सभी चिट्ठियों को उन्हें शुद्ध करना पड़े तो इसका अर्थ होगा घंटा-दो घंटा और काम करना–फिर वह सवेरे ९ बजे तक ही कार्य समाप्त कर सकेंगी और साढ़े दस बजे नीचे उतरेंगी। अतएव मैं इसे बंद करने की चेष्टा कर रहा हूं।

(२)

माताजी समय के अभाव के कारण कभी चिट्ठियां खोलने या किसी दूसरे काम से नहीं कतरातीं; जब वह अस्वस्थ होती हैं या आराम करने के लिये उनके पास समय नहीं होता तो भी उनके पास जो भी काम आते हैं सबको पूरा करती हैं।

१५. २. १९३६

(३)

माताजी चाहती हैं कि जब वह छत पर घूमें तब लोग उनकी ओर न देखें, क्योंकि थोड़ी ताजी हवा खाने तथा शरीर के स्वास्थ्य के लिये थोडी हरकत करने की आवश्यकता के अतिरिक्त–केवल वही समय होता है जब वह स्वयं अपने ऊपर थोड़ी सी एकाग्रता कर सकती हैं। अगर उन्हें उतने अधिक लोगों की पुकार का प्रत्युत्तर देना पड़े तो फिर वह एकाग्रता नही हो सकती। बातचीत के लिये जो वह तुम्हें समय देती हैं वह एकदम दूसरी बात है; वह स्वयं उसकी व्यवस्था करती हैं और वह उनके कार्य का ही एक अंग है; अतएव उसे बदलने की कोई जरूरत नही। जो बात कही गयी थी वह केवल छत पर टहलने के विषय में थी।

(४)

लोगों से मुलाकात करने के लिये माताजी के पास बहुत थोड़ा समय है–उन्हें कितना काम करना पड़ता है! अतएव जब कोई प्रबल आवश्यकता आ पड़ती है केवल तभी वह मुलाकात करती हैं–जिन लोगों को उनके साथ काम करना होता है, उनकी बात अलग है।

माताजी से मिलने का ठीक तरीका

(१)

जब माताजी किसी के साथ मुलाकात करती हैं तब उनके पास जाने के लिये समुचित मनोभाव है अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से शांत-स्थिर बनाये रखना और मन की किसी क्रिया या प्राण की किसी कामना के बिना, केवल समर्पण-भाव तथा जो कुछ दिया जाय उसे स्वीकार करने के लिये चैत्यपुरुषोचित तत्परता के साथ ग्रहण करने के लिये खुले रहना।
२३. २. १९३२

(२)

जब कोई माताजी के पास आता है तब उसे इन सब चीजों को मन में लेकर नहीं आना चाहिये—बल्कि स्थिरता और ज्योति में एकमात्र उस चीज को उनसे लेने के लिये आना चाहिये जिसे कि वह आत्मसात् कर सके।
१०. ४. १९३४

(३)

तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि दूसरों के साथ इस प्रकार का भौतिक संस्पर्श स्थापित करना उनके (श्रीमा के) लिये महज एक सामाजिक या पारिवारिक संपर्क नहीं है जिसमें कुछ ऊपरी क्रियाएं हों और उन क्रियाओं से किसी प्रकार का कोई विशेष अंतर न पड़ता हो। वास्तव में उनके लिये इस संपर्क का अर्थ होता है एक प्रकार का आदान-प्रदान, अपनी शक्तियों को उनमें ढाल देना और उनसे आनेवाली अच्छी, बुरी या मिली-जुली चीजों को ग्रहण करना। इसके लिये बहुत बार उन्हें मेल बैठाने किंवा निकाल बाहर करने के लिये महान् प्रयास करना पड़ता है और बहुत से प्रसंगों पर, यद्यपि सभी प्रसंगों पर नहीं, उनके शरीर पर बहुत जोर पड़ता है।
१२. ११. १९३१

(४)

पहले से ही तुम यह निश्चय क्यों कर लेते हो कि तुम्हारा जन्मदिवस निरर्थक हो गया। तुम्हें बस इन बुरी भावनाओं और बोधों को दूर फेंक देना चाहिये जो बाहरी सत्ता के अभी अपूर्ण रूप से शुद्ध हुए अंश से आते हैं तथा तुम्हें वही उचित मनोभाव ग्रहण करना चाहिये जो तुम माताजी के पास-आते समय बराबर बनाये रखते हो। दूसरे क्या भाव रखते या नहीं रखते हैं इस विषय का कोई विचार नहीं आना चाहिये—तुम्हारा संबंध माताजी और तुम्हारे बीच का संबंध है और उसका दूसरों के साथ कोई मतलब नहीं। स्वयं अपने

और भगवान् के सिवा और किसी चीज का अस्तित्व तुम्हारे लिये नहीं रहना चाहिये—तुम अपने अंदर प्रवाहित होनेवाली उनकी शक्ति को बस ग्रहण करते रहो।

इस अवस्था को अधिक अच्छे रूप में प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जो समय तुम्हारे हाथ में है उसे तुम बातचीत में खर्च मत करो—विशेषकर यदि अवसाद की कोई चीज तुम्हारे अंदर हो तो वह तर्क-वितर्क करने में समय नष्ट करेगी और उससे सच्ची चेतना को प्राधान्य प्राप्त करने में सहायता नहीं मिल सकती। एकाग्र होओ, अपनेको उद्-घाटित करो और अपने-आपको फिर से चैत्य अवस्था में माताजी को ले आने दो जिस अवस्था के द्वारा वह ध्यान और नीरवता में तुम्हारे अंदर अपनी शक्ति डालेंगी।
१६. ५. १९३३

जन्मदिवस की मुलाकात का तात्पर्य

(१)

प्रश्न—माताजी जो साधकों से उनके जन्मदिवस पर मुलाकात करती हैं उसका कोई विशेष मतलब है?

उत्तर—जन्मदिवस के विषय में। जागतिक शक्तियों की क्रिया के अंदर एक (बहुतों में से एक) छंद होता है जो सूर्य और ग्रहों के साथ संबंधित होता है। वह छंद साधक की सत्ता के अधिक नमनीय होने की संभावना होने पर जन्मदिवस को संभवनीय नवरूपांतर का दिवस बना देता है। इसी कारण माताजी लोगों से उनके जन्मदिवस पर मुलाकात करती हैं।
१८. ५. १९३४

(२)

प्रश्न—आपने एक बार लिखा था कि अन्य दिनों की अपेक्षा जन्मदिवस पर साधकों की भौतिक सत्ता माताजी की ओर अधिक खुली हुई और ग्रहणशील होती है। क्या इसी कारण माताजी हम लोगों को जन्मदिवस के अवसर पर विशेष रूप से आशीर्वाद देती हैं?

उत्तर—यह भौतिक जन्मदिन या शरीर के जन्मदिन का प्रश्न नहीं है—यह भीतर के नव-जन्म की वृद्धि के साथ-साथ जीवन में एक नये वर्ष के प्रारंभ का अवसर माना जाता है। यही अर्थ है जिस अर्थ में माताजी जन्मदिन को ग्रहण करती हैं।
७. १०. १९३६

स्वप्न में माताजी के साथ मुलाकात

(१)

प्रश्न–बहुत दिनों से मैं माताजी से मिलने की बात सोचा करता था, परंतु मिलने की आज्ञा मांगने में हिचकिचाता था। गत रात स्वप्न में उनसे मेरी मुलाकात हुई और उनके साथ मेरी बातचीत भी हुई। क्या वह सच्ची मां थीं जिनसे मेरी मुलाकात हुई या वह मेरे स्वप्नाभिभूत मन की गढ़ी हुई कोई आकृति थी?

उत्तर–निस्संदेह वह माताजी ही थीं जिनसे तुम्हारी भेंट हुई और यह भेंट उनसे मिलने के विषय में तुम्हारे विचार के कारण ही हुई होगी।
९. ६. १९३५

(२)

प्रश्न–कृपा कर मुझे बतलाइये कि अतिभौतिक स्तर पर बार-बार माताजी के पास मेरे जाने का क्या मतलब है। क्या मेरा प्राण अपनी शक्ति को फिर से ताजा बनाने के लिये, अपनी शुद्धि आदि के लिये जाता है?

प्रश्न–अगर साधक थोड़े सचेतन हों तो सभी इस प्रकार अपनी नींद और स्वप्न में माताजी के पास आने का अनुभव करते हैं। जो लोग साधक नहीं हैं अथवा जो लोग माताजी को जानते नहीं हैं वे लोग भी उनके पास आते हैं, पर वे इस विषय में सचेतन नहीं होते। प्राण-लोक एक अतिभौतिक लोक है। प्राण अपने निजी लोक में इधर-उधर घूमता है और भौतिक मन या उसकी चेतना या अनुभूति से सीमित नहीं होता।
१३. ७. १९३७

(३)

यह (अतिभौतिक लोक में माताजी के पास जाना) किसी भी उद्देश्य के लिये या बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य के भी हो सकता है–ऐसी बातों का कोई खास नियम नहीं है।
१४. ७. १९३७

(४)

प्रश्न–मैंने दो बार स्वप्न में देखा कि माताजी मुझे अपने हाथों से 'सूप' (तरकारी का रसा) दे रही हैं और मैं उनके चरणों में प्रणाम कर रहा हूं। मैंने ऐसा क्यों देखा? माताजी जो 'रसा' हमें दिया करती थीं, उसका आध्यात्मिक अर्थ क्या है?

उत्तर—'सूप' का इन्तजाम एक ऐसा साधन स्थापित करने के लिये किया गया था जिससे साधक भौतिक चेतना में किये गये आदान-प्रदान के द्वारा माताजी से कुछ चीज ग्रहण कर सकें। संभवतः उसी पुराने संस्कारवश जब तुम्हारी भौतिक चेतना माताजी से कोई चीज स्वप्न में ग्रहण करती है तब वैसा देखती है।
२७. ७. १९३३

ध्यान में माताजी की क्रिया

(१)

जब मैंने आश्रम के आंतर मन की बात कही थी तब मैंने संक्षिप्त रूप में 'आश्रम के सदस्यों के मनों' की बात कही थी और तब दल के समष्टिगत मन की ओर मेरा ख्याल नही था। परंतु ध्यान के समय श्री माताजी का कार्य एक ही साथ समष्टिगत और व्यष्टि-गत दोनों होता है। वह आश्रम के वातावरण में यथार्थ चेतना उतार लाने की चेष्टा कर रही हैं—क्योंकि साधकों के मन और प्राण का कार्य एक साधारण वातावरण उत्पन्न करता ही है। उन्होंने संध्या के इस ध्यान को एक ऐसे छोटे से अवसर के रूप में लिया है जिसमें अवतरण करनेवाली दिव्य शक्ति की एकमात्र सामर्थ्य के अंदर सब लोग एकाग्र हों। साधकों को यह अवश्य समझना चाहिये कि वे केवल एकाग्र होने के लिये, केवल ग्रहण करने के लिये, माताजी की ओर केवल उद्घाटित होने के लिये ही वहां है और दूसरी किसी चीज का कोई मूल्य नही। नवंबर, १९३४

(२)

अब ध्यान और बैठने की जगह की बात पर आवें। माताजी यह ध्यान केवल इसीलिये कराती हैं कि साधकों में वह सच्ची ज्योति और चेतना उतार लावें। वह यह नहीं चाहती कि उसे महज एक बाह्याचार में पलट दिया जाय ओर न वह यह चाहती है कि वहां पर कोई व्यक्तिगत प्रश्न ही उठाया जाय। उसे एकमात्र ध्यान और एकाग्रता ही रहने देना चाहिये, वहां व्यक्तिगत या अन्य प्रकार की कामनाओं या मांगों या भावनाओं को नहीं उठने देना चाहिये और उसे श्रीमां के उद्देश्य में बाधक नही होने देना चाहिये।
२. ११. १९३४

(३)

भौतिक उपस्थिति के द्वारा नहीं बल्कि ध्यान के समय माताजी जो एकाग्र होती हैं उससे उन लोगों में शांति उतरती है जो उसे ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।
६. ३. १९३७

(४)

प्रश्न—मैं अनुभव करता हूं कि जब माताजी ध्यानगृह में ध्यान कराने के लिये नीचे उतरती हैं तब ध्यानगृह का वातावरण आश्रम के सभी मकानों में फैल जाता है। क्या मेरा अनुभव ठीक है?

उत्तर—यह स्वाभाविक है कि बात ऐसी ही हो; क्योंकि माताजी को यह अभ्यास हो गया है कि जब वह आंतर कार्य पर एकाग्र होती हैं तब वह अपनी चेतना को सहज भाव से सारे आश्रम के ऊपर फैला देती हैं। सो, जो आदमी अनुभव कर सकता है वह इसे आश्रम में कहीं भी अनुभव करेगा, यद्यपि शाम के ध्यान-जैसे अवसरों पर पास के घरों में शायद अधिक तीव्रता के साथ अनुभव कर सकता है।
७. ११. १९३४

दर्शन और प्रणाम का ठीक-ठीक उपयोग

(१)

दिव्य प्रेम और पूजा की ओर अग्रसर होने के लिये भौतिक साधनों (जैसे दर्शन और प्रणाम के द्वारा स्पर्श) का उपयोग किया जा सकता है और किया जाता भी है; वे मानवीय दुर्वलताओं के लिये महज एक रियायत के रूप में नहीं मंजूर किये गये हैं और न वास्तव में यह बात ही है कि चैत्यपुरुषोचित पद्धति के अंदर ऐसी चीजों के लिये कोई स्थान ही नहीं है। इसके विपरीत, भगवान् के पास पहुंचने, ज्योति को ग्रहण करने और चैत्य संपर्क को भौतिक रूप देने के लिये ये एक साधन हैं और जब तक ये उचित मनोभाव के साथ किये जाते हैं और इनका व्यवहार वास्तविक उद्देश्य के लिये किया जाता है तब तक इनका स्थान है। जब इनका दुरुपयोग किया जाता है अथवा मनुष्य की पहुंच उचित नहीं होती क्योंकि वह उदासीनता और तामसिकता या विद्रोह या शत्रुता या किसी स्थूल कामना से कलुषित होती है, केवल तभी ये अनुपयोगी होते हैं और उलटा फल भी उत्पन्न कर सकते हैं—जैसा कि माताजी ने सर्वदा ही लोगों को सावधान किया है और यह कारण बताया है कि क्यों वह प्रत्येक आदमी के लिये खुली छूट देना पसंद नहीं करतीं।

(२)

किसी भी आदमी को न तो प्रणाम को कोई बाह्य दैनिक क्रिया मानना चाहिये न कोई अनिवार्य अनुष्ठान और न ही अपने-आप को यहां आने के लिये बाध्य समझना चाहिये। प्रणाम का उद्देश्य यह नहीं है कि साधक माताजी को एक बाहरी या नियमबद्ध दैनिक सम्मान अर्पित करें, बल्कि उद्देश्य यह है कि साधक माताजी के आशीर्वाद के साथ-साथ

उतनी आध्यात्मिक सहायता या प्रभाव ग्रहण कर सकें जितना कि उनकी अवस्था में ग्रहण या आत्मसात् किया जा सकता है। उस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये शांत-स्थिर और आत्म-समाहित वातावरण बनाये रखना आवश्यक है।

(३)

अगर तुम माताजी के दर्शन को कोई मूल्य देते हो तो अधिक अच्छा यह है कि तुम अपनी चेतना को एकाग्र रखो। अगर उनका आना तुम्हारे लिय ठीक भोजन की नाईं दैनिक कार्यक्रम का ही केवल एक व्यापार हो तो अवश्य ही उसका कोई मूल्य नहीं।

(४)

दर्शन करने का सबसे उत्तम तरीका है अपने-आपको खूब एकाग्र और अचंचल बनाये रखना तथा माताजी जो कुछ दें उसे ग्रहण करने के लिये खुला रहना।
१२. २. १९३७

दूसरों को प्रणाम करने का गलत सुझाव

यह (दूसरों को प्रणाम करने की इच्छा) कहीं दूसरी जगह से आया हुआ एक गलत सुझाव है। यह बड़ा जरूरी है कि दूसरों को प्रणाम करने की वृत्ति को न अपनाया जाय अथवा विचार तक में भी दूसरों को माताजी की बराबरी का या उसके लगभग भी कोई स्थान एकदम न दिया जाय।
२७. ७. १९३४

प्रणाम और माताजी का संपर्क

(१)

माताजी का संपर्क तो सारे दिन और सारी रात बना रहता है। यदि कोई सारे दिन अपने भीतर उनके साथ समुचित संपर्क बनाये रखे तो फिर प्रणाम अपना ठीक-ठीक फल उत्पन्न करेगा, क्योंकि उस समय तुम ग्रहण करने की ठीक-ठीक अवस्था में होगे। सारे दिन को प्रणाम पर निर्भर रखना, समूचे आंतरिक मनोभाव को बाहरी संपर्क के अत्यंत बाह्य स्वरूप पर निर्भर रखना सारी चीज को एकदम उलट-पुलट देना है। यही भौतिक मन और प्राण की की हुई मौलिक भूल है जो सारी कठिनाई का कारण है।
१६. ३. १९३५

(२)

यदि कोई भौतिक संपर्क की आवश्यकता के बिना माताजी के आंतरिक स्पर्श को अनुभव

कर सकें तो केवल तभी भौतिक संपर्क का सच्चा मूल्य वास्तव और सक्रिय रूप में प्राप्त हो सकता है। अन्यथा यह खतरा है कि वह महज अस्वाभाविक उत्तेजक वस्तु के जैसा वन जायगा या स्वयं अपने लाभ के लिये माताजी से प्राणशक्ति आहरण करने का अवसर वन जायगा।

२. ३. १९३७

(३)

यदि वे भौतिक स्पर्श पर इतना निर्भर करते हैं कि उसके विना वे कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते तो इसका यह मतलव है कि उन्होंने आंतरिक संवंध का विकास करने के लिये उसका विलकुल ही उपयोग नहीं किया है। यदि उन्होंने किया होता तो इतने वर्षों वाद वह आंतरिक संवंध अवश्य मौजूद होता। आंतरिक संवंध केवल आंतरिक एकाग्रता और अभीप्सा के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है, प्रत्येक दिन के महज वाहरी प्रणाम के द्वारा नहीं। अधिकांश लोग माताजी से महज प्राण-शक्ति आहरण करते हैं और उसी पर जीते हैं--किंतु प्रणाम का उद्देश्य यह नहीं है।

४. ३. १९३७

(४)

हां, परंतु प्राण की परीक्षा वहुत मूर्खतापूर्ण होती है। चाहे तुम माताजी को देखो या न देखो तव भी यदि तुम्हारी साधना चलती रहे तो यह इस बात को सूचित करेगा कि चैत्य संवंध स्थायी रूप से वना हुआ है और सर्वदा कार्य कर रहा है और वह भौतिक संपर्क पर निर्भर नहीं करता। मालूम होता है कि तुम्हारा प्राण यह समझता है कि यदि तुम माताजी को न देखो तो तुम्हारी साधना अवश्य बंद हो जायगी, परंतु इसका तो केवल यही अर्थ होगा कि प्रेम और भक्ति को भौतिक संपर्क की उत्तेजना की आवश्यकता होती है। किंतु, उसके विपरीत, प्रेम और भक्ति की सवसे वड़ी पहचान यह है कि उनकी आग लंवी अनुपस्थिति में भी उतने ही जोर से जलती रहे जितने जोर से वह उपस्थिति में जलती है। अगर तुम्हारी साधना प्रणामवाले दिनों को और विना प्रणामवाले दिनों को भी चलती रहे तो फिर यह सिद्ध नहीं होता कि तुममें प्रेम और भक्ति नहीं है, वल्कि यह सिद्ध होता है कि वे इतने प्रवल हैं कि सभी परिस्थितियों में अपने आप बने रह सकते हैं।

८. ६. १९३६

(५)

प्रश्न--यह वड़ी विचित्र बात है कि जव माताजी हमसे मिलती हैं और घनिष्ठता के साथ

हमसे बातें करती हैं उस समय की अपेक्षा मैं प्रणाम के समय उन्हें अधिक निकट अनुभव करता हूं। क्या भौतिक मन के किसी दोप के कारण ऐसा होता है?

उत्तर–हां,–अथवा कम से कम भौतिक चेतना के किसी भाग की किसी कमी के कारण।
३०. ४. १९३४

श्रीमांके देने के दो तरीके

(१)

माताजी दोनों तरीकों से देती हैं। आंखों के द्वारा वह चैत्य पुरुप को देती हैं और हाथ के द्वारा स्थूल सत्ता को।
२९. ९. १९३२

(२)

स्पष्ट ही इसके साथ समय का कोई संवंध नहीं है। एक घंटे का स्पर्श हो या एक क्षण का–जितना एक के द्वारा दिया जा सकता है उतना ही दूसरे के द्वारा भी।
१८. ४. १९३५

माताजी के फूल देने का तात्पर्य

(१)

प्रश्न–प्रति दिन प्रणाम के समय माताजी जो हमें फूल देती हैं उसका क्या अर्थ है?

उत्तर–उसका अर्थ है उस चीज को उपलब्ध करने में सहायता देना जिसका सूचक वह फूल होता है।
२८. ४. १९३३

(२)

प्रश्न–क्या फूल महज प्रतीक ही हैं, उससे अधिक और कुछ नहीं? उदाहरण के लिये, क्या नीरवता का प्रतीक फूल नीरवता की उपलब्धि में सहायता कर सकता है?

उत्तर–जब माताजी फूल के अंदर अपनी शक्ति भर देती हैं तभी वास्तव में वह एक प्रतीक से अधिक कुछ बनता है। उस समय, यदि उसे पानेवाले आदमी में ग्रहणशीलता हो तो, वह बहुत प्रभावशाली हो सकता है।
१९. ७. १९३७

(३)

प्रश्न–हम माताजी से वह फूल नहीं पाते जो हमारे मन के मतानुसार हमें मिलना चाहिये।

उत्तर–स्पष्ट ही है कि वैसा नहीं होता–मन अपनी पसंदगी या ख्याल के अनुसार या क्या होना चाहिये इस विषय की किसी मानसिक भावना के अनुसार इच्छा करता है; क्या आवश्यक है इसे संबोधि द्वारा देखकर माताजी निर्णय करती हैं। ९. ७. १९३४

प्रणाम के समय की माताजी की मुस्कान और स्पर्श के विषय में भ्रांत धारणाएं

(१)

माताजी प्रत्येक आदमी के साथ अलग-अलग तरीके से, उसकी आवश्यकता और उसके स्वभाव के अनुसार वर्ताव करती है, किसी कठोर मानसिक नियम के अनुसार नहीं करतीं। यह वात उनके लिये विलकुल निरर्थक है कि वह प्रत्येक आदमी के साथ वस एक ही जैसा व्यवहार करें मानो सव लोग मशीन हों और उन्हें एक तरह से ही छूना और चलाना जरूरी हो। इसका विलकुल ही यह मतलव नहीं है कि वह एक आदमी को दूसरे से अधिक प्यार करती है अथवा जिन्हें वह एक खास ढंग से छूती है वे अधिक अच्छे या कम अच्छे साधक हैं। साधक इस ढंग से क्यों विचार करते है क्योंकि वे अज्ञान और अहंकार से भरे हैं। सच पूछा जाय तो उन्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि माताजी एक पर अधिक कृपा करती हैं या दूसरे पर कम और न उन्हें जो कुछ वह करती हैं उसमें मुकावला करना और उसका निरीक्षण करना चाहियें, वल्कि उसके वदले उन्हें प्रणाम के समय वस इसी वात से संबंध रखना चाहिये कि माताजी के प्रभाव के प्रति स्वयं उनमें कितनी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता है। प्रणाम इसीलिये है, अन्य चीजों के लिये नहीं जिनका साधना के साथ कोई संबंध नहीं।

ईर्ष्या और स्पर्द्धा मानव-स्वभाव की सामान्य चीजें हैं, पर ये ठीक वही चीजें हैं जिन्हें एक साधक को अपने अंदर से अवश्य निकाल फेंकना चाहिये। नहीं तो वह भला साधक ही किसलिये है? उसके यहां रहने का उद्देश्य ही यह माना जाता है कि वह भगवान् की खोज करेगा–परंतु भगवान् की खोज के अंदर ईर्ष्या, स्पर्द्धा, क्रोध आदि के लिये कोई स्थान नहीं। ये सव अहंकार की क्रियाएं हैं और भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने में केवल वाधाएं ही उत्पन्न कर सकते हैं।

वहुत अच्छा हो यदि मनुष्य यह याद रखे कि वह भगवान् की खोज कर रहा है और उसे ही अपने जीवन की संपूर्ण नियामक भावना और लक्ष्य वना ले। यही चीज माताजी को दूसरी किसी चीज से कहीं अधिक प्रसन्न करती है; ये ईर्ष्या-द्वेष और स्पर्द्धा और उनकी कृपा पाने की प्रतियोगिता आदि चीजें उन्हें केवल अप्रसन्न और दुःखी ही वना सकती हैं।

३१. १०. १९३५

(२)

माताजी की दृष्टि और आशीर्वाद देते हुए उनके हाथ के विषय में आश्रम में जो विचार फैला हुआ है वह पूर्ण रूप से अयुक्तिसंगत, मिथ्या ओर मूर्खतापूर्ण भी है। मैंने सैकड़ों बार लोगों को लिखा है कि यह सारी बात ही गलत है और उपद्रव खड़ा करने की दृष्टि से किये गये विरोधी शक्तियों के मिथ्या सुझाव पर अवलंबित है। माताजी अपनी नाराजगी दिखाने के लिये या साधक के किसी कृत्य के कारण मुस्कराना बंद नहीं करतीं या अपनी मुस्कराहट या आशीर्वाद देने का ढंग नहीं बदलतीं। वह, जैसा कि कुछ लोग नाराजी के साथ विश्वास करते हैं, इस ढंग से अपनी हंसी या आशीर्वाद की मात्रा नहीं ठीक करतीं जिससे प्रत्येक साधक के लिये उसके अच्छे या बुरे आचरण के अनुसार नंबर प्राप्त हो जाय। इन परिवर्तनों का उद्देश्य, एक ही श्रेणी के छात्रों की तरह, प्रत्येक साधक के लिये प्रतिद्वंद्विता में प्राप्त स्थान निश्चित करना नहीं है। ये सब विचार एकदम युक्तिविरुद्ध, नगण्य और अनाध्यात्मिक हैं। आश्रम कोई विद्यार्थियों की कक्षा नहीं है और न योग ही प्रतियोगितात्मक परीक्षा (competitive examination) है। यह सब संकीर्ण भौतिक मन और प्राणगत अहंकार तथा कामना-वासना की सृष्टि है। यदि साधक सच्चा आधार पाना चाहें और सच्ची उन्नति करना चाहें तो उन्हें इन विचारों को एकदम अपने मनों से निकाल डालना चाहिये। परंतु उनके मन को यह मिथ्यापन इतना प्रिय है कि जो कुछ मैं लिख सकता हूं वह सब लिखने पर भी वे इससे हठपूर्वक चिपके रहते हैं। तुम्हें इससे पूरी तरह छुटकारा पा लेना चाहिये। प्रणाम के समय माताजी साधक की सहायता करने के लिये अपनी शक्ति देती हैं–साधक का यह कर्तव्य है कि वह उसे चुपचाप और सरल भाव से ग्रहण करे, इन मूर्खतापूर्ण विचारों के द्वारा तथा यह सब देखने में ही उस अवसर को न खो दे कि कौन उनका हाथ और उनकी मुस्कराहट अधिक पाता है और कौन कम। यह सब अवश्य दूर होना चाहिये।

८. १२. १९३६

(३)

वास्तव में मन नहीं बल्कि निम्नतर प्राण प्रणाम के बाद विक्षुब्ध हो उठता है–बाकी सब चीजें सुझावों के रूप में अंदर आती हैं, क्योंकि इस विक्षोभ के द्वारा उनके लिये दरवाजा खुल गया होता है। साधना नष्ट करने के लिये विरोधी शक्ति के पास कुछ निश्चित युक्तियां हैं और उनमें से एक है निम्नतर प्राण में इस धारणा का होना कि प्रणाम के समय पूर्ण रूप से अशीर्वाद नहीं मिला है या मुस्कराहट नहीं मिली है या ठीक तरह की मुस्कराहट नहीं मिली है या माताजी का चेहरा गंभीर और कठोर था। जो कोई इस भाव को अपने अंदर आने देता है उसी के मन में तुरत विद्रोह, अवसाद या असंतोष के सुझाव आ

घुसते हैं। उसके लिये बस यही करना आवश्यक है कि इस भाव को स्वीकार करने की समस्त वृत्ति को यह जानते हुए कि यह विरोधी शक्ति के यहां से आई हुई विष की बूंद है, धैर्यपूर्वक निकाल फेंका जाय।
२८. ७. १९३६

(४)

निश्चय ही तुम्हारी कल्पना ही तुम्हें यह समझाती है कि माताजी प्रणाम के समय तुम्हारे प्रति 'उदासीन' या 'कठोर' थीं। माताजी तो, इसके विरुद्ध, तुम्हें सहायता करने के लिये आशीर्वाद देती हुई विशेष रूप से एकाग्र हुई थीं। यहां पर कुछ साधक ऐसे हैं जो, जब-जब माताजी एकाग्र होती हैं तब-तब यह पूछते हैं कि "आज आप मेरे ऊपर नाराज और कठोर क्यों थी?" फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे है जो, नित्य के साधारण वर्ताव में जरा-सा भी अंतर पड़ा कि, चिल्ला उठते हैं और यह मान बैठते है कि निश्चय ही उसमें माताजी का कोई उद्देश्य होगा और वह उद्देश्य निश्चय ही उनके प्रतिकूल होगा, उदासीनता या अप्रसन्नता का कोई उद्देश्य होगा, ओर बहुत बार जब वह उन्हें उत्साह देने के लिये रोज से अधिक हंसती है तब वे उन्हे लिखते हैं कि आज आप बहुत गंभीर थीं और जरा भी नही हंसी। इस छूत की बीमारी को अपने पास मत फटकने दो और उनके जैसा मत बनो; क्योंकि जो सहायता दी जाती है उसके लिये यह बात बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है और प्राणगत भीषण उपद्रवों के लिये दरवाजा खोल देती है। विश्वास और भरोसा रखते हुए महज श्रीमां की सहायता की ओर अपनेको खोलो, यही उनसे अपनेको बहुत दूर अनुभव न करने का सबसे अच्छा उपाय है।

श्रीमां को उस समय यह नही मालूम था कि 'अ' के साथ तुम्हारी बातचीत हुई थी। अतएव तुम्हारा यह अनुमान कि वही उनकी काल्पनिक नाराजी का कारण होगा, बिलकुल निराधार है। यह समझना एकदम गलत है कि माताजी साधकों पर अप्रसन्न और क्रोधित होती हैं और उस भाव को अपने कार्यों के द्वारा प्रणाम के समय प्रकट करती हैं। भगवान् या श्रीमां के विषय में ऐसे विचार बनाना एक बहुत बड़ी भूल है और तुम्हें ऐसी बात के चंगुल में नहीं फंसना चाहिये।
५. ७. १९३५

(५)

प्रणाम के समय जब माताजी नहीं हंसती-मुस्करातीं तो उसका कारण कोई नहीं होता; बल्कि करीब-करीब हर प्रसंग में ऐसा कारण होता है जिसका साधक के किसी कार्य के साथ कोई संबंध नहीं होता,—जो क्रिया हो रही है उसमें तल्लीन या एकाग्र होने के कारण यह

होता है। जैसा कि तुम कहते हो, उससे कुछ भी नहीं आता-जाता–मुख्य बात यह है कि जो ग्रहण करने की चीज है उसे ग्रहण किया जाय।
४. ११. १९३४

(६)

यह समझना भूल है कि माताजी के न मुस्कराने का मतलब है उनकी अप्रसन्नता या साधक के अंदर की किसी अनुचित चीज की नामंजूरी। अधिकतर यह महज तल्लीनता का या आंतरिक एकाग्रता का चिह्न होता है। इस मौके पर माताजी तुम्हारे अंतरात्मा से एक प्रश्न पूछ रही थी। ३१. ७. १९३८

(७)

(प्रणाम के समय) माताजी की गंभीरता का कारण वह जो काम कर रही होती हैं उसमें एक प्रकार की तल्लीनता होता है अथवा बहुत बार वातावरण में विरोधी शक्तियों का कोई प्रबल आक्रमण।
१९. ४. १९३५

(८)

निश्चय ही तुम्हें अपने प्राण की मांग को और तुम्हारी साधना में वह जो गड़बड़ी उत्पन्न कर रही है उसको दूर फेंक देना चाहिये। माताजी सबकी ओर मुस्कराती हैं; यह बात नहीं है कि कुछ लोगों के लिये उसे रोक लेती और दूसरों को बांटती हैं। लोग जो अन्यथा समझते हैं उसका कारण यह होता है कि कोई प्राणगत विक्षोभ, अवसाद या मांग अथवा ईर्ष्या, द्वेष या प्रतियोगिता करने की कोई भावना उनकी दृष्टि को विकृत कर देती है।
२७. २. १९३३

(९)

उस दिन माताजी किसी के लिये नहीं मुस्कराईं। वह व्यक्तिगत रूप से तुम्हारे लिये ही नहीं था। एक विशेष प्रकार की शक्ति उनके अंदर कार्य कर रही थी जिसने सामान्य तरीके से कार्य नहीं किया।
१०. ४. १९३४

(१०)

यदि माताजी प्रणाम के समय साधक के सिर पर अपना हाथ नहीं रखतीं तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह नाराज हैं–उसके एकदम दूसरे कारण हो सकते हैं। लोगों का

यही विचार है पर वे इस विषय में एकदम गलत है। कुछ दिन हुए माताजी ने दो दिनों तक प्रणाम के समय एक साधिका के सिर पर अपना हाथ नहीं रखा। लोगों ने उसकी खिल्ली उड़ायी और उसे नीची नजर से देखा। परंतु सच बात यह थी कि उसे अद्‌भुत अनुभूतियां हो रही थीं और प्रणाम के समय साधारण दिनों की अपेक्षा वह माताजी से अधिक शक्ति पा रही थी। यह समूची भावना ही एक भूल है।
२. ८. १९३३

(११)

यह ठीक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें माताजी बिलकुल नहीं मुस्कुराईं और न (समाधि में रहने के कारण) हाथ ही रखा, फिर भी समुचित और ग्रहणशील मनोभाव बनाये रखने के कारण साधक ने पहले के किसी भी समय से बहुत अधिक ग्रहण किया।

(१२)

माताजी की रहस्यपूर्ण मुस्कान के विषय में तुम्हारा ख्याल तुम्हारी अपनी कल्पना है– माताजी कहती है कि वह अत्यंत करुणा के साथ मुस्कुराई थीं और उन्होंने तुम्हारे प्रति यथासंभव अत्यंत साहाय्यपूर्ण मनोभाव ही ग्रहण किया था। मैंने तुम्हें पहले भी लिखा था कि तुम्हें अपने और श्रीमां के बीच इन सब कल्पनाओं को कभी नहीं रखना चाहिये; क्यों-कि जो सहायता दी जाती है उसे ये तुमसे दूर धकेल देती हैं। ये कल्पनाएं और तुम्हारे ऊपर उनका प्रभाव–ये सब उन्ही प्राणमय शक्तियों के सुझाव हैं जो तुम्हें इसलिये उद्विग्न कर रही हैं कि तुम इस उपद्रव से मुक्त न हो जाओ।

मेरी सहायता और श्रीमां की सहायता मौजूद है–तुम्हें बस इन सबसे मुक्त होने के लिये उसकी ओर अपनेको खोल रखना होगा।
२७. ३. १९३३

(१३)

तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि माताजी नाराज होंगी? हमने स्वयं तुमसे कहा है कि प्रत्येक चीज साफ-साफ लिखो और कोई चीज मत छिपाओ–सो, इसकी जरा भी संभावना नही है कि जो कुछ तुम लिखोगे उससे वह असंतुष्ट होंगी। इसके अलावा, वह साधना और मानवीय प्रकृति की कठिनाइयों को खूब अच्छी तरह जानती हैं और अगर साधक में सदिच्छा और सच्ची अभीप्सा हो, जैसी कि तुममें है, तो किसी क्षण कोई ठोकर खाने या भूल कर बैठने के कारण साधक के प्रति उनके मनोभाव में कोई अंतर नहीं पड़ता। माताजी का ख्याल है कि तुम्हें गलत धारणा हो गयी होगी कि उन्होंने बस थोड़ा सा ही हाथ रखा–

क्योंकि उन्होंने ठीक वैसा ही तुम्हारे साथ किया जैसा कि बराबर करती हैं और ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे उसमें कोई परिवर्तन हो।
१७. ४. १९३३

(१४)

मैं बिलकुल नहीं समझ पाता कि तुम यह क्यों सोचते हो कि, चाहे किसी भी कारण से क्यों न हो, माताजी तुमसे नाराज थीं। वह तुम्हारे साथ जैसी रहा करती हैं, ठीक वैसी ही थीं। अगर तुमने कोई भूल भी की हो तो भी अब उनकी प्रवृत्ति यही है कि वह भूलों की उपेक्षा करें और सब कुछ ठीक करने के लिये दिव्य ज्योति तथा साधक के चैत्य पुरुष के दबाव के अधीन छोड़ दें। परंतु तुमने जो 'अ' के साथ फ्रेंच क्लास बंद कर देना चाहा था उसके कारण या ऐसे ही किसी तुच्छ कारण से भला वह क्या कभी नाराज होंगी? तुम अपना क्लास जारी रखोगे या बंद कर दोगे–यह एक ऐसे ब्योरे की बात है जिसे तुम्हारे मन की अवस्था तथा तुम्हारी साधना की अवस्था को देखते हुए तै करना होगा और यह दोनों ही दृष्टियों से तै की जा सकती है। यह आश्चर्य की बात है कि तुम यह समझो कि ऐसी मामूली बात पर भी माताजी नाराजी दिखा सकती हैं। तुम्हें इस तरह की स्नायविक दुर्बलता से मुक्त होना चाहिये और कल्पनाओं के द्वारा अपनी अच्छी स्थिति को नहीं बिगाड़ना चाहिये–कारण, यह बस एक कल्पना है क्योंकि इसके पीछे कोई भी सत्य नहीं। अधिक पूर्ण विश्वास बनाये रखो और जहां कोई कठिनाई नहीं है वहां अपने मन को कठिनाइयां पैदा मत करने दो।

(१५)

चाय के संबंध में माताजी तनिक भी नाराज नहीं थीं; उसके लिये भला वह क्यों नाराज होतीं? और वह तुम्हारे ऊपर भी एकदम नाराज नहीं थीं। रोज की तरह ही वह तुम्हारी ओर मुस्कुराई–तुम शायद और कोई बात सोच रहे होगे और उसे देखा नहीं होगा। अतएव तुम्हारे उदास होने का कोई कारण नहीं है–तुम्हें इन सब विचारों को एक ओर फेंक देना चाहिये, माताजी ऐसी तुच्छ बातों पर नाराज नहीं हुआ करती।
३०. ११. १९३३

(१६)

एकदम ठीक, मैं कहता हूं "माताजी का मुस्कुराना या न मुस्कुराना तुम्हारे अंदर की किसी चीज से कोई संबंध नहीं रखता।" मैं यह भी कहता हूं कि "तुम्हारा स्वयं सचेतन होना ही, माताजी का कोई असंतोष नहीं, तुम्हें सचेतन बनाता है–उनकी महज उपस्थिति

ही वह चीज है जो तुम्हारे लिये अपने विषय में सचेतन होना संभव बनाती है, कोई नाराजी, कोई उदासी-भरी दृष्टि ऐसा नहीं करती।"

(१७)

ऐसी कोई संभावना नहीं कि माताजी तुम्हें ऐसी 'दृष्टि' दिखावें जिससे तुम डर रहे हो। अपनी ओर से किसी ऐसी चीज की कल्पना मत करो जो है ही नहीं—कितने ही लोग फिर भी ऐसा कर रहे हैं!

(१८)

निस्संदेह, यह पुरानी प्राण-सत्ता की खड़ी की हुई पुरानी बाधा है जो दूर की जा रही है और उसी के कारण यह झुंझलाहट तथा माताजी की अप्रसन्नता के विषय में ये सुझाव उत्पन्न हो रहे हैं। क्योंकि, सच पूछा जाय तो, श्रीमां के मन में तुम्हारे विरुद्ध किसी प्रकार का असंतोष नहीं था और यह विचार साधारणतया साधक के मन में दिया हुआ उस शक्ति का सुझाव होता है जो चले जाने की इच्छा या कोई अन्य प्रकार का असंतोष या अवसाद उत्पन्न करना चाहती है। यह एक अद्भुत ढंग का भ्रम है जिसने, मानो, आश्रम के वातावरण में अपनी जड़ जमा ली है ओर यह व्यक्तिगत प्राण-सत्ता के द्वारा उतना पोषण नहीं पाता जितना कि उन शक्तियों के द्वारा पाता है, जो अगर संभव हो तो, साधना को ही भंग कर देने के लिये उसपर कार्य करती हैं। इस चीज को तुम्हें जरा भी प्रश्रय नहीं देना चाहिये अन्यथा यह चाहे जितना भी उपद्रव खड़ा कर सकती है। समुचित नींद का अभाव स्वभावतः ही स्नायुओं में थकावट की एक अवस्था ले आता है और वह थकावट इन चीजों के आने में सहायता करती है—क्योंकि ये चीजें भौतिक चेतना के भीतर से आक्रमण करती हैं और अगर किसी तरह वह थकावट उस चेतना को तामसिक बना दे तो उनका प्रवेश करना अधिक आसान हो जाता है।
१५. ९. १९३६

(१९)

माताजी का रुख तुम्हारे प्रति किसी तरह बदला नहीं है और न वह तुमसे निराश ही हुई हैं—वह तो स्वयं तुम्हारी ही मानसिक अवस्था से आया हुआ एक सुझाव है और माताजी के ऊपर असंतोष और अयोग्यता का अपना झूठा बोध आरोपित कर रहा है। अपना भाव बदलने या निराश होने का उनके पास कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह तुम्हारे अंदर की प्राणगत बाधाओं को हमेशा से जानती हैं और फिर भी उन्होंने आशा की थी, और अब भी करती हैं कि तुम इन्हें जीत सकोगे। कुछ चीजों को, जो मानव-स्वभाव के मूल में ही

निहित प्रतीत होती हैं, परिवर्त्तित करने की पुकार करना सबसे अच्छे साधकों के लिये भी कठिन सिद्ध हो रहा है, परंतु कठिनाई का होना असमर्थता का प्रमाण नहीं है। चले जाने की ठीक इस प्रेरणा को ही तुम्हें अपने अंदर घुसने न देना चाहिये—क्योंकि जब तक ये शक्तियां यह समझती हैं कि वे ऐसा करा सकती हैं तब तक वे इस बात पर यथाशक्ति जोर देती रहेंगी। तुम्हें अपने उस अंग में माताजी की शक्ति की ओर और अधिक खुलना भी चाहिये और इसके लिये माताजी के असंतोष या उनके प्रेम के अभाव से संबंधित इस सुझाव से छुटकारा पाना आवश्यक है, क्योंकि यही प्रणाम के समय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। हमारी सहायता, सहारा, प्रेम सब पहले की तरह ही बराबर मौजूद है—उनकी ओर अपनेको खुला रखो और उनकी सहायता से इन सुझावों को दूर भगाओ।
२६. १. १९३७

(२०)

माताजी ने ठीक रोज की तरह ही अपना हाथ रखा था। और केवल इतना ही नहीं, बल्कि ज्योंही उन्होंने देखा कि तुम्हारी आंतर स्थिति को विशेष सहायता की आवश्यकता है त्योंही उन्होंने सहायता देने की कोशिश की। परंतु, जब कि तुम इस अवस्था में हो, यह दुर्भाग्य की बात है कि तुम दुःख-शोक की भावना में इतने अधिक डूब गये हो कि ऐसा कोई भी अनुभव नहीं कर पाते जो कि दुःख-कष्ट को सहायता नहीं करती या नहीं बढ़ाती। हमारी सहायता सर्वदा तुम्हें प्राप्त है; ऐसा कोई कारण हर्गिज नहीं है कि हम उसे वापस ले लें। अगर कोई आश्रम में घोर विपत्ति में होता है तो वह विपत्ति हमारे ऊपर पड़ती है और उसमें भी अधिक माताजी के ऊपर—अतएव यह मानना मूर्खतापूर्ण है कि किसी आदमी का दुःख देखकर हमें आनंद हो सकता है। दुःख-कष्ट, बीमारी, प्राणिक तूफान (कामना-वासना, विद्रोह, क्रोध) इत्यादि इतनी अधिक विपरीत चीजें हैं जिन्हें दूर करने का हम प्रयास कर रहे हैं और इसीलिये हमारे कार्य में बाधाएं हैं। जितना शीघ्र संभव हो, उनका अंत कर देना ही एकमात्र संकल्प है जिसे हम रख सकते हैं, न कि उन्हें बनाये रखने की इच्छा।

काश, जब ये तूफान आते हैं तब तुम यदि कहीं अपने अंदर इनसे अलग हट आने की शक्ति प्राप्त कर पाते, जो प्रेरणा या विचार उठते हैं उनके प्रवाह में न बह जाते! तब ऐसी कोई चीज होती जो सहारे को अनुभव कर पाती और इन शक्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने में भी समर्थ होती।
२८. ६. १९३५

(२१)

यह पूर्ण रूप से गलत बात है कि आज माताजी तुम्हें अलग ठेल रही थीं। ऐसे दिन

हो सकते हैं जब वह गभीरता में डूब जायं और इसलिये वाह्य रूप में उन्हें ध्यान न रहे कि उनका हाथ क्या कर रहा है। परंतु आज तो उन्होंने विशेष रूप से तुम्हारी ओर ध्यान दिया था और प्रणाम के समय शांति और समता लाने और कठिनाई को दूर करने के लिये तुम्हारे ऊपर वह शक्ति का प्रयोग कर रही थीं। यदि उन्होंने अपनी हथेली या अन्य किसी चीज से कार्य किया भी हो तो वह इसी कार्य के लिये। इस विषय में कोई भूल नहीं हो सकती, क्योंकि वह आज अपने कार्य और उद्देश्य के विषय में विशेष रूप से सचेतन थीं। हुआ यह होगा कि तुम्हारे अंदर की किसी चीज ने दवाव का अनुभव किया और हस्तक्षेप करके इस सुझाव के द्वारा तुम्हारे भौतिक मन को प्रभावित किया होगा कि माताजी कठिनाई को नही, तुम्हें ही धकेल रही हैं। यह वहुत स्पष्ट उदाहरण है कि साधकों के लिये गलत अनुमान करना और माताजी जो कुछ कर रही हों उसको उल्टे रूप में समझना कितना आसान है। अनेक वार जव उन्होंने उनकी कठिनाइयों को वाहर ढकेलते हुए उन्हें सहायता देने के लिये अत्यधिक एकाग्रता की तव उन्होंने (साधकों ने) उन्हें लिखा "आज सवेरे आप मेरे प्रति वहुत कठोर और नाराज थीं।" इन गलत प्रतिक्रियाओं से वचने का एकमात्र उपाय यह है कि माताजी पर पूर्ण चैत्यपुरुषोचित आस्था रखी जाय और यह विश्वास किया जाय कि माताजी जो कुछ कर ही हैं वह सव उनके भले के लिये है और भगवती माता के तत्त्वावधान में उनके होने के कारण कर रही हैं, उनके विरुद्ध कुछ नहीं कर रही हैं। तव इस तरह की कोई भी वात घटित नहीं होगी। जो लोग ऐसा करेंगे वे उनकी एकाग्रता की, अगर वह अपनी तल्लीनता के कारण हाथ से न छुएं या न मुस्कुरायें तो भी, पूरी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण मैं लगातर साधकों से कहता आ रहा हूं कि प्रणाम के समय माताजी के वाह्य स्वरूप या क्रियाओं का वे अपना निजी अर्थ न लगावें—क्योंकि ये अर्थ सर्वदा ही गलत होंगे और निराधार अवसाद और आक्रमण के लिये दरवाजा खोल देंगे।

२३. १. १९३५

(२२)

मुस्कान और स्पर्श संबंधी इस आवेश को जीतना होगा और इसका त्याग करना होगा, क्योंकि यह साधकों को विचलित करने और उनकी उन्नति को रोकने के लिये विरोधी शक्तियों का एक साधन वन गया है। मैंने वहुत से ऐसे प्रसंग देखे हैं जिनमें साधक अच्छी तरह चल रहा है या यहां तक कि ऊंची अनुभूतियां पा रहा है और उसकी चेतना में परिवर्तन आ रहा है और अकस्मात् उसकी कल्पना आ उपस्थित होती है और सव कुछ अस्त-व्यस्तता, विद्रोह, शोक-संताप और निराशा में परिणत हो जाता है और आंतरिक कार्य रुक जाता है और खतरे में पड़ जाता है। अधिकांश क्षेत्रों में इस आक्रमण के साथ-साथ इंद्रियों

में भ्रम उत्पन्न होता है जिससे यदि माताजी रोज की अपेक्षा अधिक मुस्कुराती हैं अथवा अपनी सारी शक्ति लगाकर आशीर्वाद देती हैं तो भी उनसे कहा जाता है कि "आप नहीं मुस्कुराईं, आपने स्पर्श नहीं किया" या "आपने मुश्किल से स्पर्श किया।" फिर ऐसे उदाहरण भी बहुतेरे देखे गये हैं—माताजी मुझसे कहती हैं, "मैंने 'अ' को घबड़ाया हुआ देखा या उसकी ओर एक सुझाव आते हुए देखा और मैं उसकी ओर बहुत करुणा के साथ हंसी और उसे आशीर्वाद दिया," और फिर भी बाद में हम उससे एकदम उलटी बात, "आप नहीं मुस्कुराईं आदि" की स्थापना करनेवाला पत्र पाते हैं। और तुम सब माताजी पर झूठ का आरोप करने के लिये तैयार बैठे हो, क्योंकि तुमने समझा कि तुमने देखा और तुम्हारी इंद्रियों को कोई धोखा नहीं हो सकता! मानो विक्षुब्ध मन इंद्रिय दर्शन को भी विकृत न करता हो! मानो मनोविज्ञान का यह एक सामान्य तथ्य न हो कि मनुष्य अपनी मानसिक स्थिति या विचार के अनुसार धारणा बनाता है! यदि मुस्कान या स्पर्श कम भी हों तो ये ऐसे उलाहनों के कारण नहीं होने चाहियें यदि उनके पीछे कोई इरादा न हो और हमने तुम सबको बार-बार चेतावनी दी है कि उनमें एकदम कोई भी इरादा नहीं है। निःसंदेह, कारण यह है कि साधक माताजी के प्रति प्राणगत मानवीय प्रेम की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं और साधारण प्राणगत मानवीय प्रेम अविश्वास, गलतफहमी, ईर्ष्या, क्रोध और निराशा आदि विरोधी गतियों से भरा होता है। परंतु योग में यह अत्यंत अवांछनीय है—क्योंकि यहां माताजी पर विश्वास, उनके दिव्य प्रेम पर श्रद्धा रखना बहुत आवश्यक है; जो कोई चीज इसे अस्वीकार करती या विकृत करती है वह बाधाओं और अनुचित प्रतिक्रियाओं के लिये दरवाजा खोलती है। ऐसी बात नहीं कि प्राण में प्रेम होना ही नहीं चाहिये। बल्कि उसे इन सब प्रतिक्रियाओं को दूर कर अपनेको शुद्ध करना चाहिये और चैत्य पुरुष के विश्वास और आस्थायुक्त आत्मदान को अपने अंदर स्थापित करना चाहिये। तब फिर पूरी-पूरी उन्नति हो सकती है।

२९. ६. १९३५

(२३)

इन सब चीजों का पूर्णरूपेण त्याग होना चाहिये। जब ये उठती हैं तब प्रायः ही चेतना को इतना अधिक ऐंठ देती हैं कि कभी-कभी तो स्वयं दृष्टि को और बराबर ही बोध को भ्रमपूर्ण बना देती हैं। माताजी ने निरंतर देखा है कि जिन लोगों की ओर वह मुस्कुराईं थीं वे उनसे कहते हैं कि वह आंखें निकाले हुए और कठोर थीं या वह असंतुष्ट थीं जब कि उनमें कोई असंतोष नहीं था। और फिर उसी आधार पर वे एकदम गलत रास्ते पर चले जाते हैं।

१०. ४. १९३३

माताजी की बीमारी के कारण.

(१)

मैंने जल्दी ही लिखने की आशा की थी, परंतु मैं लिख न सका। अतएव, चूंकि आज सवेरे यह पत्र तुम्हें भेजने का मैंने वादा किया है इसलिये मैं अभी, दूसरी बात के विषय में, बस इतना ही दुहराऊंगा कि मैंने यह नहीं कहा है कि किसी भी अंश में तुम या साधारण रूप में साधकगण माताजी की बीमारी के कारण थे। एक दूसरे आदमी को, जिसने उसी व्यक्तिगत स्थिति से उसी तरह की कुछ बात लिखी थी, मैंने उत्तर दिया था कि माताजी की बीमारी विश्वगत शक्तियों के साथ संघर्ष होने के कारण हुई थी जो किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के दायरे से बहुत परे था। मैंने भौतिक संपर्क के कारण माताजी पर जोर पड़ने की बात के विषय में जो लिखा था वह उनके फिर से काम आरंभ करने से संबंध रखता था—और उसका संबंध उन अवस्थाओं से है जिनमें काम सबसे उत्तम रूप में हो सकता है ताकि ये शक्तियां भविष्य में लाभ न उठा सकें। विगत वर्षों में संभवतः वस्तुओं के अनिवार्य विकास के कारण अवस्थाएं विशेष रूप में कठिन रही हैं, जिसके लिये मैं किसी को उत्तरदायी नहीं समझता; परंतु अब जब कि साधना अत्यंत भौतिक स्तर पर उतर आयी है जहां अभी भी विरोधी शक्तियां आघात कर सकती हैं, यह आवश्यक है कि कुछ परिवर्तन किया जाय और वह परिवर्तन साधकों के आंतरिक मनोभाव में परिवर्तन आने पर बहुत उत्तम रूप में साधित हो सकता है; क्योंकि केवल वही इस समय—जब तक कि निश्चित रूप में अतिमानसिक ज्योति और शक्ति का अवतरण नहीं हो जाता—बाहरी अवस्थाओं को अधिक आसान बना सकता है। परंतु इस विषय में मै एक पत्र के पुछल्ले में कुछ नहीं लिख सकता। १६. ११. १९३१

(२)

अभी तक मैंने माताजी की बीमारी के विषय में कुछ नहीं कहा है, क्योंकि इसके लिये इस बात पर विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता होगी कि ऐसे कार्य के केंद्र में जो लोग होते हैं उन्हें क्या क्या होना होता है, मानवीय या पार्थिव प्रकृति और उसकी सीमाओं में से उन्हें स्वयं अपने ऊपर क्या लेना होता है और रूपांतर की कितनी अधिक कठिनाइयों को उन्हें सहना पड़ता है। यह सब अपने आपमें मन की समझ में आने में ही केवल कठिन नहीं है बल्कि इसे इस तरह लिखना भी मेरे लिये कठिन है जिसमें उन लोगों की भी समझ में यह आ जाय जिन्हें हमारी चेतना या हमारी अनुभूति प्राप्त नहीं है। मैं समझता हूं कि इसे लिखना ही होगा, पर अभी मुझे न तो इसकी आवश्यक रूप-रेखा ही मिली है और न आवश्यक अवकाश। १९. ११. १९३१

(३)

माताजी पर श्रद्धा रखकर बीमारी से मुक्त हो जाना साधक के लिये बहुत अधिक आसान है, स्वयं माताजी के लिये बीमारी से मुक्त रहना उतना आसान नहीं—कारण, माताजी के कार्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें साधकों के साथ अपना तादात्म्य बनाये रखना पड़ता है, उनकी सभी कठिनाइयों को वहन करना पड़ता है, उनकी प्रकृति के सारे विष को अपने अंदर ग्रहण करना पड़ता है और उसके साथ-साथ विराट् पार्थिव प्रकृति की समस्त कठिनाइयों को, मृत्यु और रोग की संभावना तक को अपने ऊपर लेना होता है जिसमें मुकाबला करके उन्हें खतम किया जाय। अगर वह ऐसा न करतीं तो एक भी साधक इस योग की साधना करने में समर्थ न होता। भगवान् को इसलिये मानवत्व ग्रहण करना पड़ता है कि मनुष्य भी भगवान् तक ऊपर उठ सके। यह एक सीधा सा सत्य है; पर मालूम होता है कि कोई भी यह समझ नहीं पाता कि भगवान् यह सब कर सकते हैं और फिर भी मनुष्य से भिन्न बने रह सकते हैं—फिर भी वह भगवान् बने रह सकते हैं।

(४)

प्रश्न—आश्रम के लोग यह विश्वास करते हैं कि उनकी कठिनाइयों और बीमारियों को माताजी अपने ऊपर ले लेती हैं और इसलिये कभी-कभी उन्हें दुःख भोगना पड़ता है। परंतु, बात यदि ऐसी है तब तो, बहुत से साधकों से उनके ऊपर ऐसी चीजों की भयंकर बाढ़-सी आ सकती है। मेरे मन में यह विचार आता है कि इन कठिनाइयों और बीमारियों में से कुछ को मैं अपने ऊपर ले लूं जिसमें मैं भी उनके साथ सुखपूर्वक दुःख भोग सकूं।

उत्तर—सुखपूर्वक ? और चाहे कुछ हो पर वह तुम्हारे या हमारे लिये कम से कम सुख तो हर्गिज न होगा। उसमें सुख नाम की कोई चीज न होगी।

यह एक सच्चे तथ्य का मानो भद्दा और स्थूल वर्णन है। अपना काम करने के लिये माताजी को अपनी व्यक्तिगत सत्ता और चेतना के अंदर सभी साधकों को लेना पड़ा; इस तरह व्यक्तिगत रूप से (केवल निर्वैयक्तिक रूप से ही नहीं) उनके अंदर ले लिये जाने के कारण साधकों के सभी संघर्ष और कठिनाइयां, उनकी बीमारियों आदि के साथ, इस रूप में माताजी के ऊपर आ पड़ीं जिस रूप में, यदि उन्होंने पृथक्त्व के आत्मसंरक्षण का त्याग न किया होता तो, न आयी होतीं। केवल दूसरों की बीमारियां ही उनके शरीर पर होने-वाले आक्रमणों में नहीं बदलीं—इनके विषय में ज्योंही वह देखतीं कि वे कहां से और क्यों आयी हैं त्योंही साधारणतया वे उन्हें दूर फेंक देतीं—बल्कि लोगों की आंतरिक कठिनाइयों, विद्रोहों, उनके विरुद्ध क्रोध और घृणा के उद्गारों का भी वही या उससे भी बुरा प्रभाव पड़ा। उनके लिये बस वही खतरा था (क्योंकि आंतरिक कठिनाइयां आसानी से जीती

जा सकती है), पर जड़तत्त्व और शरीर हमारे योग के दुर्बल या संकटपूर्ण स्थल हैं, क्योंकि यह क्षेत्र आध्यात्मिक शक्ति द्वारा कभी जीता नही गया है, पुराने योगों ने या तो इसे योंही छोड़ दिया या इसपर केवल छोटी-मोटी मानसिक और प्राणिक शक्ति का ही प्रयोग किया, साधारण आध्यात्मिक शक्ति का नही। यही कारण था कि आश्रम-वातावरण की अत्यंत बुरी अवस्था के कारण उनके बहुत अधिक बीमार हो जाने के बाद मैंने उनपर दवाव डाला कि वह कुछ समय आंशिक एकांतवास करें जिसमें उनपर पड़नेवाले दवाव का अत्यंत ठोस अंश कुछ कम हो जाय। स्वभावतः ही भौतिक स्तर पर पूरी विजय हो जाने पर सभी बातों में क्रांति आ जायगी, पर अभी तक तो यह संघर्ष का ही क्षेत्र है।

३१. ३. १९३४

(५)

उत्तर—क्या यह अनिवार्य नहीं है कि परिवर्तन और रूपांतर की इस प्रक्रिया में ये वाधाएं, उपद्रव और विद्रोह प्रत्येक साधक के अंदर उठ खड़े हों? क्या कोई आदमी अपनी साधना के प्रारंभ में ही इन सब चीजों को दूर कर सकता है जिसमें माताजी को स्वयं अपने ऊपर लेने के लिये ये चीजें कम हो जायं?

उत्तर—पार्थिव चेतना का स्वरूप और मनुष्यजाति की प्रकृति अभी जैसी है उसे देखते हुए ये चीजे कुछ अंश में अनिवार्य हैं। केवल थोड़े से लोग ही इनसे बचते हैं, उनमें महज कुछ मामूली विरोधी क्रियाएं होती हैं। परंतु कुछ समय वाद ये चीजें दूर हो जानी चाहियें। व्यक्तियों में से तो ये इस प्रकार दूर हो जाती हैं—परंतु इन्हें आश्रम के वातावरण में से दूर करना वहुत कठिन प्रतीत होता है—एक न एक इन्हें वरावर लेता रहता है और उससे ये दूसरों में भी फैलने की चेष्टा करती हैं। निश्चय ही, इसका कारण यह है कि अज्ञान के अनुसार जीवन के तत्त्वों में से एक तत्त्व इनके पीछे विद्यमान है—वह है गहराई तक जड़ जमायी हुई प्राण-प्रकृति की एक प्रवृत्ति। परंतु साधना का उद्देश्य ही है उसे जीतना और उसके स्थान में एक सत्यतर और दिव्यतर प्राण-शक्ति को ला विठाना।

१. ४. १९३४

(६)

जो कुछ तुमने देखा वह ठीक है; पर साधक का भाव यदि सच्चा चैत्य भाव हो तो माताजी को कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता; अपने ऊपर कोई चीज आये विना वह साधकों पर कार्य कर सकती हैं।

२२. १. १९३७

(७)

माताजी पर फेंकी हुई साधकों की अशुद्धियों के कारण ऐसा हुआ है।

भौतिक प्रकृति का रूपांतर होन से पहले इसका कोई उपाय निकालना संभव नहीं प्रतीत होता। यदि माताजी अपने और साधकों के बीच एक आंतरिक दीवाल खड़ी कर दें तो यह नहीं होगा, पर साधक माताजी से कुछ भी पाने में असमर्थ होंगे। अगर सब लोग अधिक सावधान होकर अपनी गभीरतर और उच्चतम चेतना के साथ उनके पास आयें तो इन चीजों के होने की संभावना कम होगी।

(८)

माताजी के विषय में सभी प्रकार के बुरे विचारों का उठना अथवा उनके ऊपर अशुद्धियों को फेंकना उनके शरीर पर असर कर सकता है, क्योंकि उन्होंन साधकों को अपनी चेतना में ले रखा है; वह उन सब चीजों को साधकों पर वापस नहीं फेंक सकतीं क्योंकि उससे उन्हें आघात पहुंच सकता है।

१७. ३. १९३६

(९)

दूसरों को सहायता करने का खतरा उनकी कठिनाइयों को अपने ऊपर लेने का खतरा है। अगर कोई अपनेको पृथक् रखते हुए सहायता कर सके तो फिर ऐसा नहीं होता। परंतु सहायता करने के समय उस व्यक्ति को अंशतः या पूर्णतः अपने बृहत्तर आत्मा में ले लेने की प्रवृत्ति रहती है। यही चीज माताजी को साधकों के साथ करनी पड़ती है और यही कारण है कि उन्हें कभी-कभी दुःख झेलना पड़ता है, क्योंकि कोई मनुष्य हमेशा किसी ......से सावधान नहीं रह सकता।

जब मनुष्य तल्लीन होता है या काम में लगा होता है तब सर्वदा ही यह कठिनाई होती है कि जिस व्यक्ति को सहायता दी जाती है वह तुम्हारी शक्तियों को आहरण करने और खींचने का अभ्यासी हो जाता है, वह तुम्हारे ऊपर नहीं छोड़ देता कि तुम जो दे सको या जो देना उचित हो बस उतना ही उसे दो। अन्य छोटी-छोटी बहुत सी बातों का सामना सहायता करनेवाले को करना पड़ता है।

(१०)

कामनाओं, अपूर्णताओं, अपवित्रताओं, बीमारियों आदि को माताजी के ऊपर उतार फेंकने-की भावना, जिसमें कि साधकों के बदले स्वयं माताजी ही उनके फल भोगें, बड़ी ही विचित्र है। मेरी समझ में यह बात इस ईसाई आदर्श की नकल है कि मनुष्यजाति के लिये ईसा

सूली पर दु:ख भोगते हैं। परंतु इस रूपांतर योग के साथ इस बात का कोई संबंध नहीं।
१. ११. १९३६

माताजी के विषय में बुरे विचार रखने के कारण उन्नति का रुक जाना

'अ' को इस विषय में सावधान कर देना लाभदायी हो सकता है कि वह (माताजी के विषय में) इस तरह की मूर्खतापूर्ण टिप्पणियां न सुने, भले ही वे किसी भी व्यक्ति की क्यों न हों, और, अगर वह उन्हें सुने तो उनका प्रचार करने का प्रयास न करे। वह बहुत अच्छी तरह उन्नति कर रहा था, क्योंकि उसने अपनेको माताजी की ओर खोल रखा था; अगर वह इस तरह की मूर्खता अपने मन में घुसने दे तो वह उसे प्रभावित कर सकती है, माताजी की ओर से उसे बंद कर सकती है और उसकी उन्नति रोक सकती है।

'ब' का जहां तक संबंध है, यदि (माताजी के विषय में) उसने ऐसी बात कही या सोची तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी कारण वह हाल में इतनी अधिक बीमारी भोगता रहा है। यदि कोई विरोधी शक्तियों का प्रचारकर्त्ता बन जाय और उनके मिथ्यापन को स्वीकार करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसके भीतर कोई चीज बिगड़ जाय।
७. १. १९३२

१

माताजी के लिये किये गये कर्म के द्वारा साधना

माताजी के कार्य के द्वारा साधना

(१)

यदि माताजी पर समुचित रूप से मन को एकाग्र करके उनके लिये कार्य किया जाय तो वह भी ध्यान और आंतरिक अनुभूतियों के समान ही साधना है।

(२)

जो लोग पूरी सच्चाई के साथ माताजी के लिये कार्य करते हैं वे स्वयं कार्य के द्वारा ही समुचित चेतना प्राप्त करने के लिये तैयार किये जाते हैं, भले ही वे ध्यान करने के लिये न वैठें अथवा योग का कोई विशेष अभ्यास न करें। तुम्हें यह वताने की आवश्यकता नहीं कि ध्यान कैसे किया जाता है; अगर तुम अपने कर्म में और सव समय सच्चे वने रहो और अपने-आपको माताजी के प्रति खोले रखो तो जो कुछ आवश्यक है वह अपने-आप ही आयेगा।

पूर्णयोग में कर्म की आवश्यकता

(१)

अनुभूतियां प्राप्त करने के लिये पूर्ण रूप से भीतर चले जाने और कर्म की, वाहरी चेतना की उपेक्षा करने का अर्थ है समतोलता खो वैठना, साधना में एकमुखी हो जाना—क्योंकि हमारा योग सर्वांगपूर्ण है; इसी तरह अपने-आपको वाहर की ओर फेंक देना और केवल वाहरी सत्ता में रहना भी समतोलता खो वैठना है, साधना में एकमुखी हो जाना है। साधक को आंतर अनुभूति और वाह्य कर्म दोनों में एक ही चेतना वनाये रखनी चाहिये तथा दोनों को माताजी से भर देना चाहिये।

(२)

जव तक मनुष्य का मन खूव मजवूत न हो तव तक अपना सारा समय या समय का

अधिकांश भाग ध्यान में व्यतीत करना अच्छा नहीं—क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य को पूर्ण रूप से आंतर जगत् में रहने और बाहरी तथ्यों से संस्पर्श खो बैठने की आदत पड़ जाती है—इससे एकपक्षीय सामंजस्यहीन गति उत्पन्न होती है और यह समतोलता भंग कर सकती है। ध्यान और कर्म दोनों करना तथा दोनों को माताजी को अर्पित कर देना ही सबसे उत्तम बात है। ६. ८. १९३३

(३)

हमारा अनुभव यह नहीं है कि केवल ध्यान के द्वारा प्रकृति को रूपांतरित करना संभव है, और न बाहरी क्रिया-कलाप और कर्म से अलग हो जाने पर उन लोगों को विशेष लाभ ही हुआ है जिन्होंने इसका परीक्षण किया है; बहुत से लोगों के लिये यह हानिकारक भी हुआ है। कुछ अंश में मन को एकाग्र करने, हृदय में आंतरिक अभीप्सा रखने तथा वहां माताजी की उपस्थिति की ओर और ऊपर से आनेवाले अवतरण की ओर चेतना को खोले रखने की आवश्यकता है। परंतु बिना किसी क्रिया के, बिना किसी कर्म के वास्तव में प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता; काम में और मनुष्यों के साथ संपर्क होने पर ही प्रकृति के परिवर्तन का परीक्षण होता है। जो काम मनुष्य करता है उसमें न तो कोई ऊंचा कार्य है न कोई नीचा; सभी कर्म एक जैसे हैं बशर्त्ते कि वे माताजी को अर्पित हों और उनके लिये तथा उनकी शक्ति के द्वारा किये गये हों। ६. १०. १९३४

(४)

माताजी ऐसा नहीं समझतीं कि समस्त कर्म का त्याग कर देना तथा केवल पढ़ना और ध्यान करना अच्छा है। कर्म भी योग का अंग है और यह प्राण तथा उसकी क्रियाओं के अंदर भागवत उपस्थिति, ज्योति और शक्ति को उतार लाने का सबसे उत्तम सुयोग प्रदान करता है; यह आत्मसमर्पण के क्षेत्र और सुअवसर को भी बढ़ाता है।

यह स्मरण रखना ही काफी नहीं है कि कर्म माताजी का है—और उसके परिणाम भी; तुम्हें अपने पीछे माताजी की शक्ति को अनुभव करना और उनकी अंतःप्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन की ओर खुले रहना भी सीखना चाहिये। सदा मन के प्रयास के द्वारा स्मरण करना अत्यंत कठिन है; अगर तुम उस चेतना में चले जाओ जिसमें तुम सर्वदा माताजी की शक्ति को अपने अंदर या अपनेको सहारा देते हुए अनुभव करो तो बस, वही सच्ची चीज है।

तुमने बीमा कंपनी के विषय में जैसी निश्चित सलाह मांगी है वैसी सलाह साधारणतया माताजी नहीं दिया करतीं। तुम्हें अपने मन की नीरवता में सच्ची अंतःप्रेरणा पाना सीखना चाहिये।

१८. ८. १९३२

(५)

प्रश्न—जो लोग शांति और 'समता' में निवास करते हैं पर माताजी के लिये कोई काम नहीं करते या बहुत कम काम करते है, क्या वे रूपांतर प्राप्त करते हैं ?

उत्तर—नहीं, वे बिलकुल रूपांतरित नहीं होते।

७. ५. १९३३

माताजी की शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करने की दो अवस्थाएं

(१)

इस बात का बोध होना कि हम जो कुछ करते हैं वह सब भगवान् से आया है, समस्त कर्म ही श्रीमां के हैं, अनुभूति का एक आवश्यक कदम है, पर हम उसी में बने नहीं रह सकते—हमें उससे भी आगे जाना होगा। वे ही लोग इसमें बने रह सकते हैं जो प्रकृति को बदलना नहीं चाहते, बल्कि उसके पीछे विद्यमान सत्य का केवल अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। तुम्हारा कर्म विश्व-प्रकृति के अनुसार होता है और फिर साथ ही तुम्हारी व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार, समस्त प्रकृति एक शक्ति है जिसे भगवती माता ने विश्व के कार्य के लिये बाहर निकाल रखा है। अभी जैसी स्थिति है उसमे यह अज्ञान और अहंकार का एक कार्य है; परंतु हम चाहते हैं ऐसा कर्म जो भागवत सत्य का हो और अज्ञान तथा अहंकार द्वारा आच्छादित और विकृत न हो।

अतएव जब तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे सभी कर्म माताजी की शक्ति के द्वारा किये जा रहे हैं तब यह सच्ची अनुभूति है। परंतु माताजी की इच्छा यह है कि जो कुछ तुम करो वह केवल प्रकृति के अंदर विद्यमान उनकी शक्ति के द्वारा नहीं होना चाहिये जैसा कि अभी हो रहा है, बल्कि उनकी प्रकृति के दिव्य सत्य में विद्यमान उनकी निजी सीधी शक्ति के, उच्चतर दिव्य प्रकृति के द्वारा होना चाहिये। अतएव यह भी ठीक था, जैसा कि तुमने पीछे सोचा, कि जब तक यह परिवर्तन नही आ जाता तब तक यह अनुभव पूर्ण रूप से सच्चा नहीं हो सकता कि जो कुछ भी तुम करते हो वह उनकी ही इच्छा से हो रहा है। इसलिये तब तक यह स्थायी नही होगा। क्योंकि, अगर यह अभी स्थायी हो तो यह तुम्हें निम्नतर कर्म में ही बनाये रखेगा जैसा कि यह बहुतों को बनाये रखता है और परिवर्तन को रोक देगा या उसके होने में देर लगायेगा। अभी स्थायी अनुभूति के रूप में जिस चीज की तुम्हें आवश्यकता है वह यह है कि श्रीमां की शक्ति तुम्हारे अंदर सभी चीजों में इस अज्ञानपूर्ण चेतना और प्रकृति को अपनी दिव्य चेतना और प्रकृति में पलट देने के लिये कार्य कर रही है।

यही बात 'यंत्र होने के सत्य के विषय में भी कही जा सकती है। यह ठीक है कि प्रत्येक

चीज विश्वशक्ति का यंत्र है और इसलिये श्रीमां का भी यंत्र है। पर साधना का लक्ष्य है अचेतन और इसलिये अपूर्ण यंत्र होने के बदले सचेतन और पूर्ण यंत्र बनना। हम केवल तभी सचेतन और पूर्ण यंत्र बन सकते हैं जब कि निम्न प्रकृति के अज्ञानपूर्ण धक्के के वशवर्त्ती होकर कार्य न करें बल्कि श्रीमां को आत्मसमर्पण करके तथा हमारे अंदर कार्य करनेवाली उनकी उच्चतर शक्ति का ज्ञान रखते हुए कार्य करें। अतएव इस विषय में भी तुम्हारा अंतर्ज्ञान पूर्ण रूप से ठीक था।

पर यह सब एक दिन में ही नहीं किया जा सकता। अतएव इसके लिये उत्सुक या बेचैन न होने में तुम एक बार फिर ठीक ही उतरे। माताजी की शक्ति कार्य करेगी और अपने निजी समय पर परिणाम उत्पन्न करेगी, बशर्त्ते कि हम सब कुछ उन्हें अर्पित कर दें, अभीप्सा करें तथा सजग रहें, सब समय उन्हें स्मरण करते और पुकारते रहें, तथा उनकी रूपांतरकारिणी शक्ति के कार्य के मार्ग में जो कुछ आ खड़ा हो उसका चुपचाप त्याग करते रहें।

इस बात के विषय में तुम्हारी दूसरी राय पहली की अपेक्षा कहीं अधिक समुचित दृष्टिकोण से आयी थी। यह कहना कि "वास्तव में देखा जाय तो कार्य करना मेरा काम नहीं है, अतएव मुझे चिंता करने की आवश्यकता नहीं," बहुत अधिक कहना है—जहां तक हमें अभीप्सा करना, अपने-आपको अर्पित करना, श्रीमां की क्रिया को स्वीकृति देना, अन्य सभी चीजों का त्याग करना तथा अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना है वहां तक तो हमें करना ही है। बाकी चीजें यथासमय कर दी जायेंगी, चिंतित या अवसन्न या अधीर होने की कोई आवश्यकता नहीं।

१३. ७. १९३५

(२)

सबसे पहले हमें अपनी इच्छा को श्रीमां की इच्छा के साथ युक्त कर देना चाहिये और यह समझना चाहिये कि यह केवल यंत्र है और वास्तव में इसके पीछे विद्यमान केवल श्रीमां की इच्छा ही फल प्रदान कर सकती है। उसके बाद जब हम अपने भीतर कार्य करनेवाली श्री माताजी की शक्ति के विषय में पूर्ण रूप से सचेतन हो जाते हैं तब व्यक्तिगत इच्छा का स्थान भागवत इच्छा ले लेती है।

१५. ७. १९३५

(३)

केवल एक साधारण मनोभाव ही नहीं होना चाहिये, बल्कि प्रत्येक कर्म माताजी को अर्पित होना चाहिये जिसमें कि वह मनोभाव सब समय सजीव बना रहे। काम के समय ध्यान नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह हमारे ध्यान को कर्म से हटा देगा; परंतु जिन 'एक'

को तुम अपना कर्म अर्पित करते हो उनका सतत स्मरण अवश्य बना रहना चाहिये। यह केवल प्राथमिक प्रक्रिया है; क्योंकि जब तुम निरंतर अपने भीतर एक शांत सत्ता का बोध बनाये रख सकोगे, भागवत सान्निध्य के बोध में एकाग्र हुए रहोगे और उसके साथ ही साथ ऊपरी मन काम करता रहेगा, अथवा जब बराबर यह अनुभव करना आरंभ करोगे कि श्रीमां की शक्ति ही कार्य कर रही है और तुम केवल एक प्रणाली या यंत्र हो, तब स्मरण के स्थान में कर्म में योग की, दिव्य एकत्व की एक सहज-स्वाभाविक सतत अनुभूति आरंभ हो जायगी।

माताजी की इच्छा का अनुसरण करने की शर्त्तें

माताजी की इच्छा का अनुसरण करने के लिये शर्त्तें हैं उनकी ओर ज्योति, सत्य और शक्ति के लिये मुड़ना और यह अभीप्सा करना कि कोई भी दूसरी शक्ति तुमपर प्रभाव न डाले या तुम्हें पथ न दिखाये, प्राण के अंदर कोई मांग न करना या कोई शर्त्त न रखना, सत्य को ग्रहण करने के लिये तैयार एक स्थिर मन बनाये रखना पर उसी की अपनी भावनाओं और रचनाओं पर आग्रह न करना,—अंत में, चैत्य पुरुष को जाग्रत् और सामने की ओर रखना जिसमें कि तुम निरंतर एक संपर्क बनाये रख सको और सचमुच जान सको कि उनकी इच्छा क्या है; क्योंकि मन और प्राण भूल से अन्य प्रेरणाओं और सुझावों को भगवान् की इच्छा मान सकते हैं, पर चैत्य पुरुष जब एक बार जग जाता है तब वह कभी भूल नहीं करता।

अतिमानस-रूपांतर होने के बाद ही पूर्ण पूर्णता प्राप्त करना संभव होता है; पर अपेक्षाकृत कुछ अच्छी क्रिया का होना निम्नतर स्तरों पर भी संभव है, अगर कोई भगवान् के साथ संस्पर्श बनाये रखे और अपने मन, प्राण और शरीर में सावधान, जाग्रत् और सचेतन रहे। इसके अतिरिक्त, यह एक ऐसी अवस्था है जो तैयारी करानेवाली है और परम मुक्ति के लिये प्रायः अनिवार्य है।

कर्म के लिये समुचित मनोभाव

(१)

केवल अपनी आंतरिक एकाग्रता में ही नहीं, बल्कि अपने बाह्य कार्यों और गतिविधियों में भी तुम्हें यथार्थ मनोभाव ग्रहण करना चाहिये। अगर तुम ऐसा करो और प्रत्येक चीज को माताजी के पथप्रदर्शन में छोड़ दो तो तुम देखोगे कि कठिनाइयां कम हो रही हैं और उन्हें बहुत अधिक आसानी से पार किया जा रहा है तथा सभी बातें धीरे-धीरे आसान होती जा रही हैं।

अपनी क्रिया तथा अपने कर्मों में तुम्हें ठीक वही करना चाहिये जो तुम ध्यान में करते

हो। श्रीमां की ओर उद्घाटित होओ, उन्हें श्रीमां के पथप्रदर्शन में छोड़ दो, शांति, सहारा देनेवाली शक्ति और संरक्षण को पुकारो तथा, इसलिये कि वे कार्य कर सकें, उन सभी अशुद्ध प्रभावों का त्याग करो जो अयथा, असावधान या अचेतन गतियां उत्पन्न करके उनके रास्ते में वाधा खड़ी कर सकती हैं।

इस सिद्धांत का अनुसरण करो और तुम्हारी सारी सत्ता शांति के अंदर तथा आश्रयदात्री दिव्य शक्ति और ज्योति के अंदर एक-अविभक्त सत्ता वन जायगी, एक शासन के अधीन आ जायगी।

(२)

तुम्हारे लिये वस सत्य यही है कि तुम भगवान् को अपने अंदर अनुभव करो, माताजी की ओर उद्घाटित होओ और तवतक भगवान् के लिये कार्य करते रहो जब तक तुम अपने सभी कार्यों में भगवती माता को अनुभव न करने लगो। यह चेतना रहनी ही चाहिये कि तुम्हारे हृदय में भागवत उपस्थिति विद्यमान है और तुम्हारे कार्यों में भागवत पथप्रदर्शन प्राप्त हो रहा हैं। यदि चैत्य पुरुष पूर्ण रूप से जाग्रत् हो तो वह इसे सहज ही, तेजी से और गहराई के साथ अनुभव कर सकता है; और यदि चैत्य पुरुष एक वार इसे अनुभव कर ले तो यह फिर मनोमय और प्राणमय स्तरों में भी फैल सकता है।

(३)

मांगें पेश नहीं करनी चाहियें; तुम माताजी से जो कुछ अपने-आप पाते हो वह तुम्हें सहायता करता है; जो कुछ तुम मांगते हो या माताजी पर लादने की चेष्टा करते हो वह उनकी शक्ति से खाली होगा ही।

माताजी प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसकी सच्ची आवश्यकता (वह स्वयं अपनी कल्पना के अनुसार जिसे आवश्यकता मान ले वह नही), साधना में उसकी प्रगति और उसकी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग रूप में व्यवहार करती हैं।

तुम्हें जो शक्ति पाने की आवश्यकता है उसे प्राप्त करने का तुम्हारे लिये सवसे अधिक फलदायी मार्ग है सचेतन और सावधान होकर काम करना, ठीक-ठीक उसे संपन्न करने में किसी चीज को वाधा न डालने देना। अगर तुम ऐसा करो और उसके साथ ही साथ अपने कर्म में माताजी की ओर खुले रहो तो तुम अधिक सतत रूप में कृपा ग्रहण करने लगोगे और उनकी शक्ति को अपने द्वारा काम करते हुए अनुभव करने लगोगे; और इस तरह सर्वदा उनकी उपस्थिति को अनुभव करते हुए निवास करने में समर्थ होंगे। इसके विरुद्ध, यदि तुम अपनी मनमौजों या कामनाओं को अपने कार्य में हस्तक्षेप करने दो अथवा

असावधान रहो और उपेक्षा करो तो तुम उनकी कृपाशक्ति के प्रवाह को बाधा पहुंचाओगे और अपने अंदर उदासी, बेचैनी तथा अन्य विजातीय शक्तियों के घुस आने के लिये अवकाश प्रदान करोगे। इस साधना की धारा में प्रवेश करने के लिये कर्म के द्वारा योग करना सबसे आसान और अत्यंत फलप्रद मार्ग है।
८. ३. १९३०

(४)

अगर अक्षमता, तामसिकता ओर निष्क्रियता को स्वीकार किया जाय तो अत्यंत विशुद्ध भौतिक ओर यांत्रिक कार्य भी समुचित ढंग से नहीं किया जा सकता। इलाज यह नहीं है कि तुम अपनेको यंत्रवत् होनेवाले कार्य में आवद्ध कर दो, वल्कि यह है कि तुम अक्षमता, निष्क्रियता ओर तामसिकता का त्याग करो और उन्हें दूर फेंक दो तथा माताजी की शक्ति की ओर अपनेको खोल दो। अगर मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा और आत्मप्रतारणा तुम्हारे रास्ते में आ खड़ी हों तो उन्हें अपनेसे दूर फेंक दो। अगर तुम उनके विलुप्त होने के लिये महज राह देखते रहो तो उन सब चीजों से छुटकारा नहीं पाओगे। अगर तुम चीजों के घटित होने की प्रतीक्षा ही करो तो फिर कोई कारण नहीं कि वे बिलकुल ही घटित हों। अगर अक्षमता और दुर्वलता ही बाधा डालती हों तो भी, जैसे-जैसे मनुष्य सच्चे रूप में और अधिकाधिक श्रीमां की शक्ति की ओर खुलता जायगा वैसे वैसे उसे काम के लिये आवश्यक शक्ति-सामर्थ्य और क्षमता मिलती रहेगी और वे आधार में बढ़ती रहेंगी।

कर्म में सच्ची चेतना

(१)

उसे अपना कार्य करते रहना चाहिये और समुचित चेतना में रहकर अन्य सभी चीजों को करना चाहिये, वह जो कुछ भी करे उसे माताजी को समर्पित करना चाहिये और उनके साथ अपना आंतर संस्पर्श वनाये रखना चाहिये। इस भाव के साथ और इस चेतना में रहकर किये गये सभी कर्म कर्मयोग वन जाते हैं और उसकी साधना का अंग माने जा सकते हैं।

(२)

कर्म में जो कुछ तुमने पाया और रखा वह वास्तव में कर्मयोग की सच्ची और मौलिक चेतना है—ऊपर से सहारा देती हुई शांत-स्थिर चेतना और ऊपर से कार्य करती हुई शक्ति तथा उसके साथ भक्ति जो यह अनुभव करती है कि यह माताजी की चेतना ही है जो

उपस्थित और क्रियाशील है। अब तुम अनुभव द्वारा जान गये हो कि कर्मयोग का रहस्य क्या है।
१५. ९. १९३६

(३)

चैत्य चेतना में रहने का लाभ यह है कि तुम्हे सच्ची जानकारी प्राप्त होती है और उसके संकल्प के श्रीमां के संकल्प के साथ सुसमंजस होने के कारण तुम परिवर्तन लाने के लिये श्रीमां की शक्ति को पुकार सकते हो। जो लोग मन और प्राण में निवास करते हैं वे यह करने में उतने समर्थ नही होते; उन्हे अधिकांश में अपने व्यक्तिगत प्रयास का उपयोग करने के लिये वाध्य होना पड़ता है और चूंकि मन और प्राण की जानकारी, संकल्प और शक्ति विभक्त और अपूर्ण होती है, उनके द्वारा किया हुआ कार्य भी अपूर्ण होता है और अंतिम नही होता। केवल अतिमानस में ही ज्ञान, संकल्प और शक्ति सर्वदा एक गति होती हैं और स्वभावतः ही फलप्रद होती हैं।

(४)

प्रश्न–काम के अंदर मैं वारवर ही माताजी के संस्पर्श में रहता हूं। मुझे केवल उनकी याद ही नही रहती वल्कि काम के अंदर उनके साथ संपर्क वना रहता है। उनकी शक्ति निरंतर आधार में वहती रहती है और कार्य अपने-आप संपन्न होता है, पर होता है तेजी से, पूर्ण रूप से, विना किसी हिचकिचाहट के–विना किसी व्यक्तिगत दुश्चिंता और उत्तरदायित्व के; वल्कि उनके स्थान में, अव पूरा विश्वास, निश्चयता, शक्ति और अचंचलता विद्यमान है। मैं समझता हूं कि यदि मैं इस मनोभाव के साथ कार्य कर सकूं तो वह पूर्ण, निर्दोष और माताजी के वच्चे का कार्य वन जायगा, एक अहंकारपूर्ण मनुष्य का नही। कृपया मुझे वताइये कि मेरी वात ठीक है या नही।

उत्तर–हां, यह वहुत अच्छी प्रगति है और कर्म के लिये दिव्य शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करने का पहला कदम है।

(५)

प्रत्येक व्यक्ति माताजी के अंदर है, परंतु सवको इस विपय में–केवल कर्म के विषय में ही नहीं–सचेतन होना चाहिये।
१. ४. १९३५

(६)

यह तब होता है जब कि कर्म बराबर माताजी के चिंतन के साथ संयुक्त होता है, यह पुकार रखते हुए कि माताजी तुम्हारे द्वारा उसे करें, उनकी पूजा के रूप में किया जाता है। अहंकार की सभी भावनाएं, कर्म के साथ लगे हुए सभी अहंजन्य हृद्गत भाव अवश्य दूर होने चाहियें। फिर साधक श्रीमां की शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करना आरंभ करता है; कर्म के पीछे विद्यमान एक विशिष्ट आंतर मनोभाव के द्वारा चैत्य पुरुष वर्द्धित होता है और आधार भीतर से आनेवाली चैत्य संबोधि तथा प्रभाव एवं ऊपर से होनेवाले अवतरण दोनों के प्रति उद्घाटित हो जाता है। उस समय स्वयं कर्म के द्वारा ही ध्यान का फल भी प्राप्त हो सकता है।

दिव्य जीवन का आधार

पूर्ण रूप से सच्चा होने का मतलब है एकमात्र दिव्य सत्य की कामना करना, भगवती माता को अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना, इस एक अभीप्सा से भिन्न अन्य सभी व्यक्तिगत मांगों और कामनाओं का त्याग करना, जीवन के प्रत्येक कर्म को श्रीभगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देना और कर्म को भगवद्दत्त कर्म समझकर करना तथा उसमें अहंकार को न आने देना। यही दिव्य जीवन का आधार है।

कोई भी आदमी तुरत ऐसा नहीं हो सकता; पर, कोई यदि बराबर अभीप्सा करे और सच्चे हृदय तथा सत्य-संकल्प के साथ निरंतर भागवत शक्ति की सहायता की पुकार करे तो वह अधिकाधिक इस चेतना में वर्द्धित होगा।

सर्वांगपूर्ण सेवा की शर्तें

(१)

हृदय पर से अहंकार की छाप को मिटा दो और माताजी के प्रेम को उसके स्थान में आ जाने दो। अपने व्यक्तिगत विचारों और निर्णय के प्रति होनेवाले समस्त आग्रह को अपने मन से दूर फेंक दो, तभी तुम माताजी को समझने के लिये ज्ञान प्राप्त करोगे। अपनी ही इच्छा में मत्त मत होओ, अपने कार्य को अहंकार द्वारा चालित मत होने दो, व्यक्तिगत अधिकार के लिये लोलुपता मत रहने दो, व्यक्तिगत पसंद के प्रति आसक्ति मत रखो, फिर देखोगे कि श्रीमां की शक्ति स्पष्ट रूप में तुम्हारे अंदर कार्य करने में समर्थ होगी और जो अक्षय शक्ति तुम मांगते हो उसे प्राप्त करोगे और तुम्हारी सेवा भी पूर्ण होगी।

२७. ११. १९४०

(२)

हां, यह—अहंकार, क्रोध, व्यक्तिगत नापसंदगी आत्माभिमानी वेदनशीलता इत्यादि को पार करना—अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। कर्म केवल कर्म के लिये नहीं है, बल्कि वह निम्नतर व्यक्तित्व और उसकी प्रतिक्रियाओं से छुटकारा पाने तथा भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण साधित करने के लिये साधना का एक क्षेत्र है। स्वयं कर्म का जहां तक प्रश्न है, वह माताजी द्वारा निश्चित या स्वीकृत व्यवस्था के अनुसार ही किया जाना चाहिये। तुम्हें यह सर्वदा याद रखना चाहिये कि वह माताजी का कार्य है, तुम्हारा व्यक्तिगत कार्य नहीं है।
२३. ३. १९३५

(३)

जब कभी तुम्हारे सामने ये परिस्थितियां और अनुभव आयें, मैं पहले जो कुछ लिख चुका हूं महज उसीको दुहरा सकता हूं। काम को छोड़ना कोई समाधान नहीं है—सच पूछो तो कर्म के द्वारा ही मनुष्य यौगिक आदर्श के विरोधी, अहंभाव के अनुभवों और गति-विधियों को पहचान सकता और धीरे धीरे उनसे मुक्त हो सकता है।

कर्म स्वयं अपने लिये नहीं बल्कि माताजी के लिये किया जाना चाहिये,—इसी तरह मनुष्य चैत्य पुरुष की वृद्धि को प्रोत्साहन देता है और अहं को पार करता है। इसकी पहचान है अभिमान या आग्रह या व्यक्तिगत रुचि या सम्मान की भावना के बिना माताजी का दिया हुआ काम करना—अहंकार, आत्मसम्मान या व्यक्तिगत पसंद को आघात पहुंचानेवाली किसी चीज से आहत न होना।

कर्म के द्वारा जो आदर्श साधक के सामने रखा गया है वह ऊंचा और महान् है और उसे एकाएक प्राप्त करना संभव नहीं, पर धीरे धीरे उसमें वर्द्धित होना संभव है यदि मनुष्य उस आदर्श को—भगवती माता के कार्य के लिये निःस्वार्थ और पूर्ण संयत यंत्र बनने के आदर्श को—सदैव अपने सामने रखे।
२८. ९. १९३३

निर्वैयक्तिक कार्यकर्त्ता

(१)

साधारणतया निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है अहंकेंद्रित न होना, चीजों का असर स्वयं तुमपर कैसे पड़ता है उसकी दृष्टि से उन्हें न देखना, बल्कि उनके अंदर जो चीजें हैं उन्हें देखना, निष्पक्ष होकर विचार करना, स्वयं अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या अहंकारपूर्ण लाभ या अहंजन्य भावना या बोध के द्वारा नहीं, वरन् चीजों के अभिप्राय के द्वारा या चीजों के

परम प्रभु की इच्छा के द्वारा जिस बात की मांग की जाय उसे करना। कार्य में वही करना चाहिये जो कार्य के लिये सबसे उत्तम हो, अपने निजी सम्मान या सुविधा का ख्याल नहीं करना चाहिये, कार्य को स्वयं अपना नहीं बल्कि माताजी का समझना चाहिये, उसे नियम, अनुशासन, निर्वैयक्तिक प्रबंध के अनुसार, यहां तक कि यदि अवस्थाएं सबसे उत्तम रूप में करने के लिये अनुकूल न हों तो उस समय की अवस्थाओं के अनुसार करना चाहिये। निर्वैयक्तिक कार्यकर्त्ता अपने पूरे सामर्थ्य, उत्साह और श्रमशीलता को कर्म में लगा देता है, पर अपने व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, मिथ्याभिमान और आवेगों को नही लगाता। वह हमेशा एक ऐसी चीज को अपनी दृष्टि में रखता हैं जो उसके तुच्छ व्यक्तित्व से अधिक महान् है और उसके प्रति जो उसकी भक्ति या आज्ञानुवर्त्तिता है वही उसके जीवन को परिचालित करती है।
२९. ६. १९३५

(२)

प्रत्येक "आंतरिक संकेत" को ऐसा मानना खतरनाक होगा कि वह मानों माताजी से आया हुआ कर्म का संकेत या प्रारंभ हो। जो कुछ आंतरिक संकेत मालूम होता है वह कहीं से भी, अपने-आपको चरितार्थ करने की चेष्टा करनेवाली किसी भी अच्छी या बुरी शक्ति से आ सकता है।

चाहे कर्म स्वयं माताजी से ही क्यों न आया हो फिर भी उसके विषय में साधक में अहंकार रह सकता है। यंत्र होने का अहंकार ऐसी चीजों में से एक है जिनसे योग में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये।

जब मनुष्य काम करता है तब साधारणतया काम करनेवाली शक्ति का प्रवेग और उसे करने तथा उसे पूरा कर डालने की धुन याँ उसे करने का सुख पर्याप्त मात्रा में होता है और मन अन्य किसी चीज का चिंतन नही करता। उसके बाद "इसे मैंने किया" का बोध आ उपस्थित होता है। परंतु कुछ लोगों में स्वयं काम करते हुए भी अहंकार सक्रिय रहता है।
३. ११. १९३५

(३)

बेशक यह एक रास्ता है। परंतु फिर भी मनुष्य को अहंकार से सावधान रहना चाहिये। जो लोग सच्चे दिल से ऐसा समझते है कि वे केवल माताजी का कार्य कर रहे हैं वे भी बिना जाने अहंभाव के साथ आसक्त होते हैं।
४. ४. १९३६

माताजी के लिये किये गये कर्म के द्वारा साधना

कर्म की कठिनाइयों से लाभ

(१)

मैं तुम्हारे संकल्प से प्रसन्न हूं। यदि मनुष्य इस विषय में समुचित मनोभाव ग्रहण करे तो, कर्म में चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यो न उठे, उनसे वह अपनी समता को गहरा बनाकर उतना ही अधिक लाभ उठा सकता हैं। तुम्हे इस विषय में सहायता ग्रहण करने के लिये अपने-आपको खुला भी रखना चाहिये, क्योकि प्रकृति को बदलने के लिये माताजी से बराबर ही सहायता आती रहेगी।

२९. ९. १९३५

(२)

अपनेको दुःखित या निरुत्साहित मत होने दो। दुर्भाग्यवश मनुष्यों को एक-दूसरे के प्रति कठोर होने का अभ्यास पड़ गया है। अगर तुम अपना काम पूरी सच्चाई के साथ करो तो माताजी संतुष्ट होंगी और बाकी चीजें पीछे स्वयं आती रहेंगी।

(३)

तुम्हें 'अ' के चट गर्म हो जाने का ख्याल नहीं करना चाहिये। सर्वदा याद रखो कि तुम माताजी का कार्य कर रहे हो और अगर तुम कार्य करते हुए माताजी को स्मरण कर सको तो माताजी की कृपा तुम्हारे साथ रहेगी। कार्यकर्त्ता के लिये यही समुचित भाव है, और यदि तुम इस भाव में कार्य करो तो शांत आत्मदान का भाव उत्पन्न होगा।

१. ३. १९३३

माताजी के साथ आंतर संपर्क रखते हुए काम करना

(१)

तुम्हें अधिक दृढ़ता के साथ अंतःकरण में अपने-आपको एकत्र करना होगा। यदि तुम निरंतर अपनेको छितराये रखो, आंतरिक क्षेत्र से बाहर चले जाओ तो तुम साधारण बाहरी प्रकृति की तुच्छताओं तथा जिन प्रभावों की ओर वह खुली होती है उनके अंदर सर्वदा विचरण करते रहोगे। अंतर में रहना और सदा भीतर से, निरंतर माताजी के संपर्क में रहते हुए कार्य करना सीखो। सर्वदा और पूर्ण रूप से ऐसा करना आरंभ में कठिन हो सकता है, पर कोई यदि उसमें लगा रहे तो यह किया जा सकता है—और इसी मूल्य पर, उस दृढ़ता को सीखकर ही मनुष्य योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

५. ६. १९३४

(२)

जब बाहर चीजें अस्तव्यस्त हो जायं तब तुम्हें तुरत इस नियम पर अपने मन को जमा देना चाहिये कि बाहरी रूपों को देखकर फैसला करना उचित नहीं है—अपने भीतर माताजी की ज्योति के सामने सब कुछ रख देना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि सब स्पष्ट हो जायगा।

माताजी कहती हैं कि यदि किसी समय तुम काम का बहुत अधिक बोझ अनुभव करो तो तुम्हें तुरत उनसे कहना चाहिये जिसमें कि वह देख सकें कि क्या किया जा सकता है।
१६. ९. १९३३

कर्म में माताजी की शक्ति की ओर उद्घाटन और विश्राम की आवश्यकता

(१)

शरीर की साधारण अवस्था में अगर तुम बहुत अधिक काम करने के लिये शरीर को बाध्य करो तो प्राण-शक्ति का सहारा लेकर वह उसे कर सकता है। पर ज्योंही काम समाप्त हो जाता है त्योंही प्राणशक्ति हट जाती है और तब शरीर थकावट अनुभव करता है। अगर ऐसा बहुत अधिक और बहुत लंबे समय तक किया जाय तो थकावट के कारण स्वास्थ्य और शक्ति का ह्रास हो सकता है। तब स्वस्थ होने के लिये विश्राम की आवश्यकता होती है।

परंतु मन और प्राण को यदि माताजी की शक्ति की ओर खुलने का अभ्यास हो जाय तो फिर वे शक्ति का सहारा प्राप्त करते हैं और यहां तक कि उससे एकदम भर भी सकते हैं—उस समय शक्ति काम करती है और पहले या पीछे शरीर कोई दबाव या थकावट नहीं अनुभव करता। परंतु उस अवस्था में भी, जब तक स्वयं शरीर भी नहीं खुलता और शक्ति को आत्मसात् करने और बनाये रखने में समर्थ नहीं होता तब तक कर्म में बीच-बीच में पर्याप्त विश्राम करना एकदम आवश्यक है। अन्यथा, शरीर यद्यपि बहुत दीर्घ काल तक चलता रह सकता है, फिर भी अंत में उसके भंग हो जाने का खतरा बना रह सकता है।

जब पूरा प्रभाव विद्यमान हो और मन तथा प्राण में अनन्य श्रद्धा-विश्वास और पुकार हो तो शरीर को बहुत लंबे समय तक बनाये रखा जा सकता है; परंतु मन या प्राण यदि अन्य प्रभावों के द्वारा चंचल हो गये हों या जो शक्तियां माताजी की नहीं हैं उनकी ओर खुले हों तो फिर उससे एक मिलीजुली अवस्था उत्पन्न होगी और कभी तो शक्ति-सामर्थ्य मालूम होगी और कभी थकावट, निर्बलता या अस्वस्थता अथवा एक साथ ही दोनों की मिलीजुली अवस्था।

अंत में, यदि केवल मन और प्राण ही नहीं, वरन् शरीर भी खुला रहे और शक्ति को आत्मसात् कर सके तो वह बिना भंग हुए कार्य के अंदर असाधारण चीजें सम्पन्न कर सकता है। फिर भी, उस अवस्था में भी विश्राम की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जिन लोगों में कर्म की प्रवृत्ति है उनसे हम आग्रह करते हैं कि वे श्रम और विश्राम के बीच समुचित समतोलता बनाये रखें।

थकावट से पूर्ण मुक्ति पाना संभव है, पर वह केवल तभी आती है जब कि पार्थिव चेतना में अतिमानसिक शक्ति के पूर्ण अवतरण के द्वारा शरीर के धर्म का ही संपूर्ण रूपांतर हो जाय।

(२)

यही बात आश्रम में शारीरिक काम करनेवालों में प्रतिदिन हुआ करती थी। कर्म के प्रति अनुराग रखते हुए वे अत्यधिक शक्ति और उत्साह के साथ काम करते और कुछ समय बाद जब थकावट अनुभव करते तो माताजी को पुकारते और उनमें एक प्रकार का विश्राम का बोध उत्पन्न होता तथा उसके साथ-ही-साथ या उसके बाद ही शक्ति की एक बाढ़-सी आ जाती जिससे दुगुना काम भी एकदम बिना थकावट या प्रतिक्रिया के पूरा हो जाता था। बहुतों में तो प्राण के अंदर स्वभावतः ही शक्ति के लिये पुकार थी जिससे कि वे ज्योंही काम आरंभ करते त्योंही शक्ति की बाढ़ को अनुभव करते और जब तक काम करना होता तब तक वह बाढ़ बनी रहती।

२६. ३. १९३६

कर्म में प्राणशक्ति

कर्म में अनुभूत प्राणशक्ति से मत डरो। प्राणशक्ति भगवान् की एक बहुमूल्य देन है जिसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता—जैसा कि माताजी ने प्रारंभ से ही सर्वदा जोर देकर कहा है; यह शक्ति इसलिये दी गयी है कि 'उनका' '(भगवान् का) काम किया जा सके। मैं बहुत प्रसन्न हूं कि वह वापस आ गयी है और उसके साथ प्रसन्नता और आशा का भाव भी आ गया है। ऐसा ही होना उचित था।

कर्म में आत्मप्रभुत्व की आवश्यकता

माताजी तुम्हारे पुस्तक लिखने के काम को नामंजूर नहीं करतीं—बस वह यह नहीं चाहतीं कि तुम उसमें इतना डूब जाओ कि और कुछ भी न कर सको। जो कुछ तुम करो उसपर तुम्हारा अधिकार होना चाहिये, उसके द्वारा तुम्हें अधिकृत नहीं होना चाहिये। वह पूरी सहमत हैं कि तुम, यदि संभव हो तो, पुस्तक को पूरा कर डालो और अपने जन्मदिन पर

उसे समर्पित कर दो। परंतु तुम्हें उसमें वह नहीं जाना चाहिये–तुम्हें उच्चतर वस्तुओं के साथ पूरा-पूरा संस्पर्श बनाये रखना चाहिये।
१.५.१९३४

माताजी के लिये प्रचार-कार्य

माताजी प्रचार को बहुत मूल्य नहीं देतीं, पर फिर भी उस तरह का कार्य उनका कार्य हो सकता है। केवल उसे आना चाहिये उनकी प्रेरणा से, किया जाना चाहिये शांति के साथ, नाप-तौल कर के, जिस तरह वह चाहती हैं उस तरह। यह कार्य माताजी के संकल्प के साथ युक्त होकर आंतर सत्ता के द्वारा किया जाना चाहिये, प्राणगत मन के उत्सुक आवेग के द्वारा नही। साधक की पहली आवश्यकता है अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति और अनुभूति के लिये सबसे अधिक एकाग्र होना–दूसरों को सहायता करने के लिये उत्सुक होने से मनुष्य आंतरिक कार्य से अलग हट जाता है। स्वयं आत्मा में वर्द्धित होना ही सबसे बड़ी सहायता है जो मनुष्य दूसरों को दे सकता है, क्योंकि उस अवस्था में कुछ चीज अपने-आप ही आसपास के लोगों की ओर प्रवाहित होती है और उनकी सहायता करती है।
९.४.१९३७

१०

कठिनाइयों में माताजी की सहायता

विजय का आश्वासन

इस विषय में निस्संदिग्ध रहो कि तुम्हें इस पथ पर ले जाने के लिये माताजी सदा तुम्हारे साथ रहेंगी। कठिनाइयां आती हैं और चली जाती हैं, पर, माताजी हैं तो, विजय सुनिश्चित है।
१८. ७. १९३६

श्रीमां की क्रिया में विश्वास

(१)

समस्त बाह्य रूपों के पीछे होनेवाली श्रीमां की क्रिया में तुम्हें अटल विश्वास बनाये रखना चाहिये, और फिर तुम देखोगे कि वह विश्वास तुम्हें पथ पर सीधे लिये जा रहा है।
३१. ८. १९३५

(२)

सब कुछ माताजी पर छोड़ देना, पूर्ण रूप से उन्हीं पर भरोसा रखना और उन्हें लक्ष्य की ओर ले जानेवाले पथ पर अपनेको ले जाने देना ही समुचित मनोभाव है।
२. ३. १९३६

(३)

कोई आदमी केवल अपनी ही शक्ति या अच्छे गुणों के द्वारा दिव्य रूपांतर नहीं प्राप्त कर सकता; केवल दो चीजें हैं जिनका मूल्य है: कार्य करनेवाली माताजी की शक्ति और उसकी ओर खुले रहने का साधक का संकल्प तथा उनकी क्रिया पर विश्वास। अपने संकल्प और विश्वास को बनाये रखो और बाकी किसी चीज की परवा मत करो—वे केवल कठिनाइयां हैं जो साधना में सबके सामने आती हैं।
१३. ५. १९३६

(४)

यदि चैत्य पुरुष की प्रकृति जाग्रत् हो जाय, अपने पीछे विद्यमान माताजी की चेतना और शक्ति के द्वारा तुम्हारा पथप्रदर्शन करे तथा तुम्हारे अंदर कार्य करे तो कुछ भी असंभव नहीं है। १९. १०. १९३५

(५)

यदि कोई माताजी में पूरा विश्वास बनाये रखे और अपनी चैत्य-सत्ता को खोले रखे तो माताजी की शक्ति सब कुछ करेगी और मनुष्य का बस इतना ही काम होगा कि वह अपनी अनुमति दे, अपने को खोले रखे और अभीप्सा करे।
१२. ११. १९३५

(६)

प्रगति चाहे तेज हो या धीमी, सर्वदा साधक का मनोभाव होना चाहिये माताजी पर संपूर्ण विश्वास और भरोसा। जिस तरह तुम यह समझते हो कि प्रगति तुम्हारे अपने प्रयास या गुण का परिणाम नहीं थी बल्कि तुम्हारे माताजी पर भरोसा रखने के समुचित मनोभाव तथा माताजी की शक्ति की क्रिया का परिणाम थी, ठीक उसी तरह तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि कोई धीमापन या कठिनाई तुम्हारे अपने दोष के कारण थी, बल्कि भरोसा रखने के इस मनोभाव को ही बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिये और माताजी की शक्ति को कार्य करने देना चाहिये–धीरे हो या तेजी से, उससे कुछ आता-जाता नहीं।
१४. ११. १९३५

(७)

नहीं। संभवतः यह ऐसा इसलिये लगता है कि प्राण-चेतना या भौतिक चेतना के कुछ अंश ने इसे ऐसा ही रूप दिया है। यह पथ रेगिस्तान नहीं है और न तुम अकेले ही हो, क्योंकि श्रीमां तुम्हारे साथ हैं।
२. ११. १९३३

श्रीमां का निश्चित मनोभाव

(१)

श्री माताजी कभी भविष्य की कठिनाइयों, पतनों या विपत्तियों की बात नहीं सोचतीं। उनका ध्यान सर्वदा एकाग्र होता है प्रेम और प्रकाश पर, कठिनाइयों और अधःपतनों के ऊपर नहीं।

(२)

माताजी उच्चतर सद्वस्तु को जगत् में ले आती हैं—उनके बिना बाकी सब कुछ अज्ञानपूर्ण और मिथ्या है।

३. ८. १९३४

सर्वदा करने लायक एक चीज

(१)

एक बार जब मनुष्य योगमार्ग में प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज करनी होती है—उसे दृढता के साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अन्ततक अवश्य जाऊंगा। सच पूछा जाय तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुमसे ऊपर आसीन है—और समस्त अवस्था-विपर्ययों में से गुजरते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिये श्रीमां की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज है जिसे सर्वदा करना चाहिये।
३. १. १९३४

(२)

माताजी की ओर मुड़ा हुआ प्रत्येक आदमी ही मेरा योग कर रहा है। यह मानना बड़ी भूल है कि कोई पूर्णयोग "कर" सकता है—अर्थात् अपने निजी प्रयास से योग के सभी पक्षों को चला सकता और सिद्ध कर सकता है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। बस मनुष्य को करना यह है कि वह अपनेको माताजी के हाथों में सौंप दे और सेवा, भक्ति, अभीप्सा के द्वारा उनकी ओर अपनेको खोले; तब माताजी अपनी ज्योति और शक्ति से उसके अंदर कार्य करती हैं और उसी से साधना होती है। फिर एक बड़ा पूर्णयोगी या अतिमानसिक पुरुष होने की महत्त्वाकांक्षा रखना और स्वयं अपने-आपसे यह पूछना कि उस ओर मैं कहां तक पहुंचा हूं, एक भूल है। यथार्थ मनोभाव है माताजी की भक्ति करना और उन्हीं के प्रति समर्पित होना और वह तुम्हारे लिये जो चाहे वही बनने की इच्छा करना। बाकी चीजों का निर्णय करना और उन्हें तुम्हारे अंदर करना माताजी का काम है।
अप्रैल, १९३५

(३)

एक बात है जो हर एक को याद रखनी चाहिये। जो कुछ भी किया जाय वह योग, साधना और माताजी की चेतना में दिव्य जीवन की ओर बढ़ने की दृष्टि से किया जाय। अपने

ही मन और उसके विचारों पर आग्रह करना, अपने निजी प्राणगत अनुभवों और प्रति-क्रियाओं के द्वारा अपनेको परिचालित होने देना यहां के जीवन का विधान नहीं होना चाहिये। मनुष्य को इन सबसे पीछे हटना चाहिये, अनासक्त होना चाहिये, उनके स्थान पर ऊपर से सच्चा ज्ञान तथा भीतर की चैत्य सत्ता से सच्चे अनुभवों को ले आना चाहिये। अगर मन और प्राण समर्पण न करें, अगर वे अपने निजी अज्ञान की, जिसे वे सत्य, यथार्थ और न्याय के नाम से पुकारते हैं, आसक्ति का त्याग न करें तो यह नहीं किया जा सकता। समस्त कठिनाई उसी से उठती है; यदि उसे जीत लिया जाय तो वर्तमान उपद्रव और कठि-नाई के स्थान में जीवन का, कर्मका, सामंजस्य का, उस सबका जो भगवान् के साथ एकत्व होने पर आता है, सच्चा आधार धीरे-धीरे स्थापित हो जायगा।

कठिनाई में श्रीमां की शक्ति पर विश्वास

(१)

बस आवश्यकता है अध्यवसाय की–निरुत्साहित हुए बिना आगे बढ़ते जाने की और यह स्वीकार करने की कि प्रकृति की प्रक्रिया तथा श्रीमां की शक्ति की क्रिया कठिनाई के भीतर से भी काम कर रही है और जो कुछ आवश्यक है उसे करेगी। हमारी अक्षमता से कुछ नहीं आता-जाता–एक भी आदमी ऐसा नहीं जो अपनी प्रकृति के भागों में अक्षम न हो –पर भागवती शक्ति भी विद्यमान है। अगर कोई उसपर विश्वास रखे तो अक्षमता क्षमता में परिवर्त्तित हो जायगी। उस समय स्वयं कठिनाई और संघर्ष भी सिद्धि प्राप्त करने के साधन बन जाते हैं।

२७. ५. १९३६

(२)

इस विचार को कभी आने और अपने को परेशान मत करने दो कि "मैं समर्थ नहीं हूं, मैं यथेष्ट प्रयास नहीं करता हूं।" यह एक तामसिक सुझाव है जो अवसाद ले आता है और फिर अवसाद अनुचित शक्तियों के आक्रमण के लिये दरवाजा खोल देता है। तुम्हारी स्थिति तो यह होनी चाहिये कि "जो कुछ मैं कर सकूंगा वह करूंगा; माताजी की शक्ति, स्वयं श्री भगवान् यह देखने के लिये मौजूद हैं कि समुचित समय के अंदर सब कुछ कर दिया जाय।"

४. ११. १९३५

(३)

समुचित मनोभाव है घबड़ाना नहीं, शांत-स्थिर बने रहना और विश्वास बनाये रखना।

पर यह भी आवश्यक है कि श्रीमां की सहायता ग्रहण की जाय और किसी भी कारण से उनकी सहायता से पीछे न हटा जाय। हमें कभी असमर्थता, प्रत्युत्तर देने की अयोग्यता के विचारों में नहीं लगा रहना चाहिये, दोषों और असफलताओं पर अत्यधिक ध्यान नहीं देना चाहिये और उन सबके कारण मन को दुःखी और शर्मिन्दा नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि ये विचार और बोध अंत में कमजोर बनानेवाली चीजें बन जाते हैं। अगर कठिनाइयां हैं, ठोकरें लगती हैं या असफलताएं आती है तो उन्हें शांत-स्थिर रहकर देखना चाहिये और उन्हें दूर करने के लिये शांति के साथ, निरंतर भागवत साहाय्य को पुकारना चाहिये। कभी विचलित या दुःखी या निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। योग कोई सहज पथ नहीं है और प्रकृति का सर्वांगीण परिवर्तन एक दिन में नही किया जा सकता।

(४)

इस प्रकार का दुःख-शोक और निराशा सबसे बुरी बाधाएं हैं जिन्हें मनुष्य अपनी साधना में खड़ा कर सकता है—इनमें कभी संलग्न नहीं होना चाहिये। मनुष्य स्वयं जिसे नहीं कर सकता उसे वह माताजी की शक्ति को पुकारकर उससे करा सकता है। उसी को ग्रहण करना और उसे अपने अंदर कार्य करने देना साधना में सफलता पाने का सच्चा तरीका है।

(५)

अभी चाहे जो कठिनाइयां क्यों न मौजूद हों, इस बात का विश्वास रखो कि उनपर विजय प्राप्त होगी। बाहरी सत्ता के घबड़ाने का कोई कारण नहीं है—माताजी की शक्ति और तुम्हारी भक्ति रास्ते में आनेवाली सभी बाधाओं को पार करने के लिये काफी होंगी।

(६)

निरुत्साहित होने का कोई कारण नहीं है। प्रकृति की तैयारी के लिये तीन वर्ष का समय बहुत अधिक नहीं है। प्रकृति साधारणतया उत्थान-पतन के भीतर से होती हुई धीरे-धीरे उस अवस्था के समीप पहुंचती है जहां निरंतर उन्नति करना संभव हो जाता है। समस्त बाहरी रूपों के पीछे होनेवाली माताजी की क्रिया के प्रति अपने विश्वास से दृढ़तापूर्वक चिपके रहना चाहिये और तब तुम देखोगे कि वह तुम्हें आगे बढ़ा ले जा रहा है।
३१.८.१९३५

(७)

तुम्हें शोक-ताप या निराशा के वश में नहीं होना चाहिये—ऐसा करने का कोई कारण नहीं। माताजी की कृपा एक क्षण के लिये भी तुमसे अलग नहीं हुई है। दूसरों के आक्रमणों से इस प्रकार अपनेको विचलित मत होने दो—तुम अच्छी तरह जानते हो कि किस

उद्देश्य से वे अपना कार्य करते हैं–और पीछे वे उस पथ का अनुसरण दूर तक नहीं करेंगे जिसे उन्होंने क्रोध के आवेश में ग्रहण किया था। माताजी का संरक्षण तुम्हारे ऊपर रहेगा और तुम्हें डरने या शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् पर विश्वास करो और इन सब चीजों को एक विगत दुःस्वप्न की नाईं झाड़ फेंको। विश्वास रखो कि हमारा प्रेम और हमारी कृपा तुम्हारे साथ हैं।

(८)

तुमने सर्वदा ही अपने मन और संकल्पशक्ति की क्रिया पर अत्यधिक भरोसा रखा है— इसी कारण तुम उन्नति नहीं कर पाते। यदि तुम माताजी की शक्ति पर चुपचाप भरोसा वनाये रखने की आदत डाल लो–महज अपने निजी प्रयास की सहायता करने के लिये उसे पुकारने की आदत नहीं–तो वाधा कम हो जायगी और अंत में एकदम दूर हो जायगी।

(९)

मनुष्य जितना ही अधिक माताजी की क्रिया की ओर खुला होता है उतनी ही आसानी से कठिनाइयां हल हो जाती हैं और यथार्थ चीज संपन्न हो जाती है। २१. ९. १९३४

(१०)

विना पथ-प्रदर्शन के किये गये अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों के कारण ही तुम कठिनाइयों में जा पड़े और ऐसी गर्म अवस्था में पहुंच गये कि ध्यान आदि नहीं कर सके। मैंने तुमसे प्रयास वंद कर देने और शांत-स्थिर वने रहने के लिये कहा और तुमने वैसा ही किया। मेरा उद्देश्य यह था कि तुम्हारे शांत वने रहने पर माताजी की शक्ति के लिये तुम्हारे अंदर कार्य करना और एक अच्छा आरंभ तथा प्रारंभिक अनुभूतियों की एक धारा स्थापित करना संभव होगा। इसका आना आरंभ भी हो गया था, पर तुम्हारा मन यदि फिर से सक्रिय हो जाय और स्वयं साधना की व्यवस्था करने की चेष्टा करे तो गोलमाल उत्पन्न होने की संभावना है। भागवत पथप्रदर्शन तभी उत्तम रूप में कार्य करता है जब चैत्य पुरुष खुला हुआ और सामने हो (तुम्हारे चैत्य पुरुष ने खुलना आरंभ किया था), पर वह तव भी कार्य कर सकता है जव कि साधक उसके विषय में या तो सचेतन न हो या उसे केवल उसके परिणामों से ही जानता हो।

कठिनाइयों का होना और माताजी की कृपा

(१)

प्रश्न–क्या इसपर विश्वास किया जा सकता है कि जब कठिनाइयां दूर नहीं होतीं तब भी माताजी की कृपाशक्ति कार्य करती रहती है?

उत्तर–उस अवस्था में तो प्रत्येक आदमी कह सकता है, "मेरी सभी कठिनाइयां तुरत दूर हो जानी चाहियें, मुझे तुरत-फुरत और बिना किसी कठिनाई के पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिये, अन्यथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि माताजी की कृपा मेरे ऊपर नहीं है।"
२०. ७. १९३३

(२)

तुम्हें इस सबको दूर फेंक देना चाहिये। ऐसी उदासी तुम्हें उस चीज की ओर से बंद कर देगी जो माताजी तुम्हें दे रही हैं। ऐसे मनोभाव के लिये जरा भी कोई समुचित कारण नहीं है। कठिनाइयो का होना योग-जीवन की एक जानी हुई बात है। अंतिम विजय या भागवत कृपा की कार्यकारिता पर संदेह करने का वह कोई कारण नहीं।
४. २. १९३३

चैत्य विकास और माताजी की कृपा

(१)

प्रश्न–माताजी की कृपा के कार्य करने का नियम क्या है?

उत्तर–साधक जितना चैत्य पुरुष को अधिक विकसित करता है उतना ही कृपाशक्ति के लिये कार्य करना अधिक संभव होता है।
१३. ८. १९३३

(२)

जो भाग माताजी के विषय में सर्वदा सचेतन रहता है उसी भाग का निरंतर प्राधान्य प्राप्त करने योग्य वस्तु है–निस्संदेह वह अंग चैत्य पुरुष है–क्योंकि वह चाहे फिलहाल ढका हुआ क्यों न हो, वह विरोधी सुझावों के द्वारा पथभ्रष्ट नही हो सकता। एक बार यदि वह जागृत हो जाये तो वह हमेशा अंधकार से बाहर निकल आता है–यही बात अंत में लक्ष्य तक पहुंचने का आश्वासन प्रदान करती है। परंतु यदि चैत्य पुरुष को सामने बनाये रखा जाय या सभी परिस्थितियों में पीछे की ओर उसे ज्ञानपूर्वक अनुभव भी किया जाय तो रास्ते की मंजिलें अपेक्षाकृत निरापद हो सकती है तथा अधिक सहज और सुरक्षित रूप में पार की जा सकती हैं।
६. २. १९३७

(३)

जब बाहरी चीजों के प्रति, उनके अपने कारण, कोई आसक्ति नहीं रहती और सब कुछ

केवल माताजी के लिये ही होता है तथा अंतरस्थ चैत्य पुरुष के द्वारा हमारा जीवन माताजी में ही केंद्रित हो जाता है तभी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये सबसे उत्तम अवस्था उत्पन्न होती है।
११. ११. १९३५

माताजी की सतत सहायता

(१)

माताजी की सहायता हमेशा ही मौजूद है, पर तुम उसके विषय में सचेतन नहीं हो–बस उसी समय सचेतन होते हो जब चैत्य पुरुष सक्रिय होता है और चेतना आच्छादित नहीं होती। सुझावों का आना इस बात का प्रमाण नहीं है कि सहायता नहीं मिल रही है। सुझाव सभी लोगों के पास आते हैं, यहां तक कि बड़े-से-बड़े साधकों के या अवतारों के पास भी आते हैं–जैसे कि वे बुद्ध या ईसा के पास आये थे। बाधाएं भी हैं–वे प्रकृति का अंग हैं और उन्हें जीतना ही होगा। अभी जो अवस्था प्राप्त करनी है वह है सुझावों को स्वीकार न करना, उन्हें सत्य या अपने निजी विचार न मानना, जिस उद्देश्य से वे आये हैं उसे देखना और अपनेको उनसे अलग रखना। बाधाओं को इस प्रकार देखना होगा कि मानवप्रकृति की मशीन के भीतर कुछ चीजें खराब हो गयी हैं जिन्हें बदल डालना होगा–उन्हें कभी पाप या अपकर्म नहीं समझना चाहिये जिसके कारण कि अपने विषय में और साधना के विषय में निराशा आती है।

(२)

प्रश्न–आज काम करते समय मैंने एक शांतिपूर्ण शक्ति तथा बर्फ की तरह अपने सिर का स्पर्श करनेवाली एक चीज का अनुभव किया। उसके बाद एक तीव्र बोध और दर्शन के साथ मेरे अंदर यह ज्ञान आया कि यद्यपि माताजी शरीर से हमारे निकट नहीं हैं, फिर भी वह हमेशा हमारे पास और हमारे इर्दगिर्द मौजूद रहती हैं और अपने प्रेमपूर्ण हाथ के स्पर्श से सब प्रकार की कठिनाइयों को निरंतर दूर हटाती रहती हैं। यह कोई दर्शन था या कोई उपलब्धि? किस चेतना के द्वारा यह मुझे प्राप्त हुआ?

उत्तर–दर्शन और अनुभव से युक्त यह एक उपलब्धि है। चैत्य और मनोमय दोनों चेतनाओं ने मिलकर इसे उत्पन्न किया।
११. ६. १९३३

श्रीमां की सहायता से प्राण का परिवर्तन

(१)

माताजी की सहायता उन लोगों के लिये बराबर ही मौजद रहती है जो उसे ग्रहण करने के

लिये इच्छुक हों। परंतु तुम्हें अपनी प्राण-प्रकृति के विषय में सचेतन होना चाहिये और प्राण-प्रकृति परिवर्तित होने के लिये अवश्य राजी होनी चाहिये। केवल इतना ही देखने से कोई लाभ नहीं कि वह अनिच्छुक है और जब उसे बाधा दी जाती है तब वह तुम्हारे अंदर अवसाद उत्पन्न करती है। प्राण-प्रकृति आरंभ में हमेशा अनिच्छुक होती है और बराबर ही जब उसे बाधा दी जाती है अथवा परिवर्तित होने के लिये कहा जाता है तब वह अपने विद्रोह के द्वारा या अनुमति देना अस्वीकार करके इस अवसाद को उत्पन्न करती है। तुमको तब तक आग्रह करते रहना चाहिये जब तक कि वह सत्य को पहचान न ले और रूपांतरित होने तथा श्रीमां की सहायता और कृपा स्वीकार करने के लिये इच्छुक न हो जाय। अगर मन सच्चा हो और चैत्य अभीप्सा सच्ची और पूर्ण हो तो फिर सदा ही प्राण को परिवर्तित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है।

१५. ७. १९३२

(२)

यह विचार कि तुम असमर्थ हो, क्योंकि तुम्हारा प्राण अशुद्ध गतियों को स्वीकृति देता रहता है, तुम्हारे मार्ग में बाधक है। तुम्हें अपने आंतरिक संकल्प और माताजी की ज्योति को प्राण के ऊपर डालना होगा जिसमें वह परिवर्तित हो, वह जो कुछ चाहे वही करने के लिये उसे छोड़ न दिया जाय। अगर कोई आदमी 'असमर्थ' ही बन जाय और यंत्र-स्वरूप सत्ता के किसी भी अंश के द्वारा परिचालित हो तो फिर परिवर्तन कैसे संभव होगा? श्रीमां की शक्ति या चैत्य पुरुष कार्य कर सकता है, पर इस शर्त पर कि सत्ता की भी उसके लिये अनुमति हो। अगर प्राण को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने दिया जाय तो वह सर्वदा अपनी पुरानी आदतों का ही अनुसरण करेगा; उसे यह अनुभव कराना होगा कि उसे भी अवश्य परिवर्तित होना चाहिये।

(३)

मन की शांति को एक समान और निरंतर बनाये रखने के लिये प्राण के अंदर जो भाग अभी चंचल है उसे स्थिर-अचंचल बनाना होगा। उसे संयमित तो करना होगा, पर केवल संयम ही पर्याप्त नहीं। माताजी की शक्ति को सर्वदा पुकारना होगा।

१०. ४. १९३४

(४)

अब अपनी प्राण-सत्ता के द्वार पर माताजी की यह नोटिस लगा दो, "अब यहां किसी मिथ्यात्व का आना मना है।" और फिर वहां एक संतरी बैठा दो जो यह देखे कि इस

केवल माताजी के लिये ही होता है तथा अंतरस्थ चैत्य पुरुष के द्वारा हमारा जीवन माताजी में ही केंद्रित हो जाता है तभी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये सबसे उत्तम अवस्था उत्पन्न होती है। ११. ११. १९३५

माताजी की सतत सहायता

(१)

माताजी की सहायता हमेशा ही मौजूद है, पर तुम उसके विषय में सचेतन नहीं हो–बस उसी समय सचेतन होते हो जब चैत्य पुरुष सक्रिय होता है और चेतना आच्छादित नहीं होती। सुझावों का आना इस बात का प्रमाण नहीं है कि सहायता नहीं मिल रही है। सुझाव सभी लोगों के पास आते हैं, यहां तक कि बड़े-से-बड़े साधकों के या अवतारों के पास भी आते हैं–जैसे कि वे बुद्ध या ईसा के पास आये थे। बाधाएं भी हैं–वे प्रकृति का अंग हैं और उन्हें जीतना ही होगा। अभी जो अवस्था प्राप्त करनी है वह है सुझावों को स्वीकार न करना, उन्हें सत्य या अपने निजी विचार न मानना, जिस उद्देश्य से वे आये हैं उसे देखना और अपनेको उनसे अलग रखना। बाधाओं को इस प्रकार देखना होगा कि मानवप्रकृति की मशीन के भीतर कुछ चीजें खराब हो गयी हैं जिन्हें बदल डालना होगा–उन्हें कभी पाप या अपकर्म नहीं समझना चाहिये जिसके कारण कि अपने विषय में और साधना के विषय में निराशा आती है।

(२)

प्रश्न–आज काम करते समय मैंने एक शांतिपूर्ण शक्ति तथा बर्फ की तरह अपने सिर का स्पर्श करनेवाली एक चीज का अनुभव किया। उसके बाद एक तीव्र बोध और दर्शन के साथ मेरे अंदर यह ज्ञान आया कि यद्यपि माताजी शरीर से हमारे निकट नहीं हैं, फिर भी वह हमेशा हमारे पास और हमारे इर्दगिर्द मौजूद रहती हैं और अपने प्रेमपूर्ण हाथ के स्पर्श से सब प्रकार की कठिनाइयों को निरंतर दूर हटाती रहती हैं। यह कोई दर्शन था या कोई उपलब्धि? किस चेतना के द्वारा यह मुझे प्राप्त हुआ?

उत्तर–दर्शन और अनुभव से युक्त यह एक उपलब्धि है। चैत्य और मनोमय दोनों चेतनाओं ने मिलकर इसे उत्पन्न किया। ११. ६. १९३३

श्रीमां की सहायता से प्राण का परिवर्तन

(१)

माताजी की सहायता उन लोगों के लिये बराबर ही मौजद रहती है जो उसे ग्रहण करने के

है। वहिर्मुखी चेतना के अंदर अंधकार और दुःख-क्लेश हमेशा ही रह सकते हैं: किंतु जितना ही अधिक अंतर्मुखी चेतना का राज्य बढ़ता जाता है उतना ही अधिक ये सब चीजें पीछे और बाहर धकेल दी जाती हैं, और पूर्ण अंतर्मुखी चेतना में ये चीजें नहीं रह सकतीं—अगर वे आती हैं तो मानो बाहरी स्पर्श के समान होती हैं जो सत्ता के अंदर निवास करने में असमर्थ होता है।

२१. ८. १९३३

(४)

अगर कोई तेजी से माताजी की शक्ति को न भी पुकार सके तो भी उसे यह भरोसा बनाये रखना चाहिये कि वह जरूर आयेगी।

२६. ८. १९३६

(५)

भौतिक मन ही अपने को अत्यधिक जड़ अनुभव करता है—पर, सत्ता का कोई भी अंश यदि माताजी की ओर मुड़ जाय तो वह सहायता ले आने के लिये पर्याप्त है।

२५. १. १९३४

(६)

यह एक तरह से अवचेतन भौतिक सत्ता का एक भूत है और यही इन सब पुराने विचारों को वापस ले आया है कि "मैं ठीक-ठीक पुकार नहीं सकता—मेरे अंदर सच्ची अभीप्सा नहीं है इत्यादि।" अवसाद, स्मृति आदि भी उसी एक स्रोत से आयी हैं। इन सब विचारों में डूबे रहने से कोई लाभ नहीं। अगर तुम माताजी को अपनी समझ के अनुसार ठीक तरीके से न पुकार सको तो उन्हें किसी भी तरह पुकारो—यदि तुम उन्हें पुकार न सको तो इन सब चीजों से छुटकारा पाने की इच्छा रखते हुए उनका चिंतन करो। तुम्हारे अंदर सच्ची अभीप्सा है या नहीं—इस बात की दुश्चिंता करके परेशान मत होओ—चैत्य पुरुष चाहता है और यही पर्याप्त है। बाकी चीजें भागवत कृपा के ऊपर हैं जिसपर हमें श्रद्धापूर्वक निर्भर करना चाहिये—मनुष्य की अपनी योग्यता, अपने गुण या अपनी क्षमता के द्वारा सिद्धि नहीं आती।

जो हो, मैं इस भूत को भगाने के लिये शक्ति भेजूंगा, पर तुम यदि इन सब अन्धकारमय विचारों का त्याग कर सको तो इस आक्रमण को दूर करना अधिक आसान हो जायगा।

४. १. १९३७

(७)

इन सब कठिनाइयों में सर्वदा सबसे उत्तम मार्ग है माताजी को स्मरण और संरक्षण के

नोटिस के अनुसार कार्य हो रहा है।
१८. ५. १९३३

स्पष्टवादिता और माताजी की सहायता

जो लोग स्पष्टवादी नहीं हैं वे माताजी की सहायता से लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे स्वयं ही उसे वापस लौटा देते हैं। जव तक वे परिवर्तित नहीं हो जाते तव तक वे निम्नतर प्राण और भौतिक प्रकृति के अंदर अतिमानसिक ज्योति और सत्य के अवतरण की आशा नहीं कर सकते; वे स्वयं अपने ही द्वारा उत्पन्न कीचड़ में फंसे रहेंगे और उन्नति नहीं कर सकेंगे।
नवंवर, १९२८

कठिनाई में माताजी को पुकारना

(१)

जव कठिनाइयां आयें तो अपने अंदर अचंचल वने रहो और उन्हें दूर करने के लिये माताजी की शक्ति को पुकारो।
२६. ८. १९३३

(२)

सदा माताजी को पुकारना और उसके साथ-साथ अभीप्सा करना और जव ज्योति आये तव उसे स्वीकार करना, कामना-वासना और प्रत्येक अंधकारपूर्ण क्रिया का त्याग करना तथा उनसे अपनेको पृथक् रखना–यही प्रधान चीज है। परंतु यदि कोई अन्य चीजों को सफलतापूर्वक न कर सके तो भी उसे पुकारना चाहिये और वार-वार पुकारना चाहिये।
श्रीमां की शक्ति को जव तुम अनुभव नहीं करते तव भी वह तुम्हारे साथ रहती है; स्थिर-अचंचल वने रहो और अपने प्रयास में लगे रहो।
१५. ९. १९३४

(३)

यदि तुम अपना संकल्प-वल न लगा सको तो फिर केवल एक ही रास्ता है–वह है शक्ति को पुकारना; केवल मन के द्वारा या मानसिक शव्द के द्वारा पुकारना भी एकदम निष्क्रिय वने रहने और आक्रमण के अधीन हो जाने की अपेक्षा कही अधिक अच्छा है,– क्योंकि, मानसिक पुकार यद्यपि तुरंत सफल नहीं भी होती तो भी वह अंत में शक्ति को ले आती और फिर से चेतना को खोल देती है। क्योंकि प्रत्येक चीज उसी पर निर्भर करती

और उपस्थिति से नहीं भर जाती—तब बाहरी प्रकृति भी उसी पथ का अनुसरण करने के लिये बाध्य हो जायगी।

८. ५. १९३३

बुरी अवस्थाओं से बाहर निकलना

(१)

ये बुरी अवस्थाएं आंतर स्थिति से (बहुधा बहुत मामूली कारण से) बाहरी चेतना में गिर जाने की अवस्थाएं हैं। जब ये आयें तब इनसे प्रभावित मत होओ, बल्कि धीर-स्थिर बने रहो, माताजी को पुकारो और भीतर की ओर वापस चले जाओ।

२४. १. १९३६

(२)

समय-समय पर चेतना का नीचे गिर आना सबके अंदर घटित होता है। इसके कई कारण होते हैं, बाहर से कोई स्पर्श आता है, प्राण में, विशेषकर निम्नतर प्राण में कोई चीज अभी अपरिवर्तित होती है या अधूरे रूप में परिवर्तित होती है, प्रकृति के भौतिक अंगों से कोई तमस् या अंधकार उठ आता है। यह आए तो स्थिर बने रहो, माताजी की ओर अपने को खोलो, अच्छी अवस्थाओं को वापस बुलाओ और स्पष्ट तथा अक्षुब्ध विवेक-शक्ति के लिये अभीप्सा करो जो तुम्हारे अंदर उस चीज का कारण तुम्हें दिखा दे जिसे ठीक करने की आवश्यकता है।

४. ३. १९३२

आक्रमण के समय माताजी की सहायता

(१)

अज्ञान की शक्तियां ही घेरा डालना आरंभ करती हैं और फिर एक साथ आक्रमण करती हैं। प्रत्येक बार जब ऐसे आक्रमण को हटाकर दूर भगा दिया जाता है तब आधार साफ हो जाता है, मन, प्राण या शरीर में या सत्ता के समीपवर्ती अंगों में माताजी के ि एक नया क्षेत्र जीत लिया जाता है। प्राण में माताजी द्वारा अधिकृत स्थान धीरे-धी ढ़ रहा है—इसका पता इस बात से लगता है कि अब तुम इन चढ़ाइयों का विरो धिक जोर के साथ कर रहे हो जो पहले तुम्हें एकदम अभिभूत कर डालती थीं। ठनाई का

ऐसे समयों पर माताजी की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करना मुकाबला करने का सबसे अच्छा तरीका है।

जो माताजी सर्वदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर हैं उन्हीं के स बातचीत करते

लिये उन्हें पुकारना। संभवतः उसकी प्राण-सत्ता के अंदर कोई चीज अपने संरक्षण और देख-भाल के लिये किसी की आवश्यकता अनुभव करती है—परंतु तुम्हें इस भावना का अभ्यस्त होना चाहिये कि वह आवश्यक नहीं है और उस व्यक्ति को माताजी की देख-रेख में छोड़ देना सबसे उत्तम है—अपने प्रेम के विषय को उनके चरणों में समर्पित कर दो।
१५. ११. १९३७

वार बार आनेवाली कठिनाइयों को दूर करना

(१)

प्रश्न—वार-वार आनेवाली अपनी कठिनाइयों का मुकावला करने का सही तरीका क्या है ?

उत्तर—समता, त्याग और माताजी की शक्ति को पुकारना।
१. ८. १९३३

(२)

पुरानी मिलावट का वार-वार आनेवाला चक्कर रास्ते में आ खड़ा होता है। उसे तोड़कर वाहर निकलना एक ऐसी आंतरिक यौगिक स्थिरता और शांति प्राप्त करने के लिये वहुत आवश्यक है जो इन सब चीजों से डवांडोल नहीं होती। यदि वह स्थापित हो जाय तो उसमें माताजी की उपस्थिति को अनुभव करना, उनके पथप्रदर्शन की ओर खुल जाना और आकस्मिक झांकियों के द्वारा नहीं वरन् एक स्थायी उद्‌घाटन तथा विकास के अंदर चैत्यपुरुषोचित अनुभव एवं आध्यात्मिक ज्योति और आनंद का अवतरण प्राप्त करना संभव हो जायगा। उसके लिये सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।
७. ३. १९३७

(३)

वहुत से आदमी इस अवस्था में हैं (यह मानव-स्वभाव है) और स्वभावतः ही इससे वाहर आने का एक मार्ग भी है—माताजी में पूरा विश्वास रखकर आंतर मन को (वाहरी मन के दुःखदायी वने रहने पर भी) अचंचल वनाना और वहां से माताजी की शांति और शक्ति को, जो तुम्हारे ऊपर सर्वदा विद्यमान है, आधार में वुलाना। एक वार, सचेतन रूप में, वह वहां आ जाय तो अपने-आपको उसकी ओर खोले रखना होगा और अपनी पूरी सहायता के साथ, निरंतर अपनी स्वीकृति का अवलंवन देते हुए तथा जो उस चीज से भिन्न हो उस सवका ज्ञानपूर्वक त्याग करते हुए उसे तव तक कार्य करने देना होगा जव तक कि समस्त आंतर सत्ता धीर-स्थिर नहीं वन जाती और माताजी की शक्ति, शांति, प्रसन्नता

और उपस्थिति से नही भर जाती—तव वाहरी प्रकृति भी उसी पथ का अनुसरण करने के लिये वाध्य हो जायगी।
८.५.१९३३

वुरी अवस्थाओं से वाहर निकलना

(१)

ये वुरी अवस्थाएं आंतर स्थिति से (वहुधा वहुत मामूली कारण से) वाहरी चेतना में गिर जाने की अवस्थाएं हैं। जव ये आये तव इनसे प्रभावित मत होओ, वल्कि धीर-स्थिर वने रहो, माताजी को पुकारो और भीतर की ओर वापस चले जाओ।
२४.१.१९३६

(२)

समय-समय पर चेतना का नीचे गिर आना सवके अदर घटित होता है। इसके कई कारण होते हैं, वाहर से कोई स्पर्श आता है, प्राण में, विशेषकर निम्नतर प्राण मे कोई चीज अभी अपरिवर्तित होती है या अधूरे रूप मे परिवर्तित होती है, प्रकृति के भौतिक अंगों से कोई तमस् या अंधकार उठ आता है। यह आए तो स्थिर वने रहो, माताजी की ओर अपने को खोलो, अच्छी अवस्थाओं को वापस वुलाओ और स्पष्ट तथा अक्षुब्ध विवेक-शक्ति के लिये अभीप्सा करो जो तुम्हारे अंदर उस चीज का कारण तुम्हें दिखा दे जिसे ठीक करने की आवश्यकता है।
४.३.१९३२

आक्रमण के समय माताजी की सहायता

(१)

अज्ञान की शक्तियां ही घेरा डालना आरंभ करती हैं और फिर एक साथ आक्रमण करती हैं। प्रत्येक वार जव ऐसे आक्रमण को हटाकर दूर भगा दिया जाता है तव आधार साफ हो जाता है, मन, प्राण या शरीर में या सत्ता के समीपवर्त्ती अंगो में माताजी के लि एक नया क्षेत्र जीत लिया जाता है। प्राण मे माताजी द्वारा अधिकृत स्थान धीरे-धीरे बढ़ रहा है—इसका पता इस वात से लगता है कि अव तुम इन चढाइयो का विरोध अधिक जोर के साथ कर रहे हो जो पहले तुम्हे एकदम अभिभूत कर डालती थी।

ऐसे समयों पर माताजी की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करना कठिनाई को मुकावला करने का सवसे अच्छा तरीका है।

जो माताजी सर्वदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर हैं उन्हीं के स वातचीत करते

हो। बस एकमात्र आवश्यक बात है ठीक-ठीक सुनना जिसमें कि कोई दूसरी वाणी बीच में न आ जाय। ७. १२. १९३३

(२)

यदि तुमने माताजी की ओर खुले रहने का अभ्यास बना लिया है तो चाहे आक्रमण कितना भी प्रबल क्यों न हो, और यदि वह अभी तुम्हें परास्त भी कर डाले, तो भी वह तेजी से निकल जायगा।

यदि तुम अचंचल बने रहो और शांति की ओर तथा दिव्य शक्ति की ओर खुले रहो तो शांति फिर वापस आ जायगी। एक बार जब दिव्य सत्य का कुछ अंश तुम्हारे अंदर प्रकट हो चुका है, तो, चाहे अभी कुछ समय के लिये भले ही वह अशुद्ध गतियों के बादलों से क्यों न ढक जाय, वह फिर भी आसमान में चमकनेवाले सूर्य की तरह हमेशा चमकने लगेगा। अतएव विश्वास के साथ प्रयास में लगे रहो और कभी साहस मत खोओ।

१४. ३. १९३२

(३)

प्रश्न–विद्रोही शक्ति की क्रिया के कारण आनेवाले दुःख-कष्ट से बचने का साधकों के लिये सबसे उत्तम उपाय क्या है?

उत्तर–माताजी पर विश्वास रखना और उन्हें पूर्ण रूप से समर्पण करना।

(४)

उत्तर–जब साधक रूपांतर की प्रक्रिया में अपनी प्रकृति की किसी कमजोरी की उपेक्षा करते हैं तब क्या यह संभव नहीं है कि माताजी उस दुर्बलता को उन्हें दिखा दें, बजाय इसके कि विरोधी शक्तियों के कमजोर स्थान पर किये गये दुःखदायी आघात के द्वारा वे उसे जानें?

उत्तर–अगर वे पर्याप्त रूप से माताजी की ओर खुले हों तो ऐसा किया जा सकता है–लेकिन अधिकांश साधकों में बहुत अधिक अहंकार, श्रद्धा का अभाव, अंधता, स्वेच्छा और [illegible]णक कामनाएं होती हैं–ये ही चीजें उन्हें माताजी की ओर से बंद कर देती हैं और [illegible]ी शक्तियों की क्रिया का आवाहन करती है।

१७ [illegible] १९३३

(५)

अज्ञान[illegible]ंचित मानव-प्रकृति के मानसिक और प्राणिक दोषों को तब तक कार्य करने

का मौका दिया जाता है—जैसे कि आसुरिक शक्तियों के आक्रमणों और सुझावों को भी अवसर दिया जाता है—जब तक प्रकृति में कोई भी ऐसी चीज रहती है जो इन बातों का प्रत्युत्तर देती है। यदि माताजी के सामने ये चीजें तुममें उठती हैं तो इसका कारण यह है कि उस समय उनपर एक प्रबल दबाव डाला जाता है जिससे या तो वे निकल जाएं या बने रहने के लिये युद्ध करें। इसका उपाय है केवल माताजी की ओर मुड़ना और अन्य सभी शक्तियों का पूर्ण रूप से और सर्वदा त्याग करना तथा जब वे सबसे अधिक क्रिया-शील हों तब उनका सबसे अधिक त्याग करना। बाकी कार्य श्रद्धा, सरलता, अध्यवसाय आदि से पूरा हो जायगा।

१६. ११. १९३२

श्रीमां द्वारा परीक्षा

परीक्षा करने की भावना भी बहुत स्वस्थ भावना नहीं है और उसपर बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिये। भगवान् की ओर से नहीं, बल्कि निम्नतर लोकों की—मानसिक, प्राणिक और भौतिक लोकों की शक्तियों की ओर से परीक्षाएं की जाती हैं और भगवान् उन्हें होने देते हैं, क्योंकि परीक्षा होना अंतरात्मा की शिक्षा का एक अंग है और वह उसे अपने-आपको, अपनी शक्तियों को तथा जिन सीमाओं को उसे पार करना है उनको जानने में सहायता करता है। माताजी प्रत्येक मुहूर्त्त तुम्हारी परीक्षा नहीं कर रही हैं, बल्कि परीक्षाओं और निम्नतर चेतना से संबंध रखनेवाली कठिनाइयों की आवश्यकता से परे चले जाने में तुम्हें प्रत्येक मुहूर्त्त सहायता कर रही हैं। अगर तुम हमेशा उस सहायता के विषय में सचेतन रहो तो वह सभी आक्रमणों के समय—चाहे वे विरोधी शक्तियों के हों या तुम्हारी अपनी निम्नतर प्रकृति के—तुम्हारा सबसे अच्छा रक्षक साबित होगी।

सहायता देने के तरीके

जिस किसी तरीके से देना आवश्यक या संभव होता है उसी तरीके से सहायता दी जाती है। यह शक्ति, ज्योति और ज्ञान तक ही सीमित नहीं है। हां, यदि, 'शक्ति' आदि से तुम्हारा मतलब कोई भी चीज या प्रत्येक चीज हो तब तो यह सिद्धांत ठीक बैठता है।

२२. १२. १९३६

शक्ति की सहायता और स्वतः कार्य का होना

जैसे जैसे मनुष्य अधिकाधिक ऊंचा उठता जाता है या यों कहें कि अधिकाधिक पूर्ण होता जाता है वैसे वैसे सहायता को पुकारने की आवश्यकता कम होती जाती है और उसका स्थान शक्ति की अपने-आप होनेवाली क्रिया अधिकाधिक लेती जाती है।

२२. १२. १९३६

आंतरिक समर्पण के द्वारा कठिनाइयों का त्याग

किसी उपद्रव से छुट्टी पाने के लिये शरीर से माताजी के पास आना अनावश्यक और व्यर्थ है; तुम्हें अंतर में पैठकर उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिये और अनुचित क्रिया का त्याग करना चाहिये, जैसा कि इस अवसर पर तुमने स्वयं भी समझा है। शरीर से उनके पास आने पर बस भूल करते रहने ओर उसे ठीक करने के लिये उनके पास आने की एक आदत सी पड़ जायगी ओर फिर वह, भीतर से कठिनाई को छोड़ देने, उससे समर्पण करा देने के वदले, उसको उन्हीं के ऊपर फेंक देने की अनुचित क्रिया भी उत्पन्न करेगी। वास्तव में एक प्रकार के साधारण समर्पण की आवश्यकता है जो छोटी-छोटी वातों पर होनेवाले इन सव उपद्रवों को, अहंकार, अपने ही दृष्टिकोण पर आग्रह, अपने ही ढंग से चलने का मौका न मिलने अथवा अपनी स्वतंत्रता या महत्त्व को लोगों के स्वीकार न करने पर होनेवाले क्रोध आदि को रोक सके।

सहायता के लिये श्रीमां को लिखना

(१)

'अ' से वातें करके और माताजी को भी लिखकर तुमने अच्छा ही किया। निश्चय ही माताजी ने 'अ' की कठिनाइयों को देखा था। यह ठीक है कि उसकी कठिनाई है एक प्रकार के अवाध उद्घाटन का अभाव--अन्यथा वह सव शीघ्र दूर किया जा सकता और धीरे-धीरे आसानी से ही प्रकृति (मन, अहंकार इत्यादि) में आवश्यक परिवर्तन ले आया जाता। लिखना, जैसा कि तुम करते हो, अपने-आपको उद्घाटित करने और ठीक-ठीक स्पर्श ग्रहण करने में सहायक होता है। 'अ' का जो यह तर्क है कि माताजी तो जानती ही हैं और इसलिये उन्हें लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, वह तभी लागू हो सकता है जव कि श्रीमां और साधक के वीच आदान-प्रदान का एक उन्मुक्त अथवा कम-से-कम पर्याप्त प्रवाह चल रहा हो; पर, जव कोई गभीर कठिनाई आ जाय तव वह उतना लागू नहीं होता। स्वभावतः ही हम लोग उसके संघर्ष में उसकी सहायता करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करेंगे।

१४.५.१९३६

(२)

तुम्हारे लिये मैं एक नियम निश्चित कर सकता हूं,"ऐसी कोई वात मत करो, कहो या विचारो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो।" और यह वात उस आपत्ति का उत्तर दे देती है जो "इन छोटी-छोटी वातों" को श्रीमां के ध्यान में ले आने के विरुद्ध तुम्हारे अंदर

—तुम्हारी प्राण-सत्ता की ओर से, ठीक है न ?—उठायी गयी थी। भला तुम यह क्यों सोचते हो कि माताजी इन सब चीजों के कारण परेशान होंगी अथवा इन्हें नगण्य समझेंगी ? अगर 'समस्त' जीवन् को ही योग होना हो तो फिर जीवन में ऐसी कान सी चीज है जिसे तुच्छ या महत्त्वहीन कहा जाय ? अगर माताजी उत्तर न भी दें तो भी तुम्हारे कार्य और आत्मोन्नति से संबंधित किसी बात को समुचित भाव के साथ उनके सामने रखने का अर्थ है उसे उनके संरक्षण में, सत्य की ज्योति में, रूपांतर के लिये कार्य करनेवाली शक्ति की किरणों के नीचे रख देना—क्योंकि जो बात उनके ध्यान में ले आयी जाती है उसपर तुरत ही वे किरणें कार्य करना आरंभ कर देती हैं। तुम्हारे भीतर जो चीज वैसा न करने की सलाह देती है जब कि तुम्हारा आत्मा तुममें उसे कराना चाहता है, वह निश्चय ही प्राण-सत्ता की एक युक्ति होगी जिसके द्वारा वह ज्योति की किरण और शक्ति की क्रिया से बचना चाहती है।

१८. ५. १९३२

सहायता के लिये की गयी पुकारों का उत्तर देने के लिये माताजी की गुह्य क्रिया

अब अनुभव की बात। निश्चय ही सहायता के लिये की गयी 'अ' की पुकार माताजी तक पहुंची थी, भले ही उसने अपने पत्र में जिन सब ब्योरे की बातों का वर्णन किया है वे सब माताजी के भौतिक मन के सामने उपस्थित न भी हों। इस तरह की पुकारें बराबर माताजी के पास आ रही हैं, कभी कभी तो एक पर एक लगी हुई सैकड़ों आती हैं और सर्वदा ही उत्तर दिया जाता है। इनके अवसर नाना प्रकार के होते हैं, पर चाहे जिस आवश्यकता के कारण पुकार क्यों न की गयी हो, शक्ति उसका उत्तर देने के लिये तैयार रहती है। गुह्य लोक में इस क्रिया का यही सिद्धांत है। यह साधारण मानवीय क्रिया की जैसी कोई चीज नहीं है और जो पुकारता है उसकी ओर से कोई लिखित या मौखिक संदेश भेजने की आवश्यकता नहीं होती; शक्ति को कार्य में प्रवृत्त करने के लिये चैत्य सत्ता द्वारा वार्त्तालाप करना ही पर्याप्त होता है। फिर यह कोई निर्वैयक्तिक शक्ति नहीं है और एक ऐसी दिव्य शक्ति का सुझाव, जो पुकारनेवाले किसी भी व्यक्ति को उत्तर देने और संतुष्ट करने के लिये तैयार हो, यहां बिलकुल ही संगत नहीं बैठता। यह माताजी की एक व्यक्तिगत चीज है और यदि उनमें यह शक्ति न होती और इस तरह की क्रिया वह न कर सकतीं तो वह अपना काम करने में समर्थ न होतीं; परंतु यह भौतिक स्तर पर की गयी बाहरी व्यावहारिक क्रिया से एकदम भिन्न है; और यद्यपि गुह्य क्रिया और भौतिक क्रिया मिल सकती हैं और मिलती भी हैं और गुह्य क्रिया भौतिक क्रिया को अत्यंत फलप्रद बनाती है तो भी भौतिक स्तर की पद्धतियां निश्चय ही एकदम भिन्न होती हैं। अब सहायता-प्राप्त व्यक्ति को काम करनेवाली शक्ति का बोध न होने की बात लें;

अवश्य ही उसका जानना कार्य को फलप्रद बनाने में बहुत अधिक मात्रा में सहायता करता, पर वह जानना अनिवार्य नहीं हो सकता; अगर वह न भी जाने कि कार्य कैसे हुआ है तो भी उसका फल होगा ही। उदाहरणार्थ, कलकत्ते के तथा दूसरी जगहों के तुम्हारे कार्य में मेरी सहायता तुम्हारे साथ हमेशा थी और मेरी समझ में यह नहीं कहा जा सकता कि वह फलप्रद नहीं थी; परंतु तुम्हें यदि किसी न किसी प्रकार इस बात का ज्ञान न भी होता कि मेरी सहायता तुम्हारे साथ है तो भी वह उसी गुह्य स्वभाव की होती और उसका वही परिणाम हुआ होता।

२४. ३. १९४९

साधकों के लिये माताजी का संरक्षण

(१)

समस्त गुह्य शक्तियों को दृष्टि में रखकर तथा मृत्यु और रोग आदि की कुछ शक्तियों से साधकों की रक्षा करने के लिये जिन सब उत्तम अवस्थाओं को उत्पन्न करना संभव है उन सबको ध्यान में रखकर ही माताजी ने एक व्यवस्था की है। पर यह पूर्ण रूप से कार्य नहीं कर सकती, क्योंकि स्वयं साधकों में भोजन तथा उसी तरह की प्राण से संबंध रखनेवाली अन्यान्य भौतिक चीजों के प्रति समुचित मनोभाव नहीं है। पर फिर भी एक प्रकार का संरक्षण है। यदि साधक माताजी की व्यवस्था के बाहर जायं तो वे बस अपनी जिम्मेदारी पर ही जा सकते हैं। ....पर यह व्यवस्था केवल आश्रम के लिये है, उन लोगों के लिये नहीं जो आश्रम से बाहर है।

१४. ७. १९३३

(२)

इसका कारण यह नहीं है कि माताजी ने अपना संरक्षण हटा लिया है—उन्होंने यह नहीं किया है। अधिक संभव है कि वह (कठिनाई) इस कारण आयी कि तुम अपनी आंतर सत्ता से बहुत अधिक बाहर चले जाते हो और अपनेको बहिर्मुखी बना लेते हो। यह अधिक अच्छा है कि तुम फिर भीतर हट आओ और आंतरिक स्थिरता और शांति को प्राप्त करो।

दुर्घटनाएं और माताजी का संरक्षण

प्रश्न—आज सवेरे 'अ' को मोटर दुर्घटना हो गयी। क्या माताजी पहले से इस दुर्घटना की संभावना को नहीं देख सकीं और उसे नहीं रोक सकीं? या यह इस कारण घटित हुई कि 'अ' किसी तरह उनके संरक्षण-क्षेत्र से बाहर चला गया था?

उत्तर—दुर्घटना को रोकना संभव नहीं था। जब खतरा आवे तब सबसे पहले करने की चीज है माताजी को पुकारना, उसमें साधारण संरक्षण तुरत फलप्रद हो जाता है। 'अ' वैसा करने के लिये अनुपयुक्त अत्यत वहिर्मुखी अवस्था में था और जो करना चाहिये था उसके एकदम विपरीत चीज ही उसने की—मोटर के पीछे जाने के बजाय उसने उसके सामने चले जाने की चेष्टा की। परंतु सच्चा कारण तो बहुत भीतर की चीज थी—यह आंतर सत्ता के किये हुए उन चुनावों में से एक था (अवश्य ही सचेतन मन को मालूम नहीं था) जो प्रत्युत्तर के रूप में इन चीजों को ले आते हैं। २७. १. १९३६

प्राणलोक में माताजी का संरक्षण

(१)

यह प्राणलोक का एक स्वप्न था जहां सब प्रकार के खतरे तब तक आते रहते हैं जब तक तुममें उनका मुकाबला करने का साहस नही आ जाता। अगर तुममें भय न हो अथवा माताजी का संरक्षण हो (जो उन्हें याद करने या पुकारने से प्रकट होता हैं), तब ये खतरे काफूर हो जाते हैं। पागल लोगों से जो भय था उसी ने प्राण में यह चीज उत्पन्न की थी। इस भय की तरह ही इन चीजों को भी प्रकृति से बाहर निकाल फेंकना होगा।
८. ९. १९३३

(२)

तुम्हारी अनुभूति में हुआ यह कि तुम्हारा प्राण-पुरुष माताजी के साथ युक्त होने की अपनी इच्छा के कारण शरीर से मुक्त हो गया (तुम प्राणमय और भौतिक लोक की सीमा पर माताजी से मिले) और शरीर से स्वतंत्र अपना निजी जीवन यापन करने लगा। वह प्राणलोक में प्रविष्ट हुआ और, अब शरीर में आश्रित न होने के कारण, पहले अपने आपको निःसहाय अनुभव करने लगा जब तक कि उसने माताजी को नही पुकारा। 'अ' का वहां प्रकट होना संभवतः स्वयं 'अ' के प्राण के किसी भाग का प्रकट होना था, पर अधिक संभव है कि उसके रूप में शायद किसी प्राणमय सत्ता का संभवतः उसी प्राणमय सत्ता का जो उसे परेशान करती रही है, प्रकट होना हो। जब तुम प्राणमय लोक में जाते हो तब बहुत सी ऐसी चीजों से तुम्हारी भेट होती है,—एकमात्र पर्याप्त संरक्षण है माताजी को पुकारना। ७. ९. १९३३

शरीर को नीरोग करने के लिये माताजी की शक्ति का कार्य

(१)

शरीर में निहित शक्ति इस तरह की चीजें नही किया करती। माताजी की शक्ति

ही ऐसी चीजें करती है, जब कि कोई उसे पुकारता है और अपने-आपको उसकी ओर खोलता है। जिन लोगों ने कभी योग नहीं किया और किसी चीज के विषय में सचेतन नहीं है, वे लोग भी इस तरह, कारण जाने विना अथवा जिस रीति से उनका रोग ठीक किया गया उसे अनुभव किये विना, रोगमुक्त हो जाते हैं। शक्ति ऊपर से आती है अथवा अवतरित होते समय वह चारों ओर से घेर लेती है और बाहर से भीतर प्रवेश करती है अथवा भीतर अवतरित होने के बाद भीतर से बाहर आती है। जब तुम शक्तियों के कार्य के विषय में सचेतन होते हो तब तुम क्रिया को अनुभव करते हो।

इसका (जागरण का) मतलब है पीछे से चैत्य पुरुष का सज्ञान कार्य करना। जब यह सामने की ओर आ जाता है तब यह मन, प्राण और शरीर पर छा जाता है और उनकी क्रियाओं को चैत्यभावापन्न बनाता है। यह अभीप्सा करने और निःसंशय होकर माताजी के प्रति पूर्णरूपेण मुड़ जाने और आत्मसमर्पण करने पर सबसे उत्तम रूप में सामने आता है। पर जब आधार तैयार हो जाता है तब कभी-कभी यह स्वयं अपने-आप भी सामने आ जाता है।

५. ५. १९३३

(२)

यह मेरा एक अनुभूत तथ्य है कि जब शरीर में बहुत प्रबल और सुदृढ़ विरोध हो तो स्वयं शरीर पर अधिक सीधा कार्य करने के लिये शक्ति के एक यंत्र के रूप में भौतिक साधनों की कुछ सहायता लेना लाभदायक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि उस हालत में शरीर यह अनुभव करता है कि वह विरोध का सामना करने में दोनों ओर से, भौतिक तथा अति-भौतिक दोनों साधनों से, सहारा पा रहा है। माताजी की शक्ति एक साथ ही दोनों के द्वारा कार्य कर सकती है।

१. ९. १९३६

(३)

प्रश्न--प्रायः पंद्रह दिन से अधिक हुए, प्रत्येक दिन जब मैं प्रणाम के समय माताजी का स्पर्श पाता हूं तब मुझे एक प्रकार के प्रबल पोषण का अनुभव होता है और उसके साथ प्रसन्नता और शक्ति भी मिली होती है, मानो एक नया पदार्थ मेरे भौतिक शरीर तक में ढाला जा रहा हो।

उत्तर--चूंकि तुम अस्वस्थ हो, इसलिये माताजी तुम्हारी भौतिक सत्ता में, उसके सत्त्व को नया बनाने के लिये, दिव्य शक्ति और स्वास्थ्य का पोषक पदार्थ ढालती हैं।

४. ११. १९३४

११

माताजी की कुछ रायों की व्याख्या इत्यादि

माताजी की प्रार्थनाएं

प्रश्न–'भगवती माता' को संबोधित माताजी की कुछ प्रार्थनाओं' में मैंने ये शब्द देखे हैं: "हमारी भगवती माता के साथ (Avec notre Divine Mère)।" भला माताजी और 'दिव्य प्रभु' (divin Maître) की भी एक 'भगवती माता' (divine Mère) कैसे हो सकती है? यह तो ऐसा हुआ मानो माताजी 'भगवती माता' (divine Mère) न हों और कोई दूसरी माताजी भी हों तथा 'दिव्य प्रभु' (divin Maître) परात्पर न हों और उनकी भी एक 'भगवती माता' (divine Mère) हों! अथवा क्या यह बात है कि ये सब प्रार्थनाएं किसी निर्वैयक्तिक सत्ता को संबोधित की गयी हैं?

उत्तर–अधिकांश में ये प्रार्थनाएं पार्थिव चेतना के साथ एक होकर लिखी गयी हैं। यहां निम्नतर प्रकृति में विद्यमान मां उच्चतर प्रकृति में विद्यमान मां को संबोधित कर रही है, रूपांतर के लिये पार्थिव चेतना की साधना करती हुई स्वयं माताजी ही ऊपर में विद्यमान स्वयं अपनी ही सत्ता से प्रार्थना कर रही हैं जिससे रूपांतर की शक्तियां आती हैं। यह तब तक जारी रहता है जब तक कि पार्थिव चेतना और उच्चतर चेतना का तादात्म्य सिद्ध नहीं हो जाता। 'हमारी' (notre) शब्द, मेरी समझ में, साधारण रूप में प्रयुक्त हुआ है और वह पार्थिव चेतना में उत्पन्न सभी जीवों को सूचित करता है–उसका अर्थ 'दिव्य प्रभु' (divin Maître) और स्वयं 'मेरी माताजी' नहीं है। वहां सर्वदा भगवान् को ही दिव्य प्रभु और स्वामिन् (Divin Maître et Seigneur) के रूप में संबोधित किया गया है। एक माताजी हैं जो साधना कर रही हैं और दूसरी भगवती माता हैं, दोनों एक होने पर भी विभिन्न स्थितियां हैं, और दोनों सर्वेश्वर या दिव्य प्रभु (Seigneur or Divine Master) की ओर मुड़ती हैं। इस प्रकार की भगवान् की भगवान् से की हुई प्रार्थना तुम्हें रामायण और महाभारत में भी मिलेगी।

२१. ८. १९३६

'माताजी की लिखी 'प्रार्थनाएं और ध्यान'।

प्रसन्नता के विषय में माताजी का मत

प्रफुल्लता और निश्चिंतता का जहा तक प्रश्न है–हलका 'परवा नहीं' मनोभाव वह अंतिम चीज है जिसे रखने की सलाह हम किसी को देगे। माताजी ने तो प्रसन्नता की बात कही थी, ओर अगर उन्होने 'लाइट-हार्टेड' (मामूली हंसी-खुशी) शब्द का व्यवहार भी किया हो तो उससे उनका मतलब कोई हलकी या निर्बाध प्रफुल्लता और निश्चिंतता नहीं था–यद्यपि एक गभीरतर और सूक्ष्मतर प्रफुल्लता को यौगिक स्वभाव के एक अंग के रूप में स्थान प्राप्त हो सकता है। उनका मतलब था कठिनाइयो के सामने भी प्रसन्नतापूर्ण समत्व का भाव बनाये रखना और इसमें योगिक शिक्षा या उनके अपने अभ्यास के विरुद्ध कोई बात नही है। ऊपरी सतह पर प्राण-प्रकृति (सच्ची प्राण-प्रकृति की गहराइयां भिन्न प्रकार की होती है) एक ओर तो हंसी-खुशी ओर भोग से और दूसरी ओर दु.ख, निराशा, उदासी और दुर्घटना से आसक्त होती है,–क्योकि ये ही उसके लिये जीवन के अभीप्सित प्रकाश और अंधकार है; परंतु उज्ज्वल या विशाल और मुक्त शांति या आनंदमय तीव्रता या, सबसे उत्तम, इन दोनो का एक मे घुलमिल जाना ही योग में अंतरात्मा और मन दोनो की–और सच्चे प्राण की भी–सच्ची स्थिति है। एकदम मानव साधक के लिये भी ऐसी स्थिति को प्राप्त करना पूर्ण रूप से सभव है, इसे प्राप्त करने से पहले किसी को दिव्य होने की आवश्यकता नही है।

ईर्ष्या के संबंध में माताजी के विचार

केवल एक बात मुझे यहां अवश्य लिखनी होगी जिसमें तुम्हारी बुद्धि में कही कोई भ्रांत भावना न बनी रह जाय। एक चिट्ठी के एक अश में तुमने शायद ऐसा कहा है कि माता-जी ने तुमसे यह कहा था कि साधारण जीवन मे सच्चे प्रेम के अंदर ईर्ष्या का होना अनि-वार्य है, ओर अगर एक को दूसरी जगह प्रेम करते हुए देखने पर दूसरे मे ईर्ष्या न हो तो फिर इसका मतलब है कि वे एक-दूसरे को प्रेम नही करते! निश्चय ही तुमने माताजी की बात को सुनने और समझने में अपूर्व ढंग की भूल की होगी। इस विषय में माताजी ने जो कुछ बराबर कहा है ओर जैसा उनका विचार रहा है उसके ठीक विपरीत यह बात है और उनके समूचे ज्ञान ओर अनुभव के एकदम विरुद्ध है। यह तो ईर्ष्या ओर प्रेम के विषय में साधारण मन की भावना है, उनकी नही। उन्हे अच्छी तरह याद है कि उन्होने ठीक इसके विपरीत तुमसे यह कहा था कि, साधारण जीवन मे भी, यदि मनुष्य में सच्चा प्रेम हो तो, वह ईर्ष्या नही करता। मनुष्य के अहकारपूर्ण निम्न प्राण मे अपनी पसंद की चीजो या व्यक्तियों को पकड़ रखने और अधिकृत कर रखने की एक सहजवृत्ति होती है और उसी निम्न प्राण की एक साधारण क्रिया है ईर्ष्या, इससे भिन्न यह और कोई चीज नही हो सकती। यहां पर मैंने इस बात को स्पष्ट कर देना इसीलिये अधिक अच्छा समझा कि

तुम्हारे अंदर इस बात के विषय में कोई भ्रांत धारणा न रह जाय कि निम्नतर प्राण-प्रकृति की ऐसी क्रियाओं को अंतरात्मा के सत्य के अंदर कोई अनुमति या आधार नहीं मिला करता; उनका संबंध प्राणगत अज्ञान मे होता है ओर वे प्राणगत अहंकार के परिणाम होती हैं।

१. २. १९३३

आध्यात्मिक अनुभूति और उत्तेजना

प्रश्न–अपनी पुस्तक "वार्त्तालाप"[1] में माताजी कहती हैं: "जो कोई हंसता, कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है कि कारण चाहे जो कुछ भी क्यों न हो पर उसकी वह उत्तेजना अत्यंत असाधारण प्रकार की है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।" क्या उनके कहने का मतलब यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति होने पर मनुष्य को अपनी उत्तेजना संयमित करके साधारण स्थिति में बने रहना चाहिये, असाधारण स्थिति में नही ?

उत्तर–माताजी का विलकुल ही यह मतलब नही था कि मनुष्य को अपनी उत्तेजना को संयमित कर सामान्य स्थिति में बने रहना चाहिये–उनका मतलब था कि वह मनुष्य केवल उत्तेजित ही नहीं होता वल्कि अपनी उत्तेजना में सवसे भिन्न (असाधारण) होना चाहता है। स्वयं उत्तेजना भी बुरी है और असाधारण प्रतीत होने की इच्छा तो ओर भी वुरी है।

७. ६. १९३३

ठीक ठीक बोध करने की क्षमता

'अ' ने माताजी का मंतव्य ठीक-ठीक वतलाया है, पर ऐसा मालूम होता है कि उसने उसे समझा नहीं है। माताजी का यह मतलब कभी नहीं था कि महज इच्छा करने से ही कोई यह जान सकता है कि दूसरे में क्या है या दूसरे के विषय में किसी की सभी धारणाएं सहज भाव से और बिना भूल के ठीक ही होंगी। उनका मतलब यह था कि एक ऐसी क्षमता या शक्ति (गुह्य या यौगिक क्षमता) है जिससे मनुष्य ठीक-ठीक बोध और धारणा प्राप्त कर सकता है, और किसी को यदि इच्छा हो तो वह उसे विकसित कर सकता है। तुरत नहीं, किसी सहज पद्धति से नहीं–यह लो, सुन लिया न तुमने : इसमें वर्षों लग सकते हैं और इस विषय में मनुष्य को बहुत सावधान ओर सचेत रहना होता है; क्योंकि ये संबोधि द्वारा प्राप्त बोध होते हैं ओर संवोधि एक ऐसी चीज है जिसकी नकल चेतना की दूसरी वहुतेरी क्रियाएं कर सकती हैं और वे बहुत अधिक भ्रमात्मक होती हैं। तुम्हारी

---

[1] अब इसका नाम मातृवाणी, प्रथम भाग है।–अनुवादक

धारणाएं या तो मानसिक हो सकती हैं या प्राणिक और ऐसी बातें हो भी सकती हैं या नहीं भी हो सकतीं जो किसी मानसिक या प्राणिक धारणा को पुष्ट करें–परंतु मानसिक होने पर भी यह बात बिलकुल निश्चित नहीं है कि यह सही हो; अगर यही बात हो तो भी हो सकता है कि वह अशुद्ध रूप में पकड़ी गयी हो–अथवा भूल-भ्रांतियों की बहुत अधिक मिलावट के साथ ग्रहण की गयी हो, तोड़-मरोड़कर मिथ्यापन में बदल दी गयी हो, गलत तरीके से प्रकट की गयी हो आदि। ओर फिर ऐसा भी हो सकता है कि उसका बिलकुल ही कोई आधार न हो; वह महज तुम्हारे अपने ही मन या प्राण की अशुद्ध रचना हो या किसी दूसरे की ही भ्रांत धारणा तुम्हारे पास आ गयी हो और तुमने उसे अपनी धारणा के रूप में स्वीकार कर लिया हो। तुम्हारी धारणाओं के बनने का यह कारण भी हो सकता है कि तुम्हारे और उस व्यक्ति के बीच कोई आंतरिक समानता न हो और जब तुम उसे खाली और निस्सार समझते हो तब उसका कारण यह हो कि तुम यह अनुभव करने में असमर्थ हो कि उसमें क्या है, वह चीज स्पष्ट रूप में तुम्हारी समझ में नहीं आती, अथवा जब तुम यह अनुभव करते हो कि वह गलत स्थिति में है तब केवल इस कारण से तुम्हें वैसा लगता हो कि उसकी प्राणगत संबोधि तुम्हें गलत रूप में स्पर्श करती हो। इस तरह की बेशुमार चीजें हैं जिन्हें बड़ी सावधानी से और सही-सही समझने की शक्ति मनुष्य में होनी चाहिये; जब तक कोई अपनी निजी चेतना और उसकी क्रियाओं को अच्छी तरह नहीं जानता तब तक वह दूसरों की चेतना की क्रियाओं को नहीं जान सकता। परंतु एक विशेष प्रकार की प्रत्यक्ष दृष्टि या एक विशिष्ट प्रत्यक्ष अनुभव-शक्ति या संपर्क विकसित करना संभव है जिससे मनुष्य जान सकता है, पर केवल बहुत समय लगाकर और बहुत सावधान, सचेत तथा जाग्रत् होकर निरीक्षण और अभ्यास करने के बाद ही। तब तक कोई घूम-घूम कर यह प्रचार नहीं कर सकता कि यह उन्नत साधक है या वह उन्नत साधक नहीं है और वह दूसरा एकदम किसी काम का नहीं है। अगर कोई जाने भी तो यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ज्ञान का दिखावा करता फिरे।

९. २. १९३५

चेतना को उलट देने का कौशल

जब माताजी ने यह कहा था कि चेतना को उलट देने का ठीक एक कौशल है तब उनका मतलब यह था कि : बाहरी मन को सर्वदा हस्तक्षेप करने और अपने ही निजी सामान्य अभ्यासगत दृष्टिकोण को प्रस्थापित करने के बदले एकदम उलट जाना चाहिये, यह स्वीकार करना चाहिये कि चीजें भीतर से बाहर की ओर कार्य कर सकती हैं और अपने-आपको यह देखने के लिये पर्याप्त मात्रा में स्थिर बनाये रखना चाहिये कि अंदर से बाहर को कार्य का विकास हो रहा है और काम पूरा हो रहा है। ऐसा होने पर एक आंतरिक मन स्वयं प्रकट

होता है जो अदृश्य शक्तियों का अनुसरण करने और उनका यंत्र बनने में समर्थ होता है।
२. ८. १९३२

माताजी का गुह्य प्रयोग

'अ' ने शायद एक अनुभव का हवाला दिया होगा जिसमें माताजी शरीर से अलजीरिया में रहने पर भी पेरिस में बैठे हुए कुछ मित्रों की एक मंडली के सामने प्रकट हुई और एक पेंसिल उठाकर उन्होंने एक कागज पर कुछ शब्द लिखे। जब उन्हें यह संतोष हो गया कि यह संभव है तब उन्होंने उसे और आगे विकसित नहीं किया। यह उन्होंने उस समय किया था जब वह अलजीरिया में तेओं (Théon) के साथ गुह्यविद्या का अभ्यास कर रही थी। स्थूलीकरण संभव है, पर यह आसानी से नहीं होता–इसके लिये शक्तियों के ऊपर अत्यंत विरल और कठिन एकाग्रता करने की आवश्यकता होती है या किसी गुह्य प्रक्रिया की आवश्यकता होती है जिसके पीछे प्राण-जगत् की सत्ताएं होती हैं और वस्तुओं को स्थूल रूप प्रदान करती हैं, जैसा कि उन पत्थरों के विषय में हुआ था जो 'गेस्ट हाऊस' (Guest House) में हम लोगों के रहने के समय रोज फेंके जाते थे। परंतु दोनों ही हालतों में यह कोई चमत्कार नहीं है। परंतु, जैसा कि तुम कहते हो, इसे एक सामान्य या नित्य-नैमित्तिक व्यापार के रूप में करना मुश्किल से व्यावहारिक होगा और आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोगी भी न होगा, क्योंकि कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं बल्कि एक गुह्य मनोमय-प्राणगत शक्ति ही यह क्षमता देती है। ऐसा करने से तो योग आध्यात्मिक रूपांतर की प्रक्रिया के बदले गुह्यविद्या की करामातों के प्रदर्शन में बदल जायगा।
२०. १०. १९३५

माताजी का अन्य ग्रहों में जाना

प्रश्न–मैं सोचा करता हूं कि क्या माताजी मंगल ग्रह या किसी अन्य सुदूरस्थित ग्रह के साथ, जो संभवतः रहने के योग्य हो या जहां लोग रहते हों, कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने में समर्थ हुई हैं।

उत्तर–बहुत दिन पहले माताजी सूक्ष्म शरीर से सर्वत्र जाया करती थीं, परंतु उन्हें वह बहुत गौण विषय प्रतीत हुआ। हमारा ध्यान पृथ्वी पर ही एकाग्र होना चाहिये, क्योंकि हमारा काम यहीं पर है। इसके अलावा, पृथ्वी अन्य सभी जगतों का केंद्रीभूत स्थान है और पार्थिव वातावरण में विद्यमान उनसे मिलते-जुलते किसी तत्त्व को छूकर मनुष्य उन्हें छू सकता है।
१३. १. १९३४

माताजी का नारद को देखना

मेरा ख्याल है कि नारद के विषय में मै विशेष कुछ नही जानता। माताजी ने उन्हे एक वार अधिमानस और अतिमानस के वीच, जहां वे दोनों मिलते है, खड़ा देखा था मानो वही उनका सर्वोच्च स्थान हो। परंतु उनका कार्य निम्नतर लोक में भी रहता है–सिर्फ मैं ठीक तरह यह नही जानता कि वह क्या कार्य हैं। पौराणिक कहानियों से एक ओर तो शुद्ध प्रेम और भक्ति और दूसरी ओर मनुष्यो मे झगड़ा लगाने का आनंद उनका मुख्य स्वभाव मालूम होता है।

५. ५. १९३५

शरीर से वाहर निकलने पर धक्के का अनुभव

जव चेतना क्षण भर के लिये या अधिक लंबे समय के लिये शरीर से वाहर निकलकर ऊपर जाती है तव वहुतों को धक्के या एक सेकंड के लिये दम वंद होने और नीचे गिर जाने के जैसा अनुभव होता है। धक्का या तो चेतना के ऊपर जाने के कारण या शरीर में उसके वापस आने के कारण लगता है। माताजी को सैकड़ों वार यह अनुभव हुआ करता था। यह शरीर से सवंध रखनेवाली कोई चीज नही है (डाक्टर ने भी, जैसा कि तुम कहते हो, कुछ नही पाया)। जव चेतना की यह क्रिया अधिक स्वाभाविक हो जायगी तव संभवतः यह वोध दूर हो जायगा।

१. १०. १९३५

मृत व्यक्तियों से मुलाकात

जव माताजी ने यह कहा था कि मृत व्यक्तियों से मिलने की चेष्टा करना अच्छा नही है तव उन्होने यह वात आध्यात्मिक दृष्टि से कही थी जिसका पता साधारणतया प्रेतात्मावादियो को नही होता या जिसका वे कोई ख्याल नही करते।

२५. ८. १९३६

माताजी का विगत जन्मों की बातें कहना

माताजी केवल तभी लोगो से उनके पुराने जन्मो की वाते कहती है जव वह ध्यान के द्वारा निश्चित रूप मे उनके गत जन्मो का कोई दृश्य या स्मृति देखती हैं, परंतु आजकल ऐसा वहुत कम होता है।

३०. ६. १९३३

भगवान् को भोजन अर्पण करना

प्रश्न–'मातृवाणी' में आये हुए इस वाक्य से माताजी का क्या मतलव है: "जव तुम

खाते हो तब तुम्हें यह अवश्य अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे द्वारा खा रहे हैं?"

उत्तर–इसका अर्थ है भोजन अहंकार या कामना को नहीं बल्कि भगवान् को अर्पण करना जो सभी क्रियाओं के पीछे विद्यमान है।

११. १. १९३५

अनुचित भोजन का हानिकारक प्रभाव

माताजी का मतलब था कि अनुचित भोजन और अनुचित पाचन से उत्पन्न विष ये दोनों चीजें जीवन के दीर्घायु होने में सबसे बड़ी बाधा है।

१४. १. १९३५

फोटो के द्वारा पहचानना

तुमने यह जानना चाहा था कि 'अ' यहां है या नहीं या माताजी के साथ संपर्क रखनेवालों में से एक है या नहीं। परंतु इसके लिये उसके फोटो की आवश्यकता थी क्योंकि माताजी नाम के द्वारा नहीं, बल्कि आकार के द्वारा उन लोगों को पहचानती है जो यहां उनके पास आते हैं–जैसा कि उन्होंने 'ब' के फोटो से उसे पहचाना था।

२६. १. १९३४

माताजी की पुस्तकें पढ़कर उनकी चेतना के साथ एकात्मता प्राप्त करना

प्रश्न–जब मैं माताजी की 'प्रार्थनाएं' और 'वार्त्तालाप' पढ़ता हूं तब मैं अनुभव करता हूं मानो मैं माताजी की चेतना के संपर्क में आ जाता हूं। इससे मेरे मन में यह विचार उठता है कि क्या यह संभव है कि उनकी पुस्तकें पढ़कर मनुष्य अपनी चेतना को इतना तीव्र बना ले कि वह उनकी चेतना के साथ एक हो जाय और उसके फलस्वरूप प्राण और दूसरे अंग भी उन्नत हो जायं?

उत्तर–जो कुछ तुम पढते हो उसकी सहायता से माताजी की चेतना के साथ अपने-आपको तीव्र भाव से एक कर देना संभव है–उस हालत में जिस परिणाम की बात तुम लिखते हो वह आ सकता है। उसका प्रभाव एक हद तक प्राण पर भी पड़ सकता है।

२१. ८. १९३५

फ्रेंच का ज्ञान और माताजी के साथ घनिष्ठता

प्रश्न–क्या यह कहना ठीक है कि जो फ्रेंच जानते हैं वे भविष्य में माताजी की सेवा अधिक अच्छे रूप में कर सकेंगे?

उत्तर–यह अधिकांश में माताजी के एक अंश के साथ एक प्रकार की घनिष्ठता उत्पन्न करता है। ३. ५. १९४५

माताजी का संगीत

(१)

माताजी के संगीत को प्रायः ही 'अ' ने इस या उस राग का भारतीय संगीत वतलाया है। माताजी के भीतर से जो कुछ आता है उसे ही वह वजाती हैं–वह साधारणतया कोई निश्चित रूप से तैयार किया हुआ यूरोपियन या भारतीय राग नहीं बजातीं–भारतीय संगीत तो वास्तव में उन्होंने कभी सीखा ही नहीं है।
११. ९. १९३३

(२)

माताजी ने वचपन से लेकर वड़ी होने तक गाना-वजाना किया है–इसलिये कई वार गाने या वजाने में उन्हें कोई तकलीफ नहीं है।
१५. ९. १९३३

(३)

संगीत के पीछे क्या है उसे समझने के लिये संगीत-कला का ज्ञान होना जरूरी नहीं है। अवश्य ही माताजी संगीत-कला का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं, वल्कि उच्चतर लोकों से कुछ चीजें नीचे उतार लाने के लिये वाजा वजाती हैं और कोई भी आदमी, जो खुला है, उसे ग्रहण कर सकता है।
१५. ९. १९३३

(४)

प्रश्न–क्या यह सच है कि जव माताजी 'आरगन' वजाती हैं तव वह हमारी सहायता करने के लिये उच्चतर लोकों के देवताओं का नीचे आवाहन करती हैं?

उत्तर–सचेतन रूप में नहीं।
९. २. १९३४

(५)

प्रश्न–क्या इसका मतलव यह है कि देवता उनके संगीत से आकर्षित होते और नीचे उतर आते हैं?

उत्तर–वे आकर्षित हो सकते हैं।

१०. २. १९३४

(६)

प्रश्न–क्या बाजा बजाते समय माताजी कोई चीज प्रकट करती हैं?

उत्तर–अगर वह कोई चीज नहीं प्रकट करतीं तो भला वह बाजा ही क्यों बजाने लगीं?

१९. ४. १९३४

कुछ पहले के पत्र[1]

मुझे किसी आश्रय-स्थल की आवश्यकता है जहां मैं आक्रमणों से बचकर अपना योग पूरा कर सकूं और अपने चारों ओर अन्य आत्माओं को तैयार कर सकूं। मुझे ऐसा लगता है कि जो 'परे' हैं उनके द्वारा निर्दिष्ट वह स्थान पांडिचेरी ही है। परंतु तुम जानते ही हो कि जिस चीज को पार्थिव स्तर में स्थापित करने का उद्देश्य रखा गया है उसे स्थापित करने के लिये कितने अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है.....।

मैं आध्यात्मिक शक्ति को भौतिक स्तर पर उतार लाने के लिये आवश्यक शक्तियों का विकास कर रहा हूं, और अब मैं इस योग्य हो गया हूं कि मैं स्वयं मनुष्यों में घुस सकूं और उन्हें बदल सकूं, उनका अंधकार दूर कर उनमें ज्योति ला सकूं और उन्हें नया हृदय और नया मन दे सकूं। यह कार्य मैं उन लोगों में अधिक तेजी और पूर्णता के साथ कर सकता हूं जो मेरे निकट हैं, परंतु मैं उन लोगों में भी करने में सफल हुआ हूं जो मुझसे सैकड़ों मील दूर हैं। मुझे मनुष्य का चरित्र और हृदय, यहां तक कि उनके विचार भी, जान लेने की शक्ति प्राप्त हो गयी है, परंतु यह शक्ति अभी एकदम पूर्ण नहीं है और न मैं इसका सर्वदा और सब मनुष्यों के लिये ही व्यवहार कर सकता हूं। महज संकल्प-शक्ति का प्रयोग कर क्रिया कराने की शक्ति भी विकसित हो रही है, पर अभी यह अन्य शक्तियों की जैसी शक्तिशालिनी नहीं है। अन्य जगतों के साथ का मेरा संबंध अभी तक चंचल अवस्था में ही है, यद्यपि कुछ अति महान् शक्तियों के साथ मेरा निश्चय ही संबंध हो गया है। परंतु इन सब चीजों के विषय में मैं उस समय अधिक लिखूंगा जब मेरे रास्ते की अंतिम बाधाएं साफ हो जायंगी।

जो कुछ मैं अत्यंत स्पष्ट रूप में देख रहा हूं वह यह है कि मेरे योग का प्रधान लक्ष्य है भूल-भ्रांति और असफलता की प्रत्येक संभावना को संपूर्ण और अखंड रूप से दूर कर देना, भूल-भ्रांति की संभावना को इसलिये कि जो सत्य मैं मनुष्यों को अंत में दिखाऊं वह पूर्ण हो सके, और असफलता की संभावना को इसलिये कि संसार को बदलने का कार्य, जहां तक मुझे उस कार्य में सहायता करनी है वहां तक, पूर्ण रूप से विजयपूर्ण और अजेय हो सके! यही कारण है कि मैं इतनी लंबी साधना के भीतर से चलता आ रहा हूं और

---

[1] पहले दो पत्रों को छोड़कर बाकी सब पत्र श्रीअरविंद द्वारा माताजी को लिखे गये थे।

योग के अधिक प्रोज्ज्वल और शक्तिशाली परिणाम इतने दीर्घ काल से रुके पड़े हैं। मुझे नींव डालने के कठिन और दुःखदायी कार्य में अब तक व्यस्त रखा गया है। केवल अब जाकर उस सुनिश्चित और पूर्ण नींव पर, जो स्थापित की गयी है, भवन उठना आरंभ हो रहा है।

१२. ७. १९११

***

मेरा योग बड़ी तेजी से अग्रसर हो रहा है, पर मैं तुम्हें उसके परिणामों के बारे में लिखना तब तक स्थगित रखता हूं जब तक कि अभी मैं जिन प्रयोगों में लगा हुआ हूं उनका फल इतना पर्याप्त नहीं प्राप्त हो जाता कि जिस योग को मैंने तैयार किया है और जो केवल मुझे ही नहीं वरन् मेरे साथ रहनेवाले नवयुवकों को भी महान् फल दे रहा है, उसका सिद्धांत और पद्धति निस्संदिग्ध रूप में स्थापित हो जाय...। अगर सब कुछ ठीक चलता रहे तो मैं एक महीने के भीतर उन परिणामों की आशा करता हूं।

२०. ९. १९११

सब कुछ सर्वदा अच्छे से अच्छे के लिये होता है, परंतु कभी-कभी बाहरी दृष्टिकोण से वह अच्छे से अच्छा भद्दा-सा मालूम होता है....।

आज समस्त पृथ्वी एक विधान के अधीन है और एक ही तरह के स्पंदनों का प्रत्युत्तर देती है और मुझे संदेह है कि हमें ऐसा कोई स्थान शायद ही मिले जहां संघर्ष की टक्कर हमारा पीछा न करे। अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि सफल एकांतवास मेरे भाग्य में नहीं बदा है। मुझे तब तक संसार के साथ संपर्क बनाये रहना ही होगा जब तक मैं या तो विपरीत परिस्थितियों को जीत न लूं या मर न मिटूं या आध्यात्मिक और भौतिक के बीच चलनेवाले युद्ध को उतनी दूर तक न ले जाऊं जितनी दूर तक ले जाना मेरे लिये दैव-निर्दिष्ट है। उसी दृष्टि से मैं बराबर चीजों को देखता रहा हूं और अब भी उन्हें देखता हूं। असफलता, कठिनाई और दृश्यमान असंभवता का जहां तक प्रश्न है, मैं उनका इतना अधिक अभ्यस्त हो गया हूं कि मैं उनके लगातार सामने प्रकट होने से बहुत अधिक प्रभावित नहीं होता और उन्हें कुछ अस्थायी क्षणों की चीज समझता हूं.....।

ऐसे समयों में, जो वास्तव में विश्वव्यापी विनाश के काल हैं, विचलित न होने के लिये शांत हृदय, सुदृढ़ संकल्प, संपूर्ण आत्मोत्सर्ग तथा आंखों को परे की ओर निरंतर लगाये रहने की आवश्यकता होती है। मैं स्वयं बस दिव्य वाणी का अनुसरण करता हूं और अपने दाहिने या बायें किसी ओर नहीं ताकता। परिणाम मेरा नहीं है और अब भी

प्रयास भी एकदम मेरा नहीं है।
६. ५. १९१५

***

हमने स्वर्ग को अधिकृत कर लिया है, पर पृथ्वी को नहीं; परंतु योग की पूर्णता है वेद के सिद्धांत के अनुसार, "स्वर्ग और पृथ्वी को समान और एक" बना देना।
२०. ५. १९१५

***

भीतर की प्रत्येक चीज परिपक्व हो गयी है या हो रही है, पर अब भी एक प्रकार का द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है जिसमें कोई भी पक्ष कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाता (यह स्थिति कुछ-कुछ यूरोप के खाई-युद्ध की-सी है), आध्यात्मिक शक्ति भौतिक जगत् के प्रतिरोध के विरुद्ध बार-बार आक्रमण कर रही है और वह प्रतिरोध एक-एक इंच के लिये युद्ध कर रहा है और न्यूनाधिक सफलता के साथ प्रत्याक्रमण कर रहा है....। और यदि अंदर शक्ति और आनंद न होते तो यह कार्य बड़ा ही कष्टदायक और उकता देनेवाला होता; पर ज्ञान की आंख उससे परे जाकर देखती है कि यह महज एक सामयिक, यद्यपि विलंबित, क्षुद्र घटना है।
२८. ७. १९१५

***

कोई भी चीज बाह्य वस्तुओं की गतिशून्य स्थिति को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं प्रतीत होती, और हमारी अपनी सत्ता से बाहर जो कुछ सक्रिय है वह सब एक अंधतमसाच्छन्न गड़बड़झाला है जिसमें से कोई भी मूर्त्त या प्रकाशमय वस्तु प्रकट नहीं हो सकती। जगत् की यह एक विचित्र स्थिति है, अस्तव्यस्तता ही यहां साकार रूप में उपस्थित है जिसमें ऊपरी सतह पर पुराने जगत् का बाह्य स्वरूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है। परंतु क्या यह एक दीर्घकालव्यापी विघटन की अस्तव्यस्तता है या किसी आसन्न नवजन्म की? इसी का निर्णय करने के लिये दिन-प्रति-दिन युद्ध हो रहा है, पर अभी तक कोई निश्चित परिणाम नहीं दिखाई देता।
१६. ९. १९१५

***

जिस अनुभूति का वर्णन तुमने किया है वह सच्चे अर्थ में वैदिक है, यद्यपि अपनेको यौगिक घोषित करनेवाली आधुनिक योग-पद्धतियां उसे आसानी से स्वीकार नहीं करेंगी।

यह वेद और पुराण की 'पृथ्वी' का दिव्य तत्त्व के साथ एकत्व है, उस पृथ्वी का जिसके विषय में यह कहा जाता है कि वह हमारी पृथ्वी से ऊपर है, अर्थात् जो वह भौतिक सत्ता और चेतना है जिसकी केवल प्रतिमाएं ही यह जगत् और शरीर हैं। पर आधुनिक योग भगवान् के साथ जड़-तत्त्व के एकत्व की संभावना को मुश्किल से स्वीकार करते हैं।
३१. १२. १९१५

ऊपर के पत्र में जिस अनुभूति का हवाला दिया गया है उसका वर्णन माताजी लिखित "प्रार्थनाएं और ध्यान" नामक पुस्तक में आया है। पाठकों की सुविधा के लिये उसका हिन्दी अनुवाद यहां नीचे दिया जा रहा है:

२६ नवंबर १९१५

समस्त चेतना दिव्य एकाग्रता में निमग्न हो गयी। पूरी सत्ता चरम और विशाल आनंद का उपभोग करने लगी।

फिर स्थूल शरीर को, पहले तो उसके निम्नतर अंगों को और उसके बाद समूचे शरीर को, एक प्रकार के पवित्र प्रकंपन ने अधिकृत कर लिया और उसने धीरे-धीरे अत्यंत स्थूल इंद्रियानुभवों में से सब तरह की व्यक्तिगत सीमाओं को दूर कर दिया। समग्र सत्ता धीरे-धीरे, एक पद्धति के अनुसार, प्रत्येक घेरे को तोड़कर और हर एक बाधा को भंग कर, महान् बन गयी जिसमें कि वह निरंतर विशाल और तीव्र होनेवाली एक शक्ति और सामर्थ्य को अभिव्यक्त कर सके। उस समय मानो शरीर के कोष तब तक क्रमशः प्रसारित होते रहे जब तक कि पृथ्वी के साथ पूर्ण एकात्मता नहीं प्राप्त हो गयी; उस समय जागृत चेतना का शरीर स्वयं पृथ्वी का गोला था जो आकाश-प्रदेश में सुसमंजस रूप में घूम रहा था। और चेतना को यह मालूम था कि उसका यह गोल शरीर इस प्रकार विश्व-माता की बाहों में (गोदी में) ही घूम रहा है और इसने शांतिपूर्ण आनंद के परमोल्लास के साथ अपने-आपको उनके हाथों में सौंप दिया है, उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया है। उसके बाद चेतना ने अनुभव किया कि उसका शरीर विश्व के शरीर में लीन हो गया और उसके साथ एक हो गया; वह चेतना विश्व की चेतना, उसकी समग्रता में अचल-स्थिर, उसकी आंतरिक बहुविधता में अनंत रूप से सचल-सक्रिय, बन गयी। यह विश्व-चेतना एक तीव्र अभीप्सा, एक पूर्ण समर्पण-भाव के साथ, भगवान् की ओर दौड़ पड़ी और इसने विशुद्ध ज्योति की जगमगाहट के अंदर विश्व के चारों ओर अनंत-रूप से कुंडलित सहस्रफण सर्प के ऊपर दंडायमान ज्योतिर्मय पुरुष को देखा। वह पुरुष एक सनातन विजय-भंगिमा के द्वारा उन सर्प और उससे निकलनेवाले विश्व को एक साथ ही अपने वश में किये हुए थे और उन्हें उत्पन्न कर रहे थे; सर्प के ऊपर सीधे खड़े होकर वह अपनी समस्त विजयिनी शक्ति के द्वारा शासन कर रहे थे और जो भंगिमा विश्व को घेरे हुए सर्प को कुचल रही थी, वही

उसे शाश्वत जन्म भी प्रदान कर रही थी।' फिर चेतना स्वयं वह पुरुष बन गयी और उसने देखा कि उसका आकार एक बार फिर बदल रहा है; वह आकार एक ऐसी चीज में घुल-मिल गया जो अब कोई आकारवाली नहीं थी पर जो सभी आकारों को धारण किये हुए थी–एक ऐसी चीज थी जो अपरिवर्तनीय है, देखती है,–नेत्र है, साक्षी है। और जो कुछ वह देखती है वही रहता है।' उसके बाद आकार का यह अंतिम चिह्न भी विलीन हो गया और चेतना अपने-आप 'अकथनीय', 'अवर्णनीय' के अंदर लीन हो गयी।

व्यक्तिगत शरीर की चेतना की ओर वापस आना बहुत धीरे-धीरे, दिव्य ज्योति, शक्ति, आनंद और पूजन की एक सतत और अपरिवर्तनीय जगमगाहट के अंदर, क्रमागत स्तरों से होता हुआ, पर एकदम सीधे, अर्थात् वैश्व और पार्थिव रूपों के भीतर से फिर से गुजरे बिना, पूरा हुआ। और उस समय ऐसा मालूम होता था मानो शांत-स्थिर शारीरिक आकार सनातन और परम साक्षी पुरुष का–बिना किसी मध्यस्थ के–प्रत्यक्ष और व्यवधानरहित वस्त्र बन गया हो।

॥ सम्पूर्ण ॥

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता–२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)
Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
495/6/55/1200